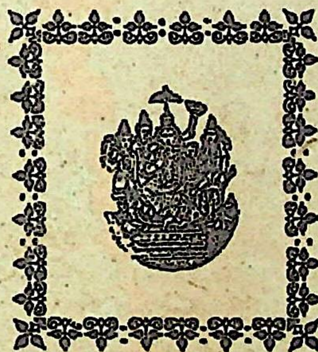
श्रीरामचरितमानस

अयोध्याकाण्ड

(चतुर्थ खण्ड)

रामचन्द्रस्मृतिः (शास्त्रीयव्याख्या)



व्याख्याता

श्रीविश्वनाथशास्त्री



श्रीविश्वेश्वरः शरणम्

श्रीरामचरितमानस

अयोध्याकाण्ड

(चतुर्थ खण्ड)

(भावार्थ) अन्नपूर्णासहित रामचन्द्रस्मृतिः (शास्त्रीयव्याख्या)



व्याख्याता

श्रीविश्वनाथशास्त्री दातार

(विद्याभूषण, राष्ट्रपतिपुरस्कृत, महामहोपाध्याय)

(शास्त्ररत्नाकर, न्यायप्रभाकर, न्यायकेशरी, नीतिशास्त्रप्रवीण, राजनीतिविशेषज्ञ)



लेखक

चि० आञ्जनेय दातार



सहायक

श्रीमहेश झा

नव्य न्याय एवं साहित्याचार्य

श्रद्धेय गुरुद्वय, पण्डितराज राजेश्वरशास्त्री द्रविड एवं पण्डित हरिरामशास्त्री शुक्ल न्यायसार्वभीम द्वारा आशीर्वादप्राप्त, शान्तिका अग्रदूत (भारतीय राजनीतिका दिग्दर्शन) के प्रकाशनक्रममें सप्तम पुष्प।

प्रकाशक

दातारपुस्तकसमिति

के० २२/८१, ब्रह्माघाट, वाराणसी

प्रकाशक :

दातारपुस्तकसमिति

के० २२/८१ ब्रह्माघाट, वाराणसी



मूल्य : ६५.०० **पैंसठ रुपये मात्र**



प्राप्ति स्थान :

श्रीविश्वनाथशास्त्री दातार परिवार (उक्तसमितिसदस्य)

के० २२/८१ ब्रह्माघाट, काशी

चि० श्रीकेसरीनन्दन रस्तोगी राजादरवाजा, वाराणसी (उक्तसमितिसदस्य)

चि० श्रीरामकिशोर मुंदड़ा भैरवनाथ वाराणसी (उक्तसमितिसदस्य)

श्रीसीताराम मिश्र (उक्तसमितिसदस्य) हिन्दीविशारद निविदा सुन्दरपुर काशी



प्रथम संस्करण : ५०० प्रति

कार्तिक कृष्ण १४ (दीपावली)

सं० २०५१



मुद्रक :

शिव प्रेस

ए. १०/२५ प्रह्लादघाट, वाराणसी

श्री विश्वेश्वरःशरणम्

श्री गुरुः शरणम्

चतुर्थ खण्ड की स्वल्प प्रस्तावना

राजनीतिकार्य करने हेतु गुरुजी के द्वारा आदेश प्राप्त कर उनकी इच्छा पूर्ण करने के उद्देश्य से रामभक्ति की छत्रछाया में रहे भारतीयराजशास्त्रसिद्धान्त का गोस्वामी तुलसीदासविरचित रामचरितमानस का चिन्तन प्रारम्भ किया। फलतः अयोध्याकाण्ड के तीन खन्ड विद्वन्मनीषियों साधुसंतों की सेवा में प्रस्तुत हो चुके अभी उसी का चतुर्थखण्ड प्रस्तुत हो रहा है। जो गुरुचरणकी आशिषों का ही परिपाक है।

इस खण्ड में वृद्धसेवा, वृद्धवचनों के प्रति अनुष्ठानतः प्रामाण्य प्रमेयचिन्ताभार से विमुक्ति, निश्छलभाव में अपने को रामचरणों में समर्पित करना, विवेककुशलता से मतिक्षोणी का उद्धार व रामराज्योत्सवसंपत्ति की पूर्ण आशा आदि विषय व्यक्त हैं। इसमें भक्ति, राजनीति, त्रयी, आन्वीक्षिकी की सम्मति पूर्णतया प्राप्त है।

भक्ति के अनुगन्ता सेवक और सेव्य दोनों ने एकजुट होकर राजकार्यसंपत्ति के प्रति वृद्धसेवा को ही अनन्यथा सिद्ध माना है उसी दृष्टि में प्रवृत्तिमार्ग को स्थिर एवं सफल बनाने के लिए श्री ब्रह्माजी से लेकर मनु महाराज की कई पीढ़ियों ने वृद्धसेवा का आदर पूर्णतया किया मिलना है। इस अंकुश से विचलित होने पर वेन आदि राजा तथा यक्ष राक्षस आदि के चरितों का परिणाम प्रगट हो चुका है अभी भी हो रहा है। भविष्य में भी वही होगा। जैसाकि वामन पुराण में उल्लिखित है—

ये वृद्धवाक्यानि समाचरन्ति श्रुत्वा दुरुक्तान्यपि पूर्वतस्तु।
स्निग्धानि पश्चान्नवनीतशुद्धा मोदन्ति ते नात्र विचार्यमस्ति॥
आपद्भुजङ्गदष्टस्य मन्त्रहीनस्य सर्वदा।
वृद्धवाक्यौषधान्येव कुर्वन्ति किल निर्विषम्॥
वृद्धवाक्यामृतं पीत्वा तदुक्तान्यनुमान्य च।
या तृप्तिर्जायते पुसां सोमपाने कुतस्तथा॥
आपत्तौ पतितानां येषां वृद्धा न सक्ति शारतारः।
ते शोच्या वन्धूनां जीवन्तो हि मृततुल्याः स्युः॥ अ. ९४॥

चतुर्थखण्ड में श्रीरामद्वारा भरतजी को वृद्धसेवा में रहने का उपदेश देन उसे भरतजी ने सहर्ष स्वीकार करते श्रीराम के साथ वन में रहने का सुखानुभव क आदि बताकर वृद्धसेवा में अनुष्ठानतः प्रामाण्यसिद्धि करने का संकेत प्राप्त है।

भक्ति की छत्रछाया में रहकर नैतिककार्य की तत्परता एवं नियम व्रत को पूर्ण करने में किसी प्रकार की श्रमानुभूति न होना विघ्नों से अभिभूत न होना प्रमेय-चिन्ता की मुक्ति का फल है।

अवध में लौटकर प्रभु के आगमन की कामनापूर्त्यर्थ भरतजी ने जो कठिन सेवा अपनाइ और व्रत चलाया है उसके पीछे प्राप्त होने वाला बल यदि कोई है तो वह श्रीरामचरण के प्रति भरतजी ने किया आत्मसमर्पण ही एक मात्र है।

चतुर्थखण्ड में विवेक भी चिन्तनीय है जो मतिरूपा पृथ्वी को अविद्या में डूबने से बचाता है। उसका उदाहरण भरतचरित्र है जैसा—

जबकि चित्रकूट की सभा में उपस्थित होकर भी मुनि वसिष्ठजी व राजा जनकजी रामभरत प्रीति-प्रतीति को देखकर अनिर्णीत अवस्था में पहुचे वाद के बारे में निर्णय करने के भार से मुक्त हो गए दूसरी ओर माता कौसल्याजी व्याकुला हो भरतजी को वन में भेजने के पक्ष की चिन्ता में पहुँच गई तीसरी ओर प्रजा असमंजस हो गई व देव दुःखी हो गए श्रीराम भी संकोच करते मौन में ही रहे। वैसी अवस्था में मति को अविद्या में डूबते देखकर उसमें से बचाने में भरतविवेकवराहा के समर्थ होने का संकेत से प्राप्त है।

भरतजी में रामप्रीति की धारा ऐसी प्रवाहित हुई कि सार्व भौम श्रुति ने भरतजी को राज्यश्री से पृथक् कराकर नन्दिग्राम में बसा दिया उनको कान्ति देकर उज्वलित बनाया व भरत 'प्रानप्रिय पावहि, राजू' वचन में रही गूढ़ अप्रमाणता को प्रकाशित कराने का श्रेयस् भरतजी को दिलाया फलतः अवधि पूर्ण होते ही राम-राज्योत्सव धूम-धाम से देखकर सब आप्यायित हो गए।

ऐसे फलपर्यवसायी वृद्धसेवादि चरित्र ही भारतीय राजशास्त्र सिद्धान्त का जीवनाधार है उसी परंपरा का निर्वाह भारतीय राजनीत्य नुगामी वर्णाश्रमसमाज व तदवलंबी सनातनी वर्ग करता आ रहा है। यह उसका सौभाग्य है।

अग्रिम काण्ड का प्रकाशन गुरुकृपा एवं प्रभुकृपा पर निर्भर हैं।

गुरुकृपाकांक्षी
विश्वनाथ दातार

कार्तिक कृष्णपक्ष चतुर्दशी (दीपावली)
सन् १९९४
संवत् २०५१

मुद्रक
शिव प्र
ए.

॥ श्री विश्वेश्वरः शरणम् ॥

श्रीरामचरितमानस

अयोध्याकाण्ड (चतुर्थ खण्ड)

अन्नपूर्णा (भावार्थ)—सहित रामचन्द्र स्मृति (शास्त्रीय व्याख्या)

संगति—गुरुजी व स्वामी प्रभु से "रुचि राखे" व "भरत भल" सुनने के परिणाम में भरतजी अपने में श्रीरामजनत्व के अनुमान की प्रसक्ति देखकर संभावित मोह के निरासार्थ प्रथमतः प्रेमप्रपंचविषय का उपस्थापन कर रहे हैं जो "करहि बिचारू" के अन्तर्गत तीसरा विचारकौशल है जिससे दोहा २।२५९।८ में उक्त अर्थ की समीक्षा प्रगट हो चुकी है।

दो०—साधुसभा-गुर-प्रभुनिकट कहउँ सुथल सतिभाउ।
प्रेमप्रपंचु कि झूठ फुर जानहिं मुनि रघुराउ ॥ २६१ ॥

भावार्थ—साधुओं की सभा गुरु और प्रभु के सान्निध्य तथा पवित्र स्थल में सत्य कहता हूँ यह प्रेमप्रपंच दंभ है किंवा सत्य है उसको मुनि व श्रीरामजी जानते हैं।

साधु

शा० व्या०—"साधु" से यहाँ जाबालि, अत्रि, विश्वामित्र आदि युक्त[1] मुनि विवक्षित हैं।

सभा

स्वलक्षण से पूर्ण मुनियों की यह सभा रागद्वेषशून्य होने से यज्ञसदृशी है, ऐसा कहना अत्युक्ति नहीं है।

गुर (प्रथम उल्लेख)

गुरुजी की मति ने ब्रह्मसुखात्मक विषय को त्याग कर भरतजी का अवगाहन करना अधिक महत्त्व रखता है अतः अभ्यर्हितत्वात् गुरु का प्रथम उल्लेख है।

प्रभु

"प्रभु" का अर्थ स्वामी है क्योंकि प्रस्तुत संवाद में जब प्रभु द्वारा अपने में स्वामित्वस्वीकार होगा तभी समस्या का समाधान होगा अतः प्रभु का पृथक् कीर्तन है।

निकट (न्यायालय)

"निकट" का अन्वय साधुसभा, गुरु व प्रभु से ज्ञातव्य है।

अथवा—बाल्यकाल से ही साधु, गुरु व प्रभु अभी तक भरतजी के चरित्र को देखते आ रहे हैं जिसका निष्कर्ष भरतजी की उपधाशुद्धि में है, अतः भरतजी ने साक्षी के रूप में तीनों की सन्निधि प्राप्त करना "निकट" का ध्वनितार्थ है।

अथवा—सभा के मध्य में प्रभु के द्वारा किये जाने वाले उस समाधान

१, युक्तस्य सर्वदा भानम्॥(कारिकावली-)

"निकट" से संकेतित किया है जिसमें गुर्वनुप्राणितत्व एवं साधुसभानुमोदितत्व अपेक्षित है। इस प्रकार "निकट" से प्रस्तुत सभा में न्यायालय का स्वरूप ध्वनित है।

कहउँ

"कहउँ" से न्यायालय में उपस्थित हो विषयोपस्थापनपूर्वक वक्ष्यमाण सभी विषय सूचित हैं जिनमें अनेकविध प्रतिज्ञाएँ स्वार्थानुमान, सन्देह आदि परिगणित हैं।

सुथल

प्राकृतिक शोभा से युक्त मुनिवासस्थल "सुथल" है। उसकी महिमा तुलसीदासजी ने गाई "थभु बिलोकि रघुबर सुख पावा"[1] उक्ति से स्फुट है जहाँ मोह को पराजित कर अपने दल-बल (क्षमादि) के साथ विवेक शासन कर रहा है उसका स्पष्टीकरण २।२६१।६ में है। एवंच अभी भरतजी जो भी निर्णय, संवादानुकूल प्रतिज्ञा या सन्देह उपस्थापित करेंगे उनमें मोह की प्रसक्ति न होना ध्वनित है।

सतिभाउ

"सतिभाउ" का अर्थ त्रिकालाबाधित सत्य है अर्थात् वर्तमान समय में गुरुजी का आनुकूल्य देखकर साधुसभा ने 'भरतः रामजनः' ऐसा जो तर्कपूर्ण अनुमान किया है उसमें कदापि अप्रामाण्य की संभावना न होना "सतिभाउ" से ध्वनित है। फलतः भरतरुचिपूर्ति उपाधि होकर 'बनवासः शुभः भरतरुचिपूर्तिविशिष्टत्वेसति पितृगंगोभयवचनप्रमाणप्रमितत्वात्' ऐसा अनुमान करने की ओर श्रीराम को बाध्य करेगी व "भरत प्रानप्रिय पावहिं राजू" की अन्तर्निगूढ़ अप्रमाणता कोभी स्फुट करेगी इसके पश्चात् भरतजी में मोह की प्रसक्ति संभावित है वह यह कि "मे (भरतस्य) यो यो रुचिविषयः स स श्रीरामेण सदा पूर्येत यथा श्रीरामद्वारा अवधस्वामित्वस्वीकृतिः"। इस प्रसक्ति के उदाहरण में नारद[2] व दक्षप्रजापति[3] का चरित्र स्मरणीय है। ऐसे संभावित मोह के अभावप्रदर्शनार्थ भरतजी "सतिभाउ" कह रहे हैं। उसका आशय यह कि "यावत्क्षणपर्यन्तं भरतस्य कर्मणि गुरुस्वाम्युभयानुकूल्यं भवति तावत्क्षणपर्यन्तं तस्य रामजनत्वं रुचिपूर्तिश्च भवतः"[4] ऐसी व्याप्ति बनानी है। सारांश यह कि आजीवन भरतजी ने अपनी रुचि व श्रीरामजनत्व पर ध्यान न देकर प्रतिकर्म में गुरुजी व स्वामी के अनुपेक्षितत्व व आनुकूल्य को समझकर ही तन्मात्र में अपनी समस्त मनोवृत्ति को केन्द्रित कर रखा है जैसा कि दोहा २।२६९ में स्पष्ट होगा।

---

१. २।१३३।५

२. जो एहि बरइ अमर सोइ होई। समरभूमि तेहि जीत न कोई ॥
सेवहिं सकल चराचर ताहीं। बरइ सीलनिधि कन्या जाहीं ॥ (१।१३१।३-४)

३. बड़ अधिकार दच्छ जब पावा। अति अभिमान हृदयँ तब आवा ॥ (बालकाण्ड दोहा ६०।७)

४. यावदुपकरोति तावन्मित्रं भवति उपकारलक्षणं हि मित्रं न मित्रभावादुपक्रान्तम् (नीतिसारीय जयमंगला) ८।१३।७७।

प्रेमप्रपंच

प्रियतम के प्रति निश्छल निःस्वार्थ रहते प्रतिक्षण समृद्ध प्रेम "प्रेमप्रपंच" है। जेसा कि "आदौ तन्व्यो बृहन्मध्या विस्तारिण्यः पदे-पदे"[१] से नीतिसार में उल्लिखित है उसकी सान्द्रता व सघनता का आस्वाद लेने हेतु साधुओं का एकत्रित होना सार्थक है। यह प्रेमप्रपंच अवध से अभीतक भरतजी के चरित्र में निर्विवाद है।

अथवा—प्रियविषयक संभोग व विप्रलम्भ की सीमा का अपार होना 'प्रेम-प्रपंच' है।

झूठ

'झूठ' से प्रेम का "दंभत्व समझना है क्योंकि जिस प्रेम के प्रति लोकमात्र में "नीतिरत साधु सुजाना' की प्रसिद्धि थी उसी को लक्ष्मणजी ने पूर्वपक्ष की ओर से दंभ कहा है।

अथवा—भक्तिलक्षण का पुट देकर त्रयीसमन्वय की ओट में स्वयं ने राज्य-स्वामित्व स्वीकार न करते हुए प्रभु द्वारा राजटीका स्वीकारने का आग्रह देखकर भरतजी यदि उसको भविष्यत् में स्वीकारते हैं तो प्रेमप्रपंच की दंभता होगी परिणामतः प्रेमप्रपंच झूठा होगा।

फुर

भरतजी में प्रेमप्रपंच की वास्तविकता ने त्रैकालिक अबाधित व्याप्यवृत्ति होना 'फुर' का निष्कर्ष है।

जानहि

बाल्यकाल से अभी तक अविच्छिन्नतया चले आ रहे प्रेमप्रपंच की व्याप्य-(त्रैकालिक) वृतित्ता अथवा वर्तमान कालमात्रवृत्तिता का निर्णय "जानहि" से बोध्य है। भाव यह कि पूर्वोक्तरीत्या 'सतिभाउ' में मोह प्रसक्त होगा तो प्रेमप्रपंच झूठा होगा। यदि मोह पराजित होगा तो प्रेमप्रपंच फुर (सत्य) होगा जिनके निर्णायक गुरु और प्रभु ही हैं।

मुनि रघुराउ

मुनि व रघुपति सर्वज्ञ सुजान हैं उनकी प्रतिभा का विषय यथार्थ ही रहता है अतः 'मुनि रघुराउ' कहा है।

अथवा—गुरुजी के द्वारा 'भरतरुचिराखे' निर्णय सुनकर उनको और रघुनाथजी को भरतजी ने 'जानहि' कहने का आशय मननीय है वह यह कि कैकेयीजी के द्वारा याचित वरटीका में भक्तिशास्त्रानुगामित्रयीवचनप्रमाणप्रमेयता गुरुजी व रघुपति को

---

१. नीतिसार ४।६६।

मान्य है तो उसके विरोध में प्रगट भए भरतीय प्रेमप्रपंच के आस्वाद की रसाभासता साधुसभा को मान्य होगी। यदि वह प्रमेयता याचित वरटीका में मान्य नहीं है तो साधुसभा भरतीय प्रेमप्रपंचास्वाद को रसरूप में समझेगी। इस प्रकार "करहिं बिचारू" से उन्नीत तृतीय विचारकौशलपूर्ण है।

संगति—गुरुजी व रघुपति पर प्रेमप्रपंच के याथार्थ्य व अयाथार्थ्य के निर्णय का भार इसलिए दिया कि लोक में प्रेमप्रपंचपरीक्षण के प्रकार दूसरे हैं उसको स्पष्ट कर रहे हैं।

अथवा—दोहा २।२५८।१ में उक्त "आरत कहहिं" को स्पष्ट कर रहे हैं जिसमें "करहिं बिचारू" से व्यंजित विचारकौशल श्रोतव्य है।

अथवा—प्रेमप्रपंच के झूठ या फुर की निर्णायकता लोकतः जिस आर्तिरूप हेतु में हैं अपने में उसके न होने की उपपत्ति दोहा २।२६२ में होगी अभी उस हेतु का निरूपण आरम्भ कर रहे हैं।

चौ०—भूपतिमरन प्रेम पनु राखी। जननीकुमति जगतु सब साखी ॥१॥
देखि न जाहिं बिकल महतारी। जरहिं दुसह जर पुरनरनारी ॥२॥
महीं सकल अनरथकर मूला। सो सुनि समुझि सहिउँ सब सूला ॥३॥

भावार्थ—अपने प्रेम व सत्य (पण) को रखकर पिताजी ने परमपद पाया। माता कैकेयीजी की कुमति के साक्षी संपूर्ण जीव हैं। माताओं की व्याकुलता देखते नहीं बनती। पुरवासी नरनारी रामविरह की असह्यवेदना से सन्तप्त हैं। मैं सब अनर्थों का जड़ हूँ। सब कुछ देखते सुनते सब दुःख सह रहा हूँ।

भूपतिमरन

शा० व्या० - प्रस्तुत समस्या के समाधानार्थ पूर्वपक्ष की ओर से चतुर्थ विचार-कौशल में उन्नीत स्वार्थानुमान (भरतोऽहं समस्तार्तिकारणम्) मननीय है तदर्थ न्याय-पद्धति के अनुसार कार्यकारणभाव की चर्चा भी अपेक्षित है ऐसा सोचकर भरतजी प्रथमतः केवल पंचविधकार्य निरूपित कर रहे हैं उनमें से प्रथम कार्य "भूपतिमरन" ज्ञातव्य है।

पेम पनु

"पेम" से स्नेह समझना है यतः उस अवस्था में चित्त का द्रवीभाव व्यक्त होता है।

'पनु' शब्द प्रतिज्ञावाचक है। ये दोनों तत्व भरतजी व नरनारियों में भी ज्ञातव्य हैं अर्थात् पिता-माता प्रजा व भरतजी का श्रीराम के साथ रहा संबंध (स्नेह) पिता आदि के मनस् को आकृष्ट करता हुआ उनके अन्तःकरण की श्रीराम-तन्मयता का कारण हो भगवत्पदप्राप्ति का साधक हुआ है जैसा कि श्रीमद्भागवत ७।१।१० में द्रष्टव्य है। इन दोनों तत्वों से ज्ञातव्य है कि त्रयी ने स्वस्वकर्मानुसार जिसको जो फल देना निर्णीत किया है वह-वह फल सेवकों को प्राप्त होगा ही फिर भी सेवकों ने प्रभु के प्रति तन्मयीभाव व अपनी प्रतिज्ञा (पन) को बनाये रखा तो त्रयी व भक्ति अपने पोष्य-पोषकभाव के बल पर सेवक को प्रभु के पास पहुँचा देती है।

इसके उदाहरण राजा, जननी, भरतजी व नरनारियाँ हैं। वैसा ही प्रकार कैकेयीजी के चरित्र में दीख रहा है वे वर (टीका) संबंधी कुमति को कायम रखने हेतु सत्याग्रह के माध्यम से चित्रकूट में उथल-पुथल कर सकती थी वैसा न कर पश्चात्ताप करती हुई श्रीरामतन्मया होकर भावी सभा में सम्मतनिर्णय को स्वीकृत करेंगी। यही प्रेम व पण भरतजी व अवधनरनारियों के चरित्र में भी परिलक्षित हो चुके हैं। इससे ज्ञातव्य है कि भक्ति राजादशरथादि के बहाने श्रीराम आदि के द्वारा त्रयी के रक्षण में उद्यता दिखाई दे रही है।

राखी

"राखी" से एक आर्ति (भूपतिमरणात्मक) निरूपित हुई जो स्वार्थानुमान में उक्त पाँच कार्यों (आर्ति) के अन्तर्गत पहली है।

जननी

"जननी" के उच्चारण से "गुरु नं स स्यात् स्वजनो न स स्यात् पिता न स स्यात् जननी न सा स्यात्। दैवं न तत्स्यान्न पतिश्च स स्यान्न मोचयेद्यः समुपेतमृत्युम्! को ध्वनित कर रहे हैं। अर्थात् भरतजी को मृत्युसंसार से दूर कराने में सहायिका न होने से कैकेयीजी ने अपने में जननीत्व की सार्थकता न करना "जननी" का आशय है।

कुमति

प्रस्तुत में "कुमति" से वह मति समझनी है जिसने साधुसज्जनाभिमतनिर्णय के विरुद्ध निर्णय अपनाया है जैसा कि कैकेयीदशरथसंवाद में सर्वविदित है।

जगतु सब

त्रयी एवं नीति के पूर्ण अभिमानी व उसी में सुखानुभूतिरत प्रत्येकवर्णाश्रमी प्राणी "जगतु सब" से समझाए गए हैं उसी को न्यायभाषा में अवच्छेदकावच्छेदेन कहा गया है। अर्थात् वर्णाश्रम जगत् में एक भी ऐसा नहीं बचा है जो कैकेयीकुमति को समझकर पीड़ित न हुआ हो।

साखी (राजनीति की दृष्टि)

यद्यपि भरद्वाज मुनि ने समस्या के प्रति कैकेयीमति में कारणत्व का प्रतिषेध कर सरस्वतीजी को कारण ठहराया है तथापि राजनीति उसको तब मान्य करेगी जब संपूर्ण विद्याएँ, उपनिषद् (जनक राजा) माताएँ, चारों भाई व अवध के नरनारी के सामने त्रयी व भक्ति का सामंजस्य स्थिर होगा, तब तक "जननीकुमति जगतु सब साखी" ही निर्णीत होगा। यही राजनीति की दृष्टि है।

बिकल महतारी

बिकल—"बिकल" से तीसरी आर्ति सुना रहे हैं।

श्रीराम को वनवास की अनुज्ञा देने से कौसल्याजी में पतिव्रतधर्म की सिद्धि के साथ श्रीराम के प्रेम में उनका विरहपीड़ित होना "बिकल" से दर्शाया है।

'महतारी' से कौसल्याप्रभृति सभी माताएँ विवक्षित हैं।

कैकेयीजी भी अभी पश्चात्ताप से संतप्ता हैं इसलिए उनका प्रेमसिद्ध है इसी प्रकार से अपने पण को स्थिर रखने में वे चिन्तिता भी हैं कौसल्यादि सवतें भी उसके विरोध में नहीं है जैसा कि २।२४४।७-८ व २।२४४ की व्याख्या में निरूपित है फलतः कैकेयीजी के पण के साथ विकलता भी स्थिर है।

जरहिं पुरनर

"जरहिं" से चौथी आर्ति निरूपित है।

प्रजा भी श्रीरामादेशपालनपण में स्थिरा है अर्थात् वह त्रयी की प्रमाणता को मानकर उसके अनुगमन में रहते मर्यादा का अतिक्रमण नहीं करती है अतः वह दण्ड्या नहीं है इस प्रकार प्रजा का पण प्रसिद्ध है।

प्रजा की प्रीति श्रीराम के प्रति रहे स्नेह की सीमा को पार कर चुकी है। श्रीरामविरह-पीड़ा की तीव्रता का अनुभव करनेवाली प्रजा अराजकता को निरस्त करने हेतु भरतजी को राजटीका देने के बारे में सहमत होने पर भी वह श्रीरामविरहपीड़ा से 'जरहिं' हो चित्रकूट तक आ पहुँची है इस प्रकार चौथी आर्ति निरूपित हुई।

मही

"मही" से उक्त चतुर्विध आर्तिप्रयोजक भरतजी बोध्य हैं।

चतुर्विध आर्तिनिरूपण के बाद यह पाँचवी आर्ति कारणत्वेन निरूपित हो रही है जो संगत्युक्त कार्यकारणभाव से संबद्ध है उसी को "मही" से दर्शा रहे हैं।

सकल अनरथ

"सकल अनरथ" से श्रीराम का सीता एवं लक्ष्मणजी के साथ पैदल जाना, भूमिशयन, राजभोगत्याग वनवास आदि पूर्वनिरूपित अनर्थों के साथ ग्राह्य हैं जो अनिष्ट के बोधक हैं।

मूला

"मूला" शब्द कारणवाचक है। उसका "मही" से अभेदेन अन्वय है। वह मूला भी भरतजी को पीड़ा पहुँचा रहा है जो पाँचवी आर्ति है।

सुनि

केकय देश में रहते भरतजी ने स्वप्न में जैसा देखा वह सब अवध में सुना उसका अभी तक बने रहना "सुनि" है।

समुझि

"समुझि" से तर्क विवक्षित है जिसमें स्व की अनर्थकारिता असन्दिग्धतया [illegible]र्शित हो रही है उसका स्वरूप इस प्रकार है-"पितृमरणं, जगन्निष्ठं मातृकुमतिसाक्ष्यं, [illegible]विकलता च न भवेयुः, प्रजा च न सन्तप्येत् सीतालक्ष्मणसहितस्य श्रीरामस्य वनवासोऽपि न भवेत्। यद्यहं जनिं न लभेय"।

अथवा—"समुझि" से प्रत्यक्ष विवक्षित है वह अग्रिम चौपाई में दिखाया जायेगा।

सहिउँ

"सहिउँ" से "मही सकल अनरथकर मूला" प्रयोज्यशूलसहिष्णुता समझनी है जो मरणदुःखतुल्य है।

अथवा—स्मर्तव्य है कि निषादराज ने दोहा २३४ में 'कहे परिनाम विषादु' से न घबड़ाकर इष्टापत्ति के रूप में सहन करना "सहिउँ" है।

सूला

"सूला" से दो प्रकार के शूल विवक्षित हैं—

'सहिउँ' शीर्षकोक्त तर्क ध्यान में आते ही भरतजी का पीड़ित होना एक शूल है। क्षत्रिय होकर भी अपने द्वारा क्षत्रियधर्म का सम्यक् पालन न होने की स्थिति से भरतजी को हुई पीड़ा दूसरा शूल है। ये दोनों शूल इतने तीव्र हैं कि उनके संसर्ग में रहा हृदय विदीर्ण होने की स्थिति में आ पहुँचा है।

संगति—"सुनि" का भाष्य करते हुए उपर्युक्त असह्य पंचविध आर्तियों को भी अभिभूत करने वाले शूल को सुना रहे हैं जो प्रेमप्रपंच का साधक है।

अथवा—साधु सभा में बैठकर रघुपतिजी ने भरतजी को "भरत करहिं सोइ किए भलाई" आदि कहा था उसकी अयोग्यता अपने में ध्वनित कर रहे हैं क्योंकि भूपतिमरण आदि पंचविध आर्तियों के प्रति कारणता (अनभल) अपने में जगत्साक्षी से सिद्ध हो चुकी है।

चौ०—सुनि बन गवनु कीन्ह रघुनाथा। करि मुनिबेष लखन-सियसाथा ॥४॥
बिनु पानहिन्ह पयादेहि पाएँ। संकरु साखि रहेउँ एहि घाएँ ॥५॥

भावार्थ—मुनिवेष धारण कर उसी वेष में लक्ष्मणजी व सीताजी को साथ में लेकर श्रीराम ने बिना पादत्राण के वनगमन किया ऐसा सुनकर हृदय में लगी चोट सहन कर रहा हूँ जिसके साक्षी श्रीशिवजी हैं। ये सभी मेरे घाव हैं।

सुनि

शा० व्या०—वनगमनाविश्रवण भरतजी के लिए महाशूल हो रहा है जो पूर्व-निरूपित पितृमरणमातृविकलतादि दुःखों को अभिभूत कर रहा है उसकी झलक दोहा २।१६० में निरूपित है। यही प्रकार २।१६४।१ में कौसल्याजी के चरित्र में भी देखा गया है।

ज्ञातव्य है कि भरतजी को रामवनवास का शूल इतना अधिक है कि उसको अभिभूत करनेवाला कोई सुख-दुःख नहीं है। उसी को "सुनि" से प्रगट किया है।

बनगवनु

"बनगवनु" निम्नलिखित तथ्यों का उपलक्षक है—

वनगमन की इतिकर्तव्यता का विरोध देखकर कौसल्याजी ने किये राजभोग का

त्याग, सुमन्त्रजी के द्वारा श्रीराम ने भेजा सन्देश, गुहजी के दिए उपहार का शृंगवेरपुर में अस्वीकार, रात्रि में भूमिशयन आदि।

पयादेहि पाएँ (नीतिहृदय)

राजा ने अपनाए भूषण के बारे में नीति का हृदय चिन्त्य है।

प्रपन्न सेवक अपने स्वामी प्रभु को समस्त यथोचित भूषणों से भूषित देखने में ही सन्तुष्ट होते हैं अन्यथा वे पीड़ित होते हैं। अतः उनकी पीडाशमनार्थ राजा के शरीर ने अलंकारों से सुसज्जित होना नीति को अमान्य नहीं है।

ध्यातव्य है कि इस प्रकार की राजनीति व्यवहृत होती है तो राजा की अर्थ-लोलुपता या कामुकता व्यक्त नहीं होती। यह तभी संभव है जब वह धर्मविजयी हो, प्रजापालन व परपुरंजय करने में सक्षम हो तथा अपने व प्रजा में विनय स्थापित करने में सफल हुआ हो।

संकरु साखि

शिवसाक्षित्व दिव्यपरीक्षणार्थ है। उसका आशय भरतरुचिपूर्ति के अभाव रूप आपत्ति में है अर्थात् असह्यवेदना न होने से यदि 'सहेउ सूला' उक्ति मिथ्या है तो भरतरुचिपूर्ति न होना "संकरु साखि" से समझाया है।

आपाततः कहना यह है कि उक्त वेदना भरतैकवेद्य है क्योंकि भरतातिरिक्त किसी व्यक्ति में श्रीरामवनवासप्रयुक्त लांछन की प्रसक्ति नहीं है। अतः भरतैकवेद्यवेदना के बारे में राजनीतिमत से पुष्टि नहीं प्राप्त हो सकती है। अतः 'संकरु साखि' कहा है।

अथवा—भरतसंवेदना से माताएं व प्रजाजन भी राज्योत्सव के बारे में आश्वस्त नहीं है, इसलिए कि भरतजी उपर्युक्त वेदना को चतुर्दशवर्षावधि के लिये सहन करेंगे ही ऐसा विश्वास होना असम्भव है क्योंकि दुःखमयजीवन बिताना सबके लिए कठिन है उस दशा में भरतरुचिपूर्ति के साथ राज्योत्सव भी होगा ही इत्यादि को ध्वनित करने के लिए "संकरु साखि" कहा है।

अथवा—सर्वदुःखसहिष्णुता समानाधिकरण श्रीरामसेवाप्राप्त्यभावविशिष्टसेवक निष्ठपीड़ानुभवप्रयुक्तद्रवता श्रीरामहृदय में लाने हेतु "संकरु साखि" कहा है।

अथवा—"आवहिं बहुरि रामु रजधानी" रूप चिकित्सा भक्तवत्सल भगवान् करेंगे ही ऐसा आश्वासन माताओं व प्रजा को देने हेतु "संकरु साखि" कहा है।

अथवा—भविष्यत् में संभाविष्यमाण साधुसभा में निर्णय का अन्यथात्व होने पर थोड़ा भी विलम्ब न सहकर भरतजी देहावसान करेंगे ऐसा समझाने हेतु "संकरु साखि" कहा है जैसा कि दोहा २।२८४।४ में कौसल्याजी की उक्ति से स्पष्ट है।

अथवा—दोहा २।२५८।८ में गुरुजी ने कहे अर्थ को याद दिलाकर तदनुकूल समाधान प्राप्त करने की प्रार्थना "संकरु साखि" से ध्वनित है क्योंकि उसी आशा में रहे भरतजी, श्रीरामवनगमनदुःख को सह रहे हैं।

सबका निष्कर्ष यही है कि भरतजी के व्याज से भक्ति श्रीरामसेवा में रहते अपनी छत्रछाया में दशरथवचनरूपत्रयी का आदर करने के लिये प्रवृत्ता हैं न कि

उस वचन को अप्रमाणित कर श्रीराम को लौटाने के लिये। अर्थात् श्रीराम ने त्रयी को प्रमाण मानकर "भरत प्रानत्रिय पावहि राजू" कहकर "वनवासः शुभः त्रयीवचनप्रमाणप्रमितत्वात्" ऐसा अनुमान जो श्रीराम ने किया है उसका शोधन करना ही प्रपत्ति को अपेक्षित है वह यह कि शुभनिरूपित प्रमाणप्रमितत्व में रही व्याप्यता को भरतरुचिपूर्ति से अवच्छिन्न किया जाय तो उस अनुमान को दूषित न होने देने के लिये "संकरु साखि" कहा है।

रघुपति साखि न कहने का कारण

"निश्छल बिस्वनाथपदस नेहू" श्रीरामभक्ति का लक्षण है तदनुसार भरतजी ने अपने में श्रीरामभक्तिरूपलक्ष्य को ठीक समझाने के लिये "संकरु साखि" कहा है।

"घाए" से उपर्युक्त आर्तिसमुच्चय विवक्षित है। इस प्रकार संगतिसूचित चतुर्थ विचार कौशल की पूर्णता हुई।

संगतिः—पंचविध आर्तिसमुच्चय से समृद्ध शूल का परिणाम हृदय का विदीर्ण होना अवश्यम्भावी है वैसा न होना प्रपन्नों के लिये दूषण नहीं अपितु भूषण है। ऐसा समझाते हुए भरतजी पंचमविचार प्रारम्भ हो रहा है।

चौ०—बहुरि निहारि निषादसनेहू। कुलिसकठिन उर भयउ न बेहू॥६॥

भावार्थः–श्रृंगवेरपुर से आकर गुहजी में स्नेह देख रहे हैं। अपने हृदय में स्नेह होते हुए भी छिद्र नहीं हुए कैसा बज्र के समान मेरा कठोर वक्षःस्थल है।

निहारी

शा० व्या :–"निहारी" का अर्थ देखना है। उसका अन्वय "निषादसनेहू" एवं "कुलिसकठिन उर" से ज्ञातव्य है उसका प्रयोजन निम्नलिखित शीर्षकों में द्रष्टव्य है।

निषाद सनेहू

"निषादसनेहू" का अन्वय "निहारी" से स्मर्तव्य है अर्थात् भरतजी श्रीराम के प्रति निषाद में रहे स्नेहका अवलोकन कर उसके अन्तर्गत पूर्ण संभो(यो)ग की स्थिति को देख रहे हैं जो प्रपन्नों के लिये अत्यावश्यक है इसका अभिप्राय यह नहीं है कि भरतजी में स्नेह नहीं है जैसा कि उनके बारे में "प्रेम उदधि अवगाहू" से निर्णीत है।

ज्ञातव्य है कि भक्तिशास्त्र में उसी स्नेह को भक्ति का कुसुमित[1] होना माना जाता है। भक्ति की यह पुष्पित अवस्था भरतजी व निषादजीके चरित्रों में भगवान् शिवजी ने गाई है जो सर्वविदित है।

निषाद की स्नेहसम्भो(यो)ग स्थिति

जब से भरतजी की निषाद से भेंट हुई तब से श्रीराम के प्रति निषादके हृदय में स्नेह सम्भोग की समृद्धि हो पाई है जैसा कि "जनु महि लुठत सनेह समेटा"[2] से स्पष्ट

---

१. स्नेहात् कुसुमिता भवेत्। (भावप्रकाशन)

२. २।२४३।६।

है। इस सम्भोग में रहने से निषादहृदय को विदीर्ण होने का कोई कारण नहीं है किंबहुना उसी आनन्द में रहकर गुहजी भगवद्दर्शन कर रहे हैं और श्रीरामलक्ष्मण-द्वारा प्राप्त हुई शिक्षा को कार्यान्वित भी कर रहे हैं इसी सम्भो(यो)ग को "निषाद-सनेहू" से स्पष्ट किया है।

सनेहू का स्वरूप

सेवकों के मनस् में विषय (श्रीराम) संबंधीममताप्रयुक्त द्रवावस्थापन्न उदित प्रीति को साहित्यमतानुसार 'स्नेह' कहते हैं जहाँ कि भय व शंका को स्थान नहीं है। भक्तिसिद्धान्त में एकाग्रतासहचरित द्रवावस्थापन्न प्रतिवृत्तियाँ ईश्वर का अवगाहन करती हैं तो वही स्नेह भक्ति के नाम[1] से पुकारा जाता है। यह भक्ति (प्रीति) की पुष्पित[2] अवस्था मानी जाती है जो निषाद व भरतचरित्र में सर्वविदित हैं।

कठिन उर

कठिन उर :—"कठिन उर" से हृदय में दरार न पड़ना विवक्षित है।

"कठिन उर" का "निहारी" से अन्वय स्मर्तव्य है।

"कठिन उर" से भरतजी की विप्रलम्भावस्था (वियोगस्थिति) प्रगट होती है, क्योंकि "भरतु प्रानप्रिय पावहिं राजू" के अनुसार भरतजी अपने हृदय में स्वामित्वेन प्रभु का दर्शन नहीं कर पा रहे हैं।

भरतजी का हृदय निषादहृदयस्नेह सदृश स्नेह व कोमलता से पूर्ण होते हुए भी उसको कठिन कहने का तात्पर्य प्रपत्ति के स्वरूप को प्रकाशित करने में है वह यह कि स्वामिसेवा से वंचित होकर विप्रलम्भावस्था से गुजरते हुए भी स्वामिसेवकाई को कार्यान्वित करने के पिपासु प्रपन्न जन विषमपरिस्थितियों से कभी नहीं घबड़ाते है इसलिए कि प्रपन्नजन यदि असह्य वेदना से घबड़ाकर मृत्यु के मुँह में पहुँच जाते हैं तो उनका प्रपत्ति पर पूर्ण भरोसा न होना सिद्ध होगा यही तथ्य "कुलिस कठिन उर" से ध्वनित है।

न बेहू

"न बेहू" से हृदय का विदीर्ण न होना समझना है। "कुलिस कठिन उर" का परिणाम "न बेहू" है अर्थात् भगवान् की ओर अभिमुख कराने वाले वियोगादि से सन्तप्त भरतहृदय में छिद्रों का न होना "न बेहू" का भाव है। फलतः भरतजी जैसे प्रपन्नों के लिये यह पश्चात्ताप, आश्चर्य इत्यादि तथ्यों का संपादक न होकर 'तच्च साधोर्विभूषणम्' न्याय से भूषण ही होता है।

न बेहू के पीछे बलत्रय

"बेहू" के लिए भूपतिमरण, जननीकुमति, आदि सामग्रियाँ मौजूद होने पर भी

---

१. द्रुतस्य भगवद्धर्माद्धारावाहिकतां गता। सर्वेशे मनसो वृत्तिर्भक्तिरित्यभिधीयते। (भक्ति रसायन)

२. स्नेहात् कुसुमिता भवेत्। (भावप्रकाशन)

भरतहृदय विदीर्ण न होने के पीछे बलत्रय उपस्थित है। जैसे–१. "करिहहिं भाइ सकल सेवकाई" २. चतुर्दशवर्षावधिक वनवास के बाद श्रीरामराज्योत्सव आदि से सबको सुखी बनाने का प्रभुसंकल्प ३. भरतजी की प्रपत्ति।

संगतिः—पितृमरण आदि असह्य अतुलनीय व अलौकिक पंचविध आर्तियों को देखकर भी उनकी स्थायिता को आगे ध्वनित कर रहे हैं जिससे प्रपन्नों के लिये विपत्तियों की भूषणता मान्य होगी।

अथवा दोहा २।२३४ में निषादोक्त "पुनि परिनाम विषादु" रूप पौरुषेय शब्द-प्रमाणप्रमित विषादों की स्थायिता को प्रत्यक्ष प्रमाण से निर्विवाद सिद्ध करने जा रहे हैं जिससे "आवहि बहुरि रामु रजधानी" रूप श्रीरामप्रत्यावर्तन की सम्पूर्ण आशाओं का तत्काल के लिए विलय होना व्यंजित होगा।

चौ०—अब सबु आँखिन्ह देखेउँ आई। जिअत जीव जड़ सबइ सहाई ॥७॥

भावार्थः—पौधे लगाना व उनका रक्षण आदि को आश्रम में देखते आ रहे हैं। यह जीव जड़ है। अतः उसने सहना ही है।

अब

शा० व्या०—"अब" से "संबद्धं वर्त्तमानं गृण्हाति" इस प्रत्यक्षलक्षण को समझाया है। तदनुसार स्थायिनिवास के अनुकूल आश्रमादि की बनावट देखने का विषय काल "अब" से ध्वनित है।

सबु देखेउँ

"सबु" से आर्ति के निदान (दोहा २।२६२।१-३) में उक्त भूपतिमरण, जननी-कुमति आदि पंचविध विपत्तियाँ एवं तदतिरिक्त आश्रमरचना आदि दृष्टि के विषय विवक्षित हैं जिनको देखकर अवध की ओर श्रीराम के लौटने की असंभावना में निर्विवादता "देखेउँ" से ध्वनित है।

देखेउँ से प्रत्यक्ष प्रमाण की विशेषता

कार्य की सफलता देखने पर ही उसके बारे में पूर्ण निर्विवाद होना सर्वसिद्ध है, ऐसा सोचकर ही नीतिलक्षण में प्रत्यक्षप्रमाण का सन्निवेश किया है, जैसा कि नीतिलक्षण[1] से स्पष्ट है उसी के अनुसरण में निषाद से विज्ञात ("पुनि परिनाम विषादु"—२।२३४) शब्द (परोक्ष) प्रमाणप्रमित चतुर्दशवर्षावधिक श्रीराम-वनवास एवं मातृविकलता आदि की स्थायिता का "देखेउँ" से निर्विवाद होना प्रत्यक्ष-प्रमाण की विशेषता है। फलतः संगति में सूचित "आवहि बहुरि रामु रजधानी" की आशा में अभी के लिए पानी फेरना सिद्ध हुआ एवं २।१३२ से २।१३४।१ तक व २।२३५।७ से २।२३७ तक वर्णित चित्रकूटमहिमा की सार्थकता भी स्फुट हुई।

जिअत

भूपतिमरणादि पूर्वः—पूर्व दुःख को जननीकुमति आदि उत्तरोत्तर दुःख ने

---

१. प्रत्यक्षपरोक्षानुमानप्रमाणत्रयनिर्णीतायां फलसिद्धौ साधनोपायानुष्ठानलक्षणा क्रिया।

तिरोहित करना २।२६२।४ की व्याख्या में कहा गया है। उसी के कारण भरतजी का जीवित रहना माना जा सकता है। अभी पंचविधविपत्तियों के संस्कारोद्बोध से पूर्व तिरोहित सभी वेदनाओं का पुनरुद्भव इसलिए कि श्रीराम के न लौटने के चिन्ह भरत-जी की पूर्व आशाओं पर पानी फेर रहे है जैसा कि "देखेउ" शीर्षक में निश्चित है फिर भी प्रपन्न भरतजी का विपत्तियों को भूषण मानकर जीवित रहना "जिअत जीव" है जो "न बेहू" के पीछे "बलत्रय" शीर्षक में व्याख्यात है।

जड़

"जड़" से यहाँ सुखदुःखाविकारिता सूचित है जो धृतिभाव का सूचक है अर्थात् भरतजी प्रपत्ति के इच्छुओं को यह कह रहे हैं कि पुष्पमाला या कुठाराघात के संसर्ग में आने पर जैसे जड़ पदार्थ (पाषाणादि) निर्विकार रहते हैं तावन्मात्र साधर्म्य के अनुसार संपत्ति या विपत्ति के अवसर पर निर्विकार रहना ही प्रपन्नजीवों का स्वभाव है। जैसा कि "बुधो बालकवत् क्रीड़ेत् कुशलोजड़वच्चरेत् वदेंदुन्मत्तावद्विद्वान् गोचर्यां नैगमश्चरेत्" (श्रीमद्भागवत् ११।१८।१९) से स्पष्ट है।

सहाई

"भयउ बेहू" की दृष्ट सामग्री एकत्रित होते हुए भी बेहू की अवस्था में न जाते हुए वेदना की सहिष्णुता "सहाई" है जैसा कि 'जड़' शीर्षक में व्याख्यात हो चुका है। निष्कर्ष यह कि स्वमनोरथपूर्ति की आशा भरतमृत्यु की प्रतिबन्धिका हो रही है जैसे व्रज से श्रीकृष्ण का मथुरागमन होने पर उनके विरह से सन्तप्त गोपियों को "सान्त्वयामास सप्रेमैरायास्य इति दौत्यकैः" वचनानुसार उनके दर्शन की आशा ने मृत्यु से बचाया था। अतः "सहाई" कहना उपपन्न है। इस प्रकार "करहि बिचारू" के अन्तर्गत पंचम विचार पूर्ण हुआ।

संगतिः--"करहि विचारू" के अन्तर्गत षष्ठ विचार प्रारम्भ हो रहा है जिसमें भरतजी की आशाओं का विलय होने पर भी मृत्यु न होने की उपपत्ति स्पष्ट होगी।

चौ०—जिन्हहि निरखि मग सांपिनि बीछी। तजहि बिषम बिषु तामस तीछी॥८॥

दो०—तेइ रघुनन्दनु-लखनु-सिय अनहित लागे जाहि।
तासु तनय तजि दुसह दुख दैउ सहावइ काहि ? ॥२६२॥

भावार्थ—तीक्ष्ण तामस प्रकृति सांपिनी व बिच्छी मार्ग में जिनका दर्शन कर कठोर, विषधरता को छोड़ रही है वे रघुनन्दनजी लक्ष्मणजी व सीताजी तीनों जिसको अहित प्रतीत हुए उसके पुत्र भरत को छोड़कर देव किसको दुःख सहावेगा ?

जिन्हहि

शा० व्या०—निम्नलिखितशीर्षकोक्तसाहित्यसिद्धान्त को व "जिन्हहि निरखि मग सांपिनि बीछी" वाक्य को ध्यान में रखकर 'जिन्हहि' से स्नेहमूर्ति व निर्विकार श्रीसीतालक्ष्मणजोसहित श्रीराम, ऐसे तीनों मूर्तियों को संगृहीत किया है।

निरखि

यथोचित प्रीत्यादि स्थायिभाव के आंगिक अनुभावों से परिपूर्ण श्रीरामादि तीनों मूर्तियों को देखना "निरखि" है। इसमें साहित्यसिद्धान्तानुसार कहना यह है कि—नट रंगमंच पर पहुँचकर अभिनय से भावों को नाट्यारूढ़ करता है उसका प्रभाव सामने उपस्थित सभी सामाजिकों के हृदय पर समान रूप से दिखता है जिसका परिणाम उन-उन स्थायिभावों के आनुकूल्य में सामाजिकों की कायिक वाचिक मानसिक चेष्टाओं से स्फुट होता रहता है जैसा कि—

रामो नाम बभूव हुं तदबला सीतेति हुं तौ पितु- ।
र्वाचा पंचवटीवने निवसतः तामाहरद्रावणः ।
कृष्णेनेति पुरातनीं निजकथामाकर्ण्य मात्रेरिताम् ।
सौमित्रे क्व धनुर्धनुर्धनुरिति प्रोक्ता गिरः पान्तु वः ॥

से स्पष्ट होता है। तदनुसार अवध व चित्रकूट में निर्विकार व स्नेहमूर्ति श्रीसीतालक्ष्मणसहित श्रीरामत्रितयको देखकर मार्गवासी पुरवासी आदिकों ने प्रभावित होना कोई आश्चर्य नहीं है अपितु तमःप्रधानप्रकृति तीक्ष्ण विषधरों ने भी उनको देखकर प्रभावित होना महत्त्व की बात है, जो "निरखि" से स्पष्ट है उसका परिणाम "तजहि बिषम बिषु" से स्पष्ट होगा।

मग

योगसूत्रोक्त महाव्रत के अनुष्ठाता (अभिनेता) धर्मतः शुद्धचित्त हो निर्विकारता में विधिप्रपंचमंच पर यदि विचरते है और उन्हें देखकर दुष्टप्रकृति सर्पादि भी प्रीति के संक्रमण में अपने क्रूर स्वभाव को भूलकर मातृपितृभाव से आक्रान्त होते हैं तो उनके अभिनय की सार्थकता समझी जाती है वैसा अभिनय निर्विकार स्नेहमूर्ति श्रीराम आदि त्रितय में बाल्यकाल से स्वतः सिद्ध है जो श्रीसीतालक्ष्मणसहित श्रीराम के पूर्वोदितगुणवर्णन से स्पप्ट है उनकी यह स्वतः सिद्धता सर्वत्र प्रगट है समझाने के लिए "मग" कहा है इसी से पुराणादि में वर्णित वानप्रस्थ एवं सन्यास आश्रम की निर्बाधता स्पष्ट है।

सांपिनि बीछी

"सांपिनि" अन्य क्रूरस्वभाव वालों का उपलक्षक है जैसा कि "पाप करत निसि बासर जाहीं" (२।२५।१।५) से स्पष्ट है।

"सांपिनि बीछी" इन दोनों के उल्लेख से मन्थराजी व कैकेयीजी की ओर भरतजी संकेत कर रहे हैं।

सांपिनी बीछी से उपमानोपमेयगत वैधर्म्य और साधर्म्य का विचार

ज्ञातव्य है कि निर्विकार व स्नेहमूर्ति श्रीसीतालक्ष्मणसहित श्रीराम इन तीनों का दर्शन कर कैकेयीजी व मन्थराजी प्रीति में आती थीं यह प्रसिद्ध है उसी प्रीति रूप उपमा का स्मरण, श्रीरामादित्रितयदर्शन से प्रीति में आयी सांपिनि और बिछी को देखकर भरतजी को हो रहा है यही उपमानोपमेयगत साधर्म्य है।

उपमानोपमेयगत वैधर्म्य का आशय सांपिनि व बीछी में रही अपरिमितप्रमातृता में है। ऐसा वैषम्य होने में कारणता दोहा २।१२ में उक्त सरस्वतीजी का प्रभाव व "बन्धु बिहाइ बड़ेहि अभिषेकू" (२।१०।७) वचन से परिज्ञात श्रीरामसंकल्प में बोध्य है। इस प्रकार उपमानोपमेयगतवैधर्म्य स्पष्ट है।

तर्जहिं

श्रीरामलक्ष्मण व सीताजी में से किसी का भी सामना होने पर उनके स्नेह व निर्विकारिता के अभिनय से प्रभावित सर्पिणी व बिच्छी आदिकों ने सत्वगुण में आकर परिमितप्रमातृता को त्यागना "तर्जहिं" से बोध्य है।

बिषम बिषु

सर्पिणीप्रभृति का विष भी अपने स्वभाव को परिवर्तित कर मारकत्व को त्याग देता है उसका कारण सर्पिणीप्रभृति क्रूरकर्माओं ने अपनी परिमितप्रमातृता को तत्काल में त्यागना है। अतः श्रीरामत्रितयमूर्तिकर्मकदर्शनकर्तृता विषधर में है न कि विष में।

तामस तीछी (नैतिक तत्व)

ज्ञातव्य है कि अन्तःकरण में शास्त्रप्रामाण्य पर विश्वास एवं शुद्धचित्त होकर अहिंसादिव्रत को न अपनाते हुए व्यक्ति प्रीति के अनुभाव को दिखाने की कितनी भी चेष्टा करें तथापि उन (धर्म की उपेक्षा करने वालों) के अभिनय से तामसतीक्ष्ण क्रूरकर्माओं ने प्रभावित न होना "तामस तीछी" से मननीय नैतिक तत्व है।

परिमितप्रमातृता के विलयन का चिन्ह

बिच्छी आदि तामसप्रकृति ने स्नेहमूर्ति निर्विकार श्रीरामादित्रितय के दर्शनमात्र से उनसे अपना हित समझ कर प्रीति में रोमांचित होना परिमितप्रमातृता के विलयन का चिन्ह है। प्रीति का ऐसा ही संक्रमण सेतुबन्ध के अवसर पर जलचरों को होना स्मर्तव्य है।

तेइ

तच्छब्दार्थ—स्नेहमूर्ति, निर्विकार, सर्पादिस्वभावपरिवर्तनकर्तृत्ववान् श्रीरामादित्रितय है।

इस कर्तृत्व की पर्याप्ति श्रीरामादित्रितय में न होकर प्रत्येक में है अर्थात् रघुनन्दन आदि के पृथक्-२ उल्लेख से श्रीरामादि कों में स्वातन्त्र्येण अपनी-अपनी अभिनयकर्तृता भी ज्ञातव्य है। तीनों के पृथक्-२ उल्लेख का प्रयोजन अग्रिम शीर्षक में स्फुट है।

जाहि

"जाहि" अनहित लागिविशिष्टा कुटिला जननी यत् शब्द का अर्थ है।

"जाहि" से साश्चर्य असंभूतिसंभावना प्रगट हो रही है क्योंकि श्रीरामादि के

चरित्रों को देखते समझते हुए भी राज्याभिषेक के अवसर पर ही कैकेयीजी के हृदय में परिमितप्रमातृता के संस्कारों का तिरोधान न होना ईश्वरीय संकल्प का आश्चर्यजनक प्रभाव है।

साधुओं को सावधान

ज्ञातव्य है कि त्रेतायुग में रघुनन्दनादि तीनमूर्तियों को देखकर भी परिमितप्रमातृतासहकृत स्वार्थसंस्कार तिरोहित न हो सके तो तमःप्रधान काल में स्वार्थसंस्कारबाहुल्य का तिरोधान होना अतिदुष्कर है सोचकर मुनियों ने साधुसेवकों को सावधान कराते हुए श्रीरामशरणागति में रहते हुए ब्रह्मण्य को जगाने का उपदेश देना उपपन्न है जो तृतीयखण्ड की भूमिका में स्पष्ट है।

तासु तनय

तत्:— उद्बुद्ध परिमितप्रमातृतासंस्कारविशिष्ट स्वार्थलोलुपा कुटिला माता तच्छब्दार्थ है। तादृशमातृकृतिप्रयुक्तदुःखसमुच्चय (पितृमरण, जननीकुमति, विकल महतारी, बिना पादत्राण के श्रीराम का वन की ओर गमन) फलभोक्तृता यदि किसी में आ सकती है तो एकमात्र कैकेयीपुत्र में ही कहने हेतु ''तासु तनय'' कहा है।

अथवा :—कैकेयीजी के उद्बुद्ध स्वार्थसंस्कारों की अतिरोधानता व भरतजी के लोकातीत दुःखसमुच्चय की कारणता के अच्छेदक का आन्वीक्षिकीकौशल से विचार ज्ञातव्य है इसलिए कि प्रपत्तिसिद्धान्त के अनुसार दृष्टिपथ में आनेवाले किसी समाज में कहीं भी कुटिलकर्मकर्तृत्व व भरतदुःखसमुच्चयदुखसदृशदुःख दृष्टिगोचर नहीं हो रहा है फलतः कैकेयीत्व को 'तासु' शब्द से कुटिलकर्मकर्तृतावच्छेदकतया व भरतत्व को 'तनय' शब्द से दुःख समवायिकारणतावच्छेदकतया समझना है।

अथवा :—सत्पुत्र को जन्म देकर भी सती माता ने कुमति में आकर उसके प्रभाव से सात्विकसंस्कारों को लुप्त कर तमोगुणपरिवेष्टित परिमितप्रमातृभाव में निन्दित संस्कारों को उद्बुद्ध करना ऐसे परस्पर विरोधी तत्त्वों के प्रादुर्भाव में माता को हेतु कहने वाला तनय "तासु तनय" है।

तजि

"तजि" से भरतातिरिक्त में "देउ सहावइ काहि ?" रूप प्रश्न से परिसंख्या समझाई है क्योंकि प्रपतिसिद्धान्त किसी में भी दोषदर्शन करना उचित नहीं मानता जो पूर्वव्याख्याओं में द्रष्टव्य है।

दुसह दुख

"दुसह" से समझना है कि भरतजी जैसे प्रपन्नों के अतिरिक्त कोई भी पुरुष ऐसा नहीं है जो उपर्युक्त असह्यवेदना का सहिष्णु हो सकता है जैसा कि "सहिउं सब सूला"[1] में निरूपित है। उसकी उपपत्ति "न बेहू" शीर्षक में ज्ञातव्य है। अतः दुःख को "दुसह" से विशेषित किया है।

१. २।२६२।३

दैउ

"दैउ" से भरतजी द्वारा अपनाया गया त्रयो से संकल्पित भक्तिप्रयोगविशेष समझना है क्योंकि वह स्वयं भरतजी को व ऋष्यादिकों को भी अज्ञात है तथा शास्त्रों में अनुपलब्ध है। इसी की पुष्टि में "मुनिमति ठाढ़ि" आदि वचन के साथ "बिधिप्रपंच महँ सुना न दीसा"[1] आदि श्रीरामवचन स्मर्तव्य है। "दैउ" की यह पारिभाषिक व्याख्या विद्वानों के लिए मननीय है। इसकी उपपत्ति "ईस अधीन जीवगति जानी"[2] की व्याख्या में द्रष्टव्य है।

सहावइ

प्रभु के ही अन्तःकरण में स्फुरित संकल्पात्मक त्रयीप्रयोगविशेष की करामात को 'सहावइ' से समझा रहे हैं जिसने भरतहृदय को कठोर बनाकर उनसे असह्य अलौकिक दुःखपरम्परा को सहाते प्रपत्ति के सिद्धान्त को प्रकाशित किया है।

प्रपत्ति में रहे सेवक, स्वामिसेवाप्रयुक्तआनन्द में इतने विभोर होते हैं कि उन्हें विषयान्तर, अनास्वाद्य व उपेक्ष्य प्रतीत होते हैं वैसों को स्वामिसेवा से वंचित होने की स्थिति प्राप्त होती है तो तत्प्रयुक्त दुःख सहने के प्रतीकारार्थ एकमात्रस्वामिसेवोपलब्धि ही चिकित्सा मानी गई है। ज्ञातव्य है कि विपत्तिकाल में "साधुमत लोकमत नृपनयनिगमनिचोरि" समझकर प्रपन्नों को इष्ट स्वामिसेवारुचिपूर्ति स्वामी के द्वारा होना निर्णीत है तथापि प्रपन्न विपत्तियों से घबडा कर अपनी ओर से सेवाकी याचना कर प्रपत्ति को दूषित कराने का औचित्य नहीं समझते अन्यथा सेवा की याचना करना वाणिज्य का रूप होगा अतः भरतजी ने प्रपत्ति के स्वरूपानुरूप 'सहावइ' कहना उपपन्न है।

दैववाद की पूर्णत्व

ज्ञातव्य है कि "सहावइ" कहकर भरतजी का उस धारणा की ओर संकेत है जो लोक में सर्वत्र फैली है वह इस प्रकार है—राज्य त्यागकर नंगे पैर से वन की ओर जाने के लिए श्रीराम को किसी ने बाध्य किया है तो एकमात्र भरतजी ने ही। इस प्रकार अपनी अतिदुःसहपीड़ा को कहते भरतजी की वाणी का अवरुद्ध होना ही दैववाद की पूर्णता है। इस प्रकार "करहिं विचारू" के अन्तर्गत षष्ठविचार पूर्ण होने के साथ-साथ दैववाद पूर्ण हुआ है।

संगति :—असीमसीमित विपत्ति को दैवविधानानुयायी होकर सहते हुए भरतजी के तूष्णीभाव को देखकर पुनः उनको प्रत्युत्तर से प्रपत्तिस्वरूपोद्घाटन करने में उत्साहित करना है तदर्थ अपेक्षित अधिकारिता को कवि समझा रहे हैं जिससे गुरुजी की तत्वबोधनानुकूलकृति व प्रभु के द्वारा वक्ष्यमाण महावाक्यार्थमननसंपत्ति की पूर्णता में कमी न आवे।

चोपाई :—सुनि अतिबिकल भरत बरबानी। आरति-प्रीति-बिनय-नयसानी ॥१॥

१. २।२३१।८   २. २।२६३।५

भावार्थ :—अत्यन्त व्याकुलता में कही उस भरतवाणी को सुना जिसमें वेदना, प्रेम, विनय व नय पूर्ण है।

अतिबिकल

शा० व्या० : स्वामिसेवाभाव में स्थिर भरतजी का श्रीरामजी ने किए राज्यस्वामित्वत्याग की वेदना से पीड़ित होना "अति बिकल" है।

अथवा :—भक्ति की छत्रछाया में त्रयी का रक्षण होना ठीक है परन्तु उसके द्वारा भक्तिमहारानी का पोषण न होना भरतजी की विकलता है।

अथवा :—क्षत्रिय होकर राज्यस्वामित्व होने या न होने दोनों अवस्था में प्रजा-पालन न होने की वेदना भी विकलता है।

अति विकलता का प्रयोजन

पूर्व में भरतजी का अतितीव्रविह्वल होना बताया गया है। उसके अनन्तर "आवहिं बहुरि रामु रजधानी" की आशा का पूर्ण विलय होने का अनुभव कर तीव्र-तम वेदना से पीड़ित भरतजी का विदेहावस्था में पहुँचना बताया जिसका प्रयोजन निम्न है—

इन्द्र की वक्ष्यमाण घबड़ाहट, माताओं को कतिपय अंश में आश्वासन प्राप्त होना, प्रजा को पूर्ण आश्वासन मिलना, त्रयीरक्षण (भरतजी को राज्यस्वामित्व प्राप्ति), भरतजी को विश्वास है कि उनके द्वारा राज्यस्वामित्वग्रहणानन्तर अनन्त-काल के लिए श्रीराम का राज्यस्वामित्व नहीं होना ये सब "भरतविकलता" के प्रयोजन हैं।

आरति प्रीति विनय नय

आरति :—श्रीराम द्वारा राज्यस्वामित्वस्वीकृत्यतिरिक्त उपाय से अचिकित्स्य वेदना ही 'आर्ति' है।

प्रीति—श्रीराम को सुखमय तत्व समझकर उनकी सेवा में शरीरार्पणात्मक मीमांसापरिभाषितप्रतिपत्तिकर्म में पूर्ण सुखानुभूति होना 'प्रीति' है।

विनय—शास्त्रानुगमन का उल्लंघन न करते लोकमर्यादा में रहते हुए स्वामी का सेवक होना 'विनय[1]' है।

नय—सत्व, धी, उत्साह के बल पर अनुजीविवृत्त को यथावत् कार्यान्वित करना सेवक का 'नय' है।

अथवा—राजनीति के अन्तर्गत भक्तिस्थापना के बाद आन्वीक्षिकी व वार्ता-समेतत्रयी का रक्षण करना 'नय' है।

सानी

आर्ति आदि चारों तत्वों से युक्त प्रपन्नजन में प्रपत्तिस्वरूपोद्घाटन की अधिकारिता ज्ञानी समझायी है जैसा कि संगति में सूचित है।

---

१. विनयो लोकमर्यादाशास्त्रस्यानतिलंघनम्। (भावप्रकाशन)

ज्ञातव्य है कि इसी योग्यता से युक्त भरतजी "करब साधुमत लोकमत नृपनय निगम निचोरि" अनुरोधी महावाक्यार्थसम्पत्ति ज्ञान में अधिकृत हैं ऐसा भाव कवि "सानी" से प्रगट कर रहे हैं।

विनय आदि का प्रयोजन

दोहा २।२५८ में कही गुरूक्तिपूर्ति में (भरत कहहिं सोइ किए भलाई) प्रभुवचन का कार्यान्वियन भरतजी में विनयादि गुणों के रहने पर ही हो सकता था तदर्थ कवि ने उपर्युक्त चौपाई के द्वारा उन गुणों का प्रदर्शन कराया भरतजी ने स्वयं भी तत्तच्चरित्रों से दिखाया है जैसे दुःखभोगकारण की मीमांसा करते हुए दैव को कारण बताकर उसका सम्मान करना, पर के प्रति असूयाद्यभाव को युक्तिपूर्वक निरूपित करना, अवध में गुरुजी आदि से राज्यस्वीकृति का अनुमोदन प्राप्त होने पर भी उस स्वीकृति में स्वामिद्रोह समझकर अवधराज्यस्वामित्व को न स्वीकारना। ये सब तत्व भरतजी के विनय आदि के द्योतक हैं जिनसे लोकानुरागजनकविश्वास्यता एवं वसिष्ठ-भरद्वाजमुनि व श्रीरामजी की प्रीतिपात्रता को भरतजी ने प्राप्त किया यतः उसी में सबका योगक्षेम होना है।

अथवा—प्रमाणमूर्धन्य शास्त्र की अवहेलना व श्रीरामसेवा से वंचित होना इन दोनों तत्वों के अन्यतरसंसर्ग से जिन व्यक्तियों में असह्य आर्ति हो व "प्रभु को ही सर्वपुरुषार्थ मानते हैं" ऐसा सोचकर तदतिरिक्त सभी में असूयाद्यभाव के साथ प्रीत्यभाव हो तो वैसे व्यक्तियोने प्रभुकृपापात्रता के अधिकारी होना विनय आदि का प्रयोजन है।

संगति—भरतजी की वाणी से प्रगट भई पूर्वोक्त वेदना का सभा पर हुआ संक्रमणात्मक परिणाम सुना रहे हैं।

चौपाई—सोकमगन सब सभां खभारू। मनहुं कमलवन परेउ तुसारू ॥२॥

भावार्थ :—विषादस्थिति में सभा ऐसी स्तब्धा हो गई कि मानो कमलवन पर तुषारपात हुआ हो।

सोकमगन

शा० व्या०—शोकः– म० म० गोकुलनाथकृत काव्यप्रकाशव्याख्यानुसार—प्रतियोगिनि प्रीत्या तन्नाशासहिष्णुत्वरूप द्वेष होना ही शोक है। भरतजी की वाणी से प्रगट वेदना का संक्रमण होना सभी की शोकमग्नता है। फलतः अभी ओजोहीन जैसी स्थिति में भरतसमेत सभा का पहुँचना कहा जाय तो अत्युक्ति नहीं होगी।

अथवा—पितृवचनप्रमाणता व श्रीराम की सत्यसन्धता को देखते हुए भरतजी में स्वामिसेवारूप प्रपत्ति से सर्वदा वंचित रहने का भाव ही उनकी शोकमग्नता है।

कमलवन

गुरूक्ति "मोरे जान भरतरुचि राखी" के अनुमोदन में प्रभु की सहमति सुनकर यात्रोद्देश्यपूर्ति की कल्पना में उल्लसित सभासद "कमलवन" के समान है।

तुसारू

'दुख देउ' के अनुसार भरतजी की असमाधेयव्यथासूचक वाणी ही तुषार है। उसका श्रवणेन्द्रिय के द्वारा सभासदों के हृदय में छिड़काव होना तुषारापात है जो भरतजी के स्नेह का अनुमापक होते हुए भरतसमाज को उत्साहहीन कर रहा है। यही कमलवनरूप सभा का मुर्झाना है।

संगति :—भरतजी के जीवित न रहने की दशा का उपचार होना आवश्यक है, सोचकर वसिष्ठमुनि ने की हुई चिकित्सा सुना रहे हैं।

चौ०—कहि अनेकबिधि कथा पुरानी। भरत प्रबोधु कीन्ह मुनि ग्यानी ॥३॥

भावार्थ :—पुराणों में वर्णित अनेकविध कथाओं के माध्यम से ज्ञानी मुनि ने भरतजी को जगाया।

अनेकबिधि

शा० व्या० :—दु:ख की अनेकविधता भरतवाणी में निरूपित है उन दु:खों के प्रशामक वचनों की विविधता ही "अनेकबिधि" है।

कहि

कहि :—जिन चरित्रों से प्रस्तुत जटिल समस्या का समाधान पुराणों में गाया है उन समाधानो के अन्वेषण की युक्तियों को मुनि ने गाना ही "कहि" शब्द का अर्थ है।

अथवा—अंगभूत प्रमाणात्मक समस्तविद्याएँ व अंगीभूत प्रपत्ति के पारस्परिक पोष्यपोषकभावदर्शक पुराण व इतिहासोक्त युक्तियाँ भरतजी को सुनाना "कहि" से समझना है।

पुरानी (स्मृति प्रामाण्य)

पुराणोक्त कथाएँ पुरानी हैं जो गुरुपरम्परा में परिगृहीत हैं।

अथवा—अर्थशास्त्रानुसार जिनकी गणना इतिहासों में की है उनसे भरतसमेत सभा को धैर्य व स्वास्थ्य प्राप्त होना है और प्रभु के वचनार्थ का अवगाहन होना है। अतः पुरानी कहा है इसमें स्मृतिप्रामाण्य मननीय है।

भरत प्रबोधु (चिकित्सा)

आत्मशोषक, अज्ञानजन्य शोक का नाश होने में कारणभूत तत्वज्ञान 'प्रबोध' है। "सौंपेहु राजु राम के आए" के क्रियान्वयन में गुरूपदेशों में निरूपित अनेकविषयों का निष्कर्ष "सोचनीय सबही बिधि सोई" आदि है उसी को मुख्य मानकर भरतजी भी प्रभुप्रसन्नतार्थ अवध से चले और "दीयमानं न गृण्हन्ति विना मत्सेवमं जनाः" से कहा भक्तों का स्वभाव चरितार्थ करते चित्रकूट की सभा में उपस्थित हुए पर "आवहि बहुरि रामु रजधानी" विषय में रातभर चिन्तन करते हुए भी सर्वोपायशून्यता की स्थिति (एकउ जुगुति न मन ठहरानी) में भरतजी "देउ सहावहि" कहते अबोध निद्रा में निद्रित हुए अतः वसिष्ठजी ने तत्वज्ञान से उनको प्रबोध कराया। आशय यह कि प्रमाणभूतवचन परस्पर विरोधी मालूम होते हुए भी वे विरोधी नहीं होते न तो उद्देश्य (भक्ति) व अंगों (राजनीतिआदिसमवेत त्रयी) का पारस्परिक पोष्यपोषक

भाव ही टूटता है यतः विरोधी वचनों के समन्वय की प्रक्रिया को उचित ढंग से लगाने का प्रतिभूत्व आन्वीक्षिकी ने ले रखा है। ऐसा समझकर भरतजी ने देवप्रयुक्तवेदना से मुझनि में अनौचित्य का प्रबोध पाना "प्रबोधु" से विवक्षित है यही मुनि की चिकित्सा है जो संगति में सूचित है।

मुनि

मुनि :—युक्तयोगी आन्वीक्षिकीकुशल "मुनि" हैं।

अथवा—कर्मतन्त्रप्रणेता मुनि हैं।

ग्यानी

ग्यानी :—अंगी (भक्ति) व अंगभूत विद्याओं (राजनीति समेत त्रयी) में पारस्परिक समन्वय के ज्ञाता, अंकुशस्थानापन्न वसिष्ठ गुरुजी "ग्यानी" से विवक्षित हैं।

संगति :—गुरुजी के द्वारा जिस प्रकार का प्रबोध कराने की विशेष सूचना प्राप्त है उसी का सुस्पष्ट निरूपण श्रीराम के वचनों से होगा उसका उपक्रम कवि कर रहे हैं।

चौ०—बोले उचितबचन रघुनन्दू। दिनकरकुलकैरववन चन्दू ॥४॥

भावार्थ :—सूर्यकुलरूपिणी कुमुदिनी को विकसित करने वाले रघुनन्दनरूप चन्द्र उचित वचन बोले।

उचित (ईश्वरकर्तृत्ववादस्थापनोपक्रम)

शा० व्या० :—भक्ति (प्रपत्ति) योग में पली हुई त्रयी (श्रीरामवचन[1] और कैकेयी वचन[2]) के समन्वय के हेतु आन्वीक्षिकीप्राप्त विवेकप्रचुर विषय सुनकर ईश्वर, राजा व गुरु को आमोद होना बोलने का औचित्य है जिसमें दिवंगत राजा व गुरु वसिष्ठ आदि साधुओं का प्रसाद भी प्राप्त होना है जैसा कि काव्यप्रकाश टीका[3] में स्पष्ट है।

अथवा :—कैकेयीजी के द्वारा सरस्वतीजी ने जिस अन्तर्निगूढ भक्तरुचिपूर्ति का होना निर्णीत कर राजटीकारूप वर की याचना की है उसी भक्तरुचिपूर्ति के आनुकूल्य में अपेक्षित प्रपत्ति की स्थिति को प्रथमतः श्री राम के द्वारा स्वीकार कराने का संकेत 'उचित' से कवि ने दिया है, यतः ऋषि (वसिष्ठजी) प्रोक्त प्रबोधविषय को ध्यान में रखते हुए प्रभु प्रपत्ति की उस प्रकार से प्रतिष्ठा प्रथमतः करेंगे जिसकी छत्रछाया में त्रयी का पूर्ण रक्षण होगा।

वचन

वचन :—शिष्यों को आह्लाद देने वाला आचारविशेष, 'वचन' से विवक्षित है।

---

१. भरत प्रानप्रिय पावहि राजू (२।४२।१)   २. २।२९।३

३. येनाचारेण सेव्यमानो राजगुरुदेवादिरभीष्टफलदस्तत्त्वमेवाचारस्यौचित्यम्।

दिनकरकुलकैरव

सूर्य वंश प्रकाश से परिपुष्ट होने पर भी त्रयी, राजनीति और भक्ति के पारस्परिक विरोध का अवसान न देखकर उसके परिणाम में संपूर्ण सूर्यवंश मुर्झा गया मालूम पड़ता है क्योंकि उसको अपने पतन की संभावना मालूम हो रही है।

चन्दू

"चन्दू" रघुनन्दन का विशेषण है अर्थात् रघुनन्दन ही एक ऐसे हैं जो पूर्णप्रकृत घटनाओं को आरम्भ से अन्त तक प्रतिभात कर भक्ति का अंगित्व स्थापित करते हुए उसकी छत्रछाया में संपूर्ण विद्याओं को समन्वित कर त्रयी के प्रति अपना पूर्ण प्रेम व्यक्त करेंगे जिससे मुर्झाये हुए रघुकुलरूपकुमुद का पूर्णतया विकास होगा। अतः रघुनन्दन को 'चन्दू' कहना उपपन्न है।

रघुकुलचन्द्र और सूर्यकुलकुमुदरूपक का प्रयोजन

ध्यातव्य है कि "मनहुँ कमलवन परेउ तुसारू;" से रघुकुल में प्राप्त शोकजन्य-मलिनता को दूर कर उस कुल को उल्लसित वातावरण में लाने हेतु कैसा कार्य करना? समझाने के लिए रघुकुलचन्दु और सूर्यकुलकुमुद का रूपक उल्लिखित है।

संगति :—मुनि ज्ञानी के सुनाये वचन से प्रबोध की कार्यकारिता में अपेक्षाकृत कमी देखकर प्रभु उसको पूर्ण कर रहे हैं।

चौ०—तात ! जायँ जियँ करहुँ गलानी। ईसअधीन जीवगति जानी ॥५॥

भावार्थ :—(श्रीराम, भरतजी से कह रहे हैं) हे तात ! तुम व्यर्थ ग्लानि मत करो क्योंकि जीव की गति ईश्वर के अधीन है।

जायँ

शा० व्या०—"जायँ" से "दुःख देउ सहावइ काहि ?" में उक्त भरतजी की तीव्रतर ग्लानि का प्रतिषेध कर रहे हैं उसके उपपादक वचन 'ईसअधीन जीवगति जानी' है उससे प्रपत्ति का उद्घाटन समझना होगा।

जियँ करहु

अप्रतीकार्य दैव से प्राप्त असह्य वेदनारूप प्रतिवन्धक के रहते भरतजी को वक्ष्यमाण विषयों का प्रबोध नहीं होगा अतः "जियँ करहु" से श्रीराम उस वेदना का निरास कर रहे हैं जिससे प्रबोधोत्पत्यर्थ कही जाने वाली वक्ष्यमाण युक्ति (उत्तरार्ध) भरतजी के लिए कार्यकारिणी होगी।

गलानी

"गलानी" का अर्थ ओजोहीनता है जिसका परिणाम ओजोहीनतापूर्वक सत्त्व-गुणविनाश के द्वारा मूलच्छेदन में है।

ईस अधीन (ईशकर्तृत्वस्थापना, प्रपत्तिस्वरूपोद्घाटन)

"ईस" से स्वामी प्रभु विवक्षित हैं।

"अधीन" से स्वामी प्रभु की प्रेरणाप्रयोज्यता ज्ञातव्य है उसका अन्वय 'जीवंगति' से है। इसको समझने के पूर्व 'अधीन' का तथ्य मननीय है।

अधीनतथ्य

सत्वादि गुणवृत्तियों से आबद्ध जीव स्वयं की अज्ञता से स्वतन्त्रकर्तृता में रहकर जब स्वयं को पतन की ओर देखता है उस अवस्था में सम्पूर्ण पुरुषार्थ जीवों को छोड़कर चले जाते हैं तब वह स्वतन्त्रकर्तृता के वैयर्थ्य में दुःखी होता है अतः उन अज्ञ जीवों ने प्रभु चरणों में झुकना होगा तभी 'ईस अधीन' चिकित्सा कार्यकारिणी हो सकती है।

निष्कर्ष यह कि ईश्वर जगत् के स्वामी हैं ऐसा सोचते स्वातन्त्र्येण अपनाई अपनी सम्पूर्णकर्तृता को निरस्त कर जीव यदि ईश्वर को स्वामिरूप में अपना लेता है और शास्त्ररूपप्रमाणप्रमेयता के सहारे ईश्वर की प्रेरणा समझकर तत्प्रयोज्यकर्तृता अपने में स्वीकृत करता है। उस दशा में ईश्वर ही एक मात्र प्रपन्नों पर आई घटनाओं का कारण होते हैं क्योंकि प्रपत्तिमात्र से दैव का विनाश हो चुका है वह न फल का स्वामी होता है न तो वेदना का ही अधिकारी है यही प्रपत्ति का रहस्योद्घाटन है। भरतजी स्वाभाविक प्रपन्न सेवक हैं उनका चरित्र अज्ञानी के समान नहीं है अतः उन्होंने ग्लानि करना उचित नहीं है। इसी रहस्य की ओर संकेत कर '-ईस अधीन' से श्रीराम ने भरतजी को प्रथमतः प्रबोध कराना उपपन्न है। इसकी एकवाक्यता में "जगु काहु न देइअ दोषु"[१] स्मर्तव्य है।

दैववाद में ईशअधीन जीवगति की मीमांसा

अनाद्यविद्याबद्ध होकर जीव रागद्वेष में आकर वेदविरुद्ध या तदविरुद्ध आचरण करता है फलतः उसको तत्कर्मानुरूप फल प्रदान करने के लिए परमेश्वर साक्षी हो विधि के माध्यम से योग बनाते रहते हैं। जैसे गुहजी को लक्ष्मणजी ने सुनाए "निजकृतकरम-भोग सबु भ्राता" से स्फुट है। इस दैववाद के मत से जीवगति के प्रति ईश्वर की अधीनता इसलिए कि देहत्याग के बाद उत्तरजन्म की मध्यावधिमें जीवमात्र करणादि-सामग्रियों के अभाव से निष्क्रिय रहता है अतः उसको तत्तद्देहाभिमान में अभिमुख करने के लिए स्वतन्त्रतया ईश्वर चालक के रूप में माने जाते हैं अतएव ईश्वर ने जीवों को तत्तत्कर्मानुरूप फल प्रदान करने के लिए अपेक्षित सांसारिक विषयों का निर्माण किया है जो कार्य जीव नहीं कर सकता अतः जीव वेदना से छूट नहीं सकता इस प्रकार प्रपत्तिसिद्धान्त से दैववाद अपना पृथक् वैशिष्ट्य रखता है यही उसकी मीमांसा।

जानी (प्रबोध)

त्रयीमर्यादित गुरुभक्ति में रहने वालों के लिए आन्वीक्षिकी के माध्यम से प्रबोध होना "जानी" है क्योंकि समझदारी में अप्रामाण्यज्ञाना स्कन्दितत्व व असन्दिग्धता लाने हेतु आन्वीक्षिकी का उपयोग करने पर ही "जानी" की सार्थकता मानी जाती है।

१. २।२४४। २. २।९२।४

प्रबोध की उपादेयता

अयोध्या की सभा में ज्ञानी आन्वीक्षिकीकुशल वसिष्ठजी ने "सुनहु भरत! भावी प्रबल बिलखि कहेउ मुनिनाथ। हानि लाभु जीवनु मरनु जसु अपजसु बिधि हाथ" (२।१७१) से "रघुपति आए उचित जस तस तब करब बहोरि" (२।१७५) पर्यन्त भरतजी को समझाया है किन्तु गुरुजी के उस प्रबोध में स्वामिसेवा से निरन्तर वंचित होने का भय भरतजी को बना रहा जिससे वह कार्यकारी नहीं हो पाया। अतः मुनि ज्ञानी के द्वारा सुनाए प्रबोध की कार्यकारिता में अपेक्षाकृत हुई कमी को पूर्ण करना प्रभु के अधीन होने से श्रीराम द्वारा किये भरतप्रबोध की उपादेयता सिद्ध होती है। जैसे श्रीकृष्ण के उपदेश से अप्रबुद्ध युधिष्ठिरजी को भीष्मपितामहजी ने सुबुद्ध किया था एवं स्वायम्भुव मनु श्रीरामदर्शन से आनन्दित हुए थे। इस प्रकार प्रभु ने प्रपन्नों की दृष्टि से दैव (कर्म) वाद समाप्त कर ईशाधीनता स्थापित की जो भरतजी को इष्ट होने से उनके हक में तुष्टिप्रद रही। यही प्रबोध की उपादेयता है।

बोध का परिपाक

'ईसअधीन जीवगति जानी' सुनते ही भरतजी इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि प्रपन्नों की रुचि के प्रतिकूल कार्यसम्पत्ति होने में प्रयोजक के रूप में दैव को प्रतिषिद्ध कर प्रस्तुत घटना के प्रति प्रभु अपनी हार्दिक प्रेरणा में वह प्रयोजकता ध्वनित कर रहे हैं। फलतः मातृमतिपरिवर्तन से आरम्भ कर श्रीरामवनवास होने तक प्रभु का स्वसंकल्प कार्यकारी हो रहा है जो अव्यक्त होता हुआ अभी व्यक्त हुआ ऐसा सोचते ही भरतजी को ग्लानि ने त्यागना प्रबोध का परिपाक है।

प्रपत्ति की विशेषता

एक ओर विश्वरचनावैचित्र्य के मूल में कर्म की प्रधानता मानी है दूसरी ओर प्रतिपत्यवस्थापन्न जीव को गतिमान् बनाने में ईशपराधीनता गाई गई है उन दोनों का समन्वय, प्रतिपत्तिबहिर्मुख व प्रतिपत्तिसम्मुखभेदेन ज्ञातव्य है। आशय यह कि प्रपत्तिबहिर्मुख जीवों की गतिविधियां दैव के अनुसरण में फलभोग को ध्यान में रखते हुए ईश्वर से संचालित होती रहती है और प्रपन्नों की रुचि के विरोधाविरोध में समस्त गतिविधियां फलभोग के अनुसन्धान पर नहीं किन्तु नीति व नीत्याभास की शिक्षा देने हेतु ईश्वरसंकल्पविशेषाधीन होती रहती हैं जैसे "बिमलबंस यह अनुचित एकू"[1] संकल्प की परवशता में मातृकुमति से लेकर श्रीरामवनवास तक की घटना होना कहा जा सकता है। ऐसी घटनाओं के पीछे दैव को प्रतिषिद्ध करने का कारण प्रपन्नों में दैव का अभाव है क्योंकि प्रपन्नों के हृदय में होनेवाली स्वामिविरहप्रयुक्तव्यथा पापनाशक है और उनके अन्तःकरण में नवविधभक्ति

१. २।१०।३

संपृक्त–ईश्वरदर्शनानन्द से पुण्य भी ध्वस्त होता है जैसा कि 'दुःसहप्रेष्ठविरहतीव्रतापधुताशुभाः ध्यानप्राप्ताच्युताश्लेषनिर्वृत्या क्षीणमंगलाः"[१] से निर्णीत है।

संगतिः—रघुनन्दनरूप चन्द्रमा से प्राप्त उचितवचनरूप किरणों के सम्पर्कों से भरतरूप कुमुद का विकसित होना देखकर प्रभु प्रसन्नता में भरतजी का वास्तविक रूप गा रहे हैं।

अथवा:—ईश को समस्या का कारण समझकर भरतजी अपने को सब समस्याओं के कारण से मुक्त होना समझकर ग्लानि से मुक्त हुए तब उनकी स्तुति प्रभु ने प्रारम्भ की।

अथवा:—"सब अनरथ कर मूला" का उत्तर सुना रहे हैं।

चौ०:—तीनि काल तिभुअन मत मोरें। पुन्यसिलोक तात! तर तोरें ॥६॥

भावार्थ:—मेरे मत से तीनों लोक और तीनों काल में तात! तुम पुण्यश्लोकों में मुकुटमणि हो।

तीनि काल

शा० व्या०:—"तीनिकाल":– भूत, भावी, वर्तमान ये काल तीनों काल है।

मत मोरें

मतमोरे :–सत्परामर्शयुक्त बिवेक से निर्णीत उपदेश "मत मोरे" से ज्ञातव्य है।

पुन्यसिलोक

पुन्यसिलोक :—माता, पिता, गुरु, देव, भक्त, सदाचारपरिनिष्ठित जितात्मा, व त्रय्यनुगामी नीतिमान् पुण्यश्लोक कहे जाते हैं।

तर तोरें (प्रकृतिविकृतिभाव)

"तर तोरें" कहकर निम्नोच्चभाव समझाने में प्रभु का तात्पर्य न होकर मीमांसापरिभाषित प्रकृति-विकृतिभाव व्यक्त करने में हैं अर्थात् संसार में जो भी पुण्यश्लोक हैं उनके कीर्ति, नय, विनय, प्रीति, आर्ति सभी गुण गेय है परन्तु वे सभी गुण एकसाथ उन पुण्यश्लोकों के चरित्र में पूर्णतया गाए है ऐसा कहा नहीं जा सकता अतः भरतातिरिक्त पुण्यश्लोकों के चरित्रों में भक्ति के सम्पूर्ण अंगों का उपसंहार परिलक्षित नहीं हो रहा है फलतः यह कहना होगा कि भरतातिरिक्त पुण्यश्लोकों के जितने चरित्र हुए हैं उनमें प्रपत्तितत्व के समन्वयार्थ जो भी अंग अनुष्ठेयतया दिख रहे हैं वे उनके अपने न होकर भरतीयभक्तिद्वारा आतिदेशिकन्यायेन प्राप्त हैं क्योंकि भरतचरित्र में जो प्रपत्ति का प्रयोगविशेषगाया गया है उसमें सम्पूर्ण अंगों का उपसंहार दृष्टिगोचर हो रहा है उसमें भी विशेषतया यह स्मर्तव्य है कि नय, परमार्थ विवेक विनय को ध्यान में रखकर भरत जी के अपनाये आदर्श में राजनीत्युपबृंहित समस्त विद्याओं की स्थापना व आन्वीक्षिकीयुक्त दिशा के साथ

---

१. भा. १०।२९।१०

भक्ति की प्रतिष्ठा आदि[1] स्फुट है। इसी प्रकृतिविकृतिभाव को भरतजी व पुण्यश्लोकों में देखकर "पुन्यसिलोक तात ! तर तोरे" कहा है।

अथवा :—पुण्यश्लोक से राजनीतिपुष्ट भक्ति की छत्रछाया में रहे पुण्यात्मा विवक्षित हैं वे सभी किसी न किसी भीतिरूप उपाधिहेतु से पुण्यश्लोकता प्राप्त किये हैं किन्तु नैतिक सिद्धान्त से परिपुष्ट भक्ति की छत्रछाया में भरतजी का रहना भीतिरूप उपाधि से प्रयुक्त न होकर स्वाभाविक है जैसा कि यह भेद "गोविन्द एव निखिलात्मनि रूढ़भावाः वांच्छन्ति यद्भवभियो मुनयो वयंच[2] इस भागवतोक्ति से गोपियों के बारे में उक्त है, अर्थात् गोपियों को श्रीकृष्ण के प्रति प्राप्त तन्मयता के पीछे उनका भवभय आधार न होकर गोपियों का अपना स्वभाव ही आधार था उसी प्रकार आन्वीक्षिकी-राजनीति त्रयीप्रतिष्ठासहकृत श्रीरामभक्ति में भरतजी को जो तन्मयता की प्राप्ति हुई है उसके पीछे उनका निरुपाधिक स्वभाव ही आधार है जो अन्यत्र नहीं है। अतएव "भरतदरस मेटा भवरोगू" व भवरसविरति कहना उपपन्न है। इस अन्तर को "तर तोरे" से व्यक्त किया गया है।

अथवा—त्रयीवचनप्रमाण के अनुगमन में श्रीराम ने अयोध्या के स्वामित्व को त्यक्त किया जिसके पीछे आधार रूप में "वनवासः शुभः त्रयीवचनप्रमाणप्रमितत्वात्" यह अनुमानप्रणाली निरूपित है उसी प्रकार अन्यपुरियों के लिए भी प्रभु का सत्वत्याग करना असम्भव नहीं था उसके निरसनार्थ सर्वत्र उपर्युक्त अनुमान के पूर्व परामर्श के समय ही पक्षधर्मता के निश्चयक्षण में प्रपन्नरुचिपूर्ति का निश्चय करने के लिए भरतजी ने श्रीरामजी को बाध्य किया है। फलस्वरूप श्रीराम को अयोध्या का स्वामित्व स्वीकारना पड़ा। इस प्रकार अन्य पुरियों में भी सदा के लिए पभु के स्वामित्व की स्थिरता मननीय है। अतः भरतजी को "तात ! तरतोरे" कहा है।

प्रभु के स्वतन्त्र संकल्प का लक्ष्य

"पुन्यसिलोक तात ! तर तोरे" कहकर भरतजी में कीर्तिपात्रता होना समझाया है। उसी को ध्यान में रखते हुए प्रभु ने प्रस्तुत समस्या का उत्थान कराया न कि देव ने। जैसा कि "ईस अधीन जीव गति" से स्पष्ट है। निष्कर्ष यह कि कैकेयीजी के याचित वर से लेकर श्रीरामवनवास तक जो भी कार्य सम्पन्न हो चुके हैं वे सभी प्रभु को अभ्यर्हित थे। यतः उतने कार्य पूर्ण किये बिना भरतजी को पुण्यश्लोकतमता प्राप्त नहीं

---

१. बाल्यकाल से निश्छल सेवा में रति, क्रीड़ा करते स्वविजय के प्रति गर्वाभाव, माताजी के द्वारा राज्यप्राप्ति सुनकर मनोमालिन्य, श्रीरामवनवास के प्रति राजमरणदुःखाधिकपीड़ा, कैकेयीवरानुसरण में पापप्रसक्ति, अवधसभा में सर्वसम्मतराजपदप्राप्ति में असन्तोष, प्रभु को मनानें हेतु चित्रकूटयात्रा, सदा विद्वदंकुश में स्थिति, प्रभु से प्रशंसा सुनकर संकोच, स्वामी के आदेशपालन में स्वहितदर्शन, विद्याओं व भक्ति का बलाबल, भक्तिप्रपत्ति में विनोव मौति के साथ त्रयी की प्रतिष्ठा, भक्ति की छत्रछाया, परदोषदर्शनाभाव, अगाध प्रेम, (संभोग व विप्रलम्भ) विश्रान्त्यभाव, विवेकसाम्राज्यदर्शन, श्रीरामराज्योत्सवदर्शन में सुखानुभूति, विश्वासपात्रता, गूढस्नेह, राज्यसंचालन, श्रीरामसंपत्तिरक्षण, उपधायद्धि। २. १०।४७।५८

हो सकती थी अतः प्रभु ने उपर्युक्त घटना बनाना दोष नहीं अपितु उपादेय है, ऐसी उपादेयता को न्यायभाषा में "नान्तरीयकतया प्राप्ति" से संकेतित किया गया है। इसलिए प्रभुद्वारा भरतरुचि के विरुद्ध यह घटना बनाना, उनको कष्ट देना नहीं अपितु कीर्तिमान् बनाना है।

श्रीराम ने सुनाये वचनों की एकरूपता

पुण्यश्लोकतरत्व भरतजी में ख्यापित कराने हेतु कैकेयीजी के कुटिल कर्म में नान्तरीयकतया समझकर ही प्रभु ने "बिधि सब बिधि मोही" (२।४२।१) "जननी तोर" (२।४१।१) कहा व "भरतप्रान प्रिय पावहि राजू" सुनाया तथा 'प्रबोधु वहोरि' से कैकेयीजी को प्रबुद्ध कराकर तत्पश्चात् "ईस अधीन" सुनाकर कौसल्याजी को सन्तुष्ट किया। इस प्रकार "पुन्यसिलोक तात! तर तोरे" तक कहे गये श्रीराम के वचनों में एकरूपता मननीय है।

संगति :—दोहा २।२६२।८ में "तासु तनय" कहकर भरतजी ने माता की कुटिलता के साथ अपने में रही अनर्थमूलता को निन्दित किया था उसका उत्तर प्रातिलोम्येन आगे दे रहे है जिससे अपने ऊपर आये हुए अनर्थमूलतारूप आक्षेप की निवृत्ति में सहायता प्राप्त हो सके व 'ईस अधीन' का तथ्य प्रकाश में आ सके।

अथवा :—दोहा २।२५९।८ में 'भलाई' कहकर भरतजी में श्रीराम ने कौटिल्याभाव निर्णीत किया है अभी कौटिल्य की आहार्यशंका करने वालों को सावधान कर रहे हैं।

चौ०—उर आनत तुम्ह पर कुटिलाई। जाइ लोकु परलोकु नसाई ॥७॥
दोसु देइ जननिहि जड़ तेई। जिन्ह गुर-साधुसभा नहिं सेई ॥ ८ ॥

भावार्थ :—तुम्हारे ऊपर-कुटिलता का आरोप कोई मनस् में भी लाते हैं तो उनका इहलोक व परलोक दोनों बिगड़ेगा। कैकेयी माताजी पर कोई दोष मढ़ता हैं तो उन्होंने गुरु, साधु आदि की सेवा न करने से अपनी मूढ़ता को कायम रखा है।

कुटिलाई

शा० व्या० :—"कौटिल्य" शब्द मातृभर्त्सनादिक्रूरकर्म का भी उपलक्षक है। कौटिल्य से विसंवादिता बोध्य है जैसा कि जगत् में अपनी श्रीरामभक्ति प्रसिद्ध कराना व भीतर (मनस्) से श्रीराम को वन में भेजना आदि चरित्र पूर्वपक्ष मत से लक्ष्मणजी ने गाये हैं।

ध्यातव्य है कि इस चौपाई में "उर आनत तुम्ह पर कुटिलाई" हेतु वाक्य है व "जाई लोकु परलोकु नसाई" वाक्य है।

अथवा :—अन्वयव्यतिरेकसहचारपक्षसे इस चौपाई में "उर आनत तुम्ह पर कुटिलाई" कारण है ओर "जाइ लोकु परलोकु नसाई" कार्य है अर्थात् उक्त दोनों प्रकार से "अयं परलोकेहलोकद्वयनाशकर्ता अदुष्टभरतविशेष्यक दुष्टत्वप्रकारकचिन्तनकर्तृत्वात्" ऐसी अनुमानप्रणाली प्रभु अपने वचनों से समझा रहे हैं।

उक्त हेतु के अन्तर्गत कहे कौटिल्य व क्रूर कर्म जो लक्ष्मणजी द्वारा प्रसिद्ध

हुए हैं जैसे--कैकयदेश में पहुँचकर भरतजी ने कैकेयी माता को वरयाचना का अवसर देना एवं मातृभर्त्सना, अवधसभा में गुर्वाज्ञापालनाभाव व श्रीराम-वनवास पीड़ा में उरस् (हृदय) का विदीर्ण न होना आदि।

उर आनत का विशेष भाव

इतिहासतः वास्तविकता का परिचय होने पर भी विपरीत शंका करते रहना कतिपयों का स्वभाव है जैसे 'अग्निशुद्धौ त्वनिश्चयः स्त्रीलोभी बिभृयाद्रामः' आदि से वर्णित है यही "उर आनत" का विशेष भाव है।

क्रूर कर्म की मीमांसा

ज्ञातव्य है कि भरतजी में कौटिल्याभाव स्वीकार्य है किन्तु मातृभर्त्सना जैसा क्रूरकर्म भी उनमें समाहित है, उसमें उत्तर में यही कहना है कि श्रीरामभक्ति में सुरक्षित त्रयी, राजनीति विनय, नय, विद्या की प्रतिष्ठा में वह भर्त्सना साधक होने से दोष का परिणाम गुणरूप में सिद्ध हुआ है अतः मातृभर्त्सना क्रूर कर्म होती हुई भी क्रूर नहीं है। यही न्याय गुर्वाज्ञापालनाभाव के बारे में मननीय है। इस निर्णय के पीछे सुमन्त्र के द्वारा भेजे गये श्रीरामसन्देश के अनुसार यात्रा में भरतजी ने की हुई कैकेयीसेवा मननीय है।

नसाई

वर्तमान में भरतजी का इतिहास जानते हुए उन पर दोष आशंकित है तो परलोक व इहलोक विनष्ट होकर रहेंगे यही "नसाई" का तात्पर्य है जो उक्त अनुमान-प्रणाली में इसी चौपाई में साध्य के रूप में उल्लिखित है।

इहलोक :—जीवित अवस्था में प्राप्त लोक इहलोक है उसके नाश की उपपत्ति भरतजी पर किये गये दोषारोप में समझनी होगी जैसे सम्पूर्ण भरतचरित्र नैतिक शिक्षण है यदि भरतजी पर दोष मढ़ते ही रहेंगे तो उनसे अपने को दूर रखना होगा क्योंकि शंकोत्पत्ति मैत्री की नाशक मानी गयी है। यदि भरतजी प्रिय नहीं हुए तो शंकाकर्ता पर भरतजी के चरित्र का कोई प्रभाव नहीं होगा किंबहुना शंकाकर्ता अपनय कीओर अग्रसर होंगे फलतः अनीति से इहलोकच्युति होना अपरिहार्य है।

परलोक :—उत्तरजन्म में प्राप्तव्य लोक परलोक है उसका अदर्शन होना 'परलोक नसाई' है।

दोसु देंहि (निग्रहस्थान)

"दोसु देंहि" का अन्वय "जननी" से ज्ञातव्य है।

दोसु :—कैकेयीजी के सम्बन्ध से आहार्यशंका व भ्रम का विषय कुटिलता है जो 'दोसु" से विवक्षित हैं इसलिए कि प्रभु ने "ईसअधीन जीवगति जानी" से कैकेयी माता को शुद्ध कहा है।

देंहि :—प्रभु ने कैकेयीजी को शुद्ध बताने पर भी पौनःपुन्येन उनपर दोष को मढ़ते रहना "देंहि" का तात्पर्य है। स्मर्तव्य है कि 'देंहि' कहकर श्रीराम ने अपने ऊपर लोकद्वारा दिया गया मातृदोषाभावनिरूपणात्मक निग्रहस्थान भी सूचित किया है।

जननी

"जननी" से कैकेयीजी विवक्षिता हैं। पुत्रकामेष्टि में उपस्थित होकर स्वयं अग्नि ने राजा को दिया हुआ चरु एक अवयवी था उसीके अर्धांश की ग्राहिणी महारानी होने से कैकेयीजी को 'जननी' कहना सत्य है।

जड़ (निग्रहस्थान का उत्तर)

"जड़" शब्द मूर्खता व प्रतिभाहीनता का वाचक है उसका सम्बन्ध "देई" से है। मूर्ख इसलिए कि कैकेयी जननी की निर्दोषता मुनियों ने उनके चरित्र व पूर्वेतिहास में गाई है उसको समझकर भी कैकेयीजी को कुटिला समझना व श्रीराम ने सुनाई "ईसअधीन" वाणी को अनसुनी किया जाना मूर्खतासूचक है तथा उपर्युक्त निग्रहस्थान का भी उत्तर हैं वह अधः शीर्षक में उक्त है।

गुरसाधुसभा नहिं सेई (पुनरुक्ति का प्रयोजन)

गुर :—विवेकवृत्यवच्छिन्नचित्तवृत्तिमत्त्व गुरुत्व हैं वह जहां प्रकट है वे गुरु कहे जाते हैं। गुरुत्व जहां पर है, वहां प्रमाणप्रमितत्वनिर्णयानन्तर शंका को अवसर प्राप्त नहीं है। अतः अज्ञों के द्वारा, किये निग्रह स्थान पर प्रभु (गुरु) ध्यान नहीं देते।

साधु :—निरसूयु सिद्धान्तवेत्ता, प्रयोगविधि में कुशल अनुष्ठाता, शिष्ट सुहृद वक्ता या प्रयोक्ता 'साधु' हैं।

सभा :—गुरु व साधुओं का समानाधिकरण्य एकत्र होना सभा है जहां षड़ूर्मि को स्थान नहीं है।

नहि सेई :—उस सभा में जिनको स्थान प्राप्त हुआ उनको लक्ष्य मान कर प्रभु ने "गुर साधुसभा नहिं सेई" कहा है।

सेई

"सेई" से वे विवक्षित हैं जो "जेई" से परिग्रहीत हैं जैसे भक्ति-राजनीतिप्रभृति विद्याओं की स्थापना में दक्ष हो कर भी गुरु एवं साधुसंग में नहीं है या जड़ प्रतिभाशून्य है।

जड़ता का कारण "गुरु साधु सभा नहिं सेई" है उनके द्वारा अज्ञों ने सुनाये हुए 'देहिं' रूप निग्रह स्थान का या उत्तर हैं।

ज्ञातव्य है कि अज्ञों ने प्रकट किये गये निग्रहस्थान का मूल्य न होने से सत्पक्ष ने अपने को निगृहीत नहीं समझना चाहिए न तो स्वपक्ष ही त्यागना चाहिए।

ध्यातव्य है कि दोहा २।२३१ की चौपाइयों की व्याख्या में कही हुई अनुमान-प्रणाली के अनुसार प्रभुत्वनिष्ठ उन्मत्तत्वानुमापकता को विद्वत्संगत्यभावरूपउपाधि से अवच्छिन्न बताकर प्रभु ने लक्ष्मणजी द्वारा सुनाई 'भरतोऽयं मदोन्मत्तः' इस अनुमान प्रणाली को दूषित किया।

यहाँ "सेई" से विज्ञापित कार्यरूप जड़त्व को सामने रखकर उसी हेतु से गुरुसाधुसभा में जडोपस्थित्यभाव रूप साध्य को अनुमापित करा रहे हैं यतः जड़ व्यक्ति प्रमाण को जानते हुए भी उसके विपरीत बोलते व कार्य करते देखे जाते हैं क्योंकि उनके हृदय की शंकाएं व विपरीतज्ञान साधुसभा में उपस्थित

हुए विना जाती नहीं हैं। प्रसंगात् यह भी स्मर्तव्य है कि जड़त्वाभावप्रदर्शनार्थ ही प्रभु ने दोहा २।२५९ के अन्तर्गत चौपाइयों में गुरुजी की महत्ता प्रदर्शित कर अपने में गुरुसाधुसभासंग समझाना उपपन्न है यही साधुसभा पुनरुक्ति का प्रयोजन है।

गुरुसाधुसभा की विशेषोपयोगिता

गुरु से अधीतविद्य होकर अनेक शास्त्रों के समन्वय की जिज्ञासापूर्ति होना साधुसभा का एक उपयोग हैं प्रतिभोत्पत्ति होना सभा का दूसरा उपयोग है। जैसा कि "तं गुरुशिष्यसब्रह्मचारिशिष्टश्रेयोर्थिभिरनसूयुभिरभ्युपेयात्" गौतमसूत्र की व्याख्या में व्याख्यात है।

७ व ८वीं चौपाई से मननीय तत्व

भरतजी के बारे में कतिपयजन कुटिलता का आरोप करते हैं किन्तु वह राजनीति को मान्य नहीं है यतः उनमें कुटिलता स्वरूपतः सिद्ध नहीं है इसलिए उन पर कुटिलता का आरोप दण्डनीय मानकर 'इहलोक परलोक नसाई' कहा है। कैकेयीजी के चरित्र में कुटिलता राजनीतिमत से सिद्ध है अतः वह आरोप नहीं यथार्थ है अतः उनको प्रभु ने दण्डनीय नहीं माना यतः कैकेयीजी के द्वारा भए चरित्र ईश्वरसंकल्प के अन्तर्गत हैं ऐसा समझने पर भी उन्हें दोषी समझना जड़ता का चिन्ह होने से प्रभु ने 'जड़' कहा है। इस प्रकार भरतजी ने "तासु तनय" कहकर जो ग्लानि व्यक्त की थी वह निरस्त हुई।

स्मर्तव्य है कि "ईस अधीन जीवगति जानी" सुनकर भरतजी ने ग्लानि त्यागी व प्रबोध प्राप्त किया फलतः वे भविष्यत् में भी श्रीरामवियोग सहते ग्लानि में नहीं आएगें तथा उत्साहपूर्वक राज्यसंचालन करेंगे।

संगति :—भरतजी में प्रबोध देखकर प्रसन्न हो प्रभु, भरतानुगामियों को इस प्रकार का फल प्रदान कर रहे हैं जिसको पाकर वे भवरसविरतिमान् होंगे।

दो०—मिटिहहिं पापप्रपंच सब अखिल अमंगलभार।
लोक सुजसु परलोक सुखु सुमिरत नामु तुम्हार॥ २६३॥

भावार्थः—पापप्रपंच व अखिल अमंगल का बोझ दोनों भरतनामस्मरण से विलुप्त होंगे और लोक में सुयशस् व परलोक में सुख प्राप्त होगा।

पापप्रपंच

शा० व्या०—"पापप्रपंच" से कपट, छल आदि अकीर्तिकर तत्व ज्ञेय हैं जो संसारियों के दुष्टसंकल्पित दुर्गतिमय सृष्टि के हेतु होते हैं।

अमंगलभार

अमंगल :—प्रशस्तानाचरण व अप्रशस्ताचरण "अमंगल" है जो तमोगुण का महान् चिन्ह है। जैसा कि शब्दकल्पद्रुम में भविष्यपुराण के वचन से उद्धृत है।[1]

भार :—संचित व क्रियमाण कर्म की वृद्धि होते रहना "भार" है।

सुमिरत

"सुमिरत" से पूर्वगृहीत अर्थ का धारण विवक्षित है।

---

१. प्रशस्ताचरणं नित्यमप्रशस्तविवर्जनम्। एतद्धि मंगलं प्रोक्तं ऋषिभिस्तत्वदर्शिभिः (एकादशीतत्व)।

नाम

"नाम" शब्द से भरतजी के सम्पूर्णचरित्र ज्ञातव्य हैं। यदि अजड़ व्यक्ति गुरु साधुसभा में रहते भरतचरित्र को भरतनाम से ध्यान में लाते हैं तो नाम का प्रभाव उन पर होकर रहेगा अर्थात् वे प्रपत्ति की ओर झुकेंगे फलतः उन्होंने किया भरतजी का स्मरण, मनन आदि दैव का उच्छेदक होगा और श्रीरामजी उस जीव को अपने अधीनस्थ कर उनसे वैसा कार्य (योग्यतानुसार) करावेंगे वैसा भरतजी ने संपन्न किया है। उसका परिणाम इहलोक में कीर्ति व परलोक में सुख है यदि ऐसा न हुआ तो नामस्मरणकर्ता को भी जड़ व साधुसभाविहीन समझना होगा।

संगतिः—"ईसअधीन" कहकर प्रभु ने अपने द्वारा संचालित श्रीरामवनवासान्त घटना बनाना कहा है उसका ध्येय सुना रहे हैं इसलिए कि प्रपन्नभरतरुचिपूर्ति में अवध का संरक्षण होनेवाला है तभी प्रपत्ति की प्रतिष्ठा का योग बनेगा।

चौ०—कहउँ सुभाउ सत्य सिव साखी। भरत ! भूमि रह राउरि राखी ॥१॥

भावार्थः—हे भरत ! शिवजी को साक्षी रखकर सत्य स्वभाव के अनुरूप कह रहा हूँ। तुम्हारी रक्षा होगी तभी भूमि रह सकेगी।

सुभाउ

शा० व्या०—'सुभाउ' और 'सिवसाखी' दोनों क्रिया (कहउं) विशेषण है।

"सुभाउ" के दो अर्थ है—१. सहजधर्मरूपस्वभाव २. सुष्ठु भान। इनमें से प्रथम अर्थ स्वभाव, हिन्दी भाषा में 'सुभाउ' शब्द से रूढ़िप्राप्त है। सु + भाउ इस शब्द व्युत्पत्ति से 'सुष्ठु भान' द्वितीय अर्थ योगप्राप्त है। 'सुभाउ'शब्दव्युत्पत्तिप्राप्त द्वितीय अर्थ का निष्कर्ष यह कि जो भी अर्थ श्रीराम को प्रतिभात होते हैं वे सभी कार्यकारी होते ही हैं अर्थात् श्रीराम को प्रतिभात सभी अर्थ आन्वीक्षिकी व त्रयीसम्मत नीति से संवलित होते ही हैं। अतएव सत्य कहना सार्थक है।

सत्य व उसका प्रयोजन

"कीजिअ बचनु प्रवान"[1] के उत्तर में वसिष्ठजी ने कहे "भरतभगति बस भइ मति मोरी"[2] से कल्पित रागोपाधि के समान श्रीराम में न होना "सत्य" से ध्वनित किया है इसलिए कि भरतजी के प्रति श्रीराम ने अपने में "गुरअनुराग भरत पर देखी। रामहृदय आनन्दुबिसेषी" से रागोपाधि की प्रसक्ति कही है।

'सत्य' कहने का दूसरा आशय यह भी हो सकता है कि सत्यप्रतिज्ञ श्रीराम 'सत्य' से ऐसी प्रतिज्ञा दर्शा रहे हैं जिसका निष्कर्ष त्रयीप्रमाणोपबृंहित पितृवचनप्रमाण प्रमितत्व से न टलते हुए भरतजी की इच्छापूर्ति होने में ज्ञातव्य है जो त्रिकालाबाधितत्व से मिलता-जुलता है।

सिव साखी

लक्षणभक्तिग्रन्थ में शिवजी ने सतीचरित्रनिरूपण से जिस भक्तियोग की

१. २।२५६ २. २।२५८।७

स्थापना की है उसी के प्रति गुरुजी का संकेत प्राप्त है उसी का अनुगमन भरतजी ने अपनाया है ऐसा समझाने हेतु "सिव साखी" कहा है जो कहउं क्रियाविशेषण है।

अथवा—'कहउं' क्रियाविशेषणात्मक 'सिव साखी' का दूसरा भाव यह कि जो भी कुछ कहना है वह शिवसाक्षित्व से कहना है अर्थात् जो शिवजी को प्रिय है तदतिरिक्त न कहने की प्रतिज्ञा प्रभु कर रहे हैं इसलिए कि कैकयदेश से चलते हुए भरतजी ने शिवजी से की हुई मंगल प्रार्थना शिवजी को मान्य उसी को पूर्ण करना है।

सत्य सिवसाखी की सार्थकता

"भरत प्रानप्रिय पावहिं राजू" में वर्तमानकालिकसत्यता रहते हुए भी त्रिकाला बाधितत्व का प्रभाव समझाना सत्य की सार्थकता है।

वशिष्ठोक्ति (२।२५६।२) के अनुमोदन में 'सिवसाखी' का सार्थकता है।

भरत !

भरतसंबोधन का प्रयोग भूमिपालनयोग्यता भरतजी में स्फुट करने के लिए है जिससे "बिस्वभरन पोसण कर जोई" की एकरूपता ज्ञात होती है।

भूमि रह (भरतोपादेयता)

अवधभूमि के परिवेष में सम्पूर्ण भूमि के रक्षण का प्रश्न है यतः 'भूमि' शब्द से वर्णाश्रमवती ऐसा कहा गया है। उस भूमि पर चारों ओर से आघात हो रहा है उसके शमनार्थ नीति ऐसे गुणवान् व्यक्ति को चाहती है जिसमें सत्व, गुण और बुद्धि की पूर्ण समृद्धि प्रकट हो ऐसे सत्वगुणसम्पन्न व्यक्ति, वर्णाश्रम को उनके सौभाग्य से भरतजी के रूप में उपलब्ध हैं जिन्होंने सत्वगुण के बारे में चतुर्विध उपधात्मक परीक्षा में सफलता प्राप्त की है वे (भरतजी) श्रीरामको ही स्वामी बनाकर उनकी छत्रछाया में रहने से अपना कल्याण होगा ऐसा सोचकर श्रीरामाश्रम में आए हैं। ऐसे वृद्धोपसेवी सदा सांकुश ही भूमि के पालक हो सकते हैं जबकि श्रीराम पिताजी के आदेश को प्रमाणित करने हेतु वनवास का संकल्प लेकर चित्रकूट में आ पहुँचे हैं। यही "भूमि रह" से भरतोपादेयता हैं।

भूमि रह से ज्ञातव्य तथ्य

ज्ञातव्य है कि वर्णाश्रमवती भूमि का अस्तित्वमात्र भूमि का रहना नहीं है अपितु सेवात्मक निष्कपट भक्ति की छत्रछाया में कर्मकाण्डसमेत राजनीति को आन्वीक्षिकी के माध्यम से यथावत् समझकर उसका सुपालित किया जाना "भूमि रह" का अर्थ है।

राउर राखी

"राउर" से भरतजी ज्ञातव्य हैं।

"राउर राखी" उक्ति से प्रभु भरतरुचिपूर्ति दर्शा रहे हैं अर्थात् वनवासगत-शुभानुमितिसाधक प्रमाणप्रमितत्वनिष्ठव्यापकता का सार्वभौमता के साथ पक्षधर्मताशान के समय ही भरतरुचिपूर्ति को नैरन्तर्येण को सदा समझते रहना अवच्छिन्न करना श्रीराम का लक्ष्य मालूम होता है।

संगति :—दैव के बल को ध्यान में लाकर भरतजी ने अपने वचनों से जो भी तर्क उपस्थापित किये हैं तथा प्रपत्तिसिद्धान्त से जो मुख्य तत्व निरुपित हो चुके हैं उनकी अनुरूपता में प्रीति के प्रति "प्रेमप्रपंचु, कि झूठ फुर जानहिं मुनि रघुराउ" से आशंकित अतीन्द्रियता का उत्तरारम्भ कर रहे हैं।

चौ० :—तात ! कुतरक करहु जनि जाएँ। बैर पेम नहिं दुरइ दुराएँ ॥२॥

भावार्थ :—हे तात ! व्यर्थ कुतर्क न करो। वैर और प्रेम छिपाए नहीं छिपता।

कुतरक

शा० व्या० :—"कुतरक" से प्रेमआदिनिमित्तक शंकात्मक सन्देह समझना है जिसका स्वरूप भरतजी के पूर्व निरूपित शंकाओं से स्फुट हो चुका है यतः "ईसअधीन जीवगति जानी" को समझने के बाद प्रपन्नों के लिए शंकाप्रसक्ति का अनौचित्य है अर्थात् इसके अनन्तर शंका न करने को प्रभु कह रहे हैं अन्यथा प्रपत्ति से अपना ही पतन होगा जैसा कि परशुरामकल्पसूत्र की व्याख्याओं में स्पष्ट है।[1]

वैर पेम

बैर :—जहाँ अहितकारिता है वहाँ "वेर" है जिसका स्वरूप लक्ष्मणसंवाद के पूर्वपक्ष से लक्ष्मणजी ने समझाया है।

प्रेम :—जहाँ हितकारिता है वहाँ प्रेम है जो भरतजी में सिद्ध है उसका स्वरूप गुरुवशिष्ठजी के द्वारा दोहा २।२५८।८ में निर्दिष्ट है। यद्यपि हितकारितादि निमित्त को लेकर चित्रकूट में भरतागमन नहीं हुआ है अपितु स्वामिसेवावंचना प्रयुक्तदुःखनिमित्तक हुआ है। इसी तथ्य को भरतजी ने दोहा २२६१ में स्फुट किया है तथापि 'झूठ फुर' के अन्यतर हिताहित निर्णय की कला 'वेर पेम' से बताना प्रभु का आन्तरिक भाव जान पड़ता है।

दुरइ (प्रेम की सेन्द्रियता)

मुनि और राघुराउ पर ही प्रेमप्रपंच के वास्तविकताज्ञातृत्व की पर्याप्ति बताकर वेर व प्रेम की सत्ता ज्ञात हो सकती है कहा था उसका उत्तर "दुरइ दुराएँ" से दे रहे हैं।

ज्ञातव्य है कि "जानहिं मुनि रघुराउ" से यदि प्रेम या वैर की अतीन्द्रियता ही मानी जाए तो नीति का सिद्धान्त कार्यरूप में परिणत नहीं हो सकता क्योंकि नीति के द्वारा सम्पूर्ण जनपद में अनुराग उत्पन्न कराकर प्रेम को प्रत्यक्ष में दिखाना है अतः प्रेम में अतीन्द्रियताकल्पना का औचित्य नहीं है। यदि गुरु व रघुनाथसदृश आप्तवचन ही प्रेम के निर्णायक माने जायेंगे तो जिस जनपद में प्रत्यक्ष पर बल अधिक दिखाई देता है वह जनपद प्रेम से वंचित होगा इसी आशय को ध्यान में रखकर

१. परशुरामकल्पसूत्रटीका

दायभाग में शास्त्र के द्वारा परिज्ञात होने पर भी स्वत्व को प्रत्यक्ष माना गया है। उसी प्रकार प्रेम की सेन्द्रियता ज्ञातव्य है उसकी पुष्टि अवधवासी, तीरवासी, वनवासी, मार्गवासी, गुरु, माता आदि की जिन उक्तियों से सूचित है उन उक्तियों की सत्यता रघुवंश ने की हुई हित कारितारूपप्रेमदर्शन से माननी होगी जैसा कि अर्थशास्त्र में भी प्रेम को सेन्द्रिय मानकर "यावदुपकरोति तावन्मित्रं भवति" सिद्धान्त स्थापित किया है।

संगति :—पड़ोसी की शत्रुता व मित्रता की सेन्द्रियता दृष्टान्तों से समझा रहे हैं।

चौ० :—मुनिगननिकट बिहग मृग जाहीं। बाधक बधिक बिलोकि पराहीं ॥३॥

भावार्थ :—पशु पक्षी मुनिगणों के समीप में निर्भय हो चरते हैं। जाल में फँसाने वाले वधिक को देखते ही भाग जाते हैं।

मुनिगननिकट

शा० व्या० :—"मुनिगन" से अहिंसादिमहाव्रतस्थ साधु महात्मा विवक्षित हैं। उनकी शारीरिक व स्वाभाविक मुद्राओं पर अर्थकामप्रधानता की अभिव्यक्ति का न होना सिद्ध है उसका साधर्म्य रघुवंश में अवतीर्ण राजा दिलीप के बारे में "धनुर्भृतोप्यस्य दयार्द्रभावं"[1] में उक्त है।

बिहग मृग

"बिहग मृग" से असंस्पृष्टशास्त्र प्राणी भी विवक्षित हैं वे पूर्वपरम्पराप्राप्त-चेष्टाप्रमाण से प्रीति को परखते हैं। "बिहग" से पक्षी विवक्षित हैं। "मृग" से पशु विवक्षित हैं।

बाधक

ज्ञातव्य है कि शास्त्रकारों ने पुरोवर्तिविषय के याथार्थ्यनिर्णयार्थ परीक्षक के रूप में घ्राणेन्द्रिय का निर्देश किया है उसके अधिकारी मृगादि पशु हैं तदनुसार वे पुरोवर्तिमुनि एवं वधिक का परिचय घ्राणेन्द्रिय से लेते रहते हैं उसी से पशु को स्वहिताहित समझ में आता है उसी के आनुगुण्य में पशुओं का मुनिआश्रम में आना एवं वधिकों से दूर रहना कहा गया है। अतः प्रीति की सेन्द्रियता स्फुट है, जेसा कि "तात ! कुतरक करहु जनि जाएँ। बैर पेम नहिं दुरइ दुराएँ" की व्याख्या में सूचित है।

संगति :—पशुपक्षियों के लिए हिताहितकारिता सुज्ञेय होते रहने पर भी मानव के लिय वह सुज्ञेय न होने से दोहा २।२६१ में "मुनि रघुनाथु" कहा है ऐसा कहा जाय तो उसका उत्तर सुना रहे हैं।

---

१. रघुवंश (द्वितीय सर्ग)

चौ० :—हित अनहित पसु पच्छिउ जाना । मानुषतनु गुन-ग्याननिधाना ॥४॥

भावार्थ :— पशु-पक्षी भी हितकारी एवं अहितकारी को समझते हैं। मानव-शरीर तो गुण और ज्ञान का भण्डार है।

हित अनहित

शा० व्या० :—"हित" से उपकारी विवक्षित हैं।

"अनहित" से अपकाररत शत्रु विवक्षित हैं।

जाना

मृगादि द्वारा किये जाने वाले ऐन्द्रियक परीक्षण के विषय वही होते हैं जो वर्तमान में होते हुए इन्द्रियों से संबन्धित होते हैं, उसी को कवि ने "जाना" से ध्वनित किया है।

यद्यपि तीसरी चौपाई में उक्त अर्थ के अनन्तर 'हित अनहित पसु पच्छिउ जाना" उक्ति व्यर्थ है, तथापि 'जाना' कहने का आशय हिताहितविवेकात्मक प्रत्यक्ष-प्रमाण को समझाने में हैं, अर्थात् पशु-पक्षी तावन्मात्र के ज्ञाता हैं तो भी मानवों द्वारा पशुओं को दी जानेवाली शिक्षा के विज्ञान होने से वे नीतिमान् नहीं कहलाते। इन्हीं हेतु से पशु-पक्षियों ने 'गुन-ग्यान निधाना' न होना उत्तर अर्धाली से स्पष्ट होगा।

गुन-ग्याननिधाना

गुण :—विवेक प्राप्तविनयोचित कुल सत्वादि आत्मिक गुण, व विनयसंपत्ति "गुन" है।

ग्यानः—विद्याप्रदीपसहकृत चक्षुष्मत्ता "ग्यान" है।

निधाना :—उपर्युक्त गुण एवं ज्ञान दोनों को प्राप्त करने की अर्हता का स्थैर्य "निधाना" की व्याख्या है।

मानुषतनु

इहलोक में गुण व ज्ञान की निधानता प्राप्त है तो एकमात्र मानवदेह को ही ऐसा समझाने हेतु "मानुषतनु" कहा है।

पशु के ज्ञान की उपयोगिता

गुणज्ञाननिधान होते हुए भी मनुष्य के लिए शास्त्रकारों ने विष आदि के परीक्षणार्थ पशु आदि की उपयोगिता विषाद्यनुमापकतया बतायी है इसी प्रकार मन्त्रनिर्णय में पशु-पक्षियों के बोली की उपयोगिता भी बताई है यतः वे अपनी बोली से परराष्ट्र की स्थिति का निरूपण करते हैं जैसा कि "पशुपक्षिभिरनालोक्यः" अर्थशास्त्रय वचन से स्पष्ट है।

इस प्रकार हिताहित सेन्द्रिय होने से प्रपन्नों ने "मुनि रघुराउ" कहकर प्रेम-प्रपंच से हटना व दैव के नाम पर करुणभाव में आना ठीक नहीं, किंबहुना प्रपत्ति की सेन्द्रियता सिद्धान्त को समझ कर हर्ष में रहना ही उचित है तभी प्रबोध की सार्थकता होगी। जैसा कि २।२६३।२-३ में सूचित है।

संगति :—दोहा २।२६१।८ के अन्तर्गत कहे 'सियराम' सम्बन्ध से प्रथमतः एक तथ्य सुना रहे हैं जिससे 'नीक परिनामू' में व्यक्त, श्रीराम का प्रतिभूत्व तभी प्रगट होगा जब उनके हृदय में उदित असमंजसता निरस्त होगी अतः श्रीराम असमंजसता को प्रथमतः गा रहे हैं।

चौ० :—तात ! तुम्हहि मैं जानउँ नीकें। करौं काह ? असमंजस जीकें ।।५।।

भावार्थ :—हे तात ! मैं तुम्हारे भलेपन को जानता हूं पर क्या किया जाए ? मनस् में एकतर निर्णय (वनेवासः-अवधे वासः) करने में कठिनता हो रही है।

मैं जानउँ नीकें

शा० व्या० :—"कहत भरतगुन सीलु-सुभाऊ"[1] में उक्त भरतजी की सत्यता, शुचिता व साधुता से श्रीराम पूर्ण परिचित हैं जैसा कि 'कहत' से निर्विवाद है व देवों से भी स्वीकृत है उसको समझना "जानउँ" है।

अथवा :—"मानुषतनु गुन-ग्याननिधाना" के अनुसार भरतजी की सात्विकोचित उस प्रज्ञा को "जानहुँ" से दर्शाया है जो प्रत्यक्षादि प्रमाणों को दुर्बल मानकर इदंप्रथमतया शब्दप्रमितअर्थविषय के प्रति निष्कंप प्रवृत्ति की जनक है।

अथवा :—प्रभु ने अवधस्वामित्व को त्याग कर भरतजी के लिए राज्यप्राप्ति निष्कंटक करायी तथापि उसको स्वीकृत न करने के पीछे रही भरतप्रपत्ति को यथावत् समझना "जानउँ नीके" है, जो 'रघुपतिरखवारा' की अभिव्यक्ति है।

करौं काह ?

प्रपत्ति को परीक्षित करने के अनन्तर प्रभु सर्वथा प्रपन्नरुचि को पूर्ण करते हुए विघ्नों को निरस्त करने में अनलस हैं। उस कृति को प्रतिबन्धक की उपस्थिति के रहते कार्यान्वित करने में कठिनता होना "करौं काह ?" का आशय है।

असमंजस

सैद्धान्तिक मत से किसी भी कृति के पहले चिकीर्षा होती है उसके भी पूर्व कर्तव्य के औचित्यानौचित्य का निर्णय करना होता है तदनुसार भरतजी का आगमन सुनकर 'वने उषितव्यं अवधे वा' ? इस सन्देह का समाधान प्रभु ने प्राप्त करके उस सम्बन्ध में एकतर निर्णय सुनाने में असमंजसतात्मक प्रतिबन्धक का उपस्थापन किया है जैसा कि 'बासु वचन' और 'तुम्हार संकोचू' (२।२६४।७) में स्पष्ट है। उसके रहते मनस् में सत्प्रतिपक्षित जैसी स्थिति का उदय होने के कारण किसी एक पक्ष की प्रबलता को तर्कपूर्वक न देखना और एकतर निर्णय न होना "असमंजस" का आशय है।

सत्प्रतिपक्षितस्थिति

शा० व्या० :—भरतप्रपत्ति को देखकर उसकी पूर्ति करना एक पक्ष है। दूसरा पक्ष पितृवचन को प्रमाणित करना है वह भरतप्रपत्ति के कार्यान्वयन में प्रति-

१. २।२३२।८

बन्ध कर रहा है। उसी प्रकार भरतप्रपत्ति पितृवचन के कार्यान्वयन में प्रतिबन्ध कर रही है जो भरतरुचिपूर्तिरूपा है। यद्यपि अभी भरतरुचिपूर्ति राजनीतिक दृष्टिसे प्रकट नहीं है तथापि वह गुरुजी के निर्देश "नृपनय निगमनिचोर" से निर्णीत है अतः उसने प्रतिबन्धक होना यथार्थ है। इस प्रकार दो प्रतिबन्धकों ने समान बल से उपस्थित होना ही सत्प्रतिपक्षित स्थिति है।

संगति :—असमंजसतारूप प्रतिबन्धक का व्याख्यान कर रहे हैं।

चौ० :—राखेउ रायँ सत्य मोहि त्यागी। तनु परिहरेउ पेम पन लागी ॥६॥

भावार्थ :—श्री पिताजी ने सत्य का पालन किया। वन में मुझे भेजकर हमको दूर किया प्रेम व पण को स्थिर रखा। तदर्थ शरीर विसर्जित किया।

सत्य

शा० व्या० :—पितृवचन की प्रमाणता उनकी सत्यता पर आधारित है यतः राजा दशरथजी ने आजीवन असत्य का आश्रय न लेना उनका त्रिकालाबाधित सत्य है इस कारण उनके आचरण को यहाँ "सत्य" से ध्वनित किया है। जो पितृपक्ष से असमंजसता का साधक है।

मोहि त्यागी

मोहि त्यागी :—युवराजटीकाविशिष्टश्रीराम (अस्मच्छब्दार्थ) को त्यागना "मोहि त्यागी" है अर्थात् उन्होंने श्रीराम को त्यागकर भरत जी को टीका देना स्वीकृत कया।

तनु परिहरेउ

ऐसा कहा जाए कि श्रीराम के प्रति प्रीति की न्यूनता राजपक्ष में होने से "तासु बचन मेटत मन सोचू"[1] सत्प्रतिपक्षकोटि में नहीं गिना जाएगा इसलिए वह भरत रुचिपूर्ति के लिए प्रतिबन्धक नहीं माना जा सकता? इसके उत्तर में "तनु परिहरेउ" कह रहे हैं। एवंच तनु परिहार के कारण ही पितृवचन की प्रबलता से प्राप्त असमंजस (सत्प्रतिपक्षित) स्थिति स्फुट है जो अग्रिम चौपाई में प्रगट होगी। "तनु परिहरेउ" का अन्वय "पेम पन" से ज्ञातव्य है अर्थात् राजा ने प्रीति व पण के स्थैर्य से तनु त्यागा है। इससे त्रयीवचन की सार्वभौमिकता को स्थिर करने में राजा का आशय मालूम पड़ता है।

पेम पन

प्रेम व पण दोनों ही दोहा २।२६२।१ में व्याख्यात है।

श्रीरामवियोग इतना तीव्र हुआ कि उसी विप्रलम्भ में राजा का हृदय द्रवीभाव को प्राप्त करता हुआ वेदना में मछली के समान तड़पता रहा। फलतः श्रीराम नाम लेते[2] राजाने शरीर त्यागा है इस प्रकार राजमृत्यु के प्रति प्रेम की सार्थकता सिद्ध हो गई इससे प्रेम की अनन्य उपयोगिता व अन्यूनता निर्विवाद है।

---

१. २।२६४।७

इसी प्रकार पण यदि न रहता तो राजा आदेश देकर श्रीराम को अवध से बाहर जाने से रोक देते जो प्रीति का परिचायक होता वैसा न करने में पण की बलवत्ता स्थिर हो गई।

सत्प्रतिपक्षस्थिति का स्पष्टीकरण

सत्प्रतिपक्ष को स्पष्ट करने हेतु मध्यस्थ के सामने वादी एवं प्रतिवादी द्वारा अपने अपने हेतुओं के माध्यम से स्वपक्ष का उपस्थापन किया जाता है तब सत्प्रतिपक्ष होता है तदनुसार यहाँ प्रपत्ति, गंगावचनसमन्वित पितृवचन (त्रयी) की शुभव्याप्यता संबंधी सर्वभौमता पर आघात पहुँचाने हेतु कटिबद्ध है। दूसरी ओर पितृवचन स्वयं प्रेमपण के बल को अपनाकर अपनी सार्वभौमिक शुभव्याप्यता को बना रखने में सन्नद्ध है। इस प्रकार प्रभु ने गाया सत्प्रतिपक्ष स्मरणीय है।

संगतिः—उपर्युक्त सत्प्रतिपक्षस्थिति की अभिव्यक्ति के द्वारा दो प्रकार की असमंजसता प्रगटकर प्रभु स्वयं ही सत्पतिपक्षका उत्तर दे रहे हैं।

चौ०—तासु बचन मेटत मन सोचू। तेहि तें अधिक तुम्हार संकोचू॥ ७॥

भावार्थ—राजा के वचन को अप्रमाणित करने में मनस् हिचकता है उससे भी अधिक संकोच तुम्हारी रुचि को पूर्ण न करने में हो रहा है।

तासु बचन

शा० व्या०—तासु सत्य के संरक्षक व प्रेमपण की अधीनता में प्राण का विसर्जन करने वाले राजा "तासु" शब्द का वाच्यार्थ है।

वचनः—कैकेयीयाचित वरद्वयसंबंधी वचन यहाँ "वचन" से विवक्षित है।

मेटत

मेटतः—पितृवचन का पालन न होना "मेटत" का अर्थ है।

सोचू (संकोच की निर्दुष्टता)

"सोचु" से खेद विवक्षित है। जैसा कि पक्ष (वनवास) पर रहे पितृवचन प्रमितत्व गतशुभ व्याप्यता की पूर्वोक्त सार्वभौम स्थिति को भक्तरुचिपूर्ति से संकुचित करने में मनस् का खिन्न होना 'सोचू' है। वह सोच दोष होते हुए भी इसलिए मान्य है कि भक्ति महारानी के सेवा में रही संपूर्ण विद्याएं अंगभूत होने से उनमें संकोच होना मीमांसा को इष्ट है। जैसे अग्निहोत्रादि नित्यकर्म के प्रति सिद्धान्त यह है कि यदि संपूर्ण अंगों की उपलब्धि नहीं होती है तो भी नित्यकर्म का विलोप होना असह्य मानकर जितने अंगभूत कर्म उपलब्ध हैं उन्ही के बल पर नित्यकर्म अनुष्ठेय हो जाता है अतः वैसे अनुष्ठान में अंगों का संकोच मीमांसा को मान्य होता है। वही न्याय यहाँ चिन्त्य है।

तेहि ते अधिक

तेहि तेः—पितृवचनसंकोचप्रयुक्त सोचरुप अवधि "तेहि ते" से विवक्षित है। 'अधिक' से उक्त खेद के अपेक्षया अधिक खेद ज्ञातव्य है अर्थात् अंगसंकोच के

अपेक्षया अंगी का संकोच होना अधिक खेदावह है क्योंकि अंगी प्रधान होता है-वह यदि अगविरोध न हो ऐसा सोचकर अंगों के अनुगमन से अपने को नष्ट कर लेगा तो अंगी की प्रधानता निर्मूल होगी।

ध्यातव्य है कि जैसे श्रीरामवनवासदुःख ने भरतजी के पितृमरणादिदुःख को तिरोहित किया है उसी प्रकार प्रभुपक्ष से पितृवचनप्रमाणप्रमितत्व की सार्वभौमता-विलोपरूपी सोच का प्रभु में प्रपन्नरुचिपूर्त्यभावप्रयुक्त सोच से तिरोधान होना कविका आशय है।

इस पक्ष से 'अधक' के आगे 'सोचु' पुनः अध्याहार्य होगा।

अथवा--'अधिक' के आगे 'सोचु' का अध्याहार कर्तव्य नहीं है तो 'अधिक' का अन्वय 'संकोचू' से विवक्षित होगा उस पक्ष से 'अधिक' शब्द इतरवाचक है।

संकोचू

संकोचू का अर्थ लज्जा है। वह अधिक से अन्चित है इसलिए कि प्रपन्नरुचि पूर्ति के अभाव में भक्ति की गरिमानष्ट होना इष्ट नही है उसी का आशय निम्नलिखित है। जो भक्ति महिमा के अवरोधसंबन्ध से स्फुट है।

लक्ष्मणजी के सामने दोहा २।२३२ के अन्तर्गत चौपाई में श्रीराम ने जो भी सुनाया है तदनुसार यहाँ पितृवचनप्रमाणप्रमितत्वगत शुभव्याप्यता को अवच्छिन्न बनाकर उसकी सार्वभौमिकता को संकुचित करते हैं यही भरतजी का पुण्यश्लोकतमत्व है। इस प्रकार त्रयीवचन पक्ष व भक्तिरुचिपूर्ति-पक्ष में दोषों के न्यूनाधिक भाव के दर्शन से प्रभु ने सत्प्रतिपक्षितस्थिति को निरस्त कर पितृवचनप्रमितत्वगत व्याप्यता को भक्तरूचिपर्ति से अवच्छिन्न करने में अपनी स्वीकृति देना मननीय है।

व्याख्यानान्तर

'अधिक' से प्रभु नवीन बात यह कह रहे हैं कि भक्तभरतरूचिपूर्ति में भगवान् कर्तव्यता का विचार कभी नहीं करते उसका कारण धर्मार्थकाममोक्षचतुष्टयपरीक्षा में उतीर्ण प्रपन्न रुचिपर्ति में कोई उपाधि नहीं आ सकती अतः उपाधिप्रसक्ति का अवसर देखना प्रभु को अधिक संकोच है। आशय यह कि जिस प्रकार सत्यसन्ध पिताजी के वचनपालन में निष्कंपप्रवृत्ति की दृढ़ता प्रभु ने दिखाई है उसी कार्य में भरतजी का सहयोग प्राप्त होगा ऐसा उनको विश्वास है इसलिए निश्छल अहैतुक अव्यवहित भक्ति की छत्रछाया में उपस्थित असमाधेय समस्या का समाधान न करके प्रभु वन में वास करते हैं तो भरतरुचिपूर्ति निर्बाधता न होना अधिक संकोच है।

"तुम्हार संकोचू" प्रकरण के अनुसार गुरुजी ने कहा "सब संकोचु तजि तात" वचन तथा भरतजी ने कहे "महि सनेह संकोचबस" वचन पर अन्तर्यामी प्रभु को अभी जो संकोच हो रहा है वही "तुम्हार संकोचू" है इसका अवशेष दोहा २।१९२ में द्रष्टव्य है।

अधिक (भगवदुक्ति से प्रपत्ति का परमराङ्गीत्व)

अधिक संकोच में अतिशयितत्व बोध्य है। निष्कर्ष यह कि सर्वथा काम (मनोरथ) को त्यागकर जो प्रपन्न के रूप में प्रभु के सामने उपस्थित होते हैं उनका संकल्प (निगमनिचोर) पूर्ण करने में प्रभु सदा प्रवृत्त रहते हैं इसलिए कि वे अनन्य सेवकों के द्रुतहृदय में निवास करते हुए प्रपन्न की मनोरथ की असिद्धि को कभी सहते नहीं। जैसा कि "मा प्रपन्नो जनः कश्चित् न भूयोर्हति शोचितुं" इस भागवतोक्ति से निस्संदिग्ध है। इससे यह सिद्ध हुआ कि प्रपन्नरुचिपूर्तिनिरूपित की व्याप्यता प्रतिष्ठा सार्वभौम है उसको वचनप्रमाणप्रमितत्वादि से अवच्छिन्न करना इष्ट नहीं है अतः प्रपत्ति का परमत्व या अंगित्व सिद्ध है अन्य सभी भक्तिसम्मत विद्याएं प्रपत्ति की छत्रछाया में इसलिए रहना चाहती हैं कि तत्तद्विद्याप्रमाणप्रमितत्व में आशंकित शुभ व्यभिचार का समाधान भक्ति से हो सके।

प्रसंगात् यह भी स्मर्तव्य है कि मानसकार के मत से प्रपन्न वही है जो चतुष्टयोपधाशुद्धभरतसदृश स्थिति को अपने में दिखाते हुए भरद्वाजादि महामुनियों की उपधाचतुष्टयपरीक्षा में उत्तीर्ण हो सके तथा वशिष्ठजनकादि महाज्ञानियों की मति का विषय बन सकें जैसा कि "मुनि मति ठाढ़ि तीर अबला सी" से उक्त है। इसके उदाहरण में पिता-माता (राजादशरथ-कौशल्याजी) जनक, केवट, गुह, शबरी, विभीषण, सुग्रीव, हनुमान् आदि पुण्यश्लोक प्रपन्नगण मननीय हैं। उसको सिद्ध करने हेतु प्रमाण कहकर—

"सौभर्युतंकशिबिदेवलपिप्पलादसारस्वतोद्धवपराशरभूरिषेणाः।
येऽन्ये विभीषणहनूमदुपेन्द्रदत्तपार्थार्ष्टिषेणविदुरश्रुतदेववर्याः॥"[1] उक्ति प्रसिद्ध है।

उपर्युक्त संपूर्णतत्व वेदों के द्वारा अनुमत होने से उनके बारे में वेदविरुद्ध होने की आशंका नहीं है। जो "स्त्रिय उरगेन्द्रभोगभुजदण्डविषक्तधियो वय मपि ते समाः-समदृशोंघ्रिसरोजसुधाः"[2] से अनुमत है।

संगति :—प्रपत्तिनिष्ठ भक्त (प्रपन्न) रुचिपूर्तिनिरूपितव्याप्यता के दाढर्यार्थ बलरूप में अधिक संकोच व सोच का कीर्तन हुआ तथापि वे सोच, संकोच अपने दोषत्व को दोषांकुश के द्वारा त्यागने कि स्थिति में हैं क्या ? एसा पूछा जाय तो उसके उत्तर में गुरु के अनुराग को दोषांकुशस्वरूपतया समझा रहे हैं।

चौ० :—ता पर गुरु मोहि आयसु दीन्हा। अवसि जो कहहु चहउं सोइ कीन्हा।८।

भावार्थ :—उस पर मुझे गुरुजी ने आदेश दिया है जो कहा है में उसे अवश्य करना चाहता हूँ।

गुरु

शा० व्या० :—वेदपरनन्त्र ब्रह्मवित् व कर्मतन्त्रप्रणेता वसिष्ठ मुनि गुरु हैं वे विवेकवृत्ति से ओत-प्रोत हैं, प्रमाणसर्वस्व व अनसूयु हैं।

१. श्रीमद्भागवत् (२।७।४५)   २. श्रीमद्भागवत (वेदस्तुति)

मोहि आयसु

मोहिः-अस्मच्छब्दार्थ यहाँ "तेहि ते अधिक तुम्हार संकोचू' विशिष्ट श्रीराम है।
आयसुः-शिष्यसमवेतप्रवर्तनाप्रयोजक गुरुसमवेत विध्यर्थ आयसु शब्द का अर्थ है।

दीन्हा (सत्प्रतिपक्षस्थिति का निराकरण)

स्मर्तव्य है कि यदि श्रीराम गुरुसमवेतप्रवर्तना का अनुसरण नहीं करते हैं तो मुनिवचन में अप्रमाणतारूप आपत्ति अपरिहार्य है अतः यह कहना होगा कि प्रपत्ति में रही प्रपन्नरुचिपूर्ति की व्याप्यता का सार्वभौमत्व सिद्ध करने के पीछे गुर्वादेश का पार्ष्णिकबल श्रीराम को प्राप्त होने से सत्प्रतिपक्षितस्थिति से आई किंकर्तव्यविमूढ़ता जैसी स्थिति निरस्त हो गई।

अवसि

"अवसि" से आदेशाकरणे प्रत्यवाय व गुरुवचन की अप्रमाणता की आपति स्मर्तव्य है।

जो कहहुँ

असमंजसता की स्थिति रहते "आवहि बहुरि रामु रजधनी" का कार्यान्वयन होना नहीं है ऐसा विवेक रखते हुए ही भरतजी को जो भी कुछ भी कहना होगा उसे "जो कहहु" से प्रभु व्यक्त कर रहे हैं।

सोइ कीन्हा

"कीन्हा" से कृतिविधेय विवक्षित है जो देयरूप में परिणत होने वाला है।

"जो कहहु चहउँ सोई कीन्हा" व वसिष्ठोक्ति (करब साधुमत लोकमत नृपनगमिचोरि) की एक वाक्यता से ध्यातव्य होगा कि "निगम निचोरि" के अन्तर्गत भक्ति (प्रपत्ति) व सायुज्यादि मुक्ति गिने गये हैं उनमें से भरतजी को जो रुच्य कथनीय होगा वही देय होगा ऐसा कहने व महावाक्यार्थनिर्णीत होने के साथ-साथ भरतरुच्य व निगमनिचोरात्मक वसिष्ठोक्ति की सार्थकता मननीय है क्योंकि प्रपत्ति अथवा मुक्ति में से कोई भी पदार्थ अदेय नहीं है अतः "सोइ कीन्हा" कहा है। उसका निष्कर्ष व्यप्ति प्रदर्शनमात्र में है, अर्थात् 'यद्यत् निगमतात्पर्यंविषयत्वे सति गुर्वनुमतत्वेसति भरतरुच्यं तत्तान् मदीयकृतिविधेयः'' ऐसा निर्णय प्रभु सुना रहे हैं परिणाम स्वरूप भरतजी में प्रपत्ति या मुक्ति की पात्रता को सोचने का अवकाश न होना स्फुट है।

संगति :—"ईस अधीन जीवगति जानी" से प्रबोध व "तीनि काल तिभुवन" आदि से प्राप्त शंकोन्मूलनसहित विवेक होने के अनन्तर प्रपन्नों के लिए प्रार्थनीय कुछ है नहीं ऐसा सोचकर भरतजी मौन रह सकते हैं फलतः प्रपत्ति का स्वरूप प्रकट नहीं हो सकेगा ऐसा सोचकर प्रभु "तजि कहहु" आदेश सुना रहे हैं। इसके उपरान्त भरतजी "सोई कीन्हा" का उत्तरारम्भ दोहा २।२६७।१ से प्रारम्भ करेंगे।

दोहा :—मनु प्रसन्न करि सकुच तजि कहहु करौं सोइ आजु।
सत्यसन्ध-रघुबरबचन सुनि भा सुखी समाजु ॥२६४॥

भावार्थ :—मनस् में प्रसन्नतापूर्वक संकोच को त्यागकर जो भी कहोगे आज उसे मैं पूर्ण करूँगा। सत्यसन्ध रघुपति का यह वचन सुनकर संपूर्ण समाज सुखी हुआ।

मनु प्रसन्न

शा० व्या० :—अवध की सभा व अभी की चित्रकूटसभा में भरतजी में श्रीरामजनत्वसम्पत्ति का आधान करनेवाले गुरुजी ने प्रथमतः या अभी जो उपदेश सुनाया था उस पर भरतजी प्रसन्न नहीं थे, अभी वह स्थिति नहीं है क्योंकि भरतजी को रघुपति के उपदेश से प्रबोध प्राप्त है यतः उनकी शंकाएँ उन्मूलित हो गई हैं उसको ध्यान में लाकर प्रभु ने "मनु प्रसन्न करि" कहा है।

सकुच तजि

सकुच तजि :—रामवृत्तिप्रेरणाप्रयोज्यप्रवृत्तिमत्त्वरूप संकोच को त्यागकर स्वतन्त्र-प्रवृत्तिमत्त्व प्रदर्शित करना "सकुच तजि" है।

अथवा—"महूँ सनेह-सकोचबस सनमुख कही न बेन"[१] वचन के उत्तर में प्रभु ने "सकुच तजि" कहा है।

अथवा :—"ईसअधीन जीवगति जानी" का बोध होने पर कुछ भी कहना प्रपन्नों के लिए संकोच है इसलिए कि उन्हें कुछ भी प्राप्तव्य नहीं है। अतः संकोच त्यागने को कह रहे हैं, अन्यथा समाज के सामने भक्तिशिक्षा अधूरी होकर भक्ति-प्रयोगविशेष को अपेक्षित सर्वाङ्गोपसंहार में अपूर्णता होगी तो "पुन्यसिलोक तात! तर तोरे" का स्पष्टीकरण नहीं होगा जैसा कि "पुन्यसिलोक"[२] चौपाई में व्याख्यात है।

कहहु करौं

"मनु प्रसन्न करि" "सकुच तजि" ये दोनों तत्व 'कहहु' क्रिया का विशेषण है अर्थात् उक्त विशेष्यों से विशिष्ट 'कहहु' से कहना होगा कि यदि दो तत्वों में अन्यथात्व होगा तो 'कहहु' का वैयर्थ्य होना ध्वनित है। इस प्रकार भरतजी को सुनाई वसिष्ठोक्ति व श्रीरामोक्ति का वैलक्षण्य स्मर्तव्य है। जो अग्रिम शीर्षक में स्फुट है।

सोइ

"सो" का वाच्यार्थ 'सोई कीन्हा' शीर्षक में व्याख्यात है।

अथवा—परस्परप्रीति में एक सेवक है दूसरा सेव्य है दोनों परस्परायत्त हैं। इसका भाव यह हुआ कि एक ओर सेवक अपनी परप्रयोज्यकर्तृता को रखते सेव्यसंकल्प की पूर्ति में तत्पर है दूसरी ओर सेव्य अपनी स्वतंत्र कर्तृता को रखते सेवकसंकल्प की पूर्ति में तत्पर है तभी उन दोनों का प्रेम उभयायत्ततोपाधिक कहा जायगा। उसी भाव में रहे स्वामी श्रीराम भरतजी से संकोच त्यागने को कह रहे हैं उसका आशय यही होगा कि भरतजी ने सेवकत्व को सुरक्षित रखते हुए प्रभुसंकल्पपूर्त्यर्थभावप्रयुक्तलज्जा को समाप्त करना है अर्थात् प्रभुसंकल्प पर ध्यान न देकर जो भरतजी स्वयं कहेंगे वही 'सोइ' का अर्थ है।

---

१. २।२६०।३ २. २।२६६

प्रपत्ति की स्थापना

वसिष्ठजी ने कहे "राखे रामरजाइरुख"[१] और "करब साधुमत लोकमत नृपनय निगम निचोरि"[२] से श्रीरामका देय व भरतजीका प्राथ्र्य परिज्ञात होने के अनन्तर पुनः उसी (देय व प्रार्थ्य) रूप में "कहौं" व "करौं" उक्ति का वैयर्थ्य प्रतीत हो रहा है। अतः कहना होगा कि "करौं"का संकेत स्वामिसेवामात्रपरक है जो "साहिबसेवा" से स्पष्ट होगा। इस प्रकार ग्रन्थकार श्रीराममुख से "करौं" प्रतिज्ञा सुनाकर भरतजी द्वारा 'कहहु' क्रिया का सम्पादन होने के बाद ही अपने द्वारा २।४२।१ में निरस्त किये गये अवधस्वामित्व की स्वीकृति को व्यंजित करा रहे हैं जो पूर्व में उक्त नहीं है।

आजु

"भरत प्रानप्रिय पावहिं राजू" में प्रतिज्ञात व स्वरूपतः अप्रमाणात्मक अर्थ के समन्वयानुकूल प्रपत्ति को कार्यान्वित करने की अनुकूलता को प्रकट करने का मुहुर्त "आजु" से ध्वनित कर रहे हैं।

अथवा :—"न कार्यकालं मतिमानतिक्रामेत् कदाचन"[३] के अनुसार वर्तमान समय को देखते हुए मनोनीत रुचि को प्रगट करने में इस समय का अतिक्रमण करना अनुचित है क्योंकि इस समय गुरु, साधुसभा, परिजन, मन्त्रिपरिषद्, विवेकराज्य, देशकालावसर सभी एकत्रित हैं ऐसा मुहुर्त पुनः उपलब्ध नहीं होगा।

अथवा :—प्रपन्न भरतजी के लिए प्रपत्तिफल को प्रकाशित करने का मुहुर्त "आजु" से ध्वनित है।

अथवा :—जनक राजा की उपस्थिति के पूर्व "भरत प्रानप्रिय" से निरस्त-स्वामित्व को श्रीराम में पुनः स्थापित करने का मुहुर्त "आजु" से ध्वनित है जिससे किसी को भी राजा जनक के सामने शंकोत्थापन करने का अवसर प्राप्त न हो। इस प्रकार प्रभु ने अवध में लौटने का उपाय बताया है जो प्रबोध एवं विवेकात्मक है उसका अवलंबन भरतजी ने करना 'आजु' का भाव है।

सत्यसन्ध

जिस उद्देश्य को लेकर भरतसमाज अवध से चला उस उद्देश्य की पूर्ति का विश्वास समाज को होना सत्यसन्ध का ध्वनितार्थ है क्योंकि वह समाज "ईसअधीन जीवगति जानी" वाक्यजन्य बोधशून्य होने से प्रभु के तात्पर्य को नहीं समझ रहा है।

अथवा :—स्वमण्डल का पालन करना 'सत्यसन्ध' का उपयोग है।

सुखी समाज

"समाज" से मुनिमण्डल, माताएँ, भरतजी, मन्त्रिगण व नर-नारी विवक्षित हैं। वे सभी सुखी हुए इसलिए कि सभी प्रभु के द्वारा सम्मानित हैं।

अथवा :—माताओं व पुत्रों का वियोग न होना समझकर वे सुखी हैं।

भरतजी को समझाने में 'कहहु' व 'करौं' का विशेष प्रयोजन

"भरतजी पर निर्णय का भार सौंपने पर भी वह तभी सफल होगा जब उनसे

१. २५४।० २. २५८।० ३. नीतिसार १२।१७५३

क्षोभ व सन्देह दूर होगा, तथा बाल्यकाल से अनुस्यूत चली आ रही एकाग्रभूमिका उनके मनस् में प्राप्त होगी" ऐसा सोचकर स्वयं ने दिये हुए भारवहनार्थ पुनः भरतजी को विवेक प्राप्त कराने के विचार से "ईसअधीन" समझाकर उनको सन्देह से मुक्त कराना, जननी की महत्ता गाकर उनके हृदय से क्षोभ को हटाना व तर्क करने का अवसर देना, २।२६३।५ से २।२६४।८ तक एवं दोहा २।२५९।४ से २।२५९।८ तक कही श्रीरामोक्ति से भरतजी के बारे में अपने स्नेह का प्रदर्शन कराना "कहहु व करौ" का प्रयोजन है।

संगति :—उक्त "उत्तरारंभ" से ज्ञेय प्रपत्ति की प्राप्ति सम्पूर्णसमाज में तब तक नहीं हो सकती जब तक समाज में से प्रतिबन्धक का निरास नहीं हो जाता अतः शिवजी प्रपत्तिप्राप्ति के प्रतिबन्धक व उसके अभाव का निरूपण कर रहे हैं।

चौ० :—सुरगनसहित सभय सुरराजू। सोचहिं चाहत होन अकाजू॥१॥

भावार्थ :—देवों सहित सुरराज इन्द्रजी भयभीत हो गये और सोचने लगे कि देवकार्य बिगड़ना चाहता है।

सभय (पूर्वपक्षारम्भ)

शा० व्या० :—भयः—भविष्यत् में अनिष्ट की शंका होना "भय" है।

जैसा कि "भरतरुचिपूर्ति" होना सुनकर "आवहि बहुरि रामु रजधानी" रुचि पूर्ण होगी ऐसा समझने से जगन्मंगल न होने की शंका में सुरगणसहित इन्द्र ने ग्रस्त होना "सभय" है।

सुरराजू

प्रजा भीत होती है तो उसे धैर्य देना राजकार्य है यहाँ तो ईन्द्रजी भी भीत हो गये अब किसने किसको दिलासा देना ? इस प्रश्न की असमाधेयता "सुरराजू" से ज्ञातव्य है।

सुरराट् के सोचने की नीतिसम्मत उपादेयता

सुरराट् श्रीराम के अनुचर हैं। वे नीत्युक्त अनुजीविवृत्तप्रकरणानुसार सोच रहे हैं कि समय रहते स्वामी (श्रीराम) को सावधान कराना अनुजीवी का कार्य है। अभी स्वामी (श्रीराम) प्रपत्ति के वश हो प्रतिज्ञा में आकर कुछ दूसरा कार्य कर गये तो "आबहि बहुरि राम रजधानी" रूप कुपथ ध्यान में आने पर स्वामी (श्रीराम) से अनुचरों को शासित होना पड़ेगा ऐसा सोचकर सुरराट् ने देवहित के साथ जगद्धितार्थ स्वामी को जगाने के लिए सोचना अनुजीविवृत्त की दृष्टि में न्यायसंगत है।

दूसरा भाव यह कि पूर्ववर्णित राज्योत्सव भंग के पीछे "बिमल बंस यह अनुचित एकू"[1] से परिज्ञात संकल्प आधार था। अभी भक्तवत्सलता से ओत-प्रोत हो

---

१. २।१०।७

भक्तरुचिपूर्ति होने की प्रतिज्ञा सुनकर देवों को प्रभुसंकल्प का रहस्य मालूम न होने से अनुजीविवृत्तानुष्ठान की उक्त इतिकर्तव्यता को ठीक न समझकर सुरराट् का व्याकुल होना असंगत नहीं है।

सोचहि (पुनरुक्ति न होना)

"सोच" से जगन्मंगलरूप उद्देश्यलोपप्रसक्तिप्रयोजकविचार विवक्षित है। सुरगुरु से हुए संवाद में भरतजी के द्वारा उद्देश्यलोपप्रसक्ति सुविचारित हो गई अभी श्रीराम के द्वारा उद्देश्यलोपप्रसक्ति का विचार है अतः इन्द्रजी ने किए पूर्व सोच व अभी के सोच में पौनरुक्त्य नहीं है।

सोच से आन्वीक्षिकीकौशल

आन्वीक्षिकीकौशल से निष्कर्ष यह कि इन्द्रजी देवहित को उद्देश्य मानते हैं अतः वे कर्मवादी हैं। फलतः उनके मत से त्रयीवचनप्रमाणप्रमितत्व में रही शुभ-व्याप्यता की सार्वभौमिकता का दुर्बल होना देखकर इन्द्रजी को सोच हो रहा है अतः वे प्रपत्तिनिष्ठ भरतरुचिपूर्तिनिरूपितव्याप्यता की सार्वभौमता को निरस्त करने में प्रवृत्त हैं उसकी सिद्धि न होना देखकर इन्द्र को हुए सोच की गूढ़ता को समझना आन्वीक्षिकी-कौशल है।

इन्द्रसोचनिरूपणौचित्यमीमांसा

मुनि वसिष्ठजी से त्रयीवचनप्रमितत्वनिष्ठ शुभव्याप्यता को प्रपन्न-रुचिपूर्ति से अवच्छिन्न करने की प्रार्थना दोहा २।२५८ में सुनकर ही इन्द्रजी को सोच हो सकता था किन्तु उस समय इन्द्र सोच में नहीं आए इसलिए कि "श्रीराम अपने पूर्वसंकल्प के विरोध में प्रपन्नरुचिपूर्ति की प्रतिज्ञा नहीं करेंगे" इसी विश्वास पर थे अभी वह विश्वास समाप्त हो गया। अतः दोहा २।२५८ से आगे इन्द्र का 'सोच' न कहकर यहाँ कहा जा रहा है। यही सोचनिरूपणौचित्य मीमांसा है।

चहत होन अकाजू

सोच का विषय "चहत होन अकाजू" है अर्थात् जगद्धितप्रागभाव का बना रहना 'अकाजू' है उसकी उपपत्ति 'सोचहि' शीर्षक में व्याख्यात है। उक्त प्रागभाव की दीर्घकालव्यापीस्थायिता के प्रतीकार में कोई प्रयोग करना असम्भव है न तो गुरु बृहस्पतिजी से मंत्रणा संभव है फलतः वेदवचनप्रामाण्य की सार्वभौमता का विलोप होने का भारी सोच है जो राक्षसों के आतंक से चला आ रहा है। इस प्रकार पूर्वपक्ष समाप्त है।

इन्द्र के सोच में दोष

बृहस्पतिजी ने इन्द्रजी को पूर्वसंवाद में लोचनहीन कहा है यतः इन्द्रजी प्रपत्ति के महाराज्ञीत्व को भूल रहे हैं। प्रपत्तिसिद्धान्त में प्रपन्न (त्वं सर्वस्वामी अहं स्वामित्वशून्यः निश्छलः सेवकः) होना ही परम पुरुषार्थ है उसके पोषण में त्रयीकर्म की अङ्गता है।

अङ्गभूत विद्याकी सार्वभौमता भक्ति को अमान्य नहीं है पर जब अन्वीक्षिकीकौशल से भक्ति का ही लोप होना सिद्ध है उस अवस्था में त्रयीवचनप्रमाणप्रमितत्वगत शुभ-व्याप्यता को प्रपन्नरुचिपूर्ति से अवछिन्न होने देना यही आन्वीक्षिकी का कौशल है। अभी भक्ति के विलोपप्रसंग को देखते हुए भी त्रयीवचनप्रमाणप्रमितत्वगत शुभ-व्याप्यता को भक्तरुचिपूर्ति से अवच्छिन्न होने में इन्द्रजी ने सोच करना उनका व्यामोह है। यदि 'प्रभु प्रपन्न भरतरुच्य स्वामिसेवा पर स्वीकृति नहीं देते तो उनका राज्यारोहण होगा ही नहीं" ऐसा न समझकर इन्द्रजी ने एकमात्र "आवहि बहुरि रामु रजधानी" को ही भरतरुच्य समझना दूसरा व्यामोह है व "भरत प्रानप्रिय पावहि राजू" को प्रमाण बनाए रखने में इन्द्र ने औचित्य मानना उनका तीसरा व्यामोह है।

स्मर्तव्य है कि इसी सोचरूप प्रतिबन्धक के कारण ग्रंथकार ने प्रपत्तिव्याप्ति का स्पष्ट प्रकाशन रोक रखना कवि की कुशलता है जैसा कि संगति में सूचित है।

संगति :—अपने पूर्वनिरूपित पूर्वपक्ष के समाधानार्थ इन्द्रजी अन्यान्य विपत्ति-स्थलों में परिशेषानुमानतः उन्नीत प्रभुशरणागतिरूप उपाय का अवलम्बन सुना रहे हैं।

चौ० :—बनत उपाउ करत कछु नाहीं। रामसरन सब गे मन माहीं ॥२॥

भावार्थ :—देवकार्य को बनाने में कोई उपाय करते नहीं बनता। श्रीराम के शरण में मनसा पहुँचना एकमात्र उपाय है।

बनत उपाउ

शा० व्या०—राज्यारोहणप्रसंग में जिन उपायों से विघ्न पहुँचाया गया है वैसे उपाय "बनत उपाउ" से ध्वनित है।

कछु नाहीं

प्रतियोगिविधया "नाहीं" का अन्वय "उपाउ" से है।

"कछु" से श्रीरामशरणागत्यतिरिक्त व तदुत्तरवृत्तित्वविशिष्ट "भरतहाथा" तिरिक्त उपाय ज्ञातव्य है। निष्कर्ष यह कि प्रपत्ति में स्थित भक्तों के कार्य में बाधा पहुँचाना उक्त शरणागतिद्वयोपायातिरिक्त उपाय से सम्भव नहीं इस तथ्य को ध्यान में रखकर जगद्धितसाधक रावणवध न होने की आशंका की असमाधेयता "बनत उपाउ करत कछु नाहीं" से ध्वनित है।

सरन सब गे

श्रीरामशरणागत्युपायदृष्टि से कहना यह है कि भक्तिशास्त्र आदि वेदत्रयी रघुपति का शरीर है। उसमें अन्यों के द्वारा संकोच या अप्रमाणता होना प्रभु को सहन नहीं है ऐसा सोचकर इन्द्रादिदेवों ने "अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते" में उक्त उपाय का अवलम्बन करना "सरन सब गे" का तात्पर्य है।

संगति :—श्रीरामशरणागत्युत्तरवृत्तिसुसेवकसेवारूपउपाय की सार्थकता में कहना यह है कि प्रभु ने शरणागतों के हृदय में "उपाउ करत कछु नाहीं" का प्रतियोगी

उपायान्तर (रघुपति भगतभगति बस अहहीं) का सुझाव कराया उसकी उपपत्तिं प्रथमतः सुना रहे हैं।

चौ० :—बहुरि बिचारि परसपर कहहीं। रघुपति भगतभगतिबस अहहीं ॥३॥
सुधि करि अंबरीष-दुरवासा। भे सुर-सुरपति निपट निरासा ॥४॥
सहे सुरन्ह बहुकाल बिषादा। नरहरि किए प्रगट प्रह्लादा ॥५॥

भावार्थ :—फिर आपस में विचार करते हुए देव कह रहे हैं कि रघुपति प्रपन्न की प्रपत्ति के वश में हैं जैसा कि अबरीष व दुर्वासामुनि के चरित्रों से निर्विवाद है। सुर सुरपति पूर्ण निराश हुए और कहा कि देवों ने बहुत क्लेश सहा है तब भक्तप्रह्लादजी, नृसिंहावतार के कारक हुए।

बहुरि बिचारि (उत्तरारंभ)

शा० व्या०—"बहुरि बिचारि" कहकर शरणागति का फल समझाया है जो "बनत उपाउ करत कछु नाहीं" का निषेधक होने से स्पष्ट है।

विचार में आन्वीक्षिकीकुशलता अपेक्षित है जिसमें अर्थापतिमूलक व्याप्य-व्यापकभाव, या कार्यकारणभाव चिन्तनीय होते हैं। उनमें से यहाँ व्याप्यव्यापकभाव ही विचारना है। उसके अन्तर्गत आन्वीक्षिकी-कौशल से प्रस्तुत में दो तत्व विचारणीय हैं—(१) त्रयीवचनप्रमितत्वगतशुभव्याप्यता की सार्वभौमता (२) रघुपति की प्रपन्नप्रपत्ति में वश्यता भगतभगति। यह विचारणीय इसलिए कि त्रयी की सार्वभौमता प्रबल है तो उसके सामने भक्त भक्तिवश्यता दुर्बल होगी यदि सिद्धान्ततः भक्त भक्ति-वश्यता प्रबल है तो त्रयीवचन की सार्वभौमता को ही दुर्बल होना पड़ेगा। इसकी उपपत्ति "सबहि गे" शीर्षक में व्याख्यात है तथा अग्रिम शीर्षक में भी द्रष्टव्य है। अतः एकतरनिर्णयार्थ "बहुरि बिचारि" कहकर आन्वीक्षिकीकौशल ध्वनित किया है।

परसपर

परस्पर में से एक पक्ष ने त्रयीप्रमाणप्रमितत्वगत शुभव्याप्यता की सार्वभौमता-रूप एकतत्व निरूपित किया उसके समाधान में दूसरे पक्ष ने उक्त सार्वभौमता के निषेध से रघुपति में प्रपन्नप्रपत्तिवश्यतारूप तत्व को आन्वीक्षिकीकौशल से समझा कर अपनी (बनत उपाउ करत कछु नाहीं) शंका समाहित की है। भक्तिवश्यता के चार तत्व हैं—(१) भगत भगति बस अहहीं (२) सुधि करि अंबरीष दुरवासा (३) सहे सुरन्ह बहु काला (४) नरहरि किए प्रगट प्रह्लादा। जो आगे व्याख्यात होंगे।

रघुपति भगतभगतिबस (अर्थापत्ति)

'भगत' से प्रपन्न और 'भगति' से प्रपत्ति विवक्षित है जिससे भक्त की विभूति-पात्रता सुस्पष्ट है।

"बस" से प्रभु ने भक्ति के प्रति अपना अंगत्व स्वीकारना दर्शाया है। अर्थात् प्रभु ने अपनी स्वतन्त्रता को प्रपत्ति के पीछे संकुचित किया है।

ज्ञातव्य है कि सुरों ने भक्तरुचिपूर्ति न कहकर "रघुपति भगत भगतिबस" कहने का तात्पर्य अर्थापत्ति में है। भाव यह कि भक्त प्रपन्न में विभूतिपात्रता आने पर भक्तरुचिपूर्ति के बिना भक्तिवश्यता अनुपपन्न होने से भक्तरुचिपूर्ति होना अर्थापत्ति से सिद्ध है। इस अर्थापत्तिकौशल से शास्त्रप्रमाणप्रमितत्वगतशुभव्याप्यता की सार्वभौमता का संकोच होना भी अर्थसिद्ध है। इसके बल पर ही पूर्वोक्त व्याप्यव्यापकभाव चिन्तनीय है उसमें भक्तरुचिपूर्ति से झलकती भक्तवश्यता का बोधक "रघुपति भगतभगतिबस अहहीं" हेतु वाक्य है उससे अनुमेय साध्य (व्यापक) भक्तरुचिपूर्ति है। उसके उदाहरण में "सहे सुरन्ह" आदि वाक्य हैं।

"भगतिबस" से प्रपन्नों में शुचिता, ईश्वर के प्रति तन्मयता, विप्रसेवा मदाभाव, विद्वत्संगत्यभावाभाव सदा गुरुसान्निध्य, मुनिप्रियता, आदि हरिजनत्वोपयोगिगुणवत्ता भक्तों में समझा रहे हैं।

अंबरीष

"अंबरीष" से प्रपत्युपबृंहित क्षात्रतेजस्क राजा विवक्षित है।

भागवत में वर्णित अंबरीषचरित्र शिवजी की स्मृतिपथ में आरूढ़ है वह भक्तिवश्यता के लिए उदाहरणरूप में चिन्तनीय है। उसको गाकर कवि ने भक्तरुचिपूर्ति का अनुमान कराया है जैसे—"श्रीरामोऽयं भरतरुचिपूर्तिकर्ता भक्तिवश्यत्वात् अंबरीषवश्यविष्णुवत्" इस अनुमानप्रणालीवैचित्र्य से उपर्युक्त अर्थापत्ति का अवैयर्थ्य मननीय हैं।

दुरवासा

"दुरवासा" से भक्त्युपबृंहित ब्राह्मतेजस्क मुनि विवक्षित हैं जो भक्तिवश्यता के हेतु परीक्षकत्वेन प्रसिद्ध है।

दुर्वासा ऋषि का अभिनय (स्वमण्डलरक्षण)

अंबरीषराजा की प्रपत्ति के परीक्षक महर्षि दुर्वासाजी ने भक्ति का सर्वत उपरिस्थितत्व (महाराज्ञीत्व) प्रकाशित कर त्रयीप्रमाणप्रमितत्वगत शुभव्याप्यता व भक्तिवश्यता को प्रमित ठहराया न कि त्रयी को अप्रमाणित किया न अपने को हीन या अपमानित ही समझा। इस प्रकार दुर्वासा महर्षि ने अपने आतिथ्य के समय अंबरीषजी के सामने क्रोध का अभिनय मात्र किया न कि उसकी वास्तविकता का। इस उदाहरण से नीतिपक्ष के द्वारा प्रभु ने अपनाया स्वमन्डलरक्षण प्रदर्शित है।

निपट निरासा

"निपट" से श्रीराम ने भरतजी को सुनाये आश्वासन की अप्रतीकार्यता ज्ञातव्य है।

श्रीराम में भक्तिवश्यता की प्रबलता को व अंबरीष राजा के चरित्र से भरतजी में अंबरीषतुल्यता देखते "आवहि बहुरि रामु रजधानी" की पूर्ति होने का निर्णय किया तो जगद्धित न होने की उत्कट कोटिक सभावना में देवों का निराश होना "निपट निरासा" से स्पष्ट है।

सहे

भक्तिवश्यता की पुष्टि में उदाहरणरूप से अंबरीषचरित्र गाया है। अभी प्रभु के अवतार में उनके द्वारा देवहितारंभ होने में प्रतीक्ष्यमाण कालावधिक सहन कर्तव्यता को "सहे" से याद कर रहे हैं अर्थात् देवहित होने में विलम्ब देखकर जिस प्रकार दुःखों को सहन करना देवों के लिए कर्तव्य होता आया है उसी प्रकार भविष्यत् में दुःख सहना प्रभु के द्वारा किये जाने वाले परमण्डलविजयोपाय की पूर्वरेखा है जो 'सहे' से समझाई है।

बहुकाल

हिरण्यकशिपु ने वैकुण्ठ में पहुंचकर प्रभु को आँखों से नहीं देखा तब उसने योग्यानुपलब्ध्या प्रभु के अभाव को सर्वत्र निर्णीत कर पृथ्वी को प्रभुशून्य समझा। प्रभु भी वैकुण्ठ से हटकर हिरण्यकशिपु के हृदय में ऐसे बसे कि उनको वह असुर देख नहीं पाया इस प्रकार से अधिक काल बीतना "बहुकाल" है।

प्रल्हादा

अष्टमावस्था में पहुंचे हिरण्यकशिपुसंहारानुकूलक्रोध से युक्त नृहरि को देखने की शक्ति किसी में नहीं थी फिर भी उनको प्रसन्न करना आदि कार्य प्रह्लादजी में ही सम्भव था अतः उनका भूमि पर आगमन होने की प्रतीक्षा व उनपर होनेवाले अत्याचार में दैवकर्तृकविषाद की अबाधता 'प्रह्लादा' से ध्वनित है।

संगति :—पूर्व संगति के निर्देशानुसार सुरसहित इन्द्रजी, श्रीरामशरणागत्युत्तरवृत्ति सुसेवक सेवारूप उपाय के अवलम्बनार्थ अर्थापत्ति सुना रहे हैं जो श्रीरामशरणगति का फल है।

चौ० :—लगि लगि कान कहहिं धुनि माथा। अब सुरकाज भरत के हाथा ॥६॥

भावार्थ :—देवसमूह मस्तक हिलाते-हिलाते एक दूसरे से कह रहे हैं कि देवों का हित भरतजी के अधीन है।

कान कहहिं

शा० व्या० :—देवगण बहुसंख्याक व्यक्ति हैं तथापि सबके विचार एक समान हैं इसलिए कि सभी श्रीराम की शरण में पहुँचे हैं उसके प्रभाव से सम्पूर्ण देवों को

एक ही तथ्य सूझना "कान कहहिं" से सूचित है। कानों के समीप मुख पहुंचाकर कहने का आशय स्वोच्चरित शब्द का संवेदन एकमात्र श्रोता को कराना है इसलिए कि सुरराट् व बृहस्पतिजी के सामने अपनी ओर से निर्णय सुनाना चपलता का परिचायक होगा।

अथवा :—अंबरीषादिचरित्रों से भक्तवश्यता का ऐतिह्य समझकर भी देवों का सन्देह समाप्त नहीं हुआ है क्योंकि भरतजी, श्रीराम को वन भेजने की अनुमति देंगे यह निश्चित नहीं है किंबहुना "आवहिं बहुरि रामु रजधानी"रूप उत्कट एकतरकोटिक संभावना (शंका) जागृत होने से सभी को यह निर्णय हो रहा है कि दुःख ही सहना होगा। इसलिए "कान कहहिं" कहा है।

धुनि माथा

"निपट निरासा" में पहुँचे देव, भरतजी को श्रीरामजन समझकर भी भरतोदित पूर्वसंकल्प पर ही बल देकर मस्तक पर हाथ देते क्लेश सहने की ओर झुकते मालूम पड़ रहे हैं।

भरत के हाथा (शंकानिरसन)

"भरत" शब्द से प्रबोध व विवेक से युक्त भरतजी विवक्षित हैं। जैसा कि दोहा २।२६६ की चोपाइयों में उक्त है।

"हाथा" से भरतजी के प्रबोध व विवेक का अन्वयव्यतिरेक दिखा रहे हैं।

यहाँ सम्पूर्ण शंकाओं का समाधान "भरत के हाथा" से व्यक्त है। भरतजी, राजधानी लौटाने का हठ छोड़कर श्रीराम को वनवासी होने में सन्तोष व्यक्त करेंगे ऐसा भी "भरत के हाथा" से सूचित हो रहा है उसके पीछे निगमनिचोरात्मकवसिष्ठोपदेश व दोहा २।२६३।३ से दोहा २।२६४। तक श्रीराम ने सुनाये उपदेश सहायक हैं।

अथवा :—"हाथा" का अर्थ अधीन है। उसका भाव इतना ही है कि भरतजी की सन्तुष्टि के बिना श्रीरामवनवास सम्भव नहीं है। इस प्रकार देवों का आन्वीक्षिकीकौशल प्रकट है।

संगति :—श्रीरामशरणागतिपरिणाम (भरत के हाथा) समझने पर भी जब तक "उर आनत तुम्ह पर कुटिलाई। जाइ लोकु परलोकु नसाई" का परिमार्जन इन्द्रादि देवों के द्वारा नहीं होता तब तक देवकार्य सम्पन्न होना नहीं है। अतः "उर आनत तुम्ह पर कुटिलाई" के परिहारार्थ किया प्रायश्चित्त सुना रहे हैं।

चौ० :—आन उपाउ न देखिअ देवा। मानत रामुसुसेवकसेवा ॥७॥

भावार्थ :—दूसरा कोई उपाय दृष्टिगोचर नही हो रहा है। एकमात्र श्रीराम के सेवकों की सेवा ही उपाय है।

आन उपाउ

शा० व्या० :—"आन" से भरतसेवातिरिक्तसेवा का प्रतिषेध ज्ञातव्य है

"उर आनत तुम्ह पर कुटिलाई" का वही एकमात्र प्रायश्चित है ऐसा समझना श्रीरामशरणगति का फल है। ऐसा सोचने से दोहा २।२६३ में उक्त श्रीरामवचनतात्पर्य समन्वित होता है। इसके साथ ही देवों ने उपर्युक्त दूसरी चौपाई में जो कहा है उसका प्रतीकार होना भी स्मर्तव्य है। निष्कर्ष यह कि सत्यसन्ध राजा दशरथजी के द्वारा दिये जाने वाले राज्य का कार्यान्वियन चतुर्दश वर्ष के बाद होना है पर वर्तमान में राजप्रदीयमानराज्य के कार्यान्वियन में बाधा पहुंचाने की योजमाहेतु सरस्वतीजी के माध्यम से देवों ने विघ्न का उपस्थापन जैसे किया वैसी बाधा अभी भरतजीके कार्यान्वियन में नहीं पहुंचा सकते क्योंकि स्वयं प्रभु भी "उर आनत तुम्ह पर कुटिलाई" के अनुसार विघ्न नहीं पहुंचा सकते तो औरों की बात ही क्या है ?।

मानत

प्रभु के उपस्थित रहते "आन उपाउ" कहना ठीक नहीं। ऐसा कोई प्रश्न करे तो उसका उत्तर "मानत" से दे रहे हैं, अर्थात् प्रभु ने ही श्रीरामसेवकसेवा को उपायरूप में मान रखा है उसी को "मानत" से समझाया है। उसी का कार्यान्वियन यहाँ बताया जा रहा है जो इन्द्र-बृहस्पतिसंवादसे पुष्ट है। निष्कर्ष यह कि प्रपन्न भक्त को आगे करके प्रभु की प्रार्थना होती है तो उस प्रार्थना की सुनवाई अतिशीघ्र होती है। इतना ही नहीं श्रीरामसेवकसेवा यह एक ऐसा उपाय है जिसमें दोष या न्यूनता नहीं रहती।

सुसेवक

"सुसेवक" शब्द प्रपन्नपरक है जो भरतचरित्र से स्पष्ट हो चुका है।

सेवा

सेव्यवृत्तिप्रीतिजनकव्यापार "सेवा" का अर्थ है। वह प्रपन्न के लिए तभी सम्भव है जब प्रपन्न श्रीरामादेशपालन में अपना उत्साह सदा बनाये रखते हैं।

इस प्रकार दोहा २।२६४।१ से कहे प्रश्न के उत्तर से विषय की पूर्णता तथा समाज का अनैकमत्य की समाप्ति समझनी है।

संगति :—'मानत' का कार्यान्वियन सुना रहे हैं।

चौ० :—हिय सपेम सुमिरहु सब भरतहि। निज गुन सील राम बस करतहि ॥८॥

भावार्थ :भरतजी का प्रीतिपूर्वक स्मरण देवों ने हृदय में प्रारम्भ किया जिन्होंने (भरतजी) श्रीराम को अपने गुण, शील के माध्यम से वश में किया है।

हिय सपेम

शा० व्या० :—पुण्यश्लोकशिरोमणि भरतजी के स्मरण कीर्तन से विघ्न हटने व देवहित होने का विश्वास "हिय सपेम" से ध्वनित है। यह विवेक इतना तीव्र हुआ कि उसने मोहदल में पनप रहे असूयादिदोषों का समूल उन्मूलन कर दिया।

स्मर्तव्य है कि बृहस्पतिजी ने इन्द्र के हृदय से असूया के निरसन का उपक्रम किया था वह अभी पूर्ण है।

सुमिरहु (पुनरुक्तिपरिहार)

सम्पूर्ण देवों ने परस्पर में कानाफूसी करते हुए जो विवेकपूर्वक निर्णय प्राप्त किया उसी के अनुसरण में देवों ने ही 'सुमिरहु' उपदेश सुनाकर सबको भरतसेवा में प्रेरित करना "सुमिरहु" का तात्पर्य है।

गुरु बृहस्पतिजी ने पहिले ही मुख्य निचोड़ कहकर (दिन दिन सोकसमाजु)[1] सुरराट् के हृदय में भरतप्रीति की स्थापना की जबकि इन्द्रजी, भरतजी पर आशंकित थे। अभी श्रीराम पर आशंकित हो इन्द्रजी को व्यथा हुई तो उसकी भी चिकित्सा सुमिरहु से होना बताया है। अतः पुनरुक्ति नहीं है।

कवि का कौशल

ज्ञातव्य है कि शिवापराध से हुए सन्ताप के दूरीकरणार्थ उन्हीं के शरण में जाने का उपदेश प्रभु ने नारद जी को बालकाण्ड में सुनाया उसी कुशलता को यहाँ "हिय सपेम सुमिरहु" से कवि ने प्रगट किया है।

निजगुन

"निजगुन" से अनुजीविवृत्त में बतलाए गुण विवक्षित है उनके अन्तर्गत दक्षता, भद्रता[2] आदि स्मर्तव्य हैं।

शील

"शील" से स्वामी की आज्ञाकारिता का स्वभाव सेवक में दिखाया है। जो स्वामी को वश में करने हेतु उपाय के रूप में वर्णित है।

शरणागति का फल

'सुमिरहु' कहकर देवों ने मानस् में भरतशरणागतिस्मृत की है। "उर आनत तुम्ह पर कुटिलाई"[3] रूप दोष का प्रायश्चित्त होना शरणागति का फल है। जैसा कि गोस्वामी जी ने २।१०।८ में सुनाया है। यद्यपि यह शरणागतिनिर्णय देवमनोरथपूर्ति से पूर्ववृत्ति है तथापि उसमें अनन्यथासिद्धत्व नहीं समझना चाहिये क्योंकि देवों का मनोरथ, प्रभु की सत्यसन्धता, त्रयीवचनप्रामाण्य, श्रीरामवनवास आदिनिर्णयों में भरतजी का विवेक व प्रबोध ही अनन्यथासिद्ध है यही भक्तशरणागति का फल है।

प्रपत्ति की सर्वश्रेष्ठता

त्रयीवचनप्रमाणप्रमितत्वगत शुभव्याप्यता की सार्वभौमता को प्रपन्नरुचिपूर्ति से अवच्छिन्न होने की दशा में बाधा पहुंचाकर उसे भविष्यत् के लिए टाला जा सकता है किन्तु प्रपन्नसंकल्पितकार्य संपन्न होने में विघ्न पहुंचाकर उसको आगे के लिए टालना संभव नहीं है। इसका उदाहरण वक्ष्यमाण सरस्वतीचरित्र (दोहा २।२९५।१) समझना है। यही प्रपत्ति की सर्वाधिक श्रेष्ठता है। इस प्रकार देवों ने आपस में किया पूर्वपक्षोत्तरपक्ष मननीय है।

---

१. २।२१८ २. दक्षता भद्रता दार्ढ्यं क्षान्तिःक्लेशसहिष्णुता : सन्तोषःशीलमुत्साहो मण्डयन्त्यनुजीविनम्। ३. २।२६३।७

संगति :—विवेकसाम्राज्य में दंभ का अभाव समझना होता है तदनुसार देव-समाज में बृहस्पतिजी की प्रशंसा से दंभाभाव ध्वनित कर रहे हैं इसलिए कि उनके स्वार्थीपना में दंभ की प्रसक्ति सम्भव है।

अथवा :—"भा प्रमोदु मन मिटी गलानी" में यद्यपि इन्द्र की सेवा निरूपित है तथापि उस सेवा को देखकर बृहस्पतिजी प्रसन्नमनस्क नहीं हुए क्योंकि भरतशरणागत होकर इन्द्रजी ने पुष्पवृष्टि नहीं की है जिससे जगत् का भला होना अनिर्णीत रहा। अभी इन्द्रजी का भरतशरणागत होना देखकर जगत् का भला होना निर्णीत हो गया। अतः बृहस्पतिजी अतिसन्तुष्ट हो अपना अभिप्राय प्रगट कर रहे हैं।

दोहा :—सुनि सुरमत सुरगुर कहेउ भल तुम्हार बड़ भागु।
सकल सुमंगलमूल जग भरतचरनअनुरागु॥ २६५॥

भावार्थ :—देवगुरु बृहस्पतिजी ने देवों के किये विवेक को सुनकर कहा कि बहुत मंगल है तुम लोग भाग्यवान् हो जो जगत् के कल्याण के आधारभूत भरतजी के चरणों में आपकी प्रीति हो गई।

सुरमत

शा० व्या०—देवों ने भरतशरणागतिरूप हेतु से जगन्मंगल होने का कार्यकारण-भाव समझकर विवेकपूर्ण निर्णय करना ही "सुरमत" शब्द का अर्थ है।

सुरगुर

"सुरगुर कहेउ" यह कवि की वाणी है उसका भाव निम्नलिखित है—

विवेकी एवं आप्त गुरुजनों के वचन सुनकर शिष्यों के अन्तःकरण में शास्त्रोपदिष्ट यथार्थतत्व प्रत्यभिज्ञात हो गये व अवसर आने पर शास्त्रोक्त विधिनिषेधानुबन्ध में प्रवृत्ति निवृत्ति के अनुकूल मत शिष्यों ने सुना ऐसा सौभाग्य गुरुजनों को प्राप्त हो रहा है तो उस प्रीति में वाणी का प्रगट होना "सुरसुर" से ध्वनित किया है।

भल तुम्हार

भरतजी के शरण में रहकर उनकी सेवा करने से ही भला होना था वह कार्य संपन्न हुआ। अब भला होना निर्णीत है।

बड़ भागु

प्रपन्नों के कार्य में बाधा पहुँचाना श्रीराम के कोप का पात्र बनना है उससे देवों ने अपने को बचाना "बड़ भागु" है।

सुमंगलमूला

"सुमंगल मूला" का अन्वय "भरत चरन अनुरागु" से है।

देवों ने एकमत हो जो निर्णय किया है वह सुमंगल का मूल है क्योंकि दोहा २।२६५।७ में उक्त "आन उपाउ" शीर्षकानुसार विघ्नोपस्थापन कार्य को प्रतिषिद्ध कर

भरतपुण्यश्लोकशिरोमणि के स्मरण कीर्तन में रही प्रवृत्ति शुभलक्षण है, अन्यथा रावण-वधासंभव के साथ-साथ श्रीरामराज्योत्सव भी अलीक (शून्य) हो जाता ।

अनुरागु

अभी तक के चरित्र में देवसहित इन्द्रजी ने प्रीतिस्नेह दिखाया था उसके साथ वे दुःख का अनुभव करते देखे गये अभी उनको दुःखसम्बन्ध न रहना व प्रीति की स्थायिता का दृष्टिगोचर होना "अनुरागु" से व्यक्त किया है ।

ज्ञातव्य है कि अभी भरतशरणागति होने पर भी पुनः देव क्षिप्तभूमिका में ग्रस्त हो सकते हैं । अतः उनमें स्थायी अनुराग, सदा के लिए होना सम्भव नहीं है जैसा कि ऐन्द्री माया का प्रयोग व सरस्वतीजी को दी हुई छलप्रेरणा से स्पष्ट है तथापि वर्तमान समय में शरणागत्यनुबन्धि अनुराग जितना अपेक्षित है उतना ही अनुराग यहाँ ज्ञातव्य है ।

संगति :—सीतापति के एक सेवक की सेवा की महनीय सुन्दरता, अभूतोपमा से गा रहे हैं ।

चौ० :—सीतापतिसेवक सेवकाई । कामधेनुसयसरिस सुहाई ॥१॥
भरतभगति तुम्हरें मन आई । तजहि सोचु बिधि बात बनाई ॥२॥

भावार्थ—सीतापतिसेवकों की सेवा का सौन्दर्य शतकामधेनु से भी बढ़कर है । तुम्हारे अन्तःकरण में भरतभक्ति वास्तविकतया उदित हो गयी है । अब तो सब बात विधि द्वारा बनाई समझो । अब क्या सोचना है ?

सीतापतिसेवक

शा० व्या० : —पूर्व दोहे में "भरतचरन अनुरागु" कहकर भरतजी का उल्लेख भरतत्वेन रूपेण हुआ था । यहाँ सेवक कहकर सीतापतिसेवकत्व को सेव्यतावच्छेदक के रूप में समझाया है । फलतः भरतान्य प्रपन्न सेवक भी यहाँ संगृहीत होंगे ।

ज्ञातव्य है कि सीताजी को यहाँ पति में विशेषणतया अन्वित करना है न कि उपलक्षणतया ।

कामधेनुसय

एक कामधेनु की शोभा समझी जा सकती है यतः वह प्रसिद्ध है । यदि कोई एक सौ कामधेनु की शोभा को समझने का प्रयत्न करे तो वह निष्फल है वैसी ही स्थिति सीतापतिसेवकसेवा के बारे में समझनी है । अतएव यह अभूतोपमा है इससे सीतापति-सेवकसेवा का दौर्लभ्य इंगित है ।

शत की कल्पना इसलिए कि उपनिषदों में मानुष आनन्द को बताकर उससे अधिक आनन्द अन्यत्र समझाने हेतु शत संख्या का प्रयोग प्राप्त है इसलिए उसके अनुबन्ध में "सय" कहा है ।

भरतभगति

पूर्व संवाद में बृहस्पतिजी ने भरतभक्ति कहा था उसी की एकरूपता में बृहस्पतिजी पुनः यहाँ "भरतभगति" कह रहे हैं।

ज्ञातव्य है कि यहां "भरत" शब्द से सीतापतिसेवकत्व नहीं समझना है क्योंकि इन्द्र ने कुटिलाई का भाव मनस् में लाकर विशेषतया भरतजी के प्रति आशंका उठायी थी। अतः "भरत भगति" से भरतजी की भक्ति ही विवक्षित हैं।

मन आई

निःशंक होने पर भी अभी तक इन्द्रजी भरतजी के प्रति सेवाभाव में नहीं आए थे। फलतः "उर आनत तुम्ह पर कुटिलाई" दोष शमित नहीं था उसका समाप्त होना "मन आई" से सूचित है।

बिधि बात बनाई

"विधि" से ईश्वरसंकल्प ज्ञातव्य है।

युवराजराज्योपक्रम से लेकर चित्रकूट की सभा घटित होने तक जितने संवाद हुए उनमें ऐकमत्य नहीं हो सका। अतः विधि को संकल्प पूरा करने में अड़चन हो रही थी उसके निराश की अनुरूपता में अभी देवों का एकमत में आना "बिधि बात बनाई" से ज्ञातव्य है।

अथवा :—मनस् में एकाग्र या निरुद्ध भूमिका न रहने से तर्क बोध व अनुराग का स्वमण्डल में उदय होना कठिन हो रहा था। अभी उस अनुराग का सर्वत्र उदित होना "बिधि बात बनाई" है।

संगति :—श्रीराम की प्रतिज्ञा सुनकर इन्द्रजी अभी तक डर रहे थे। अभी आन्वीक्षिकीकुशलता से भरतशरणागति में पहुंचने से इन्द्रजी भयमुक्त हो गए। उसका अनुवाद करते हुए भरतजी की ओर से क्या होना है ? सुना रहे हैं।

चौ० :—देखु देवपति ! भरतप्रभाऊ। सहजसुभायँबिबस रघुराऊ ॥३॥
मन थिर करहु देव ! डरु नाहीं। भरतहि जानि रामपरिछाहीं ॥४॥

भावार्थ :—हे इन्द्र ! भरतजी के सहज स्वभावप्रभाव को देखो जिसने रघुपति को भरताधीन बना दिया। देवों ! अपने मनस् की चंचलता दूर करो। अब कोई भय नहीं है। भरतजी तो श्रीराम की परछाई हैं।

प्रभाऊ

शा० व्या० :—"प्रभाऊ" से स्वकार्यसाधनसामर्थ्य ज्ञातव्य है। भरतजी का कार्य एकमात्र रघुपतिवश्यता है जो अजितेन्द्रियों के लिए असम्भव है।

सहज सुभायँ

उक्त स्वभाव भरतजी में कृतक न होकर भरतजी को जन्मतः प्राप्त है जो भरतजी की आत्मसम्पत्तिरूप है इससे आत्मवत्ता की व्याप्यवृत्तिता स्फुट है।

बिबस

भरतजी में आत्मवत्ता से प्राप्त तेजस् ने रघुपति को आकृष्ट करना बिबशता है।

मन थिर

शंकाओं से मनस् में चंचलता होना ही मनस् की अस्थिरता है। उसका अभाव "मन थिर" से समझाया हैं।

डरु नाहीं

दोहा २।२६५।५ में "सहे सुरन्ह" कहकर इन्द्रजी की विषादस्थिति दर्शायी थी। उसका विनाश "डरु नाहीं" से व्यक्त कर रहे हैं।

"मनथिर" से "डरु नाहीं" तक बृहस्पति जी ने प्रतिज्ञा के व्याज से तीन कार्यसम्पत्ति यहां दर्शाई है।

परिछाहीं

उक्त कार्यत्रयसम्पत्ति के प्रति कारण के रूप में "भरतहि जानि राम परिछाहीं" निरूपित हुई है। "परिछाहीं" का व्याख्यान श्रीरामादेश के पालन से समझना है। उसी स्वभाव के आधार पर स्वामी प्रभु की परवशता गाई गई है। उसके पीछे आधार रूपतय। आत्मगुणसम्पत्तिरूप स्वभाव भरतजी में वर्णित है। इस तथ्य को श्रीमद् भागवत में श्रीकृष्ण ने स्वमुख से स्वीकारा है—

न कश्चिन् मत्परं लोके तेजसा यशसा श्रिया ॥
विभूतिभिर्वाऽभिभवेत् देवोपि किमु पार्थिवः[1] !

अथवा :—"परिछाहीं" से भरतजी के अपरिवर्तनीय स्वभाव का स्मरण कराकर जिस तर्क से इन्द्रजी को निर्भय किया जा रहा है वह तर्क इस प्रकार है—"अधुना राजधानीगमनं प्रति भरतो यदि हठं कुर्यात् तर्हि श्रीरामसेवास्वभावस्यापरिवर्तनीयता व्याहन्येत"। निष्कर्ष यह कि जैसे शरीर की छाया उसकी अनुगामिनी हो शरीर का विरोध नहीं करती है वैसे ही भरतजी जैसे प्रपन्न सेवक प्रभुसंकल्प का विरोध नहीं करते।

ज्ञातव्य है कि प्रमाणमूर्धन्य वेदप्रमाणप्रमित अर्थ को प्रभु, प्रपन्नों की रुचि को देखते हुए संकुचित कर सकते हैं पर प्रपन्नसेवकसंकल्प के विपरीत कभी नहीं जा सकते। अतः "डरु नाहीं" कहा है। नीतिदृष्ट्या यह भी कहना होगा कि दोनों भाइयों के मध्य में मतभेद, विरोध, वैषम्य, आशंका, कापट्य, छल आदि दोषों को पनपने की सर्वथा प्रसक्ति नहीं है।

प्रपत्ति की प्रतिष्ठा में बृहस्पतिमत की सार्थकता

"कहहु करौं सोइ आजु"[2] कहकर प्रभु ने भरतजी की प्रपत्ति (अहं भक्तपराधीनः) की प्रतिष्ठा को व्यक्त करने का आदेश भंग्यन्तरेण दिया। उसको स्वयं ने प्रसिद्ध

---

१. श्रीमद्भागवत १०।७२।११

२. २।२६४।

करने के औचित्य को भरतजी सोच ही रहे थे कि उसी मध्यावधि में कवि महाभाग ने देवों का सोच सुनाकर बृहस्पतिजो के द्वारा "सीतापति सेवक सेवकाई" कहलाया जो भरतजी की पूर्ण प्रपत्ति का परिचायक है।

संगति :—बृहस्पतिजी की उक्ति पर सीतापतिसेवक अवधवासी, यदि देवों से सेव्य हो गये तो उन पर माया का प्रयोग करना इन्द्रजी के लिए सम्भव नहीं हो सकेगा जैसा कि आगे के वर्णन में स्पष्ट होगा। अतः वक्ष्यमाण मायाप्रयोग के समन्वयार्थ 'सीतापतिसेवकसेवकाई' का संकोच, श्रीराम के संकोच से कवि, समझा रहे हैं।

अथवा :—प्रपत्ति व सीतापतिसेवक की रुचिपूर्ति के व्याप्य-व्यापकभाव की शुद्धि 'सीतापतिसेवकसेवकाई' से समझा जाना सम्भव है उसके निरसनार्थ कवि, श्रीराम का संकोच कह रहे हैं।

अथवा :—भक्तिप्रपत्तिप्रतिष्ठा की वास्तविकता जीवों के लिए अगम्य होने से उसके सिद्धान्त की स्थापना करने हेतु प्रथमतः भरतसेव्य प्रभु का संकोच कवि कह रहे हैं।

चौ० :—सुनि सुरगुर-सुरसम्मत सोचू। अन्तरजामी प्रभुहि संकोचू ॥५॥

भावार्थ :—सुरगुरुमतसमुपबृंहित सुरमत व इन्द्रसोच सुनकर अन्तर्यामी प्रभु को संकोच हुआ।

सुनि

शा० व्या० :—"सुनि" का अन्वय "सुरगुर-सुरसंमत सोचू" से है। उसका तात्पर्य "लगि-लगि कान" से लेकर "भरतहि जानि राम परिछाहीं" तक समझना है।

सम्मत

सम्मतः—देवों ने किया भरतसेवा का निर्णय सुनकर बृहस्पतिजी ने सेव्यसेवा का परिष्कृत रूप स्पष्ट करते हुए "सीतापतिसेवकः सेव्यः" ऐसे विशिष्टविधि को अपनाना 'सम्मत' है। एवंच वसिष्ठजी ने कहे 'भरतरुचि राखे' रूप उपाधि से 'सयाने' व साधु सयाने, के भेद से सामान्यतया निर्णीत त्रयीवचनप्रमाणप्रमितत्वगत शुभव्याप्यता को अवच्छिन बनाने के लिए सीतापतिसेवकरुचिपूर्ति को बृहस्पतिजी की सम्मति से अवच्छेदक माना जाना "सम्मत" से ज्ञातव्य है।

सोचु

सोचुः—देवों ने किया हुआ आपाततः भासमान बृहस्पतिसम्मतविचार "सोचु" है। वही प्रभु के संकोच का कारण है इसलिए कि आपाततः देवों ने किया यह निर्णय यथार्थ नहीं है अतएव विवेकाभास है।

अन्तरजामी

अन्तरजामीः—संपूर्ण शरीर के अन्तः रहकर जीवों को उनके कर्मानुसार यथास्थान पहुँचाने में कर्तृता का आधार "अन्तरजामी" है।

अथवा :—देवों के मध्य में श्रीराम उपस्थित नहीं थे तो भी "सुरसम्मत सोचू" को कैसे सुना ? इस प्रश्न के समाधानार्थ "अन्तरजामी" का उल्लेख है।

ज्ञातव्य है कि शरीरान्तर्वर्ती होते हुए भी उनमें तत्तादात्म्यभान न रहना अन्तर्यामी का स्वभाव है उसकीउ पयोगिता यही कि करण व तद्व्यापार (शरीरतादिन्द्रियवृत्ति) का निरोध होने पर जीव निष्क्रिय हो जाता है तब उस जीव को गति देने में कर्तृता की अपेक्षा का समाधान सर्वसमर्थ अन्तर्यामी से होता है। इसी तथ्य को ध्यान में रखकर संकोच व सुनि की कर्तृतोपपत्ति "अन्तरजामी" से ज्ञात होती है।

संकोचू (अप्रसन्नता)

संकोचू:—उक्त बृहस्पतिमत से अपने चित्त को कुछ क्षणों के लिए अप्रसन्नतापूर्वक हटाना "संकोचू" से विवक्षित है।

उपर्युक्त सोच सुनने के बाद पूर्वापर ग्रन्थ के आधार पर प्रभु को संकोच होने की उपपत्ति में आठ कारण है—

(१) "सीतापतिसेवकसेवकाई" कहने से श्रीरामसेवक अवधसमाज भी गृहीत होगा तो परिणाम में उनकी रुचिपूर्ति को उपाधि कहना होगा तब तो त्रयीप्रमाणप्रमि तत्वगत शुभग्राप्यता उस पूर्ति से भी अवछिन्न होगी तो तदनुसार भरतरुचिपूर्ति की तरह त्रयीप्रमाणप्रमितत्व को और अधिक संकुचित करना होगा। यह प्रथमसंकोचकारण है।

(२) बृहस्पतिजी के निर्णयानुसार अवधसमाज को उनकी रुचिपूर्त्यर्थ चित्रकूट में रहना प्रभु को इष्ट माना जाय तो वनवासारम्भ की प्रथमरात्रि में अवधसमाजरुचि के विरुद्ध उनको शिवजी ने तमसातीर पर बहुत देर तक माया में शयन कराने का वैयर्थ्य होना दूसरा संकोचकारण है।

(३) गुरुप्रोक्त सेवकसेवकाई आदेश मान्य है तो इन्द्रजी ने अवधप्रजा पर माया का प्रयोग (२।३०२।४) करना बृहस्पतिसम्मत के विरुद्ध होने से उपपन्न नहीं होगा। इन्द्रजी अवधवासियों पर मायाप्रयोग नहीं चलाते हैं तो वे भरतजी के साथ लौटकर अवध नहीं आयेंगे अतः राजनीति का विनाश प्रसक्त होना तीसरा संकोचकारण है।

(४) बृहस्पतिजी ने विवेकी होने पर भी अविवेकपूर्णमत सुनाना संकोच का चोथा कारण है।

(५) दोहा २।२६८।५ में कहे स्वार्थ के अनुसार श्रीरामसेवातिरिक्त कोई भी विषय रुचिपूर्ति के नाम से उपस्थापित किया जाय तो भरतरुचिपूर्ति में प्रपत्तिप्रतिष्ठा का विवेकपूर्ण स्वाद देवों को न लगना संकोच का पाचवाँ कारण है क्योंकि सर्वत्र "सीतापतिसेवकसेवकाई" का कार्यान्वयन देखकर देवों के हृदय में यह भावना हो सकती है कि अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए ही भरतजी ने बाल्यकाल से श्रीरामसेवा चलायी होगी। इसके उदाहरण में तारकासुरचरित्रस्मरणीय है अर्थात् वह बालकाण्डीय शिवचरित्र में न गाया गया होता तो भगवदादेशमात्र से शिवजी ने विवाह करना कामित्वारोप का ही कारण माना जाता। फलतः प्रपत्ति का स्वरूप स्फुट नहीं होगा।

(६) देव, बृहस्पतिजी और भरतजी तीनों अभी शास्त्रप्रमाणपरतन्त्र रहते भक्ति की छत्रछाया में प्रपत्ति की प्रतिष्ठा हेतु कृतसंकल्प दिखाई दे रहे हैं, परन्तु तीनों के निर्णय में एकरूपता स्पष्ट नहीं हो रही है जो शास्त्रप्रमाणानुयायियों के लिए शोभनीय नहीं है प्रमाणप्रमित अर्थों में अनेकरूपता व एकमत न होना विचारकों की भ्रान्ति का परिचायक हो सकता है। यही प्रभु के संकोच का छठवाँ कारण है।

(७) जबकि भरत जी, प्रभु की इच्छा के विपरीत न कुछ करते हैं न कुछ कहते हैं तो "भरत रामआयसु अनुसारी" स्वभाव के रहते "कहहुं करौं सोइ आजु" को सुनते ही भरतजी के प्रति विपरीत भावना इन्द्रादि ने करना व अकाजू की आशंका में आना प्रभु के संकोच का सातवाँ कारण है।

(८) बृहस्पतिजी के मत का अनुसरण सेवकमात्र में यदि लागू करते है सीतापतिसेवक श्रुत्यनुमत हठी जा साधु हैं उनकी रुचिपूर्ति से श्रुतिप्रमाणप्रमितत्व में रही शुभव्याप्यता को अति-संकुचित किया जाय तो त्रयी का प्रामाण्य ही लुप्त हो जायेगा यही संकोच का आठवां कारण है।

उक्त संकोचों पर इष्टापत्ति उठाई जाय तो श्रीराम का सेतुपालकत्व व मानवत्व दोनों ही दूषित होंगे।

बृहस्पतिमत से सीतापतिसेवकसेवा की एक समीक्षा

वसिष्ठमुनि ने प्रस्तावित 'भरतरुचि राखे' के अनुगमन में क्या श्रुत्यनुमतत्व आक्षिप्त हो सकता है? इस प्रश्न के समाधान में यह कहना है कि मुनि ने भक्ति से पृथक् होकर प्रपन्नरुचिपूर्ति पर बल नहीं दिया है इसलिए कि उनकी प्रपन्नरुचिपूर्ति में श्रुत्यनुमतत्व सदा सम्भव है उसकी उपपत्ति स्मर्तव्य है यह कि प्रपत्तिसिद्धान्त में प्रपन्नों का समुदाय ही समाज है वे प्रभु के पार्षद हो जीवन को पूर्ण करते हैं उनकी और प्रभु की पारस्परिक चित्तज्ञता भी एक समान है इसलिए "सीतापतिसेवकसेवकाई" से सेव्य और सेवकों के पारस्परिक चित्तज्ञत्व का होना समझाया है जिसकी पूर्ण झलक नीतिसार अनुजीविवृत्त प्रकरण में प्राप्त है—

"प्रविश्य चानुरागेण चित्तं चित्तज्ञसम्मतः।
समर्थयंश्च तद्विद्वान् साधु भाषेत भाषिमः"[१]।

इस पद्य की व्याख्या जयमंगला भी आदरणीय है—

"चित्तज्ञसम्मत इति राजाभिप्रायविदां पार्श्वस्र्वतिनां संमतः असम्मतो हि ध्रुवं तद्वेषात् द्वेष्यः स्यात्। तत्पक्षं राजाभ्युपगतम्"[२]।

एवंच प्रपन्न सदैव प्रभु के चित्त को समझकर ही अपनी रुचि को अपनाते हैं तो वे चित्तज्ञ ही नहीं किन्तु प्रभु के अन्य पार्षदों के भी सम्मत होते हैं। इस प्रकार सभी पार्षदों का एकमात्र लक्ष्य प्रभु की आज्ञा को निष्कपट रूप से पालन

---

१. नीतिसार ५।२४ २. नीतिसार जयमंगला ५।२४

करना है, प्रभु भी वैसे सेवकों को स्वामिसेवा से वंचित होना देखते हैं तो वे उनको सेवार्थ अवकाश देते ही हैं यह अंश श्रुति को सर्वदा मान्य है ऐसा सोचकर ही नीतिरूपतया सीताजी धर्मरूप में उनके पति व श्रीराम के सेवकों की एक इकाई बनती हैं। इस प्रकार प्रपत्ति व श्रुति का विरोध कदापि न होने से वसिष्ठोक्त वचनार्थ में श्रुतिसम्मतत्व का आक्षिप्त होना निर्बाध है। इस प्रकार त्रयीप्रमाणप्रमितत्वगत शुभव्याप्यता को प्रपन्नरुचिपूर्ति से अवच्छिन्न करने की एक समीक्षा पूर्ण है।

संकोच का फल

उपर्युक्त अष्टविध संकोचकारणों से ही प्रभु ने "सुरगुर-सुरसम्मत सोचू" से अपना चित्त हटा दिया उसका परिणाम यह हुआ कि अपनी प्रार्थना का प्रत्याख्यान सरस्वतीजी के द्वारा सुनकर इन्द्रजी, अवधवासियों पर माया का प्रयोग चलाने में सफल होंगे उस पर श्रीराम भी उपेक्षा करेंगे। यही संकोच का फल है जो दोहा २।२६९ में द्रष्टव्य है।

संगति :—दोहा २।२६०।८ की एकवाक्यता को ध्यान में रखते हुए उसकी आकांक्षा के अनुरूप भरतजी अपने ऊपर सौंपे निर्णयभार को पूर्ण करने में हेतुतया अपेक्षित इष्टसाधनत्व बलवदनिष्टाननुबन्धित्व व कृतिसाध्यत्व के अनुकूल निर्णय दोहा २।२६९ में सुनायेंगे उससे पूर्व स्वार्थानुमानप्रणाली में प्राप्त उस विचार का भरतजी द्वारा मन्थन करना शिवजी सुना रहे हैं जिससे भार के कतिपय अंशों में सफलता प्राप्त होगी।

अथवा :—अवधसभा में वसिष्ठमुनि ने प्रस्तावित राजपदग्रहण की अस्वीकृति में कारण कहकर रुच्य पदार्थानुपलब्धिप्रयुक्त अनात्मतुष्टि होना भरतजी ने सुनाया था अभी उसी पर ध्यान देते हुए रुच्य पदार्थ को उपस्थापित करने का भार अपने को प्राप्त है सोचकर विविध विचारों से निर्णीत रुच्यपदार्थविषयक आत्मतुष्टि को प्रकाशित करते हुए भरतजी ने विविध अनुमान करना कवि सुना रहे हैं।

अथवा :—देवों के पूर्वोत्तरपक्ष से दोहा २।२६४ में प्रभु के वचन सुनाकर कवि ने प्रपत्ति की पूर्ण प्रतिष्ठा सामान्यतया समझाई। उस पर प्रभु ने दिये भार का उत्तर दोहा २।२६९ में देंगे। उसके पूर्व किए भरतजी के अनुमान बता रहे हैं।

चौ० :—निज सिरभारु भरत जिय जाना। करत कोटिबिधि उर अनुमाना ॥६॥

भावार्थ :—भरतजी ने समझ लिया कि निर्णय का भार अपने शिरस् पर ही है तब उन्होंने प्रथमतः अनेकविध विवेक (अनुमान) किए।

सिर भारु

शा० व्या०—सिरभारुः—गुरुजी व श्रीराम दोनों के द्वारा निर्णीत आप्तत्व को अपने में सोचकर तदनुबन्धितया उत्तर का भार अपने ऊपर सौंपा जाना 'सिर

भारु" है जिसमें विचारणीयतया सहायादि पचांग[1] होंगे और प्रवृत्तिप्रयोजकतया इष्ट साधनत्व आदि की अबाधता भी विचारणीय होगी उसके अतिरिक्त वह भी विचारणीय होगा जिसमें प्रभु की सत्यसन्धता व "कहहु करौं सोइ आजु" (२।२६४) का प्रतिषेध न होते प्रभु को संकोच में न आना पड़े इत्यादि। उक्त विचारणीय तत्वों को सोचने में सरलता न होना "भारु" से ध्वनित है।

कोटिबिधि

"कोटि" से अनुमेय एवं संदिग्धविषयों में जो भी विविधता ज्ञेय हैं अर्थात् अनेकविध कोटियां (विधि-निषेध, अस्ति-नास्ति) विचारणीय है उन्हीं में से यथायोग्य विधि कोटि को विविक्तकर उनकी प्रकाश में लाना है।

अनुमेय कोटि

(१) भक्तिशास्त्रस्य बलीयष्ट्वात् शुभस्यानुमापकस्य त्रयीप्रणाप्रमितत्वस्य व्याप्यतां उपाधिमत्तया सुसंकोच्य भक्तिशास्त्रविधिपालनं कुर्वता प्रपन्नेन प्राप्ता स्वामिनः श्रीरामस्याज्ञा इष्टसाधनत्वादि विशिष्टा कार्यसिद्धयादिपंचांगपूर्णा च।

(२) यथा स्वामी श्रीरामः आदेक्ष्यति तथा अनुष्ठेयम् तस्य सर्वज्ञत्वादन्तर्यामित्वाच्च।

(३) पित्रादेशगतभावनाप्रयोज्यप्रवृत्तिमतः श्रीरामस्य वने वासः इष्टसाधनत्व (बलवदनिष्टाननुबधी कृतिसाध्यः) विशिष्टः पंचांगपूर्णश्च।

(४) राजनीतावधिठितेन प्रधानतयाभीप्सितप्रजापालनधर्मनिष्ठेन मयाऽयोध्यांप्रति प्रत्यावृत्य कर्तव्यमवस्थानं इष्टसाधनं कार्यसिद्धयादिपंचांगपूर्णं च।

(५) त्रयीप्रामाण्यं स्वीकृत्य नरकस्याप्रसक्ततया वसिष्ठनिर्देशानुसारेण स्वयमभिषेकः स्वीकृतश्चेत् सः इष्टसाधनत्वादिविशिष्टः कार्यसिद्धयादि पंचांगपूर्णश्च।

(६) मया भरतेन वने गन्तव्यम्पूर्ववत्।

(७) पूर्वदर्शितरीत्या सेव्यसेवकभावः भविष्यत्कालेपि अनुरोद्धव्यः पूर्ववत्।

(८) त्रयीप्रमाणप्रमितत्वगत शुभनिरूपित व्याप्यता को प्रपन्नरुचिपूर्ति से अवच्छिन्न करना ही इष्ट है तो उक्त व्याप्यता के सार्वभौमत्व की अनुपपत्ति।

ज्ञातव्य है कि दोहा २।२६२ की चौपाई में दैववादपक्ष से विचार किया है अभी जो भी अनुमान बताए गए हैं उनके पीछे "ईसअधीन जीवगति जानी" रूप ईशाधीनत्ववाद की आधारता मननीय होने से अनुमान में पुनरुक्ति नहीं है। प्रभु के द्वारा निर्णयप्राप्त्यर्थ 'कोटि' शीर्षक की व्याख्यानुसार संदिग्ध कोटियां स्वयं ग्रन्थकार ही दोहा २।२६८।७ से दोहा २।२६९।१ तक कहेंगे।

---

[1] (i) "सहायक" मुनि गुरु व साधुओं की प्रसन्नता है (ii) सनेहू "साधनोपाय" है (iii) चित्रकूट "देश" है प्रस्तुत समय "काल" है। (vi) मोहि घाला विपत्ति है। उसके प्रीतकार में "छोभु नहि मन सन्देह" प्रतीकार है (v) साहिबसेवा सिद्धि है ये ही मन्त्र के पंचाङ्ग हैं।

अनुमाना (पूर्वोत्तरपक्षविवेक)

"अनुमाना" से पूर्वोत्तरपक्षाभिमत विधिप्रतिषेधान्यतर सम्बन्धी अनुमान समझने होंगे। उनमें में "राम रजायसु" आपन नीका" को छोड़कर जितनी कोटियां उक्त हैं वे सभी पूर्वपक्षाभिमत हैं इसलिए कि उनमें से आठवीं कोटि को छोड़कर अन्य सात कोटियों में भरतजी का नीत्याभास देखना उनके चरित्र से स्पष्ट है तथा आठवें अनुमेय का निरसन दोहा २।२६७।२ के व्याख्यान में कण्ठतः निरूपित है।

संगति :—भरतजी का प्रपत्त्यनुरूप यथार्थ आशय समझकर प्रपत्तिसिद्धान्तानुगुण, उत्तर विधिकोटिरूप में शिवजी ध्वनित कर रहे हैं इसलिए कि वहीं—साधुमत लोकमत नृपनयनिगमनिचोरि" है व प्रभु भी उसी पर संकोचशून्य हो स्वामित्व स्वीकारेंगे। इस प्रकार "सिवसाखी" उक्ति यथार्थ होते हुए विद्याओं के बलाबलनिरूपण के साथ प्रमाण-विचार भी पूर्ण होगा।

चौ० :—करि बिचार मन दीन्ही ठीका। रामरजायसु आपन नीका ॥७॥

भावार्थ :—भरतजी ने मनस् में पूर्ण विचार (साधक-बाधक) करके यही स्थिर किया कि स्वामी श्रीराम जैसा कहेंगे उसी को अपनाने में अपना भला होगा।

करि बिचार (प्रपत्ति का लक्ष्यबिन्दु)

शा० व्या०—यहाँ हित (योगक्षेमनिष्पत्तिरूप) एवं अहित (अनिष्पत्तिरूप) करिविचार से विचारणीय है—

उनमें से हितरूप भलपक्ष का उपस्थापन करने का भार भरतजी पर आया है। उसी को प्रभु ने भी मान्य करना है। अभी सोचना यह है कि जब पशुपक्षी भी श्री रामोक्ति (हित अनहित पसुपच्छिउ जाना) के अनुसार अपना-अपना हित समझते ही हैं तब "करि बिचार" का कोई महत्त्व नहीं है तथापि वह हित विशेष विचारणीय होगा जो पशु आदिकों के लिए असंवेद्य है उसकी पुष्टि में निम्नलिखित जयमंगलावचन मननीय है—

"पशवो हि मनुष्यप्रयुक्त• पाशकूटादिभिरुपहन्यमानाः पाशदिविमोचनाकुशलाः विनाशम्, बालाश्च परिहारानभिज्ञाः सर्पाद्युद्रवादिकंमासादयन्तो नीतेर्विना दृश्यन्ते। अतो नीतेर्विना फलं नास्ति। इति" (अर्थशास्त्र भूमिका)

अतः वृद्धसेवात्मक विद्वत्संगतिनीति से अपृथक् होता हुआ प्रपन्नों की परम्परा में प्राप्त है वहीं "कहहु करौं सोइ आजु" उक्ति से श्रीराम को भी अभिप्रेत है वही विचारणीय हित है।

स्मर्तव्य है कि "अनुमाना" शीर्षक के अनुसार हित के अन्तर्गत वही कोटि मान्य है जो अनुमाना शीर्षक में द्वितीय कोटि के रूप में उद्धृत है अवशिष्ट कोटियाँ अहित हैं।

मन दीन्हीं ठीका

'मन' शब्द "इदं करिष्यामि, करोमि" आदि संकल्पात्मक विमर्श का ग्राहक है।

"ठीका" शब्द अनाहार्य अप्रामाण्य शंका (ज्ञानं) अभाव विशिष्ट प्रत्यभिज्ञाजनक संस्कार के सार्वकालिक उद्बोध का वाचक है।

हिताहितप्राप्तिपरिहार की विचारणीयता में प्रमाणत्रय के अन्तर्गत उस प्रमाण को अपनाना होगा जो इदंप्रथमतया मान्य हो। उसके सम्बन्ध में प्रपन्नों की आत्म-तुष्टि को "मन दीन्हीं ठीका" से व्यक्त कर रहे हैं इसलिए कि विद्याओं का बलाबल-निरूपण करते समय आन्वीक्षिकीकौशल से सम्पूर्ण विद्याओं के समन्वय के साथ प्रमाणों के बलाबलसमन्वय की एकरूपता भी होनी है।

अथवा—मुनि वसिष्ठजी ने कहे "रामरजाइ रुख" के अनुसार श्रीरामादेश-पालनात्मक प्रधानकर्म में ही भरतजी की आत्मतुष्टिको शिवजी ने समझाना "मनठीका" का आशय है।

राम रजायसु

"राम रजायस" का अन्वय नीका के साथ समझना है।

"राम" से यहाँ स्वस्वामित्वविशिष्ट प्रभु विवक्षित हैं। वसिष्ठ मुनि ने भी प्रधानकर्मरूप में उसी को स्वीकारने का संकेत किया है।

"रजायसु" से विधान समझना है। इस एकवाक्यता में भरतजी की विद्वत्संगति (अंकुश) निर्णीत हैं।

प्रभु ने स्वहिताहितप्राप्तिपरिहार के प्रति भरतजी को स्वतन्त्रतया सोचने का इंगित कर स्वतन्त्र रहने का अधिकार सुनाया है तब भरतजी ने "रामरजायसु" को हित माना है इसलिए कि भरतजी एकमात्र 'रामरजायसु' को ही वेदनानिवारक औषध मानते हैं।

अथवा—भरतजी में 'प्रभुजनत्व' कायम जिससे रहेगा वैसा "रामरजायसु" यहाँ समझना है इसी हेतु से अयोध्या में रहते भरतजी ने राज्यग्रहण करना रामजनत्व-विरोधी होने से गुरुपदेश को न मानने के बाद दोष की भाव्य प्रसक्ति निर्मूल होना स्पष्ट है।

आपन नीका

"आपन" से प्रपन्नमात्र विवक्षित हैं उसी में शिवजी आदि सभी प्रपन्न गृहीत होंगे।

"नीका" से इष्टसाधनमनिष्टाननुबन्धी कृतिसाध्यं प्रधानकर्म ज्ञेय है जो कार्य-सिध्यादि पंचागपूर्ण है।

इस प्रकार प्रपत्तिसिद्धान्त मत से अनुमान दिखाकर अपनी छत्रछाया में रही अंगभूत राजनीत्यादिसमस्तविद्यासमेत त्रयी की प्रमाणमूर्धन्यता स्फुट की है। तदन्तर्गततया ही आप्तत्व श्रीराम में स्मर्तव्य है।

संगति—भरतजी ने प्रपत्तिसिद्धान्ताभिमत श्रीरामोक्ति सुनकर प्रत्युत्तर में "मन दीन्ही ठीका" से अभीप्सित जो विचार किया व तदनुबन्धिवाक्य सुनाया है उसके निरूपण की प्रतिज्ञा शिवजी कर रहे हैं जिसमें इनका आन्तरिक आल्हाद स्फुट हो रहा है।

चौ०—निज पन तजि राखेउ मन मोरा। छोहु सनेहु कीन्ह नहिं थोरा ॥८॥
दो०—कीन्ह अनुग्रह अमित अति सबबिधि सीतानाथ।
करि प्रनामु बोले भरतु जोरे जलजजुग हाथ ॥ २६६ ॥

भावार्थ—अपना संकल्प त्यागना व मेरा संकल्प स्वीकारना यही अत्यधिक स्नेह व कृपा है। प्रभु सीतानाथजी ने अमेय अनुग्रह सब प्रकार से अपने ऊपर किया है देखकर दोनों करकमलों की अंजलि से प्रणाम करते भरतजी बोले।

पन तजि

शा० व्या०—"पन" से संकल्प (प्रतिज्ञा) विवक्षित है। आशय यह कि "भरत प्रानप्रिय पावहिं राजू"[1] कहकर श्रीराम ने जन (भरत) निरूपित स्वामित्व को सन्यस्त करना प्रभु का संकल्प है जो भरतजी में निर्विरोधराज्यस्वामित्व का उत्पादक था इसलिए कि नीति में राजा राज्य के अन्तर्गत गिनाए पांच द्रव्यप्रकृति के स्वामी हैं भरतजी भी द्रव्यप्रकृति के अन्तर्गत होने से स्व के रूप में अर्थप्राप्त हैं। उस स्वत्व को त्यागना श्रीराम का 'पण' है,

इस प्रकार "निजपन तजि" से प्रपन्न के प्रति प्रभु की वत्सलता स्पष्ट है।

राखे पन

'पन' का संकेत भरतजी के रुच्य पदार्थ से है जैसा कि "फिरिअहि" (२।२५६।३) में व्याख्यात है। स्वामिसेवकभावात्मक प्रपत्ति की छत्रछाया में सुरक्षित पितृवचनात्मक संपूर्ण त्रयी का रक्षण करते हुए वनवासात्मक धर्म में भरतसम्मति प्राप्त करने में प्रभुका अभिप्राय भरतजी ने "राखेउ पन" से ध्वनित किया है अन्यधा। भरतसम्मत्यभाव श्रीराम के वनवास की सफलता को प्रतिबन्धित कर सकता था। प्रभू भी जानते हैं कि स्वामिसेवक सयाने प्रपन्न कभी भी प्रभुकार्य के प्रति प्रतिवन्धक नहीं होते न तो स्वामी की इच्छा के विरुद्ध कोई संकल्प ही करते हैं। 'राखि पनो'क्ति का प्रयोजन 'अपडर डरेउ'[1] शीर्षक में स्पष्ट है।

पन तजि व राखेउ पन का मथितार्थ

दोहा २।४१।१ में प्रभु ने त्रयीवचनप्रमाणप्रमितत्व में शुभव्याप्यता एवं "भरत प्रानप्रिय पावहि राजू"[2] रूप पण इन दोनों को व्यक्त किया है अभी भरतजी उन पणों के संबंध से यह विचार कर रहे हैं कि प्रभु उन पणों पर बल न देकर सेवक की मनोरथपूर्ति पर ही वल दे रहे हैं अर्थात् त्रयीप्रमाणप्रमिततत्वनिष्ठ शुभव्याप्यता को भरत रुचिपूर्ति से अवच्छिन्न करना चाहते हैं यही "निज पन तजि" एवं "राखेउ पन मोरा" का मथितार्थ है।

छोहु

"छोहु" शब्द कृपावाचक है जो देहात्मानभिमानियों के लिए सहजतः अनुष्ठेयतया संग्राह्य होती है। अतएव वह परदुःख की संवेदना में आकर दयावानों के द्वारा परदुःख

१. २।२५८।१ २. २।४२।१

को दूर करने में सहायक होती है इसका निष्कर्ष "आरत कहहिं विचारु न काऊ"[१] के प्रत्युत्तर में स्पष्ट है।

सनेहु (विशेष)

प्रपन्न व प्रपन्नेतरों के प्रति स्नेह रखते हुए प्रभु ने में प्रतिपद की जानेवाली प्रवृत्ति का प्रयोजक कहकर प्रपन्न के वचन को प्रमाण मानने की प्रतिष्ठा करना स्नेह-विशेष है जो 'छोहूत्तर' 'स्नेह' से समझाया गया है इसका अर्थ वह नहीं कि प्रभु से छूट पाकर भरतजी मनमाना करेंगे किन्तु खोई सेवा को पुनः प्राप्त करने मात्र की चेष्टा कर दिखा देंगे कि प्रपत्ति ही एक ऐसी वस्तु है जिसके अनुबन्ध में त्रयीप्रमाणप्रमितत्वगत शुभव्याप्यता की सार्वभौमता को संकुचित कर उसको प्रभु निर्द्वन्द्व बनाते रहते हैं।

नहिं थोरा

"कीन्ह" एवं "थोरा" का भाव कृपा एवं स्नेह की उच्चतर निरतिशयितता के बोधन में है।

अनुग्रह अमित

"अति" का 'अन्वय अनुग्रह एवं अमित' से समझना है जो अतिशयितता का वाचक है।

अनुग्रहः—आत्मीयत्वेन भरतजी को स्वीकार करते हुए उन पर स्वप्रवृत्ति-प्रयोजक शब्द प्रमाण का भार प्रभु ने देना "अनुग्रह" से ज्ञातव्य है उसमें अतिशयितता यह कि इन्द्रजी या सरस्वतीजी के द्वारा भरतवचन में भ्रम आदि (भ्रम भय अरति उचाटु) दोषचतुष्टय की प्रसक्ति सर्वथा न होने में है।

अथवा "अमित" का अर्थ आहार्यत्वादि दोषरहित व गुणोपबृंहित प्रभु ने अपनी स्वतन्त्रता को त्याग कर गुरुजी के उपदेश व आदेश को शिरोधार्य करते हुए भरतजी को पूर्ण स्वतन्त्रता देना अनुग्रह की अमितता है अथवा वनवास की प्रमाणप्रमितता गत शुभव्याप्यता ने भरतजी की सम्मति पर निर्भर होना ही 'अमित' या अतिशयितत्व है।

सब बिधि

भरतजी की निर्दोषता उनका पुण्य श्लोकशिखामणित्व व गुरुजी ने कहे (भरत विनय सादर सुनिअ, 'आदि' वचनों का समादर करते हुए भरतजी का पूर्ण परितोष होना "सब विधि" के अन्तर्गत है।

अथवा—सीतापति के कहे "बिधि सबविधि मोहि सनमुख आजू"[२] वचन से समन्वित संपूर्ण विधि भी 'सब विधि' से ज्ञातव्य है इसलिए कि उनका अनुग्रह श्रीराम के अनुग्रह से प्राप्त है।

करि प्रनामु

"अनुग्रह अमित अति" की कृतज्ञता में भरतजी ने प्रणाम करना उनके निरतिशय विनय का सूचक है।

---

१. २।२५८।० २. २।४।१।१

अथवा :—"सीतापतिसेवक सेवकाई" में निरूपित तत्व की यथार्थता भरतजी के प्रणाम से कवि ने दर्शायी है।

अथवा :—"नाथ तवाहं न मामकीनस्त्वं" के भाव में भरतजी द्वारा किए प्रणाम से "नाथ तवाहं भाव" को कवि स्फुट कर रहे हैं।

जलजजुग हाथ

"जलजजुग हाथशब्द" संयत कर, पाद, आदि का उपलक्षक है।

जिस प्रकार जल में रहते हुए भी कमल जल स असंपृक्त रहता है उसी प्रकार "केहि बिधि होइ राम अभियेकू" चिन्ता करते "आवहि बहुरि रासु रजधानी" रुचिरूप रागजल में भ्रमण करने पर भी भरतजी का रागद्वेष से निर्मुक्त रहना व कर्तव्य के विवेक को अपनाते हुए निस्पृह रहना ही जल से असंस्पर्श है उसको "जलजजुग हाथ" से सूचित कर रहे हैं।

संगति :—"कोटि विधि" शीर्षकोक्त द्वितीय कोटिक अनुमान को सिद्धान्ताभिमत रूप से अपनाकर जिस हित को भरतजी ने समझकर निर्णयभार को पूर्ण किया उसका परिणाम वे दोहा २।२६१।८ में उक्त 'परिनामू' का निर्वचन सुना रहे हैं जिसमें शंकोन्मूलन स्फुट होगा व प्रपत्ति के अभिमत ईश्वरकर्तृत्ववाद की पुष्टि के साथ-साथ "कहहु करौं" का उत्तर भी होगा।

चौ० :—कहौं कहावौं का अब स्वामी ?। कृपा अंबुनिधि अन्तरजामी ॥१॥
गुर प्रसन्न साहिब अनुकूला। मिटी मलिन मनकलपित सूला ॥२॥
अपडर डरेउँ न सोच समूले। रबिहि न दोसु देव दिसि भूलें ॥३॥

भावार्थ :—आप कृपा के समुद्र स्वामी अन्तर्यामी हैं क्या कहे ? क्या कहावें ? गुरुजी की प्रसन्नता व स्वामी की अनुकूलता प्राप्त होने से मानस् को मलिन करने वाली कल्पित शंकाएं मूलसहित मिट गई, व्यर्थ ही डर रहा था दिशाभूल होने पर सूर्य को दोष नहीं दिया जाता।

कहौं कहावौं

शां० व्या० :—विशेष घटना में रही ईशकर्तृत्व की मान्यता "ईसअधीन जीवगति जानी" से समझने के बाद प्रपत्तिमान् प्रभु से कुछ भी कहना या कहवाना अच्छा नहीं समझते क्योंकि जीवगति के संचालक अन्तर्यामी को जैसे कुछ भी अविदित नहीं है वैसे वेदनीय भी नहीं है फिर भी कहना या कहवाना सूर्य को दीपक दिखाने के समान ही होगा।

ध्यातव्य है कि इसके बाद भी भरतजी जो कुछ कहेंगे वह प्रभु की आज्ञानिमित्तक है जैसा कि पूजा में विहित होने से सूर्य को दीपक दिखाना विधिनिमित्तक है।

अथवा :—दोहा २।२६४ में उक्त "कहहु करौं" का समाधान "कहौं कहावौं" से कर रहे हैं।

स्वामी

"स्वामी" से सेवक भरतजी में प्राप्त प्रपत्ति का मूल आधार दर्शाया है।

जैसे "निवारयन् अकृत्येभ्यः कर्तव्येभ्यः प्ररोचयन्।

स्वभावे स्थापयति यः स स्वामीति निगद्यते।"[1]

इस भावप्रकाशनोक्ति का समन्वय प्रभु में पूर्ण होने से भरतजी की अग्रिम कर्तव्योचित प्रेरणादात्री प्रवृत्ति का प्रभु के द्वारा होना समझ में आ रहा है उसका श्रेयस् प्रभु को है जो 'स्वामी' कहकर भरतजी ने व्यक्त किया गया है।

कृपा अम्बुनिधि

सदा सेवकरुचि राखी के अनुसरण में रहे प्रपन्न सेवक पर असीम कृपा रखने की बात प्रभु ने "आवसि जो कहहु चहहु सोइ कीन्हा" से व्यक्त करने से उनकी "कृपा अम्बुनिधि" कह रहे हैं।

अन्तरजामी

श्री राम ने "भरत प्रान प्रिय पावहिं राजू" कहते-कहते 'सूला से शुभव्याप्यता पर वक्तव्य' नामक शीर्षकोक्ति के अनुसार वनवास पक्ष में त्रयीवचन प्रमाणप्रमितत्व हेतु की स्थिरता को देखने के साथ ही भरतजी व सरस्वतीजी के हृदय में बैठकर उनके स्वभावानुरूपता में भरतरुचिपूर्ति होना समझकर वनवासारम्भ करना इत्यादि "अन्तर्जामी" से ध्वनित है।

गुर प्रसन्न

"गुर" से वसिष्ठजी विवक्षित हैं। सम्पूर्ण विद्या के पारदृश्वा कर्मतन्त्रप्रणेता भगवद्भक्त वसिष्ठजी भरतजी की अनूचानता के प्रति अन्तः प्रसन्न हैं जो मनोमालिन्य का निरासक व याथार्थ्यप्रतिभान में सहायक माना गया है।

साहिब

"साहिब" से स्वामित्वविशिष्ट श्रीराम विवक्षित हैं।

अनुकूला

अवध में गुरुजी से उपदेश सुनकर अवज्ञा करना, मातृभर्त्सना करना इत्यादि आपाद्यों की प्रसक्ति होने पर भी प्रपन्नों ने प्रभु के द्वारा दण्डित न होना "अनुकूला" का फल है क्योंकि प्रभु ने हितकारी प्रपन्न के प्रति अपने में भरतायत्ततोपाधिकप्रीति "कहहु करौं"[2] से व्यक्त की है उसी प्रकार भरतजी भी यहाँ अपने में अनुकूल सम्भाषण से ध्वनित कर रहे हैं। आगे दोहा २।२६९ में रामायत्ततोपाधि को स्पष्ट करेंगे।

मिटी मलिन मन कलपित

"मिटी मलिन" का अन्वय "मन कलपित सूला" से है। जो शूला शीर्षक के व्याख्यात है।

---

१. भावप्रकाशन ४।१०४।१७-९८ २. २।२६४

"मिटी मलिन मन" से सम्पूर्ण शंकाओं का उन्मूलन होकर अन्तःकरण ने निःशंक व प्रसन्न होना विवक्षित है।

कलपितः—अधोलिखित शंकाओं के पीछे ठोस आधार न होना "कलपित" से ज्ञातव्य है।

सूला

शून्नाः—भरतजी ने यात्रा करते हुए मार्ग में अपने ऊपर स्वामी की अप्रीति आदि शंकाएँकी थी, उसका समाधान यद्यपि भरद्वाजजी ने किया है तथापि दुष्ट वासन से मनस् में पौनःपुन्येन उद्बुद्ध शंका व 'अनुमाना'[1] शीर्षक में उक्त पूर्वपक्षाभिमत सात प्रकार के अनुमेय "सूला" से विवक्षित हैं। 'कोटि' शीर्षकोक्त आठवें अनुमेय 'सूलासि'[2] भी 'सूला' से चिन्तनीय है।

सूला से शुभव्याप्यता पर वक्तव्य

दोहा २।२५८ आदि में उक्त त्रयीवचनप्रमाणप्रमितत्वनिष्ठ शुभनिरूपितव्याप्यता को प्रमाणमूर्धन्य श्रौतसिद्धान्तानुसार किन्ही भी विशेषणों से अवच्छिन्न बनाकर संकुचित करना व उसकी सार्वभौमता को दूषित करना मीमांसा को अभिमत नहीं होगा, अतः उस मत से यह कहना है कि कैकेयीयाचितवरद्वय के अन्तर्गत राजटीका का कार्यान्वयन अनुष्ठानलक्षणप्रामाण्यतः भरतजी को तब तक स्वीकार नहीं होगा जब तक श्रीराम अवधस्वामित्व को पुनः स्वीकृत नहीं करेंगे। श्रीराम भी टीकाकार्यान्वयन के बिना स्थिररूप से वन में रहना उचित नहीं मानेंगे इसी तथ्य को गुरुजी ने भी दोहा २।२५८ में स्पष्ट किया है। इस प्रकार वनवासपूर्ति में अवरोध होने के कारण त्रयीवचन का अनुष्ठानतः अप्रामाण्य प्रसक्त हो रहा है। इसी को ध्यान में रखकर वसिष्ठजी ने "भरतरुचि राखी" कहा है। उसका आशय त्रयीप्रमाणप्रमितत्वगत शुभव्याप्यता को भरतरुचिति से अवछिन्न करने में नहीं अपितु भरतरुचिपूर्ति के बिना वनवास न करने में है, उसका परिणाम यह हुआ कि श्रीराम जब भी "वनवास शुभव्याप्य त्रयीवचनप्रमाणप्रमितत्वान्" ऐसा परामर्श करते हैं उसी समय "वनवासः भरतरुचिपूर्ति सहित तादृशप्रमितत्ववान्" ऐसी पक्षधर्मता निश्चित कर चुके हैं उसका आधार पूर्ववर्णित भरतस्वभाव है उसमें वसिष्ठजी के द्वारा बाधा न पहुँचाने की प्रार्थना आदि बताकर उक्त पक्षधर्मता का प्रकाशन मात्र श्रीरामभरतसंवाद में प्रस्तुत है, उसी में शुभव्याप्यताग अवच्छिन्नपरक संपूर्ण उक्तियों का सारांश ध्वनित है।

अपडर डरेउ

अपडरः—भविष्यत् में सेवावंचनात्मकअनिष्टसंभावना "अपडर" से ज्ञातव्य है उसी ने भीत होना "अपडर डरेउ" है। कारण यह कि श्रीराम ने अपने पण के मूल्य से

---

१. २।२६६।६ २. २।२६६।६

अधिक मूल्य भरतजी के पण में व्यक्त किया अतः भरतजी को आनन्द हुआ उसके परिणाम भयवासना ने छिन्न-भिन्न होकर भरतजी को त्यागना है।

न सोच समूलें

यद्यपि भरद्वाज मुनि ने शब्दप्रमाण के बल से भरतजी को भय न मानने को कहा था तथा दोहा २।२४२।६ से भरतजी ने सीताजी की आकृति के द्वारा श्रीराम का प्रेम अपने में प्रमित किया है तावता डर नहीं भागा। अभी तो प्रत्यक्ष से सर्वत्र प्रेमतत्व को अनुभूत कर भरतजी ने अपने में असीमित निर्भयता को देखना "न सोच समूलें" है।

रबिहि न दोसु

रविस्थानापन्न श्रीराम में दोष नहीं है कहना तब संभव है जब उनमें दोष प्रसक्त होगा। उस पर यही कहना है कि ? ईस अधीना "कहकर प्रभु ने प्रपत्तिरुचिपूर्ति के विरुद्ध प्रस्तुत समस्या घटना को पूर्ण बनाने का प्रतिभूत्व अपने ऊपर ले रखा है यही उनका दोष है उसका उत्तर "न दोसु" से सुना रहे हैं। उसकी उपपत्ति "पुन्यसिलोक तात ! तर तोरे" की व्याख्या में द्रष्टव्य है।

दिसि भूलें

भरतजी ने अनेकविधशंकाओं को मनस् में लाकर अपने को व्याकुल कर लेना ही उनकी दिशाभूल है। भूल इसलिए कि उन्होंने कर्मवाद के चक्कर में आकर प्रभु की संकल्पकारिता को ध्यान से हटा दिया यही "दिसि भूलें" का आशय है।

संगति :—"ईसअधीन जीव गति जानी" से प्राप्त प्रबोध के पूर्व उस दिशाभूल को बता रहे हैं जिससे प्रकृत समस्या के समाधान में होने वाली सामूहिक रुकावट की अपरिहार्यता चिन्तित हो रही थी उसके अनुवाद के साथ उक्त दोष की निस्तेणरजता का होने का कारण सुना रहे हैं।

चौ० :—मोर अभागु मातु कुटिलाई। बिधि गति बिषमकाल कठिनाई ॥४॥
पाउ रोपि सब मिलि मोहि घाला। प्रनतपालपन आपन पाला ॥५॥

भावार्थ :—मेरा दुर्भाग्य था कि माताजी की कुटिलता, विधाता की गति, तथा काल की कठोरता सबने मिलकर अड़चन डालकर मुझे गिराना चाहा पर शरणागतपालनपण को आपने रखा ही।

मोर अभागु (प्रथम दिशाभूल)

शा० व्या० :—प्रभु ने कहे "तात ! जायँ जियँ करहु गलानी" उपदेश के पूर्व जिन समुच्चयों के कारण भरतजी ग्लानि में आए थे प्रथमतः उनके अन्तर्गत दैव की चर्चा इसलिए कर रहे हैं कि उसकी अपरिहार्यता समझते रहना प्रथम दिशाभूल है।

मातु कुटिलाई (दूसरी दिशाभूल)

शिशुपन से ही स्वामिसेवा में अभ्यस्त प्रपन्नसेवक को सेवाधर्म से अलग करने

में माताजी की अन्यप्रेरित कुमतिसम्पृक्तकुटिलता की कारणता को भरतजी याद में ला रहे हैं जो उनकी दूसरी दिशाभूल है। इसका आरम्भ बिन्दु दोहा २।१२ से है।

बिधिगति (तीसरी दिशा भूल)

यहाँ "बिधि" से प्रभु ने बालकाण्ड में देवताओं को दिया वरदानसंकल्प समझना है। तदनुसार पूर्व में कहे "बिधि न सकइ सहि मोर दुलारा" की एकवाक्यता में "बिधिगति" से विधि की वामता को कारण मानना तीसरी दिशाभूल है। उसका आरम्भ भरतजी को दिया गया राज्यदान है जो "भरत प्रानप्रिय पावहि राजू" से स्पष्ट है।

काल कठिनाई (चौथी दिशा भूल)

"काल कठिनाई" से पुत्रवियोग में पिता का देहत्याग तथा "न रामहि सौंपेहु मोहि"[1] की वेदना में रामसेवा से वंचित कराने में काल कुचक्र को कारण मानना चौथी दिशा भूल है।

पाउ रोपि

"पाउ रोपि" का तात्पर्य भरतजी को दूसरों का आश्रय प्राप्त न होने के साथ दुःख सहाने में है।

सब मिलि (पाँचवी दिशाभूल व 'सब' का प्रयोजन)

"मातुकुटिलाई" से "काल कठिनाई" तक सब ने संघटित हो आक्रमण करना "सब मिलि" का भाव है। जैसा कि भरतजी दोहा २।११० में अपनी दुर्दशा व्यक्त कर चुके हैं जिसका परिणाम दोहा २।२१२।५ में "घालेसि सब जगु बारहबाटा" से दर्शाया है। यह पाँचवी दिशा भूल है।

ज्ञातव्य है कि पूर्व में ही भरतजी ने कुटिलता आदि का संकेत किया है पुनः उनके संकेत का प्रयोजन चिन्तनीय है।

न्यायभाषा के अनुसार दैवादि कारणता दैवत्वादि धर्मों से अवच्छिन्न होकर पृथक्-२ मानी जा सकती थी उसका प्रतिषेध "सब" से किया है। आशय यह कि दैवादिनिष्ठ कारणता एक-एक धर्मावच्छिन्ना न होकर दैवादिचतुर्विधनिष्ठ समुदायत्वावच्छिन्ना करने में है फलतः इन समुदायों के द्वारा भरतजी के हृदय में हुई ग्लानि का परिहार प्रभु को छोड़कर किसी में भी संभव न होना समझाया है।

मोहि घाला

"मोहि घाला" से एक साथ आक्रमण करना बता रहे हैं, अन्यथा भरतजी को शिशुपन से ही स्वामिसेवावंचनारूप असह्यदुःख भोगना पड़ता।

प्रनतपालपन आपन

"प्रनत" से प्रपन्न, "पाल" से "रघुपति रखुवारा" व "पन" से प्रतिज्ञा समझनी है।

---

१. २।१३०।५

"प्रनतपाल" कहकर देवादि को निस्तेजस्क करना व "ईसअधीन जीवगति जानी" ध्वनित कर रहे हैं। फलतः प्रभु पात्रों की घटना स्वयं बनाते हैं तथा प्रपन्न को बचाते हैं। ऐसा सिद्धान्त होने से प्रभु ने प्रपन्न सेवकों को स्वामिसेवा से वंचित न होने देना स्पष्ट हो रहा है। इस प्रकार प्रभु ने प्रनतपाल की प्रतिज्ञा पूर्ण की है। जैसा कि दोहा २।१४१।५ तथा वाल्मीकि रामायण में "सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते। अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम" में सिद्धान्तित है।

अथवा संगतिनिर्देशानुसार स्मर्तव्य है कि भरतजी, "ईसअधीन जीवगति जानी" आदि उपदेश को स्वरक्षण के प्रति अनन्यथासिद्ध न मानते हुए उपदेशप्रदाता, स्वामी, प्रभु ने की हुई प्रतिज्ञा को ही "प्रनतपालपन आपन पाला" से अनन्यथासिद्ध कहकर वास्तविकता का प्रकाशन कर रहे हैं।

अथवा—दोहा २।२५९ के अन्तर्गत प्रभु के वचन "ते लोकहुँ बेदहुँ बड़भागी" से रास्ते में जो कठिनाइयाँ संभूत हुईं या उनसे बचाना ही संभावित होंगी" प्रनतपालपन आपन" है।

संगति—प्रभु के बनाये "राखे राम रजाइ" विधानानुगमन में अपना हित सोचकर आगे "जो जेहि आयसु देव" से सामान्यतया जो भी प्राप्तव्य प्रमेय कहेंगे उसकी उपपत्ति में प्रथमतः तर्क उपस्थापित कर रहे हैं।

अथवा—"प्रनतपालपन" रखने में प्रभु श्रान्त हुए होंगे ऐसा कहा जाय तो उसका उत्तर दे रहे हैं।

चौ०—यह नइ रीति न राउरि होई। लोकहुँ बेद बिदित नहिं गोई ॥६॥
जगु अनभल भल एकु गोसाईं। कहिअ होइ भल कासु भलाईं ? ॥७॥
देउ देवतरुसरिस सुभाऊ। सनमुख बिमुख न काहुहि काउ ? ॥८॥

भावार्थ—शरणागतरक्षण करने की नीति प्रभु के लिए नई बात नहीं है। लोक व वेद में सर्वत्र अप्रसिद्ध है ऐसा नहीं है। भल अनभल संसार में एक मात्र प्रभु ही भले हैं, आप ही बतायें किसकी भलाई से भलाई हो सकती है ? हे देव ! आपका स्वभाव कल्पतरु के समान है आपका किसी के अनुकूल या प्रतिकूल होना कैसे कहा जा सकता है ?

रीति न

शा० व्या०—जो जिस कार्य में संलग्न होने की योग्यता रखता है उसको पूर्ण करने में न दंभ रहता है न उसे श्रमानुभव ही होता है जो संसार में प्रणत है उसका पालन रघुपति करते चले आ रहे हैं इस पूर्वानुस्यूत कार्य को करते रहने में आप (प्रभु) को आभ्यासिक सुखानुभूति होती है अतः रघुपति के लिए यह रीति नई नहीं है।

लोकहुँ बेद बिदित नहिं गोई

"लोकहुँ" से वर्णाश्रम, "वेद" से रामतापिनी आदि उपनिषद गीता, व ब्रह्म-सूत्रादि विवक्षित हैं। उनमें प्रभु के अनन्य प्रपन्नों का प्रभु से पालन होने की गाथा अप्रसिद्ध है ऐसा नहीं है। इससे प्रभु का पूर्वानुस्यूत स्वभाव परिलक्षित हो रहा है।

"नहिं गोई" से प्रभु और भक्तों के सेव्यत्व और सेवकत्व में निरुपाधिकता का प्रकाश व्याप्त है। जैसा कि अंबरीष प्रह्लादादि चरित्रों से सिद्ध है अतः "नहिं गोई"। कहा है।

जगु अनभल

प्रभु के बनाए विधान के विपरीत चलना ही "अनभल" है।

अथवा—प्रभु से विमुख होकर परिमित प्रमातृता में रहना "अनभल' है।

संसारी जीव अपनी भलाई की आकांक्षा में समस्या को हल करने में ज्यों-ज्यों तत्पर होते हैं, त्यों-त्यों उलझते जाते हैं, कारण यह कि रागद्वेषाधीनता से फंसा जीव दूसरों की भलाई पर ध्यान नहीं देते, फलतः उनके आगे पीछे सुहृद्, मित्र, उदासीन ऐसे तीन भेद बने रहते हैं। इस रागद्वेषावस्था में संसारी जीवों की परिमितप्रमातृता का होना माना है जो "अनभल" से स्पष्ट है।

भल एक गोसाईं

परिमितप्रमातृता से हटकर जब अपरिमितप्रमातृतासंपन्नव्यक्ति की खोज हुई तब उनको एकमात्र प्रभु ही उपलब्ध हुए जिनको प्रत्येक अणु के प्रति अहंभाव होने से प्रत्येक के रागद्वेष सुख-दुःख का संवेदन होता रहा है क्योंकि जगत् ही रघुपति का शरीर माना गया है, यही उनकी अपरिमितप्रमातृता है वही 'भल' है। प्रसंगवशात् यह भी कहना है कि ऐसे अपरिमितप्रमातृभावापन्न रघुनाथजी ही आत्मरूप होने से सब के लिए रसीय हैं अतः वे रसतत्व के रूप में गाए गए हैं। ऐसे रसतत्व का संक्रमण उन्हीं भक्तों को प्राप्त होता है जो शुचि व निश्छल होते हैं।

कहिअ होइ भल कासु भलाईं ?

"भल अनभल'' का प्रयोजन "कहिअ होइ भल कासु भलाईं" है अर्थात् रसमय आत्मरूप में विराजमान रघुपति, किसका हित किस प्रकार से होगा "ऐसा सोचकर ही सामान्य और विशेष भाव में विधान कर रहे हैं उनके बताए हुए सामान्य व विशेष विधानों को स्वीकार कर तत्तद्व्यक्ति अनुष्ठान करते हैं तो सबका भला होना निर्णीत है जो त्रयी एवं राजनीति विद्या के माध्यम से "कहिअ होइ भल कासु भलाईं" से स्फुट है।

प्रस्तुत में कहना यह कि प्रकृतसमस्या के समाधानहेतु हम सभी अपने को असमर्थ मानकर आपको ही समर्थ मानते हैं ऐसा सोचकर भरतजी, प्रभु से सबके लिए कर्तव्यज्ञप्तिहेतु आदेश की प्रार्थना "कहिअ होइ भल कासु भलाईं" से कर रहे हैं।

देउ देवतरु

प्रभु के स्वभाव को कल्पवृक्ष के समान कहने का यह अर्थ नहीं कि दूसरे की संपत्ति को छीनकर वे देते हैं अपितु अर्थी के संकल्पानुसार संप्रदान-प्रपन्नों के समीपवर्ती

पदार्थ (मृत्तिका आदि) पदार्थान्तर (सुवर्ण, हीरे, जवाहरात आदि) के रूप में सम्प्रदान को सुलभ होते हैं इसमें सृष्टिसिद्धान्त मननीय है।

न्यायमत से परमाणुओं में द्रव्यत्वव्याप्य व्याप्यकी सत्ता प्रतिषिद्ध की है फलतः परमाणु संप्रदानसंकल्प व कल्पवृक्ष का सान्निध्य ये तीनों ही संप्रदान-समीपस्थ परमाणु को परिपक्व कराकर उसके प्रभाव से रूपान्तर व द्रव्यान्तर की उत्पत्ति कराते हैं वे ही पदार्थ सुवर्णादि रूप में संप्रदान को प्राप्त होते हैं यही संकल्प या कल्पवृक्षस्थ तेजस् की महिमा है।

वैज्ञानिकमत भी इससे विसंवादी नहीं है उस मत के अनुसार एक परिधि में घूमने वाले परमाणुओं (इलेक्ट्रान, प्रोट्रान आदि) की जितनी संख्या निर्णीतहै उनका न्यूनाधिकभाव किरणों के सम्पर्क से होना सम्भव है उसके परिणाम में लोह, सुवर्ण, कांस्य आदि धातु बनते रहते हैं यह सहजयोग्यता जहां हो वही कल्पवृक्ष है। इसका दिग्दर्शन "तकि-तकि"[1] की व्याख्या में द्रष्टव्य है। ऐसा कार्य सम्पन्न करना प्रभु का स्वभाव है इसलिए उसको "देवतरु सरिस" कहा है।

सरिस से मननीय तत्व

"सरिस" कहने से कल्पवृक्ष उपमान कहा जाएगा जो उपमेय से अधिक महत्त्व रखता है किन्तु ऐसा आधिक्य प्रभुस्वभाव के सामने "कल्पतरु" में नहीं है क्योंकि प्रभुस्वभाव से बड़ा कोई हो ही नहीं सकता, प्रभु के प्रत्येक कार्य जगद्धित के लिए होते हैं जबकि वैसा करने में कल्पवृक्ष की गरिमा कम है। अतः सरिस उपमा मात्रबोधक समझना है।

सनमुख बिमुख न

"सनमुख" से अनुकूल होना स्पष्ट है।

"बिमुख" से प्रतिकूल होना स्पष्ट है।

"न" का अन्वय "सनमुख बिमुख न काहुहि काऊ" से है उसकी उपपत्ति व प्रभुस्वभाव के समझाने पर स्पष्ट है।

ज्ञातव्य है कि कल्पवृक्ष स्वयं जड़ होने से सनमुख व विमुख का विवेक नहीं जानता। प्रभुस्वभाव जड़ न होने पर भी वह रागद्वेषविमुख है। अतः प्रभु का स्वभाव सन्मुख व विमुख से दूर है। कल्पतरु व स्वभाव में यही सनमुख विमुखन का अन्तर है।

संगति :—सन्मुखता व विमुखता के विवेक का प्रकार सुना रहे हैं जिससे "मानप्राप्तिं[1] च माधवात् अवमानं च दौरात्म्यात्"[2] यह सिद्धान्त स्पष्ट होगा।

दोहा :—जाइ निकट पहिचानि तरु छाँह समनि सब सोच।
मागत अभिमत पाव जग राउ रंकु भल पोच ॥२६७॥

भावार्थ :—पास में पहुंचकर कल्पवृक्ष को प्रथमतः पहिचानना है फिर उसका आश्रय लेना है। सभी प्रकार के सोच दूर होंगे ही बाद में अपने अभिमत को प्राप्त होंगे ही वह चाहे राजा हो या रंक अथवा भला हो या नीच हो।

---

१. १०२।२४५।८ २. श्रीमद्भागवत १०।३।१४२

जाइ निकट

"जाइ निकट" में प्रभुरूपकल्पवृक्ष अनुवर्तनीय है। एवंच भरतजी यहाँ प्रभु के समीप में "जाइ निकट" कहकर प्रभु के प्रति जीव का सम्मुख होना ध्वनित कर रहे हैं।

पहिचानि

सन्देहादि के समूल उन्मूलन में सक्षम तत्व (असन्दिग्ध व्याप्य) को समझना व तन्मूलकतया श्रीराम तत्व को समझना "पहिचानि" है।

ज्ञातव्य है कि गुरुकृपा से प्राप्त प्रत्यभिज्ञा के बल पर शरीरान्तस्थ सुषुम्ना नाड़ी के आन्तरिक रास्ते से तर्कात्मक मूलाधारस्थवन्हिज्वाला को ऊपर उठाते हुए हृदय-पटल पर अन्तर्यामी प्रभु को गुणरूप में पहिचानना ही उनके सन्मुख जाना है। यद्यपि यह कठिन है तथापि आरम्भ में विनयपूर्वक हितावह नीति के अनुसरण में वेधमार्ग अवलम्बित किया जाता है तो उपरिनिर्दिष्ट सुषुम्नामार्ग कठिन होता हुआ भी निर्मल होता है जैसा कि "शास्त्रां हि चन्ताभावनाक्रमेण निर्मलीभवति[1] से विदित है।

तरु छाह

गुरुप्रदर्शित मार्गावलम्बन से प्रभु को पहिचानने का लक्षण "तरु छाँह समनि सब सोच" है। अर्थात् शोकात्मक संताप का शमन होना ही प्रभु को पहिचानने का चिन्ह माना गया है। जैसा कि "मां प्राप्य जनः कश्चिन्न भूयोर्हति शोचितुं" से मुचुकुन्द राजा को श्रीकृष्णजी के द्वारा दिए वरदान से भागवत में स्पष्ट है।

समनि

गुरूपदिष्ट मार्ग से दिदृक्षु सेवकों को अपना दर्शन देकर प्रभु इतना सुख देते है कि उससे आप्लावित सेवकों को इच्छाओं ने स्वयं त्यागना ही शमन है जो कि "समनि" का वाच्यार्थ है।

सब सोच

"सबसोच" से भवनिमित्तक सभी प्रकार के भय विवक्षित है। जैसे संसारी (रागी) भव में आकर पूर्ण नहीं हुआ क्योंकि जगत् में विपत्तियों के नैरन्तर्येण बने रहने से तन्निमित्तक अनेकविध भय का बने रहना भी स्पष्ट है। उन्हीं का सोच "सब-सोच" है।

प्रभुस्वभाव को सराहना

भव में आकर प्रभु की प्राप्ति होना ही सार है वही श्रीरामप्रपत्ति का साधन व साध्य है। यह श्रुति, स्मृति, पुराण एवं राजचरित्रों से निर्णीत है यह गुण एकमात्र प्रभु में ही होने से प्रभुस्वभाव की कल्पतरुता सराहनीय है।

अभिमत

"अभिमत" से युक्तों की दृष्टि में ज्ञान (भगवदादेश या भगवत्पादसेवन) ही

---

१. नीतिसार जयमंगला-१ सर्ग

अभिमत है क्योंकि प्रभुप्राप्ति के बाद युक्तों को विषयान्तर मांगने की प्रसक्ति न होना सिद्ध है।

अथवा "अभिमत" से युंजानों की दृष्टि से सांसारिक विषय विवक्षित हैं क्योंकि "अक्षीणवासनं तत्तु दृश्यते पुनरुत्थितं" भागवतोक्ति के अनुसार युंजानों को प्रभुप्राप्ति के बाद भी विषयान्तर मांगने की प्रसक्ति सिद्ध है।

राउ रंक

"राउ रंक" का अन्वय "पाव जग" से है। 'पान' की अनुवृत्ति आगे भी ज्ञातव्य है।

भल पोचू

युक्तों के अभिमत से अधिकारी का निर्देश "राउ रंक" से कर रहे हैं अर्थात् धनी की ओर से राजा का व निर्धन की ओर से रंक का कीर्तन है। राजा के रूप में जनकजी, मनुजी, दशरथजी आदि व रंक के रूप में केवट मार्गवासी आदि हैं। त्रैवर्णिक प्रयागवासी, चित्रकूटवासी आदि "भल" से ज्ञातव्य है। "पोचू" से अधर्मयुक्त कार्यकर्ता निषादसमाज व उनके अतिरिक्त रावणादि भी ज्ञेय है।

युंजानों के अभिमत में राजा और रंक सर्वत्र प्रसिद्ध है।

"भल पोचू" भी प्रसिद्ध है।

साधारणतया ज्ञातव्य तत्त्व

सर्वसाधारण्येन राजादि के उल्लेख से ज्ञातव्य है कि "जाइ निकट पहिचानी तरु छाह समनि सब सोचु" के प्रति सभी अधिकृत हैं, यतः "येनकेनाप्युपायेन मनः कृष्णे निवेशयेत्" सिद्धान्त को सबने चरितार्थ करना है। इस प्रकार प्रभुरूपकल्पवृक्ष के पास आने का कारण बताया।

ध्यातव्य है कि भरतजी को श्रीरामादेशातिरिक्त कोई पदार्थ अभिमत नहीं है, जो अभिमत है वह श्रीराम द्वारा स्वीकृत हो चुका है इसलिए भरतजी अपनी सोच के शमन से पूर्ण हैं।

संगति :—उपर्युक्त दोहे में "सासांरिकसोचशमनं प्रति भगवत्तरुछाया कारणं" ऐसा कार्यकाणभाव निरूपित है अभी उसी के अन्वयव्यतिरेक को भरतजी अपने उदाहरण से स्फुट कर रहे हैं।

चौ० :–लखि सबविधि गुर स्वामी सनेहू। मिटेउ छोभु नहिं मन संदेहु ॥१॥

भावार्थ :–सब तरीकों से गुरु व स्वामी का स्नेह देख रहा हूँ, मनस् की व्याकुलता हट रही है और सन्देह भीं सर्वथा मिट रहा है।

लखि

शा० व्या०—दोहा २।२६१।८ में भरतजी ने अपने उत्तर में भलाई के प्रति गुरु

व स्वामी को समर्थ समझना सुनाया है क्योंकि अन्तर्यामी श्रीराम ने वनवास रूप पक्ष में त्रयीप्रमितत्वहेतु को समझने के साथ भरतरुचिपूर्ति को समझा है उसी को गुरुजी ने प्रकाश में लाया है उससे गुरु व स्वामी का आनुकूल्य निर्णीत होना "लखि" है।

अथवा :—अपने प्रति भय व शंका का अभाव श्रीरामसीतासमेतलक्ष्मणजी में देखना "लखि" है।

अथवा :—प्रारम्भ से ही श्रीराम में स्नेह देखते चले आ रहे थे उसी को देखना "लखि" है।

सबबिधि

हर्षप्रयुक्तदान, सन्मुखता, अधिक संकोच, सत्वत्व रखने की प्रतिज्ञा, पितृ-वचनप्रमाणप्रमितत्वगत शुभव्याप्यता की सार्वभौमता को सुरक्षित रखने की चेष्टा, कैकेयीजी की निर्दोषता पर कौटिल्यारोप की निन्दा, पुण्यश्लोकतमत्व आदि "सब विधि" से ज्ञातव्य है।

सनेहू

स्नेहाल्पता, स्नेहशून्यता, स्नेहाभास आदि अर्थ की अप्रसक्ति "स्नेह से ध्वनित है क्योंकि वही नीति का जीवन व संघटन है। वह विपत्ति से ही परीक्षणीय होती है। जैसे महत्कार्य निमित्तक संव्यवहार में ही शौच (उपधा शुद्धि) अनुराग अपरित्याग द्रष्टव्य होते हैं उसी स्नेह के भोक्ता दोनों भाई हैं।

छोभु

"छोभु" से मानसिक पीड़ा समझनी है। जैसा कि "दैउ सहावहि" आदि से भरत-जी ने स्फुट किया है। उस पीड़ा का निरसन, जननीसमेत भरतजी के दोषशून्य होने की घोषणा, उनकी निर्मलता, व घोषणा (जाइ लोकु परलोकु नसाई) के वैपरीत्य में जड़त्वादि दण्डों से दमित करना आदि से हुआ है।

नहिं मन सन्देहू (पुनरुक्ति परिहार)

सन्देह से पूर्वनिरूपित शंकाएं सूचित हैं। उन सभी का उन्मूलन होना "नहिं मन सन्देहू" से ज्ञातव्य है। उसका परिणाम पूर्वाभ्यस्त एकाग्रभूमिका है जिसमें विवेक जागृति है। इसके पूर्व श्रीराम के कहे विषय में स्नेहमात्र का प्रदर्शन होने से प्रस्तुत उक्ति में पुनरुक्ति दोष नहीं है।

संगति :—विवेक के प्रतिबन्धक क्षोभ व उसके निरास के साथ मनःस्थिति की एकाग्र भूमिका में भरतजी पहुँच चुके हैं अतः दोहा २।२६३।४ से २।२६४ तक श्रीराम ने समझाए विषयों में से भरतजी ने जो विवेक प्राप्त किया है उसको सुना रहे हैं क्योंकि भरतरुचिप्रकाशनार्थ प्रथमतः विवेक की सहायता लेना अपेक्षित है।

चौ० :—अब करुनाकर ! कीजिअ सोई । जनहित प्रभुचित छोभु न होई ।।२।।

भावार्थ :—हे दयासागर ! अब आप वैसा करें जिसमें जनहित हो और प्रभु के चित्त में क्षोभ भी न हो ।

करुनाकर

शा० व्या० :—करुनाकर" से भरतजी ने अपना दैन्य व्यञ्जित किया है इसलिए प्रस्तुत समस्या के समाधान की खोज में प्रयत्नशील मनस् अभी तक हताश हो रहा है इसलिए कि गुर्वादिकों के द्वारा कोई भी मार्ग असन्दिग्धरूपेण प्रगट नहीं हो रहा है ।

सोई

"सोई" का अर्थ उस कार्य से है जिसमें जनहित के साथ मनःशोकाभाव भी बना रहे ।

जनहित

जिस अभिमत के पूर्त्यर्थ प्रजा यहाँ आ पहुंची है उस उद्देश्य की पूर्ति अपेक्षित है । जैसाकि लोकमत सुनाकर वशिष्ठजी ने दोहा २।२५८।१ में "सब कर हित" से इंगित कर रखा है क्योंकि तदर्थ ही प्रभु का अवतरण हुआ है । इसीलिए "प्रभुचित छोभु न होई" के पूर्व "जनहित" का उल्लेख है ।

छोभु न होई (भरतविवेकु)

क्षोभुः--सकम्पप्रवृत्ति होना क्षोभ है उसका प्रतिषेध "प्रभुचित छोभु न होई" से भरतजी सुना रहे हैं एसा कहने के पीछे संगतिसूचनानुसार भरतजी ने किए तीन प्रकार के विवेक ज्ञातव्य हैं—

(१) दोहा २।२६४।७ में "अधिक संकोचू" कहकर प्रभु ने अपने कर्तव्य में प्रतिबंधक सत्प्रतिपक्षस्थिति को "अधिक" से हटाया है फिर भी उन्होंने (श्रीराम) अपने में संकोच कहा है उसका निरास की "प्रार्थना छोभु न" से स्पष्ट है। यदि भरतजी ऐसा (प्रभुचित छोभु न होई) न कहते तो प्रभु के चित्त की निष्कम्प प्रवृत्ति न होती, फलतः अभ्यर्हित स्वामि मतप्राप्ति में रुकावट होने के साथ भरतजी के प्रति ऐन्द्री माया को प्रयुक्त होने में भी अवकाश प्राप्त होता । यह एक विवेक है ।

"प्रभु चित छोभु न होई" से भरतजी यह समझा रहे हैं कि प्रभु द्वारा दिए गए भार को उतारने की प्रक्रिया में अल्पज्ञ सेवक का यही निर्णय उचित है कि प्रपन्न ने स्वकार्य के प्रति स्वतन्त्र प्रयोक्तृत्व (प्रयोज्यवृद्धत्व) अपने पर न लेकर प्रभु पर ही सौंपना चाहिये । यह द्वितीय विवेक है ।

अथवा :—प्रसंगात् यह भी स्मर्तव्य है कि सत्प्रतिपक्षस्थिति का दर्शन प्रभु ने कहे "अधिक तुम्हार संकोचू" की व्याख्या में व्याख्यात है उसका भी निरास "प्रभुचित छोभु न होई" से कर रहे हैं अर्थात् भरतरुचि, प्रभुआदेशपालनातिरिक्त में न होने से प्रभु को निष्प्रकम्प निर्णय करने या सुनाने में "भरतरुचि" ने प्रतिबन्धक न होना "प्रभुचित छोभु न होई" से ध्वनित किया है। यह तृतीय विवेक है।

संगति :—क्षोभ से दूर रहते हुए जगद्धितानुकूल योजनानिर्माणार्थ अपने (भरत-जी) में प्रयोज्यवृद्धत्व स्वीकारने में दोष सुना रहे हैं जो विवेक का ही अंश है।

चौ० :—जो सेवकु, साहिबहि संकोची। निजहित चहइ तासु मति पोची ॥३॥

भावार्थ :—जो सेवक, स्वामी को संकोच में लाकर अपना काम उनसे साधता है उसकी बुद्धि नीच है।

जो

शा० व्या० :—यहां "जो" शब्द यत् का पर्यायवाची है। उसका अन्वय 'सेवक' से है तावता 'सेवकविशेष' यच्छब्दार्थ है।

साहिबहि

"साहिबहि" से भरतजी द्वारा अस्वीकृतस्वत्वविशिष्ट श्रीराम द्वारा त्यक्त स्वत्ववत्अवधराज्यवृत्तिस्वत्वक श्रीराम विवक्षित हैं, जो दोहा २।२६४ में "कहहुँ करौं सोइ आजु" से संकेतित है।

अथवा :—निरपेक्ष (अप्रतारक) स्वामी की प्रीति को जिस सेवक ने किसी प्रकार से प्राप्त किया उसके अभिमत से रहे स्वामी "साहिबहि" से विवक्षित है।

संकोची

सेवक ने अपनी रुचिपूर्तिहेतु स्वामी को प्रेरित कर उनको मानसिक पीड़ा अर्थात् विषाद में ले जाना "संकोची" है।

अथवा :—सेवक ने अपने हितार्थ स्वामी को बाधित करना "संकोची" है।

अथवा :—स्वामी की स्वतन्त्रकर्तृता को बाधित कर उसकी प्रवृत्ति में सेवक-प्रेरणाप्रयोज्यत्व लाना "संकोची" है। उक्त सम्पूर्ण संकोचों को त्यागने का स्वरूप "पोची" शीर्षक में द्रष्टव्य है।

चहइ

स्वामी, सेवकों को परीक्षित कर उनको कीर्तिमान् करना चाहते हैं या दोष का निरसन होने तक सेवक को अभिमत दान से वंचित करने में सचेष्ट हैं अथवा सेवक को अभिमत प्राप्ति के बाद उसके गुण में आयी कमी की संभावना देखते हुए उसको अभिमत देना पसन्त नहीं करते सेवक ने उन तथ्यों पर ध्यान न देकर स्वामी से हितप्राप्ति चाहना "चहइ है।

तासु

तासुः—स्वामी को संकोच में डालनेवाला सेवक "तासु" से बोध्य है उसके लिए अभीप्सित विशेषण "चहइ" में व्याख्यात है।

पोंची

पोचीः—"पोची" शब्द नीचवाचक है, अर्थात् जो सेवक स्वार्थहेतु स्वामी को विवशता में फंसाकर या स्नेहादि का प्रपंच रचकर उनके द्वारा हित साधने की चेष्टा करता है वह जनहित नहीं साध सकता वैसे सेवकों की बुद्धि "पोची" से समझनी है।

संगति :–अपनी प्रवृत्ति में प्रयोजकवृद्धप्रेरणाप्रयोज्यत्वरूप संकोच को त्यागकर सेवक "मतिपोची" के साथ अपना हित सुनाते हैं तो पितृवचनप्रमाणप्रमितत्व रूप हेतु में वनवासात्मकपक्षधर्मतानिश्चय के साथ सेवकरुचिपूर्ति होने का सदातनत्व-निश्चय कदापि नहीं हो सकता। अतः हितका स्वरूप समझा रहे हैं, जिससे उक्तपक्षधर्मता के साथ प्रपन्नरुचिपूर्ति होना निर्णीत होगा फलतः भरतजी पर श्रीराम ने हितनिर्णय के प्रति दिया हुआ भार उतरेगा तथा श्रीरामादेश (करौं कहहु २।२६४।) का पालन होगा तभी प्रपत्ति भी सुरक्षित होगी।

चौ० :—सेवकहित साहिबसेवकाई। करै सकल सुख-लोभ बिहाई ॥४॥

भावार्थ :–स्व के सुखलोभ को त्यागकर स्वामिसेवा करना ही सेवक-हित है।

सेवकहित

शा० व्या० :—स्वानुष्ठेयकर्मविधेय का उद्देश्य "हित" है। वही सेवकों का ध्येय होने से भरतजी ने प्रथमतः 'सेवकहित' कहा है। उसके बारे में निर्णय करना आवश्यक है उसी को न्यायमत से स्वामिसेवाकर्मभावनोद्देश्यत्वेन समझाया है।

साहिबसेवकाई

"साहिब" से श्रीराम को भरतजी स्वामित्वेन कह रहे हैं, वह उन्हें स्वीकार्य है तो सर्वहित सिद्ध है व स्वामी श्रीरामप्रीति का जनक कर्म "साहिबसेवकाई" है। वही हितशब्दार्थ है जो प्रपत्तिमानों के लिए "निगमनिचोर" है।

करै

"करै" का अन्वय "साहिबसेवकाई" से है जो कर्मकारक है स्वामिसेवा-रूप प्रधानकर्मकत्व "करै" में विवक्षित है।

सुख लोभ

सुखः—शरीरात्मवादमत से चिन्तित स्वीयपरिमितप्रमातृतापरिवेष्टित वैषयिक, मानोरथिक, आभ्यासिक आभिमानिक चतुर्विध सुख, "सुख" से ज्ञातव्य हैं।

लोभः—तथाविधसुखप्राप्तिहेतु परद्रव्यातिश्रद्धा "लोभ" है जिसे 'राग' (दोष) या 'तृष्णा' शब्द से संकेतित कर सकते हैं–इसको एषणा के रूप में सोचा जाय तो कहना होगा कि प्रपन्नातिरिक्त प्रत्येक प्राणी में बाल्यकाल से ही सुखलोभ है वही राग है उसके प्रति सुखत्वेन ज्ञान हो कारण है जो सुखान्य के प्रति कामिनीजिज्ञासावत् प्रतिबन्धक है।

बिहाई

बिहाईः—उपर्युक्त सुखलोभ का प्रतिषेध "बिहाई" से समझाया है जो स्वामिसेवारूपप्रधानकर्म की इतिकर्तव्यता में परिगृहीत है।

संगति :—प्रभु के कथनानुसार हितसाधन की दृष्टि से स्वामिसेवा की याचना करना ठीक है तथापि "आवहि बहुरि रामु रजधानी" वचन को स्मरण कर वैसी याचना क्यों नहीं की ? इसका उत्तर स्वामिसेवातिरिक्त याचना में दोष प्रगट करते हुए बता रहे हैं।

चौ० :—स्वारथु नाथ फिरें सबही का। किएँ रजाइ कोटिबिधि नीका ॥५॥

भावार्थ :—हे नाथ ! आपको लौटाना सबका स्वार्थ है। आदेशपालन करते रहना स्वार्थापेक्षया कोटिगुणित हितावह है।

स्वारथु

शा० व्या० :—स्वार्थविशिष्ट परिमितप्रमातृतासमानाधिकरण स्वार्थसुख व तत्साधन स्वार्थ है।

फिरे

श्रीराम को अवध में लौटाना सबका उद्देश्य है। उसको यहाँ भरतजी ने प्रगट करना उनकी अप्रतारण का सूचक है उसकी पूर्ति होगी यह भी ठीक है तावता अभी सम्पूर्ण समाज सुखी होता है तो वह स्वार्थ होगा जिसका परिणाम "सकल सुख लोभ" के अन्तर्गत है जो "संकोच" शीर्षक के अनुसार दंभ होगा।

किए

गुरु वसिष्ठोक्तप्रधानकर्मात्मकश्रीरामादेशपालनविधेयकक्रृति "किए" से बोध्य है।

रजाइ की प्रार्थना का वैशिष्ट्य

"रजाई" को आकांक्षित षष्ठ्यर्थ प्रतियोगी के रूप में 'स्वामी श्रीराम' समझने है जैसा कि वसिष्ठजी ने "रामरजाइरुख" से संकेतित किया है।

किएँ रजाइ प्रार्थना का औचित्य

यद्यपि सभी का स्वार्थ "आवहि बहुरि रामु रजधानी" की प्रार्थना में है जैसा कि गुरुजी द्वारा प्रस्तावित "फेरिअहिं लखन सीय रघुराई" को सुनकर "बहुत लाभ

लोगन्ह" से सबका स्वार्थ कहा गया है उसी के आनुगुण्य में यहाँ "किए रजाइ" समझना है, इसलिए कि श्रीराम के द्वारा "साहिब" होना स्वीकारने के बाद ही "फेरिअहिं" आदि सब सम्भव है उसके लिए पृथक् प्रार्थना करने की अपेक्षा नहीं है किन्तु वर्तमान समय में यदि यह प्रार्थना की जाती है तो स्वार्थलोभ की प्रसक्ति सुनिश्चित है अतः अभी ऐसी प्रार्थना नहीं करनी है। इस दृष्टि से "किए रजाइ" कहने का औचित्य रजाई से स्फुट है।

रजाइ का द्वैविध्य

"रजाइ"—प्रभु से कण्ठतः या परम्परागतप्राप्त विधि से परिज्ञात आदेश से विवक्षित है। इसके अनुसरणमें 'धावन् निमील्य वा नेत्रे न स्खलेन्नपतेदिह" समझाया है। फलतः हनुमानजी जैसे प्रपन्नों के लिए उनके हितसाधनता का प्रतिभूत्व श्रीराम में कण्ठतः प्राप्त होने से उनके हित में कहीं बाधा नहीं पहुँची अन्यत्र प्रपन्नों को हितप्राप्त कराने में उनका प्रतिभूत्व परम्पराप्राप्तविधि में होने से साधारण प्रपन्नों को अपना हित साधने में कहीं भी बाधा नहीं पहुंचती। इस प्रकार "किए रजाई" का द्वैविध्य स्फुट है।

रजाइ की त्रिकालाबाध्यता

श्रीराम जीव न होकर "विद्या गुरूणां गुरुः" हैं अतएव मीमांसा में अपौरुषेय वाणी के अन्तर्गत विधि (रजाइ) ही सर्वत उपरि प्रमाणतया संकल्पित है। श्री उदयनाचार्यजी ने तो प्रभु की रजाई को हेतु मानकर विधिनिर्दिष्ट अर्थ में इष्टसाधमात्वादि का अनुमान करने में विधि की प्रामाणिकता को अतिमहत्व दिया है। इससे "रजाइ" की त्रिकालाबाध्यता भी स्पष्ट है।

कोटिबिधि नीका

असंख्य भक्तों के लिए प्राप्तव्य प्रमेयविशेष की असंख्यता "कोटिबिधि" है।

"नीका" का अन्वय "राम रजाइ" से है जो हितमात्र का साधक है। 'नीका' के अन्तर्गत अवध में आना, राज्यस्वामित्वग्रहण करना, श्रीरामराज्योत्सवदिदृक्षा की पूर्ति और इसके अतिरिक्त जगन्मंगल भी समझाया है जो "राखे राम रजाइ" का परिणाम है अर्थात् उक्त कोटिविधि मंगल के प्रतिभूत्व का निर्वाह श्रीराम को करना है यही भक्ति की छत्रछाया में त्रयी आदि विद्यासमन्वयात्मकरक्षण है। इस प्रकार प्रपन्नों के लिए प्राप्तव्य हितात्मक प्रमेयविशेष के भाविता होने से ही पूर्व में उपक्रमित प्रपत्ति की स्थापना सिद्ध व सफल है।

संगति :—स्वामी होने की प्रार्थना पर प्रभु को स्वत्व स्वीकृति देने में बिलम्ब नही है सुना रहे हैं फलतः प्रशंसात्मक अर्थवाद से "भगवदाज्ञापालनं कर्म प्रशस्तम्" ऐसा समझकर अवधवासियों को श्रीरामाज्ञापालन में एकवाक्यता, एकरुचि व उत्साह बना रहेगा।

चौ० :—यह स्वारथ परमारथ सारू। सकलसुकृतफल सुगतिसिंगारू ॥६॥

भावार्थ :—स्वार्थ व परमार्थ के विचार से "किए रजाई, ही सार है जो संपूर्णपुण्यों का फल एवं सद्गति की परमशोभा है।

स्वारथ-परमारथ

स्वारथ :—वर्तमान जीवन में प्राप्तव्य हित व तत्साधनभूत तत्त्व 'स्वारथ' से विवक्षित है। उसका अन्वय सार से भी ज्ञातव्य है। जैसा कि अवश्यंभावितया हितोपधायकतावान् होना 'सार' है जो रामसेवा से भिन्न नहीं है।

परमार्थ :—उत्तर जन्म में प्राप्तव्य अर्थ जो कि पूर्णसुखात्मक है वह परमार्थ से अभिन्न है वही सार है।

सुकृतफल

नीतिदृष्टि से शान्ति, दक्षता, भद्रता, दृढ़ता, आपत्क्लेशसहिष्णुता, सन्तोष, शील, उत्साह, आदि गुण सेवकसुकृत के परिचायक हैं। उनका पर्यवसान श्रीराम को स्वामी बनाकर उनकी सेवा में शान्त्यादि गुणो का विनियोग करना 'सुकृतफल' है।

सुगतिसिंगारू

स्वामी की आज्ञा के पालन में प्रपन्न की सुगति होना 'सुगतिसिंगारू' का तात्पर्य है।

इस प्रकार प्रभु ने सौपे स्वप्रवृत्तिप्रयोजकप्रेरणात्मकभार को भरतजी ने उतारा जो रामादेश-पालन में पर्यवसित हुआ।

संगति :—प्रभु ने सौपे भार (स्वप्रवृत्तिप्रयोजकप्रेरणा) को विवेक व बोध के सहारे उतार कर भरतजी भक्तिप्रयोगविशेष के अन्तर्गत एक प्रयोग पूर्ण करने हेतु प्रभु से विनन्ति कर रहे हैं। जिसमें प्रभु ने कण्ठतः सुनाए आदेश के उत्तर में स्वत्व-स्वीकृति ध्वनित होने के साथ त्रयी व आत्मतुष्टि उभयप्रमितत्व स्फुट होगा।

चौ० :—देव ! एक बिनती सुनि मोरी। उचित होइ तस करब बहोरी ॥७॥

भावार्थ :—हे प्रभो ! मेरी एक प्रार्थना आप प्रथमतः सुने। तदनन्तर जो उचित हो वैसा करें।

एक बिनती

शा० व्या० :—यहाँ 'एक' शब्द मुख्यार्थक है वह 'बिनती' से अन्वित है। उसका आशय यह कि वक्ष्यमाण मुख्य प्रार्थना के समाधान से प्रभु स्वामी हो अपना निर्णय सुनावेंगे व भरतजी भी प्रसन्न हो तदादिष्ट तिलकप्रतिपत्तिकार्य पूर्ण करेंगे जो भक्तिप्रयोगविशेष का एक भाग होगा।

प्रपन्न भृत्य की दृष्टि से बिनती की उपयुक्तता

सेवक ने स्वामी के सामने उपस्थापित किया स्वामिवृत्तिप्रवृत्तिप्रयोजकप्रेरणा-बोधक विधि प्रायः इष्टसाधनत्वाद्यनुमापक होगा ही कहा नहीं जा सकता, यदि ताद्-

शानुमापक रहा तो भी भृत्य ने 'उच्चैः' या 'न सम्यक्' इस प्रकार से विध्युच्चारण करना स्वाम्यनुजीविवृत्त के विरुद्ध है अतः भरतजी ने 'बिनती' प्रयुक्त की है। विनंति का विषय तिलकसमाजप्रतिपत्ति है जो अग्रिम चौपाई में व्यक्त है।

मोरी

मोरी :—शरणागत विवेकसम्पन्न रामस्वामित्वाभिलाष भरतजी यहाँ अस्मच्छब्दार्थ है।

उचित व उसका प्रयोजन

उचितः—य्येन आचरणेन गुरुमातृमुनयः प्रसन्ना भवन्ति, वही 'उचित' से स्मर्तव्य है इसकी पुष्टि में प्रमाण पूर्व में उल्लिखित है।

दोहा २।२६४।७ के अनुसार प्रभु में संकोच की प्रसक्ति न होना उचित का फल है। अथवा गुरुजी ने सुनाए 'अरध तर्जाहि' निर्णय के आनुकूल्य में रहकर उनकी व मुनियों की प्रसन्नता जिस प्रकार स्वनिर्णीतार्थानुष्ठान में हो वैसी तिलकसमाजप्रतिपत्ति 'उचित' से प्रार्थित है।

तस

तसः—औचित्यविशिष्ट कर्म 'तस' शब्द का वाच्यार्थ है।

करब

गुरुवसिष्ठोक्त 'करब साघुमत लोकमत नृपनय' की एकरूपता, 'करब' से ध्वनित है।

संगति :—'एकविनति' शीर्षकानुसार मुख्य प्रार्थनाविषय सुना रहे हैं। जो राज्याभिषेकोद्देश्येन लाई सामग्री की प्रतिपत्ति है यतः प्रपन्नों की दृष्टि में त्रयी का अनादर न हो किंबहुना उसमें आदर हो।

चौ० : तिलकसमाजु साजि सबु आना। करिअ सुफल प्रभु ! जौं मनु माना ॥८॥

भावार्थ :—तिलकसंभार सजाकर लाया है उसकी प्रपत्ति कर संभार को सुफल (अव्यर्थ) बनावें जिसमें प्रभु की आत्मतुष्टि का प्रमितत्त्व हो।

तिलकसमाजु

शा० : व्या० :—'तिलक :—राजपदटीकासंबद्ध राज्याभिषेकजलप्रभृति औषधियाँ 'तिलक' से विवक्षित हैं।

साजि सबु

तिलकसंभार में से किसी का व्यत्यास न होना इधर उधर रास्ते में निक्षेप न होना 'साजि सबु' से स्फुट है जिससे प्रमादाभाव ध्वनित हो रहा है।

करिअ सुफल (राजनीति में अभिषेकप्रयोजन)

राजनीतिनिर्णीत कार्य निष्फल होगा तो उसकी अनुच्छेद्यता का प्रकाशकसिद्धान्त मिथ्या होगा तन्निरासार्थ 'सुफल' कहा हैं। भाव यह कि सत्यसन्धपितृचरणों

ने तिलकसंभार एकत्रित किया जो अतिपवित्र मात्रा में मन्त्रित व सफल है उसमें अनुष्ठानत-अप्रामाण्य आना उचित नही है। अर्थात् जैसे पितृवचन को प्रमाण बनाने हेतु श्रीराम वनवासी हो रहे है उसी प्रकार तिलकसमाज के एकत्रीकरण ने भी अनुष्ठानतः प्रमाण होना अपेक्षित होने से 'करिअ सुफल' कहा है।

चिन्त्य है कि भरतजी ने इसके बहाने तिलकसमाज की अर्हता को नीतिमत से प्रत्यक्षप्रमित कराने का विचार करना उनका प्रयोगविशेष है जो भक्तिप्रयोगान्तर्गत एक प्रमेय तत्त्व है। अभी तक पुरोहित आदिको ने मिलकर राजाभिषेक की अर्हता त्रयीप्रमाण से प्रमित कीं थी उसका उपयोग पवित्रतम राजशरीरान्तर्वर्ति ज्ञानतन्तुओं के विकासार्थ होता हुआ भी लोक में विख्यात न ही था। अब वह ख्यात होकर त्रयीप्रामाण्य की स्थापना करने में उपयुक्त होगा व अभिषेकफलरूप में बुद्धि विकास का द्योतक होगा। यही राज्याभिषेक का प्रयोजन है। जैसाकि २।३।१०।७-८ से निर्विवाद है।

मनु माना

तिलकसंभार की प्रतिपत्ति में श्रुतिप्रमाणप्रमितत्व असन्दिग्ध नही है इसलिए कि जिस सत्पात्र कूप में अभिषेकार्थ आनीतजलसमेत औषधिका निक्षेप होना है वह प्रमाणान्तरप्रमित हो मुनियों को प्रतिभासित नहीं हो रहा है अतः 'मनु माना' कहा है अर्थात् वह प्रतिभान प्रभु की आत्मतुष्टि पर निर्भर है ऐसा आशय प्रतीत हो रहा है। उसकी पुष्टि में मनुवाक्य ('स्वस्य च प्रियमात्मनः') प्रमाणतया सुचिन्त्य है।

मनुमाना के दो भाव

(१) भरतजी की अनुपस्थिति में अवधराज्यस्वीकृति पर प्रभु ने सन्तोष व्यक्त नहीं किया। अभी तो परिवार सचिव गुरुजी माताएं मुनि व विप्रपत्नियों के साथ चित्रकूट में भरतजी उपस्थित हैं उन सभी की सम्मति श्रीरामस्वामित्व के बारे में प्राप्त है ऐसी स्थिति में 'मन माना' कहकर आत्मतुष्टिप्रमितत्व पर बल दिया गया है उसका आशय अयोध्या लौटने में नहीं अपितु अभिषेकविशिष्ट होकर वनवास करने में आत्मतुष्टि हो तो प्रभु को वैसा करने की विनेति है। उसमें औचित्य श्रीराम होने सोचना है।

(२) यदि औचित्य नहीं है तो वनवास में रहते अभिषेचनीयजलनिक्षेप के हेतु स्थान का आदेश देना है उसमें भी किसी का दबाव न होकर आत्मतुष्टि पर ही बल है समझाने हेतु 'मन माना' कहा है।

संगति :—तिलकसम्बन्धी विनन्ति के अनन्तर सन्दिग्ध अर्थ का उपस्थापन कर रहे हैं जो 'कोटि अनुमाना' की व्याख्या से सूचित है।

दो०—सानुज पठइअ मोहि बन कीजिअ सबहि सनाथ।
नतरु फेरिअहिं बंधु दोउ नाथ! चलौं मैं साथ ॥ २६८ ॥
चौ०—नतरु जाहिं बन तीनिउ भाई। बहुरिअ सीयसहित रघुराई ॥ १ ॥
जेहि बिधि प्रभु! प्रसन्न मन होई। करुनासागर! कीजिअ सोई ॥२॥

भावार्थ—छोटे भाई शत्रुघ्नजीसमेत मुझे वन में भेजकर आप अवध लौटकर सबको सनाथल करें। नहीं तो लक्ष्मणजो और शत्रुघ्नजी को लौटा दीजिये मैं आपके साथ चलूं। अथवा तीनों भाई वन में जायें और सीताजीसहित रघुनाथजी अवध लौटें। हे करुणासागर! जिस विधि से आपका मनस् प्रसन्न हो वही करें।

सानुज पठइअ

शा० व्या०—अवधस्वामित्व स्वीकारने के अनन्तर श्रीराम (राजा) का राजधानी से दूर होना राजनीतिसम्मत तब तक नहीं जब तक राजकार्यसंचालन की पूर्ण क्षमता मन्त्रियों में न हो। इस सिद्धान्तनुसार अपने में वैसी क्षमता न देखकर प्रथम-विकल्प में भरतजी "सानुज पठइअ" कह रहे हैं। इसमें श्रीराम के द्वारा सुनाए त्रयीका वचनप्रामाण्य कैसे रहेगा? ऐसा पूछा जाय तो यह कहना होगा कि राजकार्यसंचालन में सक्षम श्रीराम (राजा) अपने त्रयीवचनप्रमित वनवास कर्तृत्व को प्रतिनिधि रूप में सानुज भरतजी पर समर्पित करते हैं तो उसमें त्रयीवचन का अप्रामाण्य नहीं होगा क्योंकि मीमांसामतेन प्रतिनिधिरूप में गुरुद्वारा सम्पद्यमान अग्निहोत्र की सम्पत्ति में राजकर्तृकत्व पर स्वीकृति 'देकर अग्निहोत्र 'जुहोति वचन की प्रमाण स्थिरता की है।

कीजिअ सबहि सनाथ

"सानुज" शीर्षकोक्त न्याय का स्मरण दिला रहे हैं, अर्थात् यदि श्रीराम अवध में आने के प्रति स्वीकृति नहीं देते हैं तो संपूर्ण समाज अनाथ हो जायेगा फलतः अवध में अराजकता जैसी स्थिति खड़ी हो जायेगी। इस प्रकार भरतजी ने अपने में राज्य-संचालनकर्तृत्व की अक्षमता "कीजिअ सबहि सनाथ" से प्रगट की है।

नतरु

दूसरा विकल्प "नतरु" से बता रहे हैं। यदि बनवास करने में ही आपकी सन्तुष्टि है तो दूसरा नतरु उपस्थापित विकल्प है। परिणामतः दुलारे लक्ष्मणजी को अवध में लौटाकर उनको वन के कष्टों से बचाने में यदि आत्मतुष्टि है तो वैसा करें इसलिए कि बनवासप्रयुक्तवेदना से भाइ को दूर कर भरतजी को श्रीरामके साथ बन में रहने में किसी प्रकार की चिन्ता नहीं होगी इसपकार द्वितीय विकल्प में नैतिक न्याय विवक्षित है। इसी न्याय को ध्यान में रखकर भरतजी ने "बंधु दोउ" कहा है यहाँ शत्रुघ्नजी व लक्ष्मणजी बंधु शब्द से विवक्षित है।

चलौं मैं

केवल श्रीराम को वन में भेजकर उनकी सेवा न करने में पूर्णतः अनौचित्य है ऐसा सोचकर भरतजी "चलौं मैं" कह रहे हैं।

नतरु जाहि

"जौं मनु माना" की अनुमति में तीसरा विकल्प बता रहे हैं। इस विकल्प में तीनों भाइयों को समानरूप से प्रपत्तिप्रतिष्ठा में स्वामिसेवा का अवसर प्राप्त होगा। इसमें अधोलिखित युक्ति त्रयीवचनप्रमाणप्रामिततत्व के संबंध में स्मर्तव्य होगी जिससे

प्रस्तुत तीसरे विकल्प की आत्मतुष्टि में कोई वचन बाधित नहीं होगा। आशय यह कि श्रीराम ने अपना स्वामित्व त्यागकर भरतजी को स्वामित्व देने की अनुमति दी उसी प्रकार भरतजी ने अवधस्वामित्वास्वीकृतिपूर्वक श्रीरामस्वामित्य स्थापित किया उसके रहते अवध में भरतस्वामित्व का प्रतिबन्ध न होना स्वयंसिद्ध है इस अवस्था में "अर्थी समर्थः विद्वान् अधिक्रियते" अथवा 'आख्यातानामर्थं, ब्रुवतां शक्तिः सहकारणी के अनुसार पितृवचन की प्रमाणता अर्थतः लुप्त होनी ही है अतः तीसरे विकल्प के रूप में "नतरु जाहिं बन तीनिउ भाई" कहा है।

जेहि बिधि

"जेहि बिधि" का ध्वनितार्थ यह कि भरतजी उक्त विकल्पों के अतिरिक्त चौथा विकल्प भी बता रहे हैं वह विकल्प राज्यस्वामित्वस्वीकृति ध्वनि से श्रीराम को इष्ट व मान्य है जैसा कि वसिष्ठजी की "फेरिअहि लखन सीय रघुराई" उक्ति में भी ध्वनित है। इसकी प्रतिष्ठा में किसी भी प्रकार से अंगविद्या का विलोप न होना देखकर प्रभु के चित्त में संकोच नहीं होगा ऐसा सोचते हुए "जेहि बिधि" कहा है।

यद्यपि कण्ठतः श्रीराम का वचन ही स्वयं प्रमाण है तथापि प्रभु ने बारंबार संकोच होने का अभिनय किया है उसके रहते "जेहि बिधि प्रभु प्रसन्न होई" कहना चिन्तनीय है यह कि कण्ठतः कही उक्ति में प्रसन्नता न होने से प्रभु के वचन में असन्दिग्धता या प्रमाणता स्थिर नहीं है अतः 'जेहि बिधि' की उक्ति है।

प्रसन्न मन

उक्त चार विकल्पों में से वही विकल्प भरतजी के लिए ग्राह्य होगा जिस पर श्रीराम की प्रसन्नता का पार्ष्णिक बल प्राप्त होगा फलतः भरतजी भी प्रसन्न होकर उसे अपनायेंगे यही "प्रसन्न मन होई" से ज्ञातव्य है। उसी को राजनीति भी अपनी अनुमति देकर कृतार्था होगी।

कीजिअ सोई

"सूझ जुआरिहि आपन दाउ"[1] को ध्यान में रखते हुए "कीजिअ सोई" से "लघूत्थानान्यविघ्नानि संभवत्साधनानि च। कथयन्ति पुनः सिद्धि करणानीव कर्मणाम्"[2] नीति समझाई है।

ज्ञातव्य है कि भरतजी ने भक्तिपूर्वक प्रपत्तिस्थापना से अंगभूतविद्याओं में से किसी एक का विलोप होना इष्ट न मानकर अपनी ओर से जो कहना था कहा है इसके अतिरिक्त और कई प्रकार भरतजी के समझ में नहीं आ रहा है।

अथवा—स्वामिरूप में रहकर अपना व प्रजा का हित सोचकर श्रीरामने आदेश देना ही "कीजिअ सोई" का अर्थ है। चिन्त्य है कि यह न कहा होता तो प्रभु आदेश सुनाने में दूसरे तरफ से भी संकोच कर सकते थे इसलिए कि गुरुजी का आदेश सुनकर भरतजी को आत्मतुष्टि न होना प्रसिद्ध हैं। उसका प्रतिकार "जौं मनु माना" कहने के उपरान्त पुनः इस चौपाई की पुनरुक्ति से ज्ञातव्य है।

१. २५८।१ २. नीतिसार

अथवा—सम्पूर्ण विकल्पों में "अनुमाना" की अनुवृत्ति समझाने हेतु प्रस्तुत चौपाई के द्वारा मोमांसापरिभाषित सन्दंश न्याय दर्शाया गया है।

भरतजी की आत्मतुष्टि का निदान

दोहा २।१०।३ में वसिष्ठजी ने कहे "जौं बिधि कुशल निबाहै काजू" की प्रतिष्ठा "जेहि विधि प्रभु प्रसन्न मन होई'' में है। भाव यह कि अवधसभा से चलकर अभी तक सुनाए गए विषयों पर यथावत् आत्मतुष्टि भरतजी को उपलब्ध नहीं थी। अभी वे अपनी आत्मतुष्टि प्रकृत चौपाई से प्रगट कर रहे हैं तथा यह भी समझा रहे हैं कि पूर्वोक्त सभी विकल्पों या अन्यविकल्पों में ते जिसपर प्रभु से प्रसन्न होंगे वही उनकी मनमाना रूप आत्मतुष्टि है वही प्रमाण है। उस आत्मतुष्टि के गर्भतत्व में श्रीराम कण्ठतः आदेश सुनायेंगे, वह प्रमाण होने से तन्नेमितत्व जहाँ रहेगा उसमें शुभव्याप्ति निर्णीत होने से भरतजी को अग्रिम कर्तव्य में शुभानुमान करना कठिन नहीं होगा यही भरतजी की आत्मतुष्टि का निदान है।

संगतिः—"मनु माना" के अनुषंग में भरतजी अपनी ओर से आत्मतुष्टि को व्यक्त न करने का कारण समझा रहे हैं। जैसा कि "आत्मबुद्धिहितार्थाय" इत्यादि उक्ति से प्रसिद्ध है।

चौ०—देव ! दीन्ह सबु मोहिअ भारू। मोरे नीति न धरमविचारू ॥३॥
कहउँ बचन सब स्वारथहेतू। रहत न आरत के चित चेतू ॥४॥

भावार्थः—हे देव ! आपने निर्णय का भार मुझ पर सौंप दिया परन्तु मुझमें विचार करने की शक्ति नहीं है क्योंकि धर्म एवं नीति से अनभिज्ञ हूँ जो भी बोलना होगा उसमें स्वार्थ (सुख-लोभ) होगा है। क्योंकि चित्त की वेदना विचार के लिए प्रतिबन्धक है।

मोहिअ भारू

शा० व्या०—"लखि अपने सिर सबु भारू''[1] की व्याख्या में भरतजी के विचारणीय विषय कहे गए हैं उनका समाधान न होने की अवस्था में समाधानदान का भार प्रभु ने मुझ पर देना "मोहिअ भारू" से ध्वनित है।

अथवाः—अनेकों कर्तव्यों में से किसी एक कर्तव्य का निर्णय कर उसकी अपनाने का प्रेरणा प्रभु ने देना भार है उसकी उपपत्ति इस प्रकार है—

"तुम्ह कानन गवनहु दोउ भाई"[2] से सुनाए विकल्प को प्रमाणरूपमें कार्यान्वित करने में वसिष्ठजी ने "भरत सनेहँ बिचारु न राखा"[3] की प्रसक्ति से अपनी बुद्धि का निर्णयकत्व तिरोहित कर भरतहित साधने में श्रीराम को प्रमाण माना है। तदनन्तर प्रभु ने "कहहु करौं सोइ आजु" से किसी एक निर्णय पर प्रगट पहुँचने की स्थिति प्रगट नहीं की अतः अनिर्णीत विधान के वारे में कुछ भी सोचना भरतजी को भार लग रहा है।

मोरे नीति न धरम विचारू (आत्मतुष्टिका अप्रामाण्य)

मोरेः—अनिर्णीत विधान का प्रतिविधान करने के भार से विशिष्ट भरतजी मच्छब्दार्थ हैं। नीति शब्द से नीति विद्या धरम से त्रयीविद्या का समन्वय

१. ५।२६०।२ २. २२५८।६ ३. २।२६४।

विचारणीय है उन दोनों का अन्वय "न बिचारू" से है उसका निष्कर्ष आन्वीक्षिकी-कौशल की प्रतिबद्धता में है। अर्थात् त्रयी और नीति के असमन्वय में है जैसा कि "आवहि बहुरि रामु रजधानी" कहकर प्रजा, परिजन, परिवार को यहाँ तक लाया अब उनके कहने पर श्रीराम अवध जाते हैं तो वे देवताओं के खेद के पात्र होते हैं, यदि नहीं लौटते हैं तो भरतजी को प्रजा के विराग का पात्र बनना होगा दोनों ही ओर से अनुराग बिगड़ने से नीतिविद्या का रक्षण अनुपपन्न है। जब नीति ही लुप्त है तब उसके मंत्रित्व में चली त्रयी का रक्षण भी अनुपपन्न है। फिर भी हम यदि दोनों के समन्वय का विचार सोचते हैं तो तदनुकूल आन्वीक्षिकी समझ में न आना "नीति न धरम बिचारू" है।

अथवा :—स्वामिसेवकत्व से वंचित होने का यह परिणाम है कि राज्य त्यागने या राज्य स्वीकारने में क्या धर्म है? समझ में नहीं आता यही अवस्था नीति के सम्बन्ध में भी है। श्रीराम के स्वत्वत्यागावस्था में राज्यपालन करते हैं तो जनानुराग की प्राप्ति होना असम्भव मालूम पड़ती है। अवध को त्यागते हैं तो भी वही आपत्ति स्थिर है। अथवा स्वामिसेवावंञ्चनाप्रयुक्त आर्ति इतनी तीव्र है कि जिसके रहते दृष्ट व अदृष्ट कर्म दोनों की अनुष्ठेयता विविक्त नहीं हो रही है इसलिये तीनों ही अविचार भरतीय आत्मतुष्टि के लिए प्रतिबन्धक हो रहे हैं अतः उसका प्रामाण्य भी स्वतः निरस्त है।

सब स्वारथ हेतु

स्वारथ—पीड़ा में दुःखशमन का आकांक्षित होना स्वार्थ है। वह स्वार्थसिद्धि न होने से आर्ति का यह परिणाम है कि अविचार की आपत्ति में "सब स्वारथ हेतू" के रहते अभी धर्म व नीति के सम्बन्ध में भरतजी को भी अभिप्राय व्यक्त करते हैं तो उसमें स्वार्थ-लोभ होना अपरिहार्य है उसका पर्यवसान दोहा २।२६८।५ में उक्त रामरजाईरूप प्रधानकर्मकइतिकर्तव्यता के रूप में कहे दोहा २।२६८।४ में उक्त "बिहाई" के लोप में है इस दृष्टि से भी आत्मतुष्टि का प्रामाण्य निरस्त है। अतः आर्त के विचार में स्वामी को किसी भी प्रकार के संकोच का अवसर आने देना विवेक नहीं होगा फलतः आर्त स्वार्थी द्वारा नीतिसहित विद्याओं का उपेक्षित होना "सब स्वारथ हेतू" से ध्वनित किया है।

आरत

आरत :—भरतजी को स्वामिसेवात्मक प्रपत्ति से वंचित होने का दुःख ही "आरत" से विशेषतया विवक्षित है यतः वाही अंगीरूप में गायी गयी है। यही सम्पूर्ण विद्याओं से प्राप्तव्य मुख्य उद्देश्य है।

चित चेतू

असह्य आर्ति के कारण चित्त में स्थिरता न होना "चित्त चेतू" से कहा है ऐसी स्थिति में रागद्वेषशून्यता कैसे रह सकती है? जो "सूझ जुआरिहि आपन दाऊ" वसिष्ठोक्ति से स्पष्ट है।

अथवा—विवेकी होते हुए भी "नीति न धरम विचारू" और "सब स्वारथ हेतू" कहना कैसे उपपन्न होगा ? इस प्रश्न के समाधान में "आरत के चित चेतू" कहा है। इस प्रकार भरतजी की आत्मतुष्टि की अप्रामणता सिद्ध होने के साथ पूर्वपक्ष भी पूर्ण हुआ।

संगति :—उपर्युक्त विषयों में जिज्ञासा व सन्देह का उपस्थापन करते हुए पूर्वपक्ष-स्थापन होने के अनन्तर भरतजी अपनी ओर से उत्तर सुनाने में दोष व्यक्त कर रहे है।

चौ० :—उतरु देइ सुनि स्वामिरजाई। सो सेवकु लखि लाज लजाई ॥५॥

भावार्थ :—जो सेवक स्वामी की आज्ञा सुनकर उसका उत्तर देना चाहता है उसके प्रति लज्जा भी लजाती है।

उतरु देइ

शा० व्या० :—प्रभु ने दोहा २।२६४ में "कहहु" सुनाकर भरतजी के ऊपर उत्तर देने का भार दिया था उसी प्रसंग से अभी तक जो भी कहा वह पूर्वपक्ष था उसका उत्तर आगे देय है पर उसका स्वरूप "लाज लजाई" में परिणत जायेगा।

स्वामि

स्वामिरजाइ :—आदेशपालन कर्म की प्रसक्ति 'स्वामिरजाई' से स्फुट है।

सेवकु लखि

लखि :—"किए रजाई" पालन रूप प्रधान कर्म के अनुष्ठाता प्रपन्न सेवक प्रभु के प्रश्न का उत्तर देने में प्रवृत्त होते हैं तो सेवाधर्मविरोधात्मक अनौचित्य उपस्थित होता हैं अतः "सेवकु लखि" से तथाविध अनौचित्य विशिष्ट सेवककर्मकदर्शन ज्ञातव्य है।

लाज लजाई (उत्तर में दोष)

भावप्रकाशनोक्त सिद्धान्तानुसार[१] मर्यादा के अतिक्रमण होने की प्रसक्ति में लज्जा होना कुलीनों का स्वभाव है। उस लज्जा ने सेवक को त्यागने का भाव आपत्ति को समझाने में है अर्थात् "स्वामिसेवाव्रतस्थो भरतः यदि स्वाम्यनुजीविवृत्तमुलंघ्य विवेकी सन्नपि उत्तरं प्रयच्छति तर्हि तत्र निर्लज्जत्वमापद्येत" इस आपत्ति ज्ञेय है।

"लाज लजाई" में उपर्युक्त तीनों विकल्पों का उत्तर चिन्तनीय है। प्रथमकल्प में अग्निहोत्ररूप नित्यकर्म का उल्लेख कर श्रीराम के प्रतिनिधिरूप में जंगल जाने की प्रस्तावना की है यह भी आभासयुक्त होने से उचित नहीं लगता क्योंकि अग्निहोत्र नित्यकर्म है, वनवास तो प्रभु का काम्य कर्म है जैसा कि बालकाण्ड में उनके अवतार प्रसंग में देवों के द्वारा की हुई प्रार्थना से स्पष्ट है। अतः काम्य वनवासकर्तृत्व में प्रातिनिध्य अनुप-

१. अकार्यकरणाज्ञानात्गुर्वाज्ञादिव्यतिक्रमात्। अनिर्वाहात् प्रतिज्ञायास्त्यागे भूयोऽनुतापतः ॥
व्रीडा तदनुभावास्युर्वलिखनचिन्तनम्। मुखावनम्रतास्त्रस्तव्यक्तवचनं नखकर्तनम् ॥
वस्त्रांगुलीयकस्पर्शो दूरादेवावकुण्ठनम्। अनिर्गमोवहिःक्वापि सर्वत्राप्यनवस्थितिः ॥
(भाव प्रकाशन पृष्ठ-१९ पंक्ति ३-८)

पन्न है। दूसरे विकल्प के अन्तर्गत लक्ष्मणजी के लौटने में भी नैतिक न्याय बताया गया है वह भी आभासयुक्त है क्योंकि उन्होंने भी श्रीराम के साथ वनवासार्थ आते समय बारह वर्षों के लिए मुनिव्रत ले रखा है इसी से तीसरा विकल्प भी निरस्त है।

इन्हीं पूर्वपक्षों के क्रम में दोहा २।२६९।२ में "जेहि विधि" की व्याख्या में चौथा विकल्प व्याख्यात है वह भी आभासयुक्त है क्योंकि दोहा २।२६६।७ में "आपन नीका" एवं दोहा २।२६८।३ में "निज हित" कहकर इन दोनों की एकवाक्यता में भरत-जी ने जो स्वामिसेवा की प्रार्थना की है उसमें भी वे अपना स्वार्थ ही आगे रखते हैं। फलतः "करैं सकल सुख लोभ बिहाई" की अनुपपत्तियों को देखते हुए भरतजी का एक भी विकल्प प्रमाणित नहीं होना है। इस प्रकार पूर्वोक्त पूर्वपक्ष का उत्तर सुनाते हुए अपने देय उत्तर में "लाज लजाई" कहकर "स्वामिसेवाव्रतस्थः सन्नपि उत्तरं प्रयच्छति तर्हि तत्र निर्लज्जत्वमापद्येत" यह पूर्वोक्त आपत्ति स्थिर तथा सिद्ध है। इस प्रकार उत्तर में दोष की पूर्णता ज्ञातव्य है।

संगति :—जबकि चारों विकल्पों में से किसी विकल्प का निर्णीत कर, निर्लज्ज होना व अपने स्वार्थ में आकर स्वामिसेवकाई की प्रार्थना करना आदि सभी सेवाधर्म के विरुद्ध होने पर भी प्रभु ने दोहा २५९।६ में एवं २।१६३।३ से २।२६४।१० तक जो भी सराहना की है उसमें भरतजी अपना आश्चर्य प्रकट कर रहे हैं।

चौ० :—अस मैं अवगुनउदधि अगाधू। स्वामि सनेहुँसराहत साधू ॥६॥

भावार्थ :—मैं ऐसे दोष का अथाह सागर हूं। पर स्वामी प्रेम से ही मेरी प्रशंसा कर मुझे साधु कहते हैं।

अवगुन

शा० व्या० :—अवगुन :-प्रबोध होने के अनन्तर प्रबोध का उदय कराते हुए प्रभु ने भार सौंपा परन्तु उसके उत्तर में जितने भी अनुमेय (विकल्प) सोचे गए उन सभी को आभासयुक्त देखकर कोई भी विकल्प उठाते हैं तो सर्वत्र स्वार्थता ही दृष्टिगोचर हो रही है फिर भी "किए रजाई कोटि विधि नीका" इत्यादि कहते रहना "अवगुन" है।

अगाधू

अगाधू :—उक्त स्वार्थतारूप दोष से पार न होना "अगाधू" है।

अवगुन उदधि अगाधू के रहस्य का प्रकाश

"अवगुनउदधि अगाधू" से वक्ष्यमाण सराहना का जो यथावत् तात्पर्य समझना है वह "जगमंगलहित एक उपाऊ" में व्यक्त होगा। अन्यथा अपनी सराहना सुनकर भरत-जी अपने स्वार्थ की उत्तमता को ध्यान में लाकर 'आवहिं' बहुरि राम रजधानी हेतु प्रभु को संकोच में ला सकते थे जिसका परिणाम राज्योत्सवभंग है जो अनिष्ट है।

सनेह सराहत साधू

यहाँ सनेह से रागोपाधि व्यक्त है किन्तु उनके राग में उपाधित्वाभाव ही चिन्त्य है।

"लखि लघुबन्धुबुद्धि सकुचाई"[१] के अनुसार भरतजी की बड़ाई करना सराहृत साधू" से अनूदित है।

सराहना में मीमांसकाभिमत

श्रुति ने विधि से कहे यागादिकों के अनुष्ठाता की प्रवृत्ति में प्रतिबन्धक आलस्यादिकों को निरस्त करने हेतु अर्थवाद की उपयोगिता मीमांसकों ने बतायी है, जिस प्रसंग में विधि न कहते हुए श्रुति अर्थवादमात्र से किसी एक कर्म की प्रशंसा करती है उसके सार्थकतार्थ मीमांसकों ने श्रौतविधि के उन्नयन की प्रक्रिया बतायी है उसी प्रकार प्रभु ने दोष होतें हुए भरतजी की सराहना की है उस सराहना से श्रीराम के तात्पर्य का उन्नयन होना सराहना की मीमांसा है उसको अग्रिम चौपाई में स्पष्ट किया जायेगा।

संगति :—सर्वविदित रीति से दोष होते हुए भी पूर्व चौपाई में कही सराहना से उन्नीत श्रीरामतात्पर्य को स्वमत से स्पष्ट कर रहे हैं।

चौं० :—अब कृपाल ! मोहि सो मत भावा। सकुच स्वामिमन जाइं न पावा ॥७॥
प्रभुपदसपथ कहउँ सतिभाऊ। जगमंगलहित एक उपाऊ ॥८॥
दो०—प्रभु ! प्रसन्न-मन सकुच तजि जो जेहि आयसु देव।
सो सिर धरि धरि करिहि सबु मिटिहि अनट अवरेब ॥२६९॥

भावार्थः—हे कृपालो ! जिससे स्वामी के मनस् में संकोच न हो वही मत मुझे अच्छा लगता है। प्रभु के चरणों की शपथ लेकर सच्चे भाव से कहता हूँ कि संसार का कल्याण और अपनी भलाई का यही एक उपाय है कि प्रसन्न मनस् से प्रभु जिसे जो आदेश दें उसने वह शिरोधार्य करना होगा सब समस्याएं व अड़चने दूर हो जाएँगी।

कृपाल

शा० व्या०—"पुंसोत्यनुग्रहोह्येष भवद्भिर्यन्नियुज्यते"[२] उक्ति के अनुसार आदेश देने की प्रार्थना होने से श्रीरामको "कृपाल" से संबोधित किया है।

मोहिं

मोहि :—दोहा २।२६९।२ से ८ चौपाई तक व्याख्यात गुणविशिष्ट भरतजी अस्मत्शब्द का अर्थ है।

सो

सो :—दोहा २।२६९ में कहे पदार्थ 'तत्' शब्द से बोध्य है।

मत

मतः—प्रभु के द्वारा शाब्दतः अथवा कण्ठतः तत्तद् अधिकारियों के नामनिर्देशपुरस्सर सुनाए विधि को तत्तत् प्रजा ने स्वीकारना "मत" से ज्ञातव्य है उसी में सराहना से उन्नीत तात्पर्य बोध्य है तथा "राखे राम रजाइ रुख"[३] के साथ "करब साधुमत लोकमत"[४] की एकवाक्यता स्पष्ट है।

१. २।२५९।७ २. भागवत १०।४१।४८ ३. २।२५४।० ४. २।२५८।०

भावा

भावा :—सत्वप्रचुर, निर्विकार, अन्तःकरण में अर्थ का प्रतिभान होना 'भावा' है जो सदा कार्यकारी होता हुआ यथार्थ ही रहता है।

संकुच

"सकुच" से भरतजी का आशय यह है कि श्रीराम की प्रवृत्तियाँ अभी तक परसमवेतप्रेरणाप्रयोज्य न होकर स्वसमवेतप्रेरणाप्रयोज्य रही है परन्तु प्रभु ने दोहा २।२६४ में प्रस्तुत समस्या के समाधानार्थ होनेवाली स्वकृति में भरतसमवेतप्रेरणा-प्रयोज्यत्व अपनी स्वीकारना प्रभु की प्रवृत्ति का संकोच है यतः श्रीराम को तथाविध प्रवृत्तियों के प्रति प्रेरणा देने में 'सुखलोभ' दृष्टिपथ में आ रहा है संकोच का अन्वय "जाइं न पावा" से है।

न पावा

चौ० २।२६९।८ दो० २।२६९ में भरतजी द्वारा वक्ष्यमाण, मन्त्रविकल्पप्रोक्त पंचांगपरिपूर्ण अर्थ के अनुबन्धी मत में "करैं सकल सुख-लोभ बिहाई" देखना "न पावा"[२] का व्यंग्यार्थ है।

प्रभुपद सपथ

शास्त्र व तर्क प्रभु के पद हैं, जैसा कि न्यायकुसुमांजलि के मंगलाचरण में स्पष्ट है। उनके शपथग्रहण का प्रयोजन वर्णाश्रम को सावधान कराना है। भाव यह कि पुण्यश्लोकतर भरतजी ने रामोपदिष्ट अर्थ में जगदन्तःपाति वर्णाश्रम की प्रवृत्तिहेतु शपथ लेकर यह समझाया है कि श्रीरामादेशातिक्रमण करने पर श्रीराम तथा उनके सेवकों के प्रति अपराध करना "प्रभुपद शपथ" से ज्ञातव्य है।

सतिभाऊ

"सो मत भावा" का उपपत्तिपूर्वक विवेक करते हुए भरतजी ने "सतिभाऊ" कहा है उसका अर्थ यहाँ प्रपत्तिप्रकाशन है।

सतिभाऊ का प्रयोजन

"सतिभाऊ" से "करैं सकल सुख लोभ विहाई"[१] को समझना है जिससे भरतजी की अपरिमितप्रमातृता व संपूर्ण जगत् से अपनी अभिन्नता प्रगट करना एक प्रयोजन है।

वक्ष्यमाणजगन्मंगलहित के पूर्ववर्ती रामादेशपालन में अनन्याथासिद्धत्वको स्फुट करना "सतिभाऊ" का दूसरा प्रयोजन है।

जगमंगलहित

'जगमंगल' :—जगत् में पूज्य का पूज्यत्व स्थिर होना ही "जगमंगल" है। "हित" शब्द उद्देश्य-वाचक है।

अथवा—चौरादि समस्त राजकण्टकविनाशपूर्वक त्रिवर्गसमृद्धि के साथ उसके उपभोग की निर्बाध अधिकारिता सम्पूर्ण जगत् को प्राप्त होना ही 'जगमंगल' है।

---

१. २।२६८।४

अथवा :--"जग" से वर्णाश्रमाभिमानी एवं सम्पूर्ण तदनुयायी विवक्षित हैं इसमें "करें सकल सुख लोभ बिहाई" की ईतिकर्तव्यता भी स्मर्तव्य है ।

एक उपाऊ

"एक" शब्द से प्रधान कर्म तथा वक्ष्यमाणकर्मातिरिक्त की व्यावृत्ति विवक्षित है जो अग्रिम दोहे में परिभाषित होगी । उसकी उपायता इसलिए कि त्रिवर्गसमृद्धि व उसका निर्बाध उपयोग प्राप्त करने में रामरजाइपालन कर्म से अतिरिक्त कोई साधन नहीं है ।

भरतचरित की शिक्षा

प्रत्येक वर्णाश्रमी व तदनुयायी इतर समाज के लिए तत्तद् अधिकारिभेदेन "सकुच स्वामि मन जाइ न पावा" पूर्वक शास्त्रनिर्दिष्ट विधियां जिस प्रकार से प्रेरणा देकर कर्तव्य समझाती रहती हैं उनको प्रेमपूर्वक स्वीकार करना ही शब्दप्रमाणमूर्धन्य की प्रतिष्ठा है यही प्रभु की प्रसन्नता का साधक है शास्त्रवैपरीत्य में प्रभु को दबाव में लाना या सेवक ने परिमितप्रमातृतावशात् स्वकल्पितमनोरथपूर्ति के प्रति प्रवृत्त होना प्रभु के संकोच का कारण है । शास्त्रोपदिष्ट अर्थ के संपादन में प्रवृत्ति होने के बाद फलप्राप्ति की मध्यावधि में विघ्नों के उपस्थित होने पर उससे बचाव करने का पूर्ण प्रतिभूत्व विधियों ने अपने ऊपर लेने से सम्पूर्ण समस्या का समाधान होना ही है यही भरतचरित्र की शिक्षा है ।

प्रभु

"प्रभु" से स्वामी श्रीराम विवक्षित हैं जो वक्ष्यमाण 'देव' शब्द बोध्य क्रिया (दान) कर्ता का वाचक है ।

प्रसन्न मन

सम्पूर्ण जगत् को सुखी देखने हेतु बलवदनिष्टाननुबन्धित्वविशिष्ट त्रिवर्गसमृद्धि व तदुपायों को बताने में तत्तादाधिकारिभेदेन उच्चनीचकर्मविभाजन के साथ उनको कर्तव्यादेश देने में पूर्ण सुखानुभूति होना ही "प्रसन्न मन" है इसलिए कि प्रभु के सामने जागतिक समस्याओं का समाधान होने में कोई समस्या नहीं है । इस प्रकार शिष्य-हिताधानार्थदर्शन रूप वात्सल्य "प्रसन्न मन" से ध्वनित हो रहा है । यही प्रभु के द्वारा दुःखपंकनिमग्नजगत् का उद्धार होना है जिसमें जगन्मंगलातिरिक्त काम्यकर्मकर्ताओं की व्यावृति ध्वनित है ।

सकुच तजि

"सकुच" से उदासीनता विवक्षित है उसे त्यागना "सकुच तजि है, अर्थात् "साधु सयाने" कहकर प्रभु ने भरतजी के बारे में जैसी प्रसन्नता व्यक्त की वैसी प्रसन्नता अवधवासियों के बारे में व्यक्त नहीं की हैं इससे उनके प्रति प्रभुकी उदासीनता भरतजी को मालूम पड़ रही है उसे त्यागने के लिए "सकुच तजि" कहा है ।

जो जेहि आयसु देव (प्रपत्ति की प्रतिष्ठा)

"जो" से "आयसु" अन्वित है। "जेहि" से समाज के प्रत्येक व्यक्ति व सभाज विवक्षित है।

"आयसु देव" से भरतजी की वह प्रपत्ति प्रगट है जो सायुज्य सालोक्य आदि मुक्ति प्रभु द्वारा मिलने पर भी एकमात्र आज्ञापालनात्मक सेवा सबसे करवाना चाहती है यतः उसी में जगन्मंगल निहित है।

ज्ञातव्य है कि यद्यपि प्रकरण एवं वाक्य से प्रभु की आज्ञा के पालन की पात्रता एवं आज्ञोपदेष्टृता क्रमशः अवधवासियों एवं प्रभु में ही स्फुट होती है तथापि यह पात्रता यहीं तक सीमित नहीं है क्योंकि पूर्व चौपाई में कहे सम्पूर्ण वर्णाश्रमियों में आज्ञापालन-पात्रता एवं जगन्मंगलहिताधानार्थदर्शनपुरस्सर आज्ञोपदेष्टृता श्रीराम में स्मर्तव्य है। इस प्रकार हितसाधनता बतायी गयी आगे बलवदनिष्टाननुबन्धित्व बताया जायेगा।

प्रस्तुत सन्दिग्ध विकल्पों में से जो विकल्प प्रभु को इष्ट हो उसी को स्वीकारने में भला होना ही यहाँ मुख्य पक्ष है उसीको 'जो जेहि' से स्पष्ट कर रहे हैं।

अथवा :—जो जेहि से भाइ मात्र विवक्षित हैं क्योंकि उन्हीं के सम्बन्ध में निर्णय जिज्ञासित है।

सो सिर धरि

"सो सिर धरि" का अन्वय पूर्व अर्धाली में उक्त "आयसु" से ज्ञातव्य है।

सबु

"सबु" से गूढतया वर्णाश्रमसमाज मात्र विवक्षित है क्योंकि कर्तव्य, उद्देश्य, विधेय की आवश्यक शिक्षाओं का दिग्दर्शन पूर्व में भरतचरित्र की शिक्षा में प्राप्त हुआ है।

मिटिहि अनट

"मिटिहि" से अनिष्टसाधनत्वाभाव समझाते हुए तत्प्रतियोगिकुक्षिगत अनिष्टद् 'अनट' पद से समझाया है। 'अनिट मिटिहि' का निष्कर्ष बलवदनिष्टानुबन्धित्वा-भाव में है।

भाव यह कि प्रपत्ति व भक्ति की प्रतिष्ठा के बाद उसकी छत्रछाया में त्रयी एवं नीति का समन्वय होना है, उसकी निर्बाधता प्रभु के आदेशपालन में ध्वनित है जो अन्तिम सभा के निर्णय में स्फुट होगी इसकी शृंखला दोहा २।२२३।५ की संगति में द्रष्टव्य है।

द्वितीय भाव यह कि दोहा २।२६४ में प्रभु ने "आजु" कहकर जिस मुहूर्त का संकेत किया था उसी को साधकर भरतजी ने भक्ति व प्रपत्ति की प्रतिष्ठा पूर्ण की है जिसके वशीभूत हो धर्म, त्रयी व नीति की सुरक्षा करते हुए प्रभु ने किये हुए (त्रयी प्रमाण-प्रमितत्व की पक्ष वनवास में सिद्धि के साथ प्रपन्नरुचिपूर्ति होना) निर्णय के प्राकट्य में अनिष्ट न होना भरतजी ने "मिटिहि अनट" से समझाया है। इससे सिद्ध है कि सभी ने भगवदादेश में रहना कर्तव्य न समझकर "जगमंगल हित एक उपाऊ, के प्रातिकूल्य में रहते कार्यसिद्धि न होने पर प्रभु को दोष देना व्यर्थ है।

ज्ञातव्य है कि यहाँ तक शिवजी ने कहे हुए "करत कोटि विधि उर अनुमाना" की व्याख्या भरतजी ने दोहा २।२६६ में प्रणाम करने के अनन्तर पूर्ण की है अर्थात् जो भी जिज्ञासित, संदिग्ध या जो भी मनस् में विकल्प कल्पित हो रहे थे वे सब अनुत्तरित रूप में बोल गए।

इस दोहे में व्याख्यात अन्तिम पूर्वोक्त प्रश्न का समाधान दोहा २।३०४ में द्रष्टव्य है।

संगति :—अभी तक के ग्रन्थ से कवि ने श्रीराम एवं भरतजी के आदर्शचरित्र-निरूपण, से प्रमाणों, विद्याओं, व प्रपत्तिसहित भक्ति के अंगांगिभावों के बलाबल का निरूपण करने के साथ "साधुमत, लोकमत, नृपनय निगमनिचोरि" का व्याख्यान पूर्ण कर आन्वीक्षिकी-राजनीत्युभयकौशल प्रगट किया है। अब भक्ति की छत्रछाया में प्रमेय का विवेक प्रारम्भ हो रहा है। उसके अन्तर्गत जिसने जो पाया उसको अनुभावों को प्रथमतः स्पष्ट कर रहे हैं।

चौ० :—भरतवचन सुचि सुनि सुर हरषे साधु सराहि सुमन सुर बरषे ॥१॥
असमंजसबस अवधनेवासी। प्रमुदित मन तापस-बनबासी ॥२॥

भावार्थ :—भरतजी के निष्कपट छलहीनवचन को सुनकर हर्षित हो देवगण साधुवाद गाते हुए फूल बरसाने लगे। अवधवासी असमंजस में पड़ गए। तपस्वी, वनवासी चित्त में प्रसन्न हुए।

सुचि

शा० व्या० :—भरतजी के सतात्पर्यक अर्थवत् वचनों में भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा, करणापाटवरूप दोषचतुष्टय न होना "सुचि" से समझना है। जिसमें अंगांगिभावापन्न राजनीत्यादिसमस्तविद्यासमेत भक्ति की यथार्थ प्रतिष्ठा व्यक्त है। उसी प्रकार "सुचि" से भरतवचन में छलशून्यत निष्प्रकंपप्रवृत्तिमत्ता भी ध्वनित है।

"सुनि" से साहित्यप्रोक्त साधारणीकृत काव्यव्यापार समझाया है जिसमें कार्य कारणव्यभिचारिभावों की काव्यारूढ़ता ज्ञातव्य है।

सुर हरषे

"हरषे" से सुरों के मनस् की प्रसन्नता विवक्षित है जो अभी सम्पूर्णशंकोन्मुलन का फल है। अर्थात् सुरों ने "भरत के हाथा"[१] कहकर उनके चरणों के प्रति अनुरक्ति प्रगट की तब देवगुरुजी ने सुरों को आशिष् देते हुए "राम परिछाहीं"[२] कहकर भरतजी की भूरिभूरि प्रशंसा की है उसकी कार्यान्वियिता देखकर जगन्मंगल (अभीष्ट सिद्धि) की निर्णीति से देवों को हर्ष (मनः प्रसाद) होना कहा गया है।

साधु सराहि

साधु :—नीतिमान्, निर्दम्भ व्यक्ति "साधु" से समझने हैं उनको भरतजी के वचनों से अवश्यम्भावी इष्टार्थ कार्य (जगन्मंगल) सुनकर विवेकपूर्ण औचित्य मालूम पड़ा तो उन्होंने की हुई भरतजी की सराहना 'सराहि' से व्यक्त है।

१. २।२५६।६ २. २।२६६।४

सुमन सुर बरषे

"भरत रामआयसु अनुसारी"[1] से आश्वस्त इन्द्रजी के द्वारा पूर्व में पुष्पबृष्टि "बरषि प्रसून" से बतायी थी। अभी श्रीराम द्वारा सुनाए वचनों से उदित शंकाओं के समाधान के कार्यान्वियन में भरतजी की सतात्पर्यक शुचि उक्ति सुनकर "सत्यसन्ध प्रभु सुरहित कारी"[2] की निष्कंपता का अनुभव करते हुए स्वकृतराज्योत्सवविघ्न की सार्थकता समझने से प्रसन्न हो हर्षविशेष होना देवों ने की पुष्पवृष्टि से व्यक्त हैं।

असमंजस

भरतजी के उपर्युक्त "जे जेहि आयसु देब"[3] को सुनकर अवधवासी अभी देवों को हुई पूर्वनिरूपितव्यथा के समान व्यथित नहीं हैं क्योंकि वे श्रीरामजी के आदेशपालक हैं किन्तु अवध लौटकर प्रभु के न आने से चतुर्दशवर्षावधिक श्रीराम-विरहस्थैर्यप्रयुक्त व्यथा का पुनरुद्बोध होने से व्यथित हैं उसका निरसन ऐन्द्रीमाया-के चपेट में आकर स्वयं ही अवध लौटने की मनीषा से होगा।

प्रमुदित

अपने को अभीष्ट श्रीरामतत्त्व का दर्शनभोग चिरकाल तक होता रहेगा समझ-कर तापस वनवासी को प्रमोद हो रहा है।

तापस बनबासी

"तापस बनबासी" से वैखानस व वानप्रस्थ विवक्षित हैं।

संगति :—भरतजी के स्वप्रकाशित मत में साध्वनुमोदितत्व उपलब्ध होने पर भी जब तक उपनिषद् के मत की मान्यता नहीं होगी तब तक राजनीति दृष्टि में सभा के सामने प्रभु का तूर्णींभाव होना कवि समझा रहे हैं।

चौ० :–चुपहि रहे रघुनाथ संकोची। प्रभुगति देखि सभा सब सोची ॥३॥

भावार्थ :—प्रभु, संकोच में मौन हो गए। प्रभु की दशा देखकर सभा सोच में पड़ गई :

चुपहिं रहे

शा० व्या० :—चुप :—'चुप' शब्द से समाधान के बारे में तूष्णीभाव अपनाना विवक्षित है।

संकोची

संकोची :—स्वकृतनिर्णय में अनौचित्य की आशंका होना संकोची है। अथवा अवधवासियों की प्रसन्नतानुरूप निर्णय सुनाने में भक्तविरोध की असहिष्णुता संकोची है। अथवा संगति निर्देशानुसार जब तक भरतप्रपत्ति व उपर्युक्त भरतमत के बारे में

---

१. २।२२०।१ २. २।२२०।१ ३. २।२६९।०

नृपनय, की एकरूपता उपलब्ध नहीं होती तब तक अपने द्वारा किसी को भी आदेश देना गुरुवसिष्ठजी के मतानुगुण्य में नहीं होगा अतः "संकोची" कहा है।

अथवा :—राजविद्या के द्वारा पुनः पुनः आशंकित होने की प्रसक्ति से मौन धारण करना "संकोची" है।

अथवा :—सर्वमतानुमोदित, उपरिबुद्धित्व अपने में सुनकर यदि श्रीराम प्रकृत असमाधेय समस्या का समाधान तत्काल सुनाते हैं तो "ब्रह्मज्ञ नृपनीति" की ओर से स्वयं की उपस्थिति के बिना किए निर्णय से अनौचित्य की शंका उपस्थित हो सकती है फलतः स्व (श्रीराम) में अन्यथसिद्धत्व प्रगट होगा तत्प्रयुक्त संकोच ही यहाँ "संकोची" है।

ज्ञातव्य है कि वह शंका तभी निरस्त होगी जब राजा जनकजी अपनी यात्रा का वैयर्थ्य स्वयं प्रकाशित करेंगे अतएव उसके बाद ही प्रभु ने अपना आदेश सुनाना उपपन्न है।

अथवा :—अपने निर्णय को सुनाने के अन्तराल में ही राजा (जनकजी) के दूतों का आना समझकर अन्तर्यामी प्रभु चुप हैं इसलिए कि दूतों का आना सुनकर सभासदों के मनस् को एकाग्रता से उठाना है जिसका परिणाम अभ्यागत दूतों का स्वागत होना कहा जायेगा जो राजनीति को मान्य है।

अथवा :—भरतजी के द्वारा सैद्धान्तिकमत की यथार्थता होने पर भी प्रभु भरतमत को अपनाना ही सुनाते हैं तो भी आर्ति एवं राग के पराधीन अवधवासी श्रीरामविरह के असहिष्णु होकर अपनी असन्तुष्टि को ही प्रगट करेंगे। यदि श्रीराम स्वयं माया के प्रयोग से अवधवासियों को मोहावृत करते हैं तो (दोहा १।१८७।६)" नारद-वचन सत्य सब करेहुँ" का विरोध होगा। अभी इन्द्रजी प्रसन्न होने से अवधवासियों पर माया का प्रयोग नहीं करेंगे इसलिए अपने द्वारा कहे जाने वाले प्रयोगावधि में भक्तिविरोध होने से श्रीराम बोलने में अनौचित्य समझते हैं फलतः श्रीराम का संकोच होना कवि गा रहे हैं।

प्रभुगति

"प्रभुगति" का अन्वय 'देखि' से ज्ञातव्य है।

प्रभुगतिः—सभा में प्रश्न का उपस्थापन होने के अनन्तर उपरिबुद्धि होने पर भी प्रभु के तूष्णीभाव से अनुमित प्रभुमानससंचलन "प्रभुगति" है जो साभिप्राय होते हुए सबके लिए दुर्ज्ञेय हैं

देखि

देखिः—तूष्णींभावानुभावित मनस् की अभिव्यक्ति होना "देखि" है।

सोची

"सोची" से चिन्ता विवक्षित है। स्मर्तव्य है कि तूष्णींभावानुभावित मनस् को इतराभिमुख गति को देखकर सभासद सोच रहे हैं कि जिस प्रकार हमें

पितृवचनविरोध की समस्या का समाधान प्राप्त नहीं हो रहा था तदर्थ चित्रकूट में भरतजी ने पहुँचकर "साधुमत लोकमत नृपनय निगमनिचोरि" प्रगट किया पर वह सभा में नैतिकदृष्टि से प्रकाशित नहीं हुआ। इसीलिए क्या प्रभु उत्तर देना उचित नहीं मानते ? ऐसी चिन्ता करना "सोची" है।

संगति :—"चुपहि रहे रघुनाथ संकोची" की व्याख्या में सूचित प्रभुमनोगति के अनुसार जिस उपनिषद् विद्या कि उपस्थिति की आवश्यकता थी वह हो रही है उसीका उपक्रम जनकदूतागमन से कवि कर रहे हैं उसका परिणाम सभासदों के मनस् का विक्षेप व दूतों का स्वागत करना कहा जायेगा।

चौ०—जनकदूत तेहि अवसर आए। मुनि बसिष्ठ सुनि बेगि बोलाए ॥४॥
करि प्रनाम तिन्ह रामु निहारे बेषु देखि भए निपट दुखारे ॥५॥

भावार्थ :—उस समय जनकदूतागमन सुनकर मुनि वसिष्ठ जी ने उन्हें शीघ्र बुलाया। दूतों ने प्रणाम कर श्रीरामजी को देखा उनका वेष बेखकर दूत बहुत दु खी हुए।

तेहि अवसर

शा० व्या० :—पूरी सृष्टि का निर्माण प्रभु के संकल्पमात्र से एक क्षण में हो सकता है तो यहाँ भी चुप के अनन्तरक्षण में अपेक्षित घटना का होना अवश्यंभावी है तदनुसार प्रभु के तूष्णींभावोत्तरक्षण में ही जनकदूतों की उपस्थिति होना "तेहि अवसर" से विवक्षित है।

अथवा :—नीति की स्थापना कर्तव्य है। अतः संवाद के अनन्तर भरतटीका संपन्न करके पितृवचन प्रमाणित करना होगा तदनुकुलता को "तेहि अवसर" से दर्शाया है अर्थात् टीका का कार्य जनकजी को पूर्ण करना है जिससे पितृवचनप्रमाणता स्थिर होगी उसके प्रति सोचने का अवसर न देना 'तेहि अवसर' है।

अथवा :—भरतजी का कथन पूर्ण होने के बाद विक्षेप से कथाविच्छेद करना "तेहि अवसर" है। उसका प्रयोजन पजा को अधिक से अधिक विश्राम देना है व राजा (जनकजी) के साक्षित्व में स्वनिर्णय से नृपनय को प्रकाशित करना है।

मुनि वसिष्ठ सुनि

राजा राज्य के प्रति उदासीन हों तो मन्त्री पर राजकार्यभार सौंपने का विधान राजशास्त्र में उपलब्ध है अतः कहना यह है कि राजकार्य के अन्तर्गत जनकदूतागमन हुआ है ऐसा सुनकर उत्तारमन्त्री वसिष्ठजी नीतिशास्त्रप्राप्तराजमर्यादाकार्यभार पूर्ण कर रहे हैं जो "मुनि बसिष्ठ सुनि" से स्पष्ट है।

बेगि बोलाए

"बेगि" :—ठीक अवसर पर आना देखकर उपेक्षा न करना "बेगि" से ज्ञातव्य है।

"बोलाए" से यह निश्चित है कि दूत आदेशप्रतीक्षा में बाहर ही खड़े थे जिससे "तिष्ठेयुः परदूताश्च राजशासनगोचराः" विधान समन्वित है।

करि प्रनामु

औचित्य को देखते हुए दूतों ने सकलमुनिसमेत श्रीराम को प्रणाम किया है।

भए निपट दुखारी

श्रीराम, गुरुजी के समीप विराज रहे हैं पर वे पूर्व वेष (विवाह के समय के) में नहीं है अतः जो वेष मिथिला में रहते राजसान्निध्य में दृष्टिगोचर हुआ था वही मानस में प्रत्यक्षवेद्य हो रहा था। श्रीराम को तापस वेष में देखकर दूत पीड़ित हैं इसलिए कि वे अभी राजा सगुण श्रीराम के उपासक हैं।

सत्वगुणोपासना में अपने उपास्य को सेवक, इष्टस्वरूप में देखना चाहते हैं जैसा कि शिवजी के विवाहावसर पर पार्वतीजी के मनोनुकूल वेष में शिवजी का आना देखकर पार्वतीजी का प्रसन्न होना प्रसिद्ध है।

संगति :—विना सूचना के अचानक दूतों का आना देखकर वसिष्ठजी प्रथमतः कुशलता के जिज्ञासु हो रहे हैं।

चौ० :—दूतन्ह मुनिवर बूझी बाता। कहहु बिदेहभूप कुसलाता ? ॥६॥

भावार्थ :—दूतों से वसिष्ठजी ने हालचाल पूछकर विदेहराजा की कुशलता बताने को कहा।

विदेह

शा० व्या० :—सुख-दुःख से असंपृक्त रहना आदि भाव ब्रह्मज्ञ राजा जनक जी में प्रसिद्ध है उसी स्थिति को 'विदेह' से ध्वनित किया है जो भारतीय नीति सम्मति से नृपरूप में मुख्यत्वेन परिगणित है।

अथवा :—ब्रम्हविद्या की अनुभूति का फल समझाने के लक्ष्य से "बिदेह कहा गया है जैसा कि "श्रुताद्धि प्रज्ञोपजायते प्रज्ञयायोगोयोगादात्मवत्तेति विद्यासामर्थ्यं" से अर्थशास्त्र में उक्त है।

कुसलाता

"कुसलाता" से कुशल समझना है। स्मृत्यनुसार क्षत्रियों के बारे में कुशल शब्द पूछना नहीं ऐसा विधान समझकर उसकी मर्यादा में सावधान हो "कुसलाता" कहना ग्रन्थकार की कुशलता है।

अथवा :—विदेहावस्था में थोड़ी भी चंचलता होना आश्चर्यजनक है यदि है तो वह भी दोष है ऐसा समझकर "कुसलाता" कहा है।

अथवा :—"ब्रह्म जानातीति ब्राह्मणः" इस व्युत्पत्ति के अनुसार ब्रह्मज्ञ भी ब्राह्मण ही है इस व्याख्या को ध्यान में रखते हुए विदेह के बारे में 'कुशल' कहना अनुपपन्न नहीं है।

संगति :—ब्रह्मविद्या जिस भक्ति की सेवा करती हो उसके प्रतिष्ठापक कोसलेश्वर के जीवित न रहने के बाद कुशल हैं कैसे कहा जाय ? इस अभिप्राय से उत्तर दे रहे हैं।

चौ० :—सुनि सकुचाइ नाइ महि माथा। बोले चरबर जोरे हाथा ॥७॥
बूझब राउर सादर साईं!। कुसलहेतु सो भयउ गोसाईं! ॥८॥
दोहा :—नाहिं त कोसलनाथ के साथ कुसल गइ नाथ!।
मिथिला अवध बिसेष तें जगु सब भयउ अनाथ ॥२७०॥

भावार्थ :—वसिष्ठवचन सुनकर श्रेष्ठ दूत सोच में पड गये। मस्तक नीचे झुकाते हुए बोले—हे गोसाईं जी! आप मालिक हैं आपने आदरपूर्वक (अनुपेक्षा भाव रखना) पूछना ही कुशल का हेतु है, नहीं तो कुशल कोसलाधीश के साथ ही चला गया। सब वर्णाश्रम ही अनाथ हो गया, विशेषकर अवध व मिथिला।

सुनि

शा० व्या :—वक्ता के शब्दतात्पर्य को अवगत कर शब्दार्थ का बोध होना सुनि का निष्कर्ष है।

सकुचाई

कुशल का प्रश्न है। उसका उत्तर झटिति सुनाने में वाणी का प्रगट न होना 'सकुचाई' है।

नाई महि माथा (नमन का प्रयोजन)

"नाइ महि माथा" से मिथिला में विद्याविनयप्रचार परिलक्षित हो रहा है। जैसे—विद्याविनयसंपन्नःप्रजानां विनये रतः। आदि से अर्थशास्त्र में वर्णित है।

'नाइ महि माथा' से वक्ष्यमाण वचनार्थ में माया या दंभ न होना व्यक्त किया है। अतएव 'नाई' की पुनरुक्ति सार्थक है।

चरबर

प्रस्तुत सभा में उपस्थित दूत प्रकाशचर होने से वे वाक्चर मालूम होते हैं जो राजा के मुखस्थानापन्न हैं जेसा कि अर्थशास्त्र में "दूतमुखा वै राजानः" कहा है। चरों की वरता अमात्यगुणसंपत्तिबोधनार्थ कही है जो वक्ष्यमाण वाक्चातुर्य से स्फुट होगी।

सादर

वसिष्ठजी ने मिथिला के प्रति अपने अंगिभाव को पूर्ण अनुभूत कर मैथिल राजा का कुशल पूछना 'सादर' से ध्वनित है।

साईं (साईं का फल)

साईं—साईं शब्द स्वामिबोधक है।

साईं से वसिष्ठजी के शुभचिन्तनमात्र से विदेह राजा का जीवित रहना समझाया है। आशय यह कि वसिष्ठ मुनि ब्रह्माजी के मानस पुत्र व साधु सयाने हैं वे जिस किसी का कुशल आन्तरिक भाव से चाहते हैं वह नीतिशास्त्र मत से दुर्ग में आसीन होने का

फल प्राप्त करता है। अतः मिथिला राजा ने अपने को वसिष्ठचिन्तनदुर्गाश्रित समझकर कुशल से जीवन बिताना "साईं" का फल है।

कुसलहेतु

मुनिद्वारा वर्तमान में विदेह राजा का शुभचिन्तन करना "कुसलहेतु" से समझाया है। इसका स्पष्टीकरण निम्नलिखित शीर्षक से स्पष्ट होगा।

नाहिं त

नाहिं :— मुनि द्वारा पूछे कुशलचिन्तन का अभावरूप व्यतिरेक "नाहीं" का अर्थ है।

"त" का आशय तर्क रूप में समझना है। अर्थात् "अवधराजस्य स्वर्गारोहणदाराभ्य यदि सप्तम प्रकृतेः सुहृदोऽभावेन छिन्नस्य राज्यस्य कुशल मुनिद्वारा चिन्तिता मिथिला न स्यात् तर्हि इयं सर्वथा विनश्येत् साधुसंगत्यात्मक दुर्गोपलंभाभावात्"। उसका संक्षेप 'मिथिलानरेशोपि मृत्युमापद्येत' में समझना होगा। उसका व्याख्यान २७० पर्यन्त समझना है।

साथ

अवधराजा की भक्तिप्रतिष्ठापर उनके सेवात्मक आदर्श को अपनाते हुए मिथिला-नरेश ब्रह्मविद्या में समासीन होते हुए भी देवपूजन, होम, श्राद्ध, दान, सदाचार, धर्म, कुलपरंपरा, विनय, श्रुतिस्मृतिआदि समस्तविद्याओं का सम्मान करते कराते आ रहे हैं अभी अवध राजा के स्वर्गारोहण की घटना सुनकर सुख-दुःखासंस्पृष्ट विदेह भी अपनी अचञ्चलतात्मक कुशलता खो बैठे उसका निष्कर्ष राजा का विदेहभाव से दूर होना है। उसकी उपपत्ति आगे स्फुट होगी।

कुसल

'कुसल' से कुसलता विवक्षित है जो स्वार्थे 'तसिल' है।

गइ

कोसलनाथ के विरह में राजा जनकजी के चिन्तन में सदा बैठे श्री सीताराम का ओझल होना ही 'गइ' का भाव है।

मिथिला

जनक राजा का ध्यान बट जाने से मिथिला के रक्षण में बाधा पहुँचना व मिथिला सम्बन्धी कुशल का जाना भी व्यंग्य है।

मिथिला का भी अन्वय विशेष से है। ज्ञातव्य है कि "बिसेष" से मिथिला के कुशलविशेष का विनाश होना समझाया है जिसका आशय यह है कि अभी तक अवध-राजा रूप सुहृद के आश्रय से राज्यलक्षणोक्त स्वसंपत्तियुक्त षट्प्रकृति से मिथिलानरेश

समन्वित थे किन्तु अभी वे पाच अंगों से ही समन्वित ही गये यतः उनको सुहृद राज्य दुर्लभ होना मिथिला विशेष है।

अवधविशेष

मिथिला नरेश सुहृद्रूप से जीवित रहने पर भी उनका प्रभाव अवध की प्रस्तुत घटनाओं से नहीं बचा न सका इस अवस्था में अवध की दुर्गति ने सम्पूर्ण राज्य-व्यापी होमा 'अवधबिसेष' का तात्पर्य है।

जगु सब भयउ अनाथ

पूर्वेतिहासानुसार परशुरामजी ने अपने प्रभाव से दुष्ट राजाओं को मारकर सम्पूर्ण वर्णाश्रम को बचाना सर्वविदित है। उसका फल यह हुआ कि अवधपुरी में भक्ति, तथा मिथिला में ब्रह्मविद्या निर्बाध रूप में स्थापित हो सकी इन्हीं के स्थैर्य में विदेह राजा व दशरथ राजा परस्पर संगतसंधि में आबद्ध रहकर नीति को सुरक्षित रखने में सफल हुए अभी राजा दशरथजी का स्वर्गारोहण हुआ मिथिलानरेश मित्रहीन स्थिति में पहुंच गये इसका लाभ लेकर पुनः राक्षसादि के द्वारा उभयदेशस्थ वर्णाश्रमजगत् को आतंकित होने की कल्पना हो रही है अतः "जगु सब भयउ अनाथ" कहा है।

संगति—"दूतन्ह मुनिवर बूझी बाता के प्रत्युत्तर में दूतों का प्रतिवेदन "जगु सब भयउ अनाथ" से संक्षेप में हो चुका हैं उसका भाष्य आगे कर रहे हैं।

चौ०—कोसलपतिगति सुनि जनकौरा। मे सब लोक सोकबस बौरा ॥१॥
जेहि देखे तेहि समय विदेहू। नामु सत्य अस लाग न केहू ॥२॥

भावार्थ:—राजा दशरथजी की परलोकगति सुनकर मिथिलावासी शोकमग्न पागल से हो गए। उस समय जिन्होंने विदेहराज को देखा उनमें ऐसा कोई नहीं था जिसको 'विदेह' नाम सत्य लगा हो।

कोशलपतिगति

शा० व्या०:—कोसलपति :—मनोदृतिप्रयुक्त प्रवेशकर्तृ सीतारामचरणयुगल-विशिष्ट राजा दनरथ 'कोसलपति" का अर्थ है।

गति :–तथाविध राजा की श्रीरामवनवासविरहपीड़ायुक्त परलोकगति होना "गति" से विवक्षित है।

जनकौरा

"जनकौरा" कहने का भाव जनकराजा के साथ तादात्म्यापन्न भयी हुई सम्पूर्ण जनता का रहना समझाने में है।

सब लोक शोकवस

लोक :—यहाँ "लोक" से षट्प्रकृतिसम्पन्नराजमृत्यु समझना हैं। उनकी शोक-वशता इसलिए कि वे दुःख के साथ अवधकी पीड़ा ने भी पीड़ित हैं। चिन्त्य है कि जैसे

दूसरों के प्रति सत्वगुणसम्पन्न उत्तमप्रकृतिनायकों में प्रीति व करुणा आविष्ट होती हैं वैसे ही शोक भी उनमें आविष्ट होता है इसका उदाहरण मिथिला है।

जेहि देखे

जेहिः—राजसमीपवर्ती जो अमात्य व अन्तःपुरनिवासी लोग थे वे यच्छब्दार्थ हैं उनका कर्तृत्वेन अन्वय "जेहि देखे" से है।

तेहि समय

अवधेशपरलोकप्रयाणश्रवणाधिकरणक्षण "तेहि समय" है ऐसा संभव है कि उस समय राजा जनकजी अपने अमात्यों के साथ राजकार्य में संलग्न थे।

सत्य अस लाग न केहू

सत्य :—"सत्य" का अन्वय 'न' से है जिसका अर्थ मिथ्याज्ञानप्रयुक्तरागद्वेष-शून्यतासमानाधिकरण निगमनिचोराभिमत रागवत्ता है अतः विदेह नाम की असत्यता स्फुट है जो कि सम्पूर्ण प्रपन्नों के लिए भूषण के रूप में परिगृहीत हैं। अतः "नामु सत्य अस लाग न केहू" कहने पर भी शास्त्रोक्तमर्यादा का अतिक्रमण न होना मननीय है। इससे प्रभु के चरणों में राजा दशरथजी के प्रति पूर्ण अनुरक्ति को सिद्ध कराना कवि का लक्ष्य मालूम होता है।

अथवा—राजा दशररथजी के रूप में अवतीर्ण भक्ति के प्रति मिथिलानरेश का सुख होना" तद्भक्तेषु च सौहार्द" को प्रगट करनेवाला है क्योंकि उसी भाव में सगुण ब्रह्म परमात्मा श्रीराम का दर्शन ब्रह्मज्ञों को हो रहा था वही ब्रह्मज्ञ का अतिशयप्रियपदार्थ है उसका विरह ही विदेहावस्था से राजा को सदेहावस्था में लाने का कारण है इस तथ्य को "नाम सत्य अस लाग न केहू" से प्रगट किया है। इस प्रकार वैषयिक रागद्वेष से बहिर्मुख राजा विदेह की भक्ति के प्रति पूर्ण रागावस्था अभिव्यक्त हो रही है।

यद्यपि जनकराजा सांसारिक विषयों के प्रति रागद्वेषशून्य ही हैं तथापि वे राजा दशरथ जैसे भक्त को सत्वगुणरूप वसुदेवतत्व समझकर सौहार्दभाव से उन्हे अपने हृदय में बसाकर अतिसारल्येन सत्वगुणब्रह्म श्रीराम का दर्शन कर रहे थे उस वसुदेव-के अभाव का फल श्रीरामदर्शनाभाव है ऐसे विरह की असह्यपीड़ा में विदेह का सदेह होना उपपन्न है।

अथवा पितृचरणों से नामकरण में ,संस्कृत नाम पुत्रको प्राप्त होने पर भी कोइ कोइ पुत्र अपनी कृति से विशेष संज्ञा अर्जित करते हैं सीतापिता वंश ने भी विदेह संज्ञा अर्जित की है अभी उसका लोकदृष्टि से अनुपपन्न होना 'अस लाग न केहू' से ध्वनित है।

संगति :—सत्वगुणरूप वसुदेवतत्त्व का अभाव होना सुनकर अवधराजा के परलोकप्रयाण के कारण की मीमांसा सुना रहे हैं।

चौ० :—रानिकुचलि सुनत नरपालहि। सूझ न कछु जस मनिबिनु ब्यालहि ।।३।।
भरतराज रघुबरबनबासू। भा मिथिलेसहि हृदयँ हराँसू ।।४।।

भावार्थ :—रानी कैकेयीजी की कुटिल करनी को सुनकर जनकराजा को कुछ

नहीं सूझा जैसे मणि के विना सर्प की स्थिति होती है। भरतजी को राज्य व श्रीराम को वनवास सुनकर मिथिलानरेश के हृदय में खटका हुआ अर्थात् उनको आशंका हुई।

कुचालि

शा० व्या० :—नीतिसम्मत सर्वगुणसम्पन्न विनीत महाराजा दशरथजी के साथ पातिव्रत्य धर्म के विरुद्ध आचरण करना व जनानुरागसम्पादक नीति का अनुष्ठान करते हुए भी राज्याधिकारी सीतालक्ष्मणसमेत श्रीराम को राज्य से निकालना "कुचालि" है जो कोसलपतिमरण का प्रयोजक है। यह कुचालि "सूझ न" का साधक होने से इसे कारणविधया प्रथमतः गाया है।

ज्ञातव्य हैं कि "कुचालि" कहने से राजा का विशेषतया विस्मित होना ध्वनित हो रहा है इसलिए कि स्वभावतः नीतिज्ञा, आदेशकुशला, पतिव्रता होते हुए भी रानी कैकेयीजी ने अभूतपूर्व (अनहोनी) नीचकार्य करना सुनने में आया है।

सुनत का ध्वनितार्थ

भूपतिमरण के कारण का विचार करते हुए कुचालि का निरूपण किया गया है। उसका आशय यह कि भूपतिमरण अपने दैव से हुआ है तो राजा को सदेह होने तक व्यथित होने का प्रसंग नहीं था क्योंकि उनके हृदय में सखादशरथरूप सत्वगुणात्मक वसुदेवतत्त्व विराजमान होने से श्रीसीताराममूर्ति भी स्थिर रूप में वैठी रहती परन्तु कुटिलतारूप अशुचिश्रवणात्मक अशुचित्व संसर्गमात्र से ही वसुदेवतत्त्व के अदर्शन के साथ-साथ सीताराम मूर्ति का जनकहृदय में अप्रकाशित् होना "सुनत" का ध्वनितार्थ है।

सूझ न कछु

जनकराजा का । किंकर्तव्यविमूढ़ता में छटपटाना 'सूझ न कछु'' है।

मनिबिनु

"मनि" से श्रीसीताराम विवक्षित हैं इसलिए कि विवाह के माध्यम से श्रीराम-मणि प्राप्त कर राजा जनकजी अत्यधिक प्रकाशानन्द में विराजमान थे उसका अभाव "मनिविनु" से बोध्य है।

ब्यालहि

मणि के विना सर्प को जिस प्रकार छटपटाहट होती है उसी प्रकार सत्वगुणरूप वसुदेवतत्व (दशरथजी) मन्दिर के अभाव से राजाजनक जो को प्रकाशानन्दानुभूति में छटपटाहट होना "ब्यालहि" से ध्वनित किया है।

भरत राज रघुबर बनवासू

भरतराजः—"स्तत्वस्वीकृतिपूर्वकं राज्ये भरतस्य अवस्थानं" भरतराज समझना है तथा श्रीरामवनवास से स्वामित्वत्यागपूर्वक श्रीरामवनवास समझना है।

"कैकेयीजी के क्रूर कर्म का व्याख्यान "भरतराज रघुबरबनबासू" से किया है जो निगदव्याख्यात होने से चर्चितव्य नहीं है।

मिथिलेसहि

"मिथिलेसहिं" कहने का तात्पर्य यह कि राजादशरथ के पक्ष से नीति का विचार करते हुए राजा जनकजी का कैकेयीजी की कुटिलता से प्रचारित कुनीति के प्रभाव पर अंकुश न लगने से अवध में धर्मादिचतुर्वर्गहानि और विद्याओं का सर्वत्र अरक्षण होना देख रहे हैं।

हृदयँ हराँसू

हरासू :—"हृदयं हरासू" से अतितीव्र शूल विवक्षित है।

दोहा २।२६२।२ से दोहा ३।२६२ तक 'सूझ न कछु" से वर्णित मूढ़ता जैसी स्थिति का अन्यदा न रहना ब्रह्मज्ञ के लिए दोषावह नहीं क्योंकि वे रागद्वेषशून्य रहते ही हैं किन्तु अभी उसका अभाव समझाने के लिए "हृदय हराँसू" कहा है। निष्कर्ष यह कि भरतजी को राज्यप्राप्ति श्रीराम जी को वनवास सुनकर जनकराजा के हृदय में अवध में कुनीति व तत्प्रयुक्त परिणाम की आशंका हुई यह कि भरतजी शिशुभाव से ही प्रभु के प्रति निश्छल प्रीति रखते हैं वे कथमपि स्वामी होना इष्ट नहीं मान सकते प्रभु भी अपने सेवक से बिछुड़ नहीं सकते उसके विपरीत घटना होना भक्ति का सर्वथा लोप है। यदि भक्ति ही हतप्रभा हो तो उससे रक्षिता ब्रह्मविद्या अनाथ हो अपना अस्तित्व खो बैठेगी इस स्थिति में यदि राजा विदेह से हटकर सदेह में रहते कर्तव्यता के प्रति क्षणमात्र भी विलम्ब करते हैं तो सम्पूर्ण मिथिलापुरी में भी घोर अशुचिता व तत्प्रयुक्त परिणाम व्याप्त होंगे अतः विदेह या सदेहअन्यतरस्थिति में रहे राजाजनक के लिए "हृदयँ हराँसु" कहा है।

अथवा–राजाजनकजी के हृदय में रामवनवास सुनकर भूपतिमरण पीड़ा से अधिक पीडा होना "हृदयँ हराँसू" है। इस कल्पना की उपपत्ति दोहा २।२७५ से २।२७६ तक द्रष्टव्य है। इस प्रकार तक "कोसलपति गति" के कारणता की मीमांसा पूर्ण हुई।

संगति :—अंगभावापन्न आन्वीक्षिक्यादि समस्तविद्यारूपप्रजामसेत भक्ति रानी के विनाश होंने की विकट समस्या से अवध मिथिला में अत्यासन्न अशुचितास्थिति के समाधानार्थ जनकजी ने उत्तरमन्त्रिपरिषद् को आमन्त्रित करना दूत बता रहे हैं।

चौ० :—नृप बूझे बुधसचिव समाजू। कहहु बिचारि उचित का आजू ? ॥५॥

भावार्थ :—राजा जनकजी ने विद्वत्समाज व उत्तर मन्त्रिपरिषद् से पूछा कि विचारकर बताएं कि इस समय क्या करना उचित है ?।

नृप बूझे

शा० व्या० :—अवध में वर्तमान अशुचित्वादि का मिथिलापुरी पर आनेवाला परिणाम तथा अवधस्वामित्व से विरत हुए श्रीराम को त्रैलोक्यविजय प्राप्ति होने पर भी उनका राज्योत्सव न होना आदि स्थिति पर विचार करने के लिए मंत्रिपरिषद् को बुलाने का अर्थ यह नहीं कि राजाजनकजी मन्त्र्यायत्तसिद्धिक हैं। वे तो आत्मसम्पन्न,

कुशल, स्वायत्तसिद्धिक हैं तथापि उनकी मन्त्रार्थकुशलता मंत्रिपरिषद् को बुलाने से प्रगट करना कवि का ध्येय है।

बुध सचिव समाजू

राजशास्त्र में मन्त्रिपरिषद् के दो भाग बताये है (१) उत्तरमन्त्रिपरिषद् (२) कर्मसचिवपरिषद्। उत्तरमन्त्रिपरिषद् में भक्ति की छत्रछाया में रक्षित सकलविद्या-समेत राजनीति, के कुशल वक्ता, व प्रयोक्ता आप्त मन्त्री तीन-चार होते हैं उनको यहाँ "बुधसचिव से दर्शाया है। कर्मसचिवपरिषद् में कार्यसामर्थ्यानुरोधेन कर्मकुशल समाज न्यूनाधिकसंख्या में जहा एकत्रित होता है, वह परिषद् विचारावस्था में अनावश्यक है सोचकर राजा ने कर्मसचिवपरिषद् को न बुलाकर उत्तरमंत्रिपरिषद् को ही बुलाना "बुध सचिव समाजू" से संकेतित है।

अथवा :—'बुध+'सचिव' ऐसा पृथक् मानने पर 'बुध' से व्यवहारप्रकाश के अनुसार अनियुक्त विश्वामित्रादि मुनि और "सचिव समाजू" से बुद्धि व कर्म उभय-विध सचिवसमाज गृहीत हो सकते हैं।

कहहु बिचारि

'बिचारि' कहकर मन्त्रोत्पत्तिक्रम बताया है जैसा कि अग्रिम चौपाई से स्पष्ट है। यहाँ विचारणीय विषय अवध में जाना या मिथिला में ही रहना, उनमें से प्रथम विकल्प यह कि उपेक्षा कर यही रहा जाय तो ब्रह्मविद्या अपराधिनी होती है यतः भक्ति महारानी की विपत्ति में उसका साथ न देकर अंगागिभाव के प्रतिकूल कार्य करना माना जायेगा। द्वितीय विकल्प यह कि श्रीरामवनवासप्रयोजक त्याग व भरतराज प्रयोजक भरतस्वत्वोत्पत्ति के साधक कुटिल कर्म रूप अशुचिता का निरसन अवध-पहुँच-कर सोचा जाय ? अथवा मिथिला में रहकर ही तादृशमशुचित्व का निरसन सोचा जाय ? आदि विषय विचारणीय हैं जिसका प्रयोजन मिथिला व अवध को शुचि रखना है।

उचित

"उचित" कहने का आशय यह कि श्रीराम, गुरुवसिष्ठ, कौसल्याजी, शतानन्द मुनि और इष्टदेवी सीताजी जिसमें प्रसन्न हों वैसा कार्यनिर्णय मंत्रिपरिषद ने करना "उचित" है।

का आजू

'आजू' से निर्णय करने में अविलंब की अभ्यर्हितता 'आजु' से स्पष्ट की है।

संगति :—ब्रह्मविद्या एवं भक्ति के पारस्परिक पोष्यपोषकभावरूप सम्बन्ध को देखते हुए राजा के मन्त्रोत्पत्तिक्रम की अर्वाक्स्थिति में समासीन मन्त्रिपरिषद् "उचित का आजू" के समाधान तूष्णीभाव है उसी को व्यक्त करने हेतु समाधान न पाने का बहाना 'असमंजस' से समझा रहे हैं।

चौ० :—समुझि अवध असमंजस दोऊ। चलिअ कि रहिअ ? न कह कछु कोऊ ।।६।।

भावार्थ :—अवध की विकट परिस्थिति को समझकर उत्तरमंत्रिपरिषद् दुविधा में पड़ गई। अवध में चला जाय ? या यही स्वस्थ रहा जाय ? इस प्रश्न के समाधान में एकतरकोटिक निर्णय नहीं कर पाई।

समुझि अवध असमंजस

शा० व्या :—भरतजी को टीका (राज्यस्वामित्व) एवं श्रीरामवनवास (राज्यस्वामित्व त्याग) की घटना यदि तत्काल में रानी भक्ति को अभिमत हो तो ब्रह्म-विद्या ने भक्ति की इच्छा समझकर अपने स्थान पर ही स्वस्थ रहना होगा यदि उपर्युक्त घटना भक्ति रानी को अनभिमत है तो उसके समाधान में ब्रह्मविद्या ने अवध या वन में जाकर जो भक्ति का अभिमत कार्य हो वैसे समन्वय के साथ श्रीरामस्वत्व को स्थापित कराकर राज्योत्सव का निर्णय लेना होगा। जब तक भक्ति का प्रिय परिज्ञात नहीं होता तब तक निर्णय करने में गौतमपुत्र शतानन्दमहर्षि आदि की मन्त्रिपरिषद् असमंजसता का अनुभव कर रही है।

अथवा :—पितृवचन को प्रमाण मानकर श्रीराम को वनवास और भरतजी को राज्यस्वामित्व प्राप्त है उसमें धर्म का अतिक्रमण नहीं है। किन्तु भरतजी यदि राज्य लेते हैं तो श्रीराम को राज्यस्वामित्वप्राप्ति होना असम्भव है। यदि इसका विरोध करते हैं तो धर्म का अतिक्रमण होने से त्रयी का अप्रामाण्य होगा ऐसी दुविधा में ब्रह्मविद्या ने किस पक्ष का समर्थन करना ? इसके समाधान में एकतर पक्षनिर्णय करने में बलवान् हेतु न मिलने से अभी मन्त्रिपरिषद् असमंजसता में पड़ गई।

न कछु कहउ

उपर्युक्त संदिग्ध एकतर कोटि निर्णय के बारे में बलवत्तर हेतु की अनुपलब्धि होने से पंचावयवसमष्ट्यात्मक न्यायप्रयोग न सुनाना "न कह कछु कोऊ" का भाव है।

अथवा :—'को मोहः कः शोकः' या 'तरति मृत्युं' आदि वचनों के अनुसार औपनिषदतत्वानुभूति में रहते जनकजी को मोह होना श्रीराम की माया ही मालूम पड़ती है। फलतः वे स्वयं राजा को अपने पास बुलाकर स्वकल्पित राजनीतिप्रयोग-विशेषपूर्तिहेतुतया घटक बनाना चाहते हैं मालूम होता है उस दशा में मन्त्रिपरिषद् ने उत्तर न देने में औचित्य समझा है उसी को शिवजी "न कह कछु कोउ" से समझा रहे हैं। अथवा सन्देह उपस्थित होने पर एकतरनिर्णयकुशल सर्वत उपरि स्थित ब्रह्म-विद्या के उपस्थित रहते परिषद् ने अपनी ओर से उत्तर देने का अनौचित्य सोचना 'न कछु कहउ' का भाव है।

संगति : शतानन्द महर्षि प्रभृतिक उत्तरमन्त्रिपरिषद् से उपर्युक्त विकल्पों में से एकतर निर्णय न होना देखकर स्वायत्तसिद्धिक राजा जनक जी नीत्यभिमत तात्का-लिक कर्तव्य का पालन कर रहे हैं जिससे उनका नीतिकौशल के साथ उपरिबुद्धित्व स्पष्ट होगा जो स्वामिप्रकृति कर्म कहा जाएगा।

चौ० :—नृपहिं धीर धरि हृदयँ बिचारी। पठए अवध चतुर चर चारी ॥७॥
बूझि भरत सति-भाउ कुभाऊ। आएहु बेगि न होइ लखाऊ ॥८॥

भावार्थ :—धैर्यपूर्वक विचार करके राजा ने चार कुशलचरों को अवध में भेजने का निश्चय किया व उनको आदेश दिया कि भरतजी की सद्भावना व दुर्भावना का पता लगाकर वे शीघ्र लौट आवें। इस बात के लिए भी ध्यान दें कि किसी को पता न लगे न उनको कोई पहिचान पाये।

धीर धरि

शा० व्या० :—अवध की घटना व तत्प्रयुक्त संभावित घटना समझकर राज्योत्सवभंग होने की चिन्ता में आक्रान्त होने से मन्त्रिपरिषद् से तत्काल में कर्तव्य-कर्तव्य की चिन्ता का समाधान बलवत्तर हेतुनिर्णय के विना प्राप्त न होना देखकर प्रथमतः राजा ने कर्तव्यानिर्धारण रूप मोह को धैर्य से निरस्त किया है।

बिचारी

भरतजी धर्मप्रधानता में राजपदाभिषेकप्रयोजकस्वामित्वस्वीकृति के पक्ष में हैं? या भक्तिप्रधानता में उसका सर्वथा विलोप सोचकर त्रयी को तत्काल में दुर्बल मानकर राज्यस्वामित्व की अस्वीकृति के पक्ष में हैं? इत्यादि अनेकविध विषय 'विचारी' से अंकित है।

चतुर चर चारी (चार चरों को भेजने की उपपत्ति)

"चतुर चर चारी" का अन्वय पठए व "आएहु बेगि" के साथ है।

"चतुर" :—"तर्केंगितज्ञः स्मृतिमान् मृदुर्लघुपरिक्रमः क्लेशायाससहो दक्षः चारः स्यात् प्रतिपत्तिमान्"[1] इत्यादि गुण चतुर से विवक्षित हैं।

ज्ञातव्य है कि उपस्थित जटिल कार्य (स्वत्वोत्पत्ति स्वत्वत्याग) के प्रति विना प्रमाण के नीति का निर्धारण करना नीतिविरोध है। उस दशा में सफलता प्राप्त होना घुणाक्षरन्याय माना गया है, असफलता में अनीतिप्रयुक्त असफलता होना अर्थसिद्ध है उससे बचने हेतु अपने परोक्ष में हुई घटना की यथार्थ जानकारी करने की नीति अपनाते हुए चरों को परराष्ट्र में भेजने का विधान किया गया है क्योंकि वे ही राजा के नेत्र हैं जैसा कि "चारैः पश्यन्ति राजानः" से स्पष्ट है।

"चारी" का तात्पर्य धर्मार्थकामभयोपधा के भेद से भरतजी के एक-एक उपधा शुद्धि को समझने हेतु एक-एक चर का विनियोग किया गया है।

ज्ञातव्य है कि यदि चारों चर नीतिनिर्देशानुसार परस्पर में अविदित हो जो भी समाचार राजा को देते हैं उनमें सबकी (चरों की) एकवाक्यता होती है तो वह एक यथार्थ अर्थ के बोधक होने से सभी चरों के वाक्य प्रमाण माने जाते हैं जैसा कि "त्रयाणामेवकवाक्यत्वे संप्रत्ययः" अर्थशास्त्र वचन से स्फुट है। उस पर विशेष चिन्तन पुनरुक्तिपरिहार में देखें।

---

१. नीतिसार चरविकल्प।

बूझि (मण्डल) में चरों की जानकारी का माध्यम

ऐसी भी कल्पना करने की नीति में अवकाश प्राप्त है कि सीताजी की सेवा में भेजे दासदासियों में ऐसी भी सेविकाएं व सेवक हैं जो विशेष संगत से अन्तःपुरीय वार्ता की जानकारी बहिःप्रदेशगत दासों को देते रहते हैं। अतः अन्तःपुरगत व्यापारों का परिचय चरों को होना बूझि से स्फुट है।

सतिभाउ कुभाऊ

सतिभाउ :–राजनीतिसमेत समस्त विद्याओं को अंगभाव में मानते हुए भक्तिप्राधान्य में तत्सेवा स्वभाव शिशुपन से भरतजीको प्राप्त होने से वहीत्रिकालाबाधित होने से उसको 'सतिभाउ' से व्यक्त किया है।

उक्त स्वभाव परिवर्तित है तो भरतस्वभाव में त्रिकालाबाधितत्व न होना कुभाऊ है, अर्थात् वर्तमान तात्कालिक घटना में त्रयी (पितृवचन) विद्या को महत्त्व देकर राज्य के बारे में स्वत्वस्वीकृति का निर्णय भरतजी करते हैं तो भक्ति का विलोप होने से उसको त्रयी भी लुप्त होती। फलतः भरतजी का चरित्र "कुधाऊ" कहा जाएगा।

अथवा—यदि भक्ति को प्रधान मानकर उसका विक्षेप देखते हुए तत्काल में आन्वीक्षिकी के सहारे थोड़े समय के लिए राजनीति व त्रयी को पृथक् करके बाद में उनकी प्रतिष्ठा स्वीकृत होती है तो वही भरतजी का 'सतिभाउ' है, अन्यथा कुभाऊ है।

इन्हीं दो तत्वों का विवेक पूर्वपक्षोत्तरपक्षमुखेन श्रीराम-लक्ष्मण संवाद (दोहा २।२२८।१ से २।२२८।१ से २। २३।८ तक) में किया गया है।

आएहु बेगि

दोहा २।२७२।१ में उक्त 'जनकसमाज' की एकवाक्यता से यह भी संभव है कि चरों का वापस लौटना देश काल से मर्यादित है। फलतः सचिव समाजको चरागमन के ठीक यथासमयपर बुलाना सार्थक होगा।

"बेगि" का शासन अत्युग्रसंकटकालीनस्थिति को ध्यान में रखकर किया गया है।

न होइ लखाऊ

"न होइ लखाऊ" से चरों का अपने चरकर्म में वैदुष्य प्रगट किया गया है। आशय यह कि यदि चरों के कार्य पर या स्वमण्डलवर्ती राष्ट्र में प्रकाशित होते हैं तो राजा की मन्त्रणा गुप्त नहीं रहेगी, न राजा ही यशस्वी होंगे तथा चर भी स्वमण्डलवर्ती राष्ट्र में बंदी हो जायेंगे। इसलिए 'न होउ लखाऊ' कहा है।

संगति—वसिष्ठजी से राजा जनकजी के आदेश की पूर्णता साथ सुनाते हुए चरकार्य की पूर्णता दूत बता रहे हैं।

दो०—गए अवध चर भरतगति बूझि देखि करतूति।
चले चित्रकूटहि भरत चार चले तेरहूति ॥२७१॥

भावार्थ—वे गुप्तचर अवध में गए। भरतजी के उपर्युक्त 'स्तिभाउ, अस्ति-भाउ अन्यतर का निर्णय किया। अवध में ही भरतजी का चित्रकूट जाना समझकर वे मिथिला वापस लौटे।

भरतगति बूझी

"भरतगति" से ज्ञातव्य विषय निम्नलिखित ७ हैं।

१. माता कैकेयीजी की कुटिल करनी २. उनकी सफलताबाधक प्रतिक्रिया ३. माता कौसल्याजी के प्रति भरतजी का मातृस्नेह ४. भरतजी के प्रति कौसल्याजी का पुत्रस्नेह, ५. श्रीरामवनवास का पितृशोक से भी अधिक दुःख, ६. अवध की सभा में राजपदग्रहण से धर्मतः अनौचित्याभाव व कौसल्याजी से राजपदग्रहण करने में अराजकता का भय सुनकर भी राजपदस्वीकृति में नैतिक असन्तोष ७. श्रीराम को राज्य लेने की प्रार्थनार्थ तिलकसामग्री के साथ माताओं-गुरुजी-सचिवपुत्र सेवक व जनपदसहित भरतजी का चित्रकूट के प्रति प्रयाण।

करतूति

"करतूति" से भरतजी के आन्तरिक चरित्र के साथ बाह्यचरित्र विवक्षित है।

चार चले (पुनरुक्तिपरिहार)

ज्ञातव्य है कि मिथिला में शुचिता, अविसंवादिता अत्यधिक होने से चरों पर राजा को पूर्ण विश्वास है अतः एक-एक उपधाशुद्धि को समझने के उद्देश्य से एक-एक ही पर भेजा न कि अर्थशास्त्रीयनियमानुसार तीन-तीन चर ? ऐसा समझाने हेतु चार की पुनरुक्ति दोषावह नहीं है।

तेरहुति

अपना कार्य शीघ्र पूर्ण कर चरों का तिरहुतदेशाभिमुख जाना "तेरहुति" से ज्ञातव्य है।

संगति :—बलवत्तर सद्धेतु की जानकारी देकर चरों ने राजा को अग्रिम कार्य के बारे में सोचने का अवसर देना सुना रहे हैं।

चौ० :–दूतन्ह आइ भरतकइ करनी। जनकसमाज जथामति बरनी ।।१।।

भावार्थ :—दूतों ने आकर राजा जनकजी तथा उनके समाज के आगे भरतजी का कार्यक्रम अपनी बुद्धि के अनुसार वर्णित किया।

दूतन्ह आइ

शा० व्या० :—दूतन्ह" से चर विवक्षित हैं। राजनीति में दूतों के दो भेद बताये हैं—(१) प्रकाशदूत (२) अप्रकाश दूत। प्रकाशदूतों का कार्य राजाओं में परस्पर संधान कराना है। अप्रकाश दूतों का कार्य मित्रराष्ट्र व शत्रुराष्ट्र की परिचर्या समझना है।

भरत कइ करनी

भरतजी ने कहा "आवहि बहुरि रामु रजधानी" संकल्प, सर्वदा श्रीरामराज्य सम्बन्धी पदार्थ का अनुपभोग व श्रीरामसेवकत्व में स्थिरता प्रभृति दुष्कर नियम, व्रत आदि कर्म "भरत कइ करनी" से ज्ञातव्य हैं।

जनकसमाज

"उपधाभिः शुद्धामात्यवर्गः गूढपुरुषानुत्पादयेत्" वचनानुसार मन्त्रिपरिषद् के समान कर्मसचिवपरिषद् के अमात्यवर्ग भी राजा की तरह चारपुरुषों के प्रेरक होने से वे भी चरों से वाक्यश्रवण में अधिकृत हैं तथा अग्रिम कार्यनिर्णय में देर न हो इस अभिप्राय से अन्य परिजन भी आमन्त्रित हैं।

जथामति

दोहा २।२७१ में "देखि करतूति" का यथार्थ ज्ञान होने पर भी "जथामति" कहने का तात्पर्य दोहा २।२६९।५ व २।२६९ की उक्ति की अनभिज्ञता में है।

संगति :—चरवाक्य सुनकर भरतजी का राज्यस्वामित्वास्वीकृतिपूर्वक सेवा-भक्तिवैभव जैसे ही राजा जनकजी की समझ में आया वैसे ही उनका व परिषदादिवर्ग का व्याकुल होना सुना रहे हैं।

चौ० :—सुनि गुर परिजन सचिव महीपति। भे सब सोच सनेहँ-बिकल अति ॥२॥

भावार्थ :—उसको सुनकर गुरु शतानन्दजी, परिवार, पूर्वोक्तमन्त्रिपरिषद् और राजा सभी सोच में एवं प्रेम में व्याकुल हो गये।

सुनि गुर परिजन सचिब

शा० व्या० :—"आएहु" शीर्षकानुसार सचिवादि के साथ राजा ने सुनना "सुनि" से स्पष्ट है।

"गुरु" से मंत्रिपरिषत्सदस्य "परिजन" से अग्रिम कार्य में अपेक्षित कर्मचारी, सचिव" से अन्यान्य कर्मसचिव विवक्षित हैं।

भे सब सोच

सब:—"सब" से गुरु, परिजन, सचिव व राजा ज्ञातव्य हैं उनके सोच का विषय त्रयी व भक्ति का असामंजस्य है जिसमें श्रीराम को "भरत प्रानप्रिय पावहिं राजू" से उक्त स्वत्वत्यागरूप सत्यसन्धता और अनन्य सेवक शुचि भरतजी की उत्कट, निश्छल, राज्यस्वत्वास्वीकृतिविशिष्ट प्रीति, व राज्योत्सवभंग सोचना "सोच" है।

सनेह बिकल

ब्रह्मविद्या जिसकी दासी अर्थात् अंग है उस भक्ति का यथार्थरूप भरतजी में होना चरों से सुनकर जनकजी आदि को भरतजी के प्रति अतिस्नेह हो रहा है।

"बिकल" इसलिए कि जनकरूप में अवतीर्ण ब्रह्मविद्या भरतजी के रूप में प्रगट भक्ति को देखने से वंचित हो रही है। इससे जनकराजा का सदेहावस्था में आना भक्तों के समाज में शोभनीय है।

संगति :—सोच व स्नेह की विकलता में ब्रह्मविद्या अपने समाज में बैठकर सर्व-सम्मति से प्रधानभूत भक्ति की सेवा में अपना अंगत्व मानती हुई भरतजी के आदर्श एवं भक्ति की सेवा में लगी समस्त विद्याओं का समन्वय देखने की इच्छा से वक्ष्यमाण कर्तव्य निर्धारण कर चित्रकूट की ओर राजा के रूप में प्रस्थान कर रही है।

चौ० :—धरि धीरजु करि भरत बड़ाई। लिए सुभट साहनी बोलाई ॥३॥
घर पुर देस राखि रखवारे। हय गय रथ बहुजान संवारे ॥४॥
दुघरी साधि चले ततकाला। किए बिश्रामु न मग महिपाला ॥५॥
भोरहिं आजु नहाइ प्रयागा। चले जमुन उतरन सबु लागा ॥६॥

भावार्थः—सोच से शिथिलता में आये राजा जनकजी ने धृति धारणकर भरत-जी की प्रशंसा की। उन्होंने विश्वस्त योद्धाओं व सेनानायकों को बुलाया व महल, नगर एवं देश के रक्षार्थ भृत्यों को नियुक्त किया फिर हाथी, रथ, अनेक वाहनों को सजवाया। दुघड़िया मुहुर्त साधकर वे (राजा जनकजी) उसी समय चल दिये। मार्ग में विश्राम न कर प्रयाग पहुंचकर वहां स्नान किया फिर आगे चलकर सभी ने यमुना पार की।

धीरजु

शा० व्या० :—धीरजु :—"कार्येष्वनवसादः अत्यर्थं सत्वं वा" "धीरजु" से विवक्षित है।

चंचलतावृत्तिशून्यमनस्क, ब्रह्मविद्यासंपन्न राजा के मनस् में चंजलता होना राजनीति में विघ्न है तथापि ब्रह्मविद्या ने भक्ति का अङ्ग होने से कुछ समय के लिए विह्वल होना विघ्न न होकर गुण है फिर भी चंचलता का नैरन्तर्य चलता रहे तो राजनीति विलुप्त होगी ऐसा सोचकर राजा ने धैर्य धारण किया है।

भरतु बड़ाई

चरों के द्वारा भरतजी की नीतिसमन्वित आन्वीक्षिक्यभिमत स्वत्वास्वीकृति-पूर्वक स्वामिसेवा को सुनकर अङ्गभूता ब्रह्मविद्या, प्रपन्न भरतजी द्वारा अपनाए भक्ति-प्रयोगविशेष की यथावत् स्थापना होना ध्यान में लाकर उनकी प्रशंसा कर रही है।

बोलाई

ध्यातव्य है कि रास्ते में सड़क आदि की सुव्यवस्थाहेतु बलाध्यक्षों को स्व-बल के साथ भेजा है विशेषानुष्ठानव्यग्र राजा ने मन्त्रियों को राज्य सौंपकर उनके शासन में रक्षकों को महल, दुर्ग तथा देश की रक्षा में जागृत रहने हेतु बुलाना 'बोलाई' है।

राखि रखवारे

रक्षकों में अपने क्षात्रतेजस् का आधान कर धर्मविशेषात्मक कार्यान्तर में राजा

व्यापृत होते हैं तो वह राजशक्ति रक्षकों के माध्यम से राज्यरक्षण करती है इस प्रकार से देश में "न मे स्तेनो जनपदे" इत्यादि श्रुति के समन्वय की निर्बाधता बने रहना "राखि रखवारे" से ज्ञातव्य है।

बहु जान संवारे

बहु जान :--"बहुजान" से शिबिका आदि यानों की विविधता विवक्षित है।

अन्तःपुरीय स्त्रियों, रानियों, तथा मुनिवृन्दों को साथ में ले जाना है अतः उनकी सुविधा हेतु विविध प्रकार की शिबिकाओं वाहनों आदि का उपयोग करने के लिए "बहु जान संवारे" कहा है। जैसा कि भरतजी को चित्रकूटयात्रा के सम्बन्ध में कहा था, अन्तर इतना ही कि उनके साथ तिलकसामग्री थी यहाँ वह नहीं है।

दुघरी

अत्यावश्यक कार्य की प्रसक्ति में दुघड़ियामुहुर्त साधकर राजा ने यात्रा प्रारम्भ की ऐसा दर्शाने हेतु "दुघरी" कहा है।

किये बिश्रामु न (प्रयोजन)

प्रमाण विद्याओं का समन्वय तथा आदर्श रूपा भक्ति का दर्शन कर्तव्य था उसके लिए विश्राम न करना संगत है। तभी प्रत्यक्षतः चित्रकूट सभा में राजा जनकजी का यथासमय समावेश हो सका। यद्यपि हाथी आदि पशुओं के श्रमपरिहारार्थ कहीं-कहीं पर विश्राम प्राप्त हुआ होगा तथापि वह विश्राम भरतसैन्य के रामाश्रमाज्ञान प्रयुक्त पड़ाव के समान न होकर नान्तरीयक होने से विश्रामकोटि में ग्राह्य नहीं है।

"किए बिश्रामु न" इस उक्ति का प्रयोजन चित्रकूट की सभा में न सही तथापि उत्तर सभा में जनकराजा को भरतभक्तिदर्शन करने की अनुज्ञाप्राप्ति ज्ञातव्य है।

अथवा :—"मरुपृष्ठान्युदंभांसि नाव्याः सुप्रतरा नदीः।
विपिनानि प्रकाशानि शक्तिमत्वाच्चकार सः"॥

इस उक्ति को चरितार्थ करते हुए जनक राजा विना विश्राम के चित्रकूट पहुँचे हों।

भोरहि आजु

दूतवाक्य सुनकर "जनकजी यात्रिसमेत कहाँ तक आ पहुंचे ?" इस आकांक्षा को वसिष्ठ गुरुजी के इंगित से समझकर दूतों ने "भोरहि आजु" कहा है।

प्रयागा

"प्रयागा" से ऐसी कल्पना का अवसर है कि भक्तिसेवारत ब्रह्मविद्या चित्रकूट में पहुंचने हेतु भरतजी ने अपनाए उस मार्ग का अनुसरण कर रही है जिसके परिचायक पुष्पवृष्टि, भरतपदचिन्ह आदि परिलक्षित हो रहे हैं।

संगति :—भक्ति महारानी की वास्तविक सम्पूर्ण विद्याओं के समन्वयपूर्वक

स्थिति देखने के लिए राजा ने दूतों को भेजना आगे बता रहे हैं। इसलिए कि तात्कालिक सभा में विचार अधूरा ही रहते सभा विर्सजित हो।

चौ० :—खबरि लेन हम पठए नाथा ! । तिन्ह कहि अस महि नायउ माथा ।।७।।

भावार्थ :—हे नाथ ! हम लोगों को इधर की खबर लेने के लिए भेजा है ऐसा कहकर दूतों ने मस्तक झुकाकर नमस्कार किया।

खबरि

शा० व्या० :—भ्रातृसंघ व माताओं के प्रति भरतजी के भाव, चारों भाइयों का आश्रम में अवस्थान, अपने (जनकराजा) व अपने समाज के प्रति भरतयात्रियों का राग आदि "खबरि" से विवक्षित है।

जिस प्रकार अवध में गये दूतों का कार्य "भरतसतिभाउ" का पता लगाना था उसी प्रकार यहाँ "खबरि" का आशय दूतों द्वारा जनकसमाज के पहुंचने की प्रतिक्रिया में श्रीरामपक्षानुयायी मुनि आदिको के सहयोगात्मक आदर भाव को जानना है।

अथवा—भक्ति की सम्पूर्ण विधाओं के समन्वयपूर्वक वास्तविक स्थिति का समन्वय या असमन्वय "खबरि" से ज्ञातव्य है।

नायउ

नायउ—दूतों ने राजाजनकजी के यमुना पार होने की सूचना देकर अग्रिम कर्तव्य का प्रत्यादेश प्राप्त करने के उद्देश्य से नम्रतापूर्वक पुनः नमस्कार करना "नायउ" है।

संगति :—चुपहि हरे रघुनाथ संकोची" को देखकर राजकार्य को निभाने वाले पुरोहित वसिष्ठजी ने प्रियागमनश्रवणजन्य आवेग में जनकराजा के लिए की हुई व्यवस्था ग्रन्थकार बता रहे हैं।

चौ० :—साथ किरात छ सातक दीन्हे । मुनिवर तुरत बिदा चर कीन्हे ।।८।।

भावार्थ :—वशिष्ठ मुनि ने दूतों के साथ छ-सात वनवासी किरातों को देकर तुरन्त बिदा किया।

साथ

शा० व्या० :—यमुनापार करते हुए राजाजनक व उनके समाज को छोड़कर दूत यहाँ आए हैं जानकर सुगम मार्ग का अवलम्बन करके जनकराजा व समाज को सुविधापूर्वक लाने के उद्देश्य से मार्गदर्शक किरातों को गुरुजी ने साथ भेजा है।

छ सातक

पशुपथ, गोपथ, हयपथ, मनुष्यपथ, रथपथ आदि छ-सात भेदों की अनुरूपता में हय-गय आदि को छ-सात पंक्तियों में विभक्त कर उनके मार्गों से यथास्थान पहुंचाने की व्यवस्था करनी है सोचकर गुरुजी ने छ-सात किरातों को भेजा है।

अथवा :—चित्रकूटप्रदेश में किरातदेश से आए कोलादि चित्रकूटप्रदेशीय लघु व गुरु मार्ग से परिचित हैं अतः गुरुजी ने छ सात किरातों को लघु मार्ग से लाने हेतु भेजा है।

मुनिवर

आश्रम बनाकर श्रीराम ने अपना स्वामित्व वहीं तक सीमित किया है उसके बाहरी देशों के प्रति प्रभु उदासी हैं इसलिए मुनि ने आश्रम तक राजा जनक को ले आने की सुगम व्यवस्था की। आश्रमसमीप में पहुंचने के बाद राजा का अन्तः प्रवेश कराने हेतु श्रीराम का प्रतिभूत्व होना मुनिवर से ध्वनित है।

अथवा :—मुनिवर का अभिप्राय हर्षयुक्त मनन से है। अर्थात् "नृपननयनिगम निचोरि" मुनिने कहा था उसकी सम्मति सभा में होने वाले निर्णयार्थ आकांक्षित है उसकी पूर्ति राजा के आगमन से होगी समझकर मुनि का हर्ष में आना मुनि से ज्ञातव्य है।

तुरत

तुरतः—अनुपेक्षा तुरत से समझाई है अथवा कार्यविलंबा भाव ज्ञातव्य है।

संगति :—खबर लेने हेतु दूतों को भेजना सुनते ही सभासदों की मनोवृत्ति पर पड़ा प्रभाव सुना रहे हैं।

दो :—सुनत जनक आगमनु सबु हरषेउ अवधसमाजु।
रघुनन्दनहि संकोचु बड़ सोचबिबस सुरराजु ॥२७२॥

चौ० :—गरइ गलानि कुटिल कैकेई। काहि कहै केहि ? दूषनु देई ? ॥१॥

भावार्थः—राजाजनकजी का आगमन सुनकर इधर उधरः विखरा अवधसमाज को हर्ष हुआ। श्रीरामजी को बड़ा संकोच हुआ, देवराज इन्द्रजी को चिन्ता हुई। कुटिलता का स्मरण कर कैकेयीजी ग्लानि में घुट रही हैं वह किसे कहें ? व किसे दोष दें ?

सुनि आगमनु

शा० व्या० :—राजा जनकजी के आगमनश्रवण से प्रयोज्य क्रिया है (१) हरषेउ (२) संकोचु (३) सोच (४) ग्लानि उन उनका कारकों की व्याख्या उन-उन क्रियापदों के ममनीय है।

सबु हरषेउ

प्रातःकालीन कृत्य के बाद मुनि ने भरतजी के साथ विचारारम्भ किया, तत्पश्चात् प्रभु के सामने उपस्थित होकर सभा का कार्यारम्भ हुआ है। विचार-निर्णयश्रवण का इच्छुक समाज उसकी प्रतिक्षा में है। विचार के मध्य में जनकराजा के आने की सूचना प्राप्त हुई। उसको सुनकर तत्तादवधवासियों की स्थिति बताना कवि का अभिप्राय है। तदनुसार तत्तादवधवासियों की भिन्न-भिन्न मनोवृत्ति का वर्णन कवि कर रहे हैं। फलतः उसके अन्तर्गत "सुनत जनक आगमनु" की प्रतिक्रिया में रघुपति, कैकेयीजी, व महेन्द्रजी छोड़कर सबके हर्ष का प्रथमतः वर्णन करने में पौर्वापर्य का औचित्य प्रदर्शित होने से ग्रन्थकार की कला स्फुट है।

अथवा :--दोहा २।२६९ में "जो जेहि आयसु देव" सुनकर अवधसमाज को अपनी मनोरथपूर्ति के असामंजस्य से निराशा हुई थी उसका निरास भरतजी के सेवक होने नहीं कर सकते थे तथापि जनकजी 'हमारी उत्कट लालसा से प्रभावित हो श्रीराम को अपनी प्रेरणा के द्वारा लौटा सकते हैं, इस आशा में अवधसमाज हर्षित हो रहा है।

संकोचु बड़

संकोचु :--चित्रकूट में पहुँचकर जनकराजा के स्वागत के उत्तर में उनके द्वारा सुनाये निर्णय में स्वामित्व स्वस्वीकृतिप्रयोजकता न होना "संकोचु" से समझना है।

अथवा :--"फेरिअहि सीय लखन रघुराई"[1] प्रस्ताव के उत्तर में भरतजी की "कीजिअ वचन प्रवान"[2] प्रार्थना पर गुरुजी ने "पुरजन-जननी भरतहित"[3] से सबभार प्रभु पर सौंप दिया। उसके उत्तर में श्रीराम ने अपनी सत्यसन्धता व पितृवचनप्रमाण के संकोच की प्रसक्ति में "तेहि ते अधिक तुम्हार संकोचु"[4] से संकोच प्रकट किया है। अभी संकोच का कारण जनकजी का आगमन है क्योंकि 'ज्ञानीत्वात्मैव में मतम्" के अनुसार मिथिला से घबड़ाकर राजा जनकजी के रूप में आई प्रभु की आत्मरूपिणी उपनिषद्-विद्या भक्ति के साथ सम्मिलित हो रही है, वह भक्तभरतजी की अनुगामिनी होकर अपना मत अवधवासियों या पूर्वोक्त वसिष्ठवचन की अनुकूलता में सुनायेगी तो अपने (श्रीराम) को ब्रह्मविद्या, भक्ति, धर्म, त्रयी राजनीति का समन्वय करने में अति कठिनता होना "संकोचु बड़" है।

अथवा :—यद्यपि चरों के सन्देश से राजा जनकजी का आना प्रस्तुत समस्या के निर्णयार्थ मालूम होता है तथापि उसका वैयर्थ्य होना प्रभु ने संकोच से ध्वनित किया है, इसलिए कि दोनों भाइयों में सदा ऐकमत्य होना बृहस्पतिजी की उक्ति (भरतहि जानि रामपरिछाहीं)[5] से निर्णीत है। उसी वैयर्थ्य की पुष्टि में दूसरा हेतु यह भी हो सकता है कि "कहहु करौं सोइ आजु"[6] उक्ति के आनुगुण्य में श्रीराम ने अवधस्वामित्व स्वीकार कर लिया है उस स्थिति में राजा की ओर से होने वाला निर्णय अवधस्वामित्वस्वीकृति के लिए प्रयोजक नहीं हो सकता है यही "संकोचु बड़" का भाव है।

अथवा :—एक ओर अवधवासी भक्तगण सायुज्यसंवलित श्रीरामसेवा करने का संकल्प लिये बैठे हैं, दूसरी ओर ब्रह्मविद्या (जनक राजा) श्रीरामवनवास सुनकर क्षोभ में आकर सीताजी में महारानीत्व सिद्ध होने का मार्ग खोज रही है इस उत्कट समस्या के समाधानार्थ जनकराजा के रूप में आई ब्रह्मविद्या आदेश्य नहीं हो सकती अपितु भक्तानुराग को देखकर निर्णय करने में वह पूर्ण स्वतन्त्रा है ऐसी स्थिति में यदि उस (ब्रह्मविद्या) ने सीताजी को महारानी होने का निर्णय सुनाया तो भी उसमें सीताजी के महारानीत्वस्वीकृति की प्रयोजकता नहीं है इसलिए कि जब श्रीराम का स्वामित्व सिद्ध हुआ तब सीताजी का महारानीत्व अर्थसिद्ध है अतः संकोचबड' है। इस मनन के पीछे उदयनाभिमत विध्यर्थ (आप्ताभिप्रायो विध्मर्यः) विद्वानों के लिए मननीय है।

---

१. २५६।३ २. २।२५६।० ३. २।२५७।३ ४. २।२६४,० ५. २।२६६।५ ६. २।६४०

बड: किसी भी प्रकार से किए राजनिर्णय में रामस्वामित्वप्रयोजकत्वाभाव-मूलक संकोच का निरसन तभी होगा जब राजाजनकजी स्वयं ही अपने अनेका वैयर्थ्य-चार्या सोचकर स्वनिर्णय को प्रकाशित करने से विरत होंगे। इसप्रकार संकोच 'बड़' कहना उपपन्न है।

सोच बिबस

"सोच बिबस" का अन्वय 'सुरराजु' के साथ है।

सम्भव है कि "भरतरुचि राखी" से सम्मत (वनवास) प्रपन्नरुचिरूप "निगम निचोर" की स्थापना के अवसर पर राजा जनकजी के रूप में आकर उपनिषद्विद्या प्रपन्नरुचिपूर्ति का विरोध कर सकती है, ऐसी कल्पना से सुरराज का "सोचबिबसु" होना संगत है।

अथवा :—दोहा २।२७०।३ से अनुस्यूत संकोच में प्रभु का रहना देखकर सुरराज के हृदय में पुनः भय समा गया। कारण यह कि प्रस्तुत घटना से दुःखी होकर महाराज यहां आ चुके हैं सम्भव है कि "मुनिमति ठाढ़ि" के अनुगमन से राजा जनकजी के सामने प्रभु अपनी समस्या उपस्थापित करेंगे, उसके समाधानार्थ प्रवृत्त जनकजी का निर्णय श्रीराम के अवध लौटने का हो सकता है। फलतः जगन्मंगल की योजना समाप्त हो जायेगी सोचकर इन्द्रजी का "सोच बिबस" होना उपपन्न है।

गरइ गलानि कुटिल

कैकेयीजी को यहाँ "कुटिल कहने का भाव कुटिलता दर्शाने में नहीं है बल्कि उनका पश्चात्ताप प्रकट करने में है जो "गरई गलानि" से स्फुट है, अर्थात् यहाँ समधी राजाजनकजी पहुँचने पर सम्पूर्ण अवधवासी श्रीरामबनवासकारणमीमांसा करते हुए कैकेयीजी की कुटिलता को दोषी कहेंगे। उनको ध्यान में लाकर कैकेयीजी, अपनी अपकीर्ति का समस्त द्वीपान्तर व्यापी होना व समस्त विद्याओं में फैलना समझकर बचे खुचे ओजस् से भी क्षीणा हो गई।

गलानि:—"गलानि" का अर्थ अर्ज ओजोहीनता है। "गलानि" का विशेषकारण कैकेयीजी के हृदय में उदित शंका है क्योंकि से दिगन्तश्रुतकुटिलताप्रयुक्त अपना दि समधिन सुनयनाजी के सामने प्रगट पड़ती होगे अतः वक्ष्यमाण "वैर बन्धु प्रेमहिं न प्रबोधु" के अनुसार प्रभु के प्रति स्नेह रहते भी अपनी मनोरथपूर्ति न होते देखकर वैरभाव की जागृति के परिणाम पर इष्टापत्ति रूप अन्धत्व कैकेयीजी में विश्रुत है होगा जो दोहा २।२७१।३-४ में संकेतित है।

गरइ गलानि का प्रयोजन

"महि न बिचु बिधि मीचु न देई"[1] कहने के बाद पुनः "गरइ गलानि" कहने का कारण निर्णायकरूप में जनकराजा का आना है। यदि वे न्यायपक्ष से कुटिलकर्म को सिद्ध करेंगे तो कैकेयीजी में राजनीत्याभिमत प्रमाणों से कौटिल्या-भाव सिद्ध नहीं हो सकता यतः उसके प्रतिवाद में अपनी ओर से बोलने वाला कोई नहीं है। यही "गरइ गलानि" का प्रयोजन है।

१. २।२५२।६

ज्ञातव्य है कि "गरइ-गलानि" आदि सभी शान्तरसरूप समुद्र में मिलकर तन्मयीभाव को समानभाव से प्राप्त करेंगे जो २।२७४ की संगति में स्पष्ट होगा।

'केहि दूषन देहि ?

यद्यपि मुनि भरद्वाजजी व श्रीरामादिकों ने कैकेयीजी को निर्दुष्टा बताकर सरस्वतीजी को व श्रीराम एवं भरतजी ने अपने को अनर्थ का कारण बताया है। तथापि उनके बारे में विनिगमनाविरहात् एकतरनिर्णय न होने से किसको दोषी ठहराया जाय? जिसके बाद कैकेयीजी निर्दुष्टा हो समधिन (सुनयनाजी) का सामना कर सके? इसी चिन्तन में "केहि दूषन देई" ? कहा है।

ज्ञातव्य है कि अवधसमाजसमेत कैकेयी जी को क्षण भर के लिए विषाद प्राप्त है तथापि उसका उपशमन श्रीराम के सान्निध्य में होना मननीय है जो अग्रिम चौपाई में स्पष्ट होगा।

संगति :--अवधसमाज के तत्तत्सदस्य सोचवस होने पर भी राजा जनकजी के आगमन से सुखी हो रहे हैं जो पूर्व में संकेतित है उसका कारण व प्रयोजन आगे कह रहे हैं।

चौ० :—अस मन आनि मुदित नरनारी। भयउ बहोरि रहब दिन चारी ।।२।।

भावार्थ :—श्रीराम के सान्निध्य में चार दिन और रहने को मिलेगा "जो समस्त इच्छाओं के पिधानरूप में गाया गया है ऐसा सोचकर नर-नारी बहुत प्रसन्न हो रहे हैं।

अस मन आनि

शा० व्या० :—"अस मन आनि" का अन्वय "रहब दिन चारि" से है, अर्थात् राजा जनकजी के आगमन से सभी को चार दिन तक चित्रकूट में रहने की सन्धि प्राप्त होगी जिसमें वे अपनी उत्कृष्ट अभिलाषा को उपासना के माध्यम से राजा के सामने प्रगट करेंगे। यही "अस मन आनि" का भाव है।

मुदित

"लोग दुखित दिन दुइ दरस देखि लहहुँ विश्रामा"[२] के अनुसार अवधवासी को श्रीरामदर्शनसुख मिल रहा था। जनकागमन से श्रीरामदर्शनसुखाभिवृद्धि व सीताजी की सेवोपलब्धि होना जानकर अवधसमाज का अतिप्रसन्न होना "मुदित" से स्पष्ट है।

नर-नारी

"नर-नारी" से श्रीरामपरिवारसमेत सम्पूर्ण अवधवासी प्रजाएँ विवक्षित हैं।

रहब दिन चारी

"उर धारिअ पाऊँ"[३] के उत्तर में गुरुजी ने तत्काल अवध में न लौटने के लिए विश्रान्त्यर्थं दो दिन की अवधि माँगी थी वह समाप्त हुई। अभी राजाजनकजी

१. 'काहि कहें' से अपराधप्रयुक्त लज्जा ध्वनित है। २. २।२४८। ३. २।४८।७

के आगमन के कारण चित्रकूट में रहने की अवधि बढ़ने से श्रीरामसान्निध्य की प्राप्ति होना "रहब दिन चारी" है।

दिनचारी की उपपत्ति

जिस प्रकार राजा दशरथजी के कहे "फिरेहु गएँ दिन चारी"[1], का उपयोग श्रीराम, लक्ष्मणजी व सीताजी को लौटाने के लिए उपायरूप में था, उसी प्रकार "दिन चारी" की सार्थकता "भरतरुचि राखी" के हेतु उपायरूप में राजा जनकजी का सहयोग होने से चार दिवस की अपेक्षा स्पष्ट है समझाने हेतु, 'दिन चारी' कहा है। चार दिनों में भए राजकीय कृत्य आगे विदित होंगे।

संगति :—जनकजी व श्रीराम की भेंट के मध्यावधि में प्रजा द्वारा सम्पादित कृत्यों को बता रहे हैं जिसमें दोहा २।२४१।३ से दोहा २।२५१ तक की चौपाइयों में गाए अवधसमाज का स्नान, पूजन, कामदगिरिदर्शन तथा किरातों द्वारा किये सत्कार आदि धर्मक्रियाकलापों की आतिदेशिकन्यायेन प्राप्ति के अतिरिक्त अवशिष्ट प्रातराह्निक कार्यों का निरूपण होगा।

चौ० :—एहि प्रकार गत बासर सोऊ। प्रात नहान लाग सबु कोऊ ॥३॥
करि मज्जनु पूजहिं नर नारी। गनप गौरि तिपुरारि तमारी ॥४॥
रमारमनपद बंदि बहोरी। बिनवहिं अंजुलि अंचल जोरी ॥५॥

भावार्थ :—इस प्रकार वह दिन बीत गया। सबेरा होने पर सब नहाने लगे। स्नान के बाद सभी स्त्री-पुरुष सम्प्रदायप्राप्तउपासनाभेदेन पंचायतनपूजा पूर्ण कर रामचरणों में नमस्कार कर हाथ जोड़ आंचल पसारते हुए प्रार्थना करने लगे।

एहि

शा० व्या० :—'एहि' प्रकारवाचक है उससे रामभरतसंवाद वसिष्ठ भरता तथा राजागमनप्रयुक्त हर्ष 'एहि' से विवक्षित हैं।

प्रात

उषःकाल (५५ घड़ी) के अनन्तर भाविसूर्योदय पर्यन्त का काल प्रातःकाल है।

वर्णाश्रमसमाज ने प्रातःस्नान करना शौच आरोग्य तेजस् आदि को अपने में समृद्ध करना है। अवधसमाज रामसेवक होने से वह नित्य प्रातःस्नान करता आ रहा है अतः वह स्नान समाज को श्रमकारक न होकर आरोग्यदायक है।

नहान

नहानः—स्नानारम्भ 'नहान' से विवक्षित है प्रातः नहान से मङ्गलस्मरण आदि सभी कार्य ज्ञातव्य है।

---

१. २।८१।०

सबु

सबुः--दोनों नरनारी समाज 'सबु' से बोध्य हैं। उसमें घटक व्यक्ति कोई भी अस्नायी नहीं है समझने हेतु 'सबु' कहा है। 'कोऊ' वाक्यालंकार है अथवा स्नान करने में देश का असंकोच प्रगट है। 'सब' का अन्वय पूजनादि से भी समझना है।

करि मज्जनु

सर्वाङ्गीणजलसंयोग होना 'मज्जनु' है। 'मज्जन' से स्नानानन्तर्य समझना है जो प्रातः पूजा का अंगभूत आरादुपकारक है।

नरनारी

अर्चकभेदेन मूर्तिभेद 'नरनारी' से ध्वनित है यह पूजन वैदिक-तान्त्रिक-मिश्रभेदेन समझना है अर्चनाप्रकार भेदेन पूजा में विविधता मननीय है जो विशिष्टाद्वैतदर्शन में विशेषतया उल्लिखित है।

गनप

गणपति आदि देव गणप आदि से बोध्य हैं। यहाँ नरनारी अवध समाज का संप्रदाय परंपरा प्राप्त है ऐसा मालूम होता है।

रमारमन

पूर्व ग्रन्थ में श्रीसीताराम को राजा के रूप में देखने व उनका सेवक होने की कामना में 'सीतारामसेवकाई' कहते आए हैं उसी को ध्यान में रखकर अभी 'रमारमन' कहा है।

'रमारमन' से श्री विष्णु ही विवक्षित हैं उनके बोधनार्थ कहा 'रमारमन' शब्द रूढिपरक है।

पद

विनिगमनाविरहात् पदशब्द गौरी आदि से भी अन्वित हैं पर सूर्य के लिए नहीं क्योंकि उनकी चरणपूजा निषिद्ध है। अथवा पद का अन्वय बंदिमात्र से बोध्य है।

विनवउ

'विनबउ' से प्रार्थना की फलोपधायकता स्फुट है इसलिए कि अवध का नरनारी समाज आचारसम्पन्न हो प्रभु के प्रसाद का अधिकारी पहिले से ही बनता आ रहा है। प्रार्थना का स्वरूप व्याख्यात है।

जोरी

आंचल धरकर अंजलि बाधना दीनतापूर्वक प्रार्थना का अनुभाव है।

पूजा का राजनैतिक लाभ

प्रपन्न भरतजी की प्रपत्ति को निगमनिचोर रूप में परखकर प्रभु ने दोहा २।२६४ में "कहहु करौं सोइ आजु" सुनाकर अवध का स्वामित्व स्वीकारना ध्वनित किया है परन्तु उसकी चरितार्थता राजनीति की सम्मत्ति के बिना सम्भव नहीं है क्योंकि राजा दशरथजी के सामने श्रीराम ने "भरत प्रानप्रिय पावहिं राजू" कहकर स्वामित्व को त्यागा है पुनः यदि उसे वापस लौटाना है तो उसके लिए एक यही उपाय है कि सर्वाभिमत राजा

जनकजी स्वयं सर्वसम्मत्ति को समझकर अवधस्वामित्व को पुनः स्वीकरने में श्रीरामको अपनी सम्मति देंगे। यही पूजन का राजनैतिक लाभ है।

नित्य उपासना

यहां कवि ने वर्णाश्रमसाज की पचदेवोपासना नित्यविध के रूप में गाई है जो स्नानेतिकर्तव्यतया तदंगतया वा ज्ञातव्य है।

सम्प्रदायों का राजा के सामने आभिमुख्य

वर्णाश्रमसमाज में जिसने जो भी पूर्व परम्परा प्राप्त सम्प्रदाय परिगृहीत किया हैं उन संरक्षणार्थ हा राजनीति का प्राकट्य हुआ है वह तभी होगा जब राजनीति अहिंसादिसामान्यधर्म के रक्षण में कटिबद्ध होगी क्योंकि उसी के पालन से सभी सम्प्रदाय पनपते रहते हैं उस उपकृति में सम्प्रदाय भी राजनीति में अंगभूत हो सम्पूर्ण देश में एक इकाई बनकर त्रिवर्गसमृद्धि की पनपाने हेतु घटक होते हैं। इस दृष्टि से राजा के सामने पूजन के बहाने उपस्थित होना आभिमुख्य है।

संगति :—उपरोक्त लोकमत के ज्ञापन में उपासनाओं एवं सब सम्प्रदाय के की आन्तरिक भाव को 'विनवहु' विषय से स्फुट कर रहे हैं जो परमपुरुषार्थ है। उसका परिणाम राजा को स्वागमनवैयर्थ्य का निर्णय करने में सुविधा प्राप्ति कहो जायगी।

चौ० :—राजा रामु जानकी रानी। आनन्दअवधि अवधरजधानी ॥६॥
सुबस बसउ फिरि सहितसमाजा। भरतहि रामु करहु जुबराजा ॥७॥
एहि सुखसुधाँ सीचि सब काहू। देव ! देहु जगजीवन लाहू ॥८॥

भावार्थ :—श्रीराम राजा और सीताजी रानी होकर अयोध्या राजधानी में आनन्द की सीमा रूप से स्थित हों। सब समाज के साथ वे अवध में फिर से बस जाएं। श्रीराम भरतजी को युवराज बनावें। सुख रूप अमृत की वर्षा सब पर हो। हे देव ! संसार में जीवित रहने का यह लाभ दें।

राजा रामु जानकी रानी (पूर्वापर ग्रन्थ की एकवाक्यता)

शा० व्या० :—स्मर्तव्य है कि अयोध्याकाण्ड के पुर्वापर ग्रन्थ की एकवाक्यता में अवधवासियों की यह प्रार्थना चतुर्दवर्षावधिक वनवासोत्तर काल से आबद्ध है क्योंकि भरतजी के कहे "जगमंगल हित एक उपाऊ" के अनुगमन में अवधवासी अवध में रहकर वे श्रीराम के वनवास की निर्विघ्ननार्थ प्रार्थना करेंगे।

अभी तो उनकी इच्छा केवल श्रीराम को अवध में लौटाने मात्र में समझना है यतः उसका असमंजस्य स्पष्ट हो चुका है! उसका पर्यवसान राजा को लोकमत समझने में विलम्ब न होने में है।

ज्ञातव्य है कि उक्त इच्छा के रहते श्रीराम के निर्णय करने में संकोच न ही होगा न तो एन्द्री माया भी संकुचित होगो जिसने समाज को घर पर लौट जाने की प्रेरणा दी है।

राजा का निर्वाचन

राजा :—जबकि श्रीराम ने राज्यस्वामित्व त्यागा है, तब दायाधिकार का प्रश्न ही नहीं है ? भरतजी को भी राज्यस्वामित्व स्वीकृत नहीं हैं। राजा दशरथजी का स्वर्गारोहणहो चुका है, ऐसी स्थिति में भारतीय राजनीति मत से "मनुं वैवस्वतं राजानं चक्रिरे" के अनुसार लोकद्वारा राजा का निर्वाचन होना अपरिहार्य है। अभी धर्मानुष्ठान में की गयी प्रार्थना से निर्णीत हो रहा है कि सम्पूर्ण प्रजा एकमत होकर अवधस्वामित्येन पुनः श्रीराम को (राजत्वेन) निर्वाचित करना चाहती है उसको राजा जनकजी भी सूक्ष्मतया देख रहे है अतः नीतिमत से श्रीरामको राजत्वस्वीकृति करने में कोई बाधा नहीं है इस प्रकार राज्य की अस्वामिक अवस्था में राजा की निर्वाचनपद्धति मननीय है।

अनन्द अवधि

"आनन्द" से अन्तिम पुरुषार्थ ज्ञातव्य है।

अवधिः—अवधि से मर्यादा विवक्षित है :—

अर्थात् चाक्षुष् में प्राप्तव्य सुखका परमोत्कर्ष भक्तों के लिए श्रीरामद्वारा अवध स्वामित्व स्वीकार कराकर श्रीरामराज्यदर्शनोत्सव पूर्ण करने में है जेसा कि गुरु वसिष्ठजी ने "सब कहुँ सुखद राम अभिषेकु"[1] से व्यक्त किया है अथवा आनन्द की अवधि रजधानी अवध है

सुवस बसउ फिरि

"अवध उजारि" का जो दृश्य भरतजी ने देखा है उसके उपचार में "सुवस बसउ" की सम्भावना श्रीराम की राज्स्वीकृति के बाद ही संभव है जो 'सुवस' से स्पष्ट है।

फिरि :—अवधवासियों सहित श्रीराम का लौटना "फिरि" से व्यक्त फिरि है।

समाजा

"फिरि सहित समाजा" के मनोरथ में अवधसमाज "फेरिअहि लखन सीय रघुराई"[2] का स्मरण कर रहा है और यह सोच रहा है कि श्रीरामजी फिरेंगे जिसका पर्यवसान श्रीराम के द्वारा स्वत्व की स्वीकृति पुनः होगी जो दोहा २।२५६।३ में व्याख्यात है।

जुबराजा

जिस प्रकार "राजा रामु जानकी रानी"[3] से श्रीराम के प्रति प्रजानुराग स्पष्ट है उसी प्रकार सर्वसम्मति से भरतजी का युवराज होना निर्विवाद है इसलिए कि उनकी आत्मसर्म्पत्ति प्रख्यात हो चुकी है।

सुख सुधा

सुख :—आभिमानिक, आभ्यासिक, मानोरथिक व वैषयिक सुखों के अन्तर्गत यहां मानोरथिक व वैषयिक सुख "सुख" से विवक्षित है।

१. २५५।१ २. २।५६।३ ३. २।७३।६

अथवा—"सुख सुधा" से श्रीरामराज्योत्सवदर्शन के लिए प्रजा अपने जीवन को रखने का संकल्प कर रही है, जैसा कि "जिअत अवध की आस"[१] से स्पष्ट होगा। फलतः उक्त संकल्पप्रभाव से श्रीराम के द्वारा राज्यस्वीकृतिप्रयुक्त श्रीरामराज्याभिषेक-निमित्तक वैषयिक सुख भी प्राप्त होकर रहेगा, उसी आशा के सहारे प्रजा १४ वर्षों तक प्रतीक्षा करती जीवित रहेंगी। अवएव 'सुख सुधा सीचि' कहना भी उपन्न है।

देव ! देहु

वर्तमान समय में अवधसमाजसहित भरतजी ने जो कर्तव्य करना चाहिए था वह उन्होंने पूर्ण किया है उसके फलस्वरूप में श्रीरामसान्निध्य में कृतसंकल्प का सफल होना निर्णीत है, अर्थात् वनवासावधि पूर्ण होने पर पितृवचनप्रमाणप्रमितप्रमेय की सिद्धि दिखाते हुए श्रीराम अयोध्या लौटकर राजपदासीन होगें। उसकी मध्यावधि में श्रीराम पादुका के रूप में प्रजा का पालन करेगे श्रीराम के आदेशों के पालन में प्रजा तत्परा रहेगी यह गूढ़ाभिसन्धि राजा दशरथजी व भरतजी के संकल्प ("आवहि बहुरि रामु रजधानी"[२]) के अनुगुण है।

जीवन लाहू

भरद्वाजमुनि ने "लाभ अवधि सुख अवधि न दूजी। तुम्हहि दरस आस सब पूजी[३] से जो परम सुख लाभ कहा है। वह पुरवासियों की प्रार्थना में "जीवन लाहु" से चिन्त्य है, जिसमें दोहा २।२६८।४ एवं २।२६९।८ की एकरूपता मननीय है।

संगति :—श्रीराम के राजा होने पर पुनः अभी के समान रामविरह की पीड़ा भविष्यत् में न हो ऐसी आशा में अवधवासियों की अन्तिम प्रार्थना व्यक्त कर रहे हैं।

दो० :—गुर-समाज भाइन्ह सहित रामराजु पुर होउ।
अछत राम राजा अवध मरिअ माग सबु कोउ ॥२७३॥

भावार्थ :—गुरु जन व भाइयों समेत श्रीरामजी का अवधपुरी में राज्य हो। अवध में श्रीरामजी सदा राजा रहते उनके साथ सबका साकेतलोकप्रयाण हो।

गुर समाज भाइन्ह सहित

शा० व्या०—"गुर" से गुरुजी तथा "समाज" से द्रव्यप्रकृति (अमात्य, राष्ट्र दुर्ग, कोष बल) विवक्षित है।

"भाइन्ह सहित" से राजप्रकृति के अन्तर्गत युवराज व सेनापति विवक्षित हैं।

प्रजा की प्रार्थना (गुर समाज भाइन्ह सहित) से ज्ञातव्य है कि 'भारतीय राजनीति की ओर संकेत करते हुए यह कहा कि राजतन्त्र में पारिवारिक संघटन, धर्म-प्रधान स्थायी अभेद्य प्रीति की अपेक्षा मांगी गइ है।

रामराजु पुर होउ

भारतीय राजनीति में वर्णाश्रमव्यवस्था को मर्यादित रखने हेतु शासक के

---

१. २।३२२ २. २।१८३।८ ३. २।१०७।७

रूप में राजा की प्रतिष्ठा मानी गई है अतः "रामराजु" कहा है। आशय यह कि जो शासक दण्डप्रयोगद्वारा धर्ममर्यादा के अतिक्रमण से सबको बचाते हुए अपने जीवन को सत्य, त्याग, शौर्य व बुद्धि सत्व से ओतप्रोत करके व्यतीत करते है एवं विवेकी वृद्धसेवी हो सम्पूर्ण राज्यप्रकृति की एकता व अङ्गांगिभाव को बनाए रखने में पूर्ण रुचि रखते हैं वे ही राजत्वका या सेनापतित्वका भार संभालने का सामर्थ्य रखते हुए राज्यश्री के उपभोग के अधिकारी होते हैं उस योग्यता को श्रीराम में अनुभूत कर प्रजा "रामराजु पुर होउ" कह रही है।

अछत (पुनर्वेदना न होने की प्रार्थना)

अछत :—श्रीराम की वनवासस्थिति में प्रजा को हुई विरहवेदनासदृश वेदना न हो इस हेतु से प्रजा ने "अछत राम राजा" कहा है।

अथवा—श्रीरामसेवा रूप अवधि अछत से स्फुट है क्योंकि भक्ति सिद्धांत में वही पुरुषार्थ है।

श्रीराम एवं प्रजा की आयुर्मर्यादा

श्रीरामदर्शन की आशा से चतुर्दशवर्षपर्यन्त कथंचित् प्रजा जीवित रहेगी अन्यथा जीवनसाधनभूत भगवत्प्रत्यावर्तन की आशा सर्वथा समाप्त हो जाय तो प्रजा का जीवित रहना असम्भव मालूम हो रहा है प्रजा के प्रति भी ऐसा ही प्रेम व आयुमर्यादा श्रीराम की भी समझनी है इसी हेतु से प्रजा व श्रीराम का समकालीन साकेत लोकप्रयाण का यत्र-तत्र वर्णित होना उपपन्न है।

माग सबु कोऊ

भारतीय राजनीति में राजा के प्रति लोकानुराग का परमचिन्ह यही समझाया गया है कि प्रजा, राजा के साथ जीने की तथा उनके साथ ही दीर्घयात्रा की आकांक्षा रखती हो। इसी तथ्य को कवि ने "मागु सबु कोउ" से समझाया है।

संगति :—दोहा २।२६९ में "प्रभु प्रसन्न मन सकुच तजि" (२६९) सुनकर त्रयीस्थापना के अन्तर्गत योग आदि विद्याओं की भी स्थापना होना समझकर प्रथमतः तापस, वनवासी हर्ष में आए थे पर अभी वे ही तापसादि, भरतविवेकसंवलित भक्ति की शरण में रहे भक्तों ने अपने को अंगतया समर्पित करना व स्वयं (तापसादि) ने उनके शरण में समर्पित न होना देखकर अपने को दोषी समझ रहे हैं जो भक्ति की प्रथम कड़ी है उसी को आगे गा रहे हैं उससे समाज की भक्ति की निर्दम्भता को स्फुट करना कवि का लक्ष्य मालूम होगा।

चौ० :—सुनि सनेहमय पुरजनबानी। निंदहिं जोग बिरति मुनि ग्यानी ॥१॥

भावार्थ :—पुरवासियों की प्रभुप्रीति से भरी वाणी सुनकर ज्ञानी व मुनि योग व वैराग्य से श्रीराम में अपनी तन्मयता न लगने से अपने योग एवं विरति को निन्दित समझ रहे हैं।

सुनि

शा० व्या०--"सुनि" समाज की वाणी से निर्दिष्ट प्रमाणबद्ध प्रमेय को परीक्षित करके समझना 'सुनि' का अर्थ है।

सनेहमय

प्रातरान्हिक क्रिया करने के अनन्तर अवधवासियों ने प्रार्थना में जो वाणी अपने-अपने उपास्य देवों के सामने प्रयुक्त की है वह केवल स्नेहमयी न होकर नागरिकों की आन्तरिक शुद्ध निष्कपट शुचि स्नेह से परिपूर्ण है उसका प्रभाव यथार्थतत्व के परीक्षक तापस आदि के अन्तःकरण में स्फुटित होना अवधवासियी के साधुत्व का चिन्ह है जो "सनेहमय" से ध्वनित है।

बानी :—प्रमाणत्रितय से संवलित व लोकमतसूचक यथावदुपन्यासप्रयुक्त आकांक्षादिमत्पदकदंब 'वानी' से वोध्य है।

निंदहि

"अपशवों वाऽन्ये गो अश्वेभ्यः" इत्यादि निन्दापरक वाक्यों का विचार करते हुए मीमांसकों ने पश्वन्तर की अपशु से की हुई निन्दा का तात्पर्य अश्व की प्रशंसा में है न कि उनको पशुभिन्न ठहराने में है। उसी न्याय से यहां योग विरति की निन्दा अवधसमाजानुरागात्मक भक्ति के प्रशंसार्थ है न कि योग व विरति की निन्दा या तत्प्रयुक्त योग व विरति को त्यागने में है। नीचे योग एव विरति व्याख्यात है।

मुनि व ज्ञानी का भेद

मुनिः—पातंजलयोगसूत्रोक्त योगमार्ग को अपनाने में कुशल 'योगी' कहे जाते हैं।

ज्ञानी :—विषयों से सर्वथा उपशम प्राप्त कर ज्ञान से प्रभु का भजन करते हैं उनके इतिकर्तव्य व उपास्य जो भी है वे ज्ञानातिरिक्त नहीं है अतः वे कर्म से सर्वथ शून्य ग्यानी है। ये दोनों ही प्रभुआदेशपालनात्मक सेवा में अपने को अज्ञातया समर्पित करते हुए भी लोकदृष्टिगोचर नहीं हैं अतः योग एवं विरति को निन्दित कर उसके बहाने अवधवासियों की वाणी से अभिव्यक्त भक्ति की प्रशंसा करना 'निन्दहि' से ज्ञातव्य है जैसा कि—

'भगवत्युत्तमश्लोके भवतीभिरनुत्तमा भक्तिः प्रवर्तिता दिष्टया मुनीनामपि दुर्लभा' वचन[1] से स्पष्ट है।

निन्दहिं का निष्कर्ष

जबतक विरति या योग शेष (ऊगु) होकर शेषी भक्ति को नहीं अपनाते तब तक वे शोभायमान नहीं होते। इस सिद्धान्त के अनुसार भरतजी के संग-प्रभाव में आकर अवधवासियों ने अपने योग व वैराग्य को भक्ति की सेवा में अभी समर्पित कर निश्छल प्रीति को लोक में दर्शाया है जी उनको प्राप्त नहीं है यही मुनि व ज्ञानियों के 'निन्दहि' का निष्कर्ष है।

१. भा०१०।४७।२१

संगति—भक्ति की छत्र-छाया में सुरक्षित त्रयीविद्या के द्वारा मर्यादित नित्य नियम का भक्ति के पोषण में समर्पित होना व प्रातःकालीन भक्तकार्य को पूर्णता बताने के साथ उपसंहार कवि कर रहे हैं। जिसमें त्रयीमर्यादित राजनीति की सफलता से भक्ति का पोषण होना ध्वनित हो रहा है।

चौ० —एहि बिधि नित्यकरम करि पुरजन। रामहि करहिं प्रनाम पुलकि तन ॥२॥
ऊँच-नीच मध्यम नर-नारी। लहहिं दरसु निज-निज अनुहारी ॥३॥

भावार्थः—इस प्रकार नित्यकर्म करके अवधवासी पुलकायमान शरीर से प्रभु को प्रणाम करते हैं। बर्णाश्रमी उच्च-नीच वर्ग के सभी स्त्री-पुरुष अपनी अपनी मर्यादा के अनुरूप दर्शन पाते हैं।

एहि बिधि

शा० व्या०—दोहा २।२७३।३ से से २।२७३ तक निरूपित कर्मसम्मुच्चय "एहि बिधि" से विवक्षित है।

नित्य करम

नित्य :—स्वस्व सांप्रदायिकोपासना तत्तत्सांप्रदायिक भक्तों के लिए नित्यकर्म है, अर्थात् स्व-स्व संप्रदायोक्त उपासना का उल्लंघन होने पर तत्तत् साम्प्रदायिकों ने प्रत्यवाय का भागी होना कर्म की नित्यता है। अतः उसके बारे में किसी के द्वारा किसी की छेड़ छाड़ को शास्त्रों ने आचारविरुद्ध कहना उपपन्न है।

करम—श्रुतिचोदित अनुष्ठान 'कर्म' है।

पुरजनः—सभी सांप्रदायिक 'पुरजन' से बोध्य है।

रामहि करहिं प्रनाम पुलकि तन

ज्ञातव्य है कि अवध में समाज स्व-स्व स्थान पर ही रहते पूजनादि कार्य नित्यकर्म रूप में करता चला आ रहा है। व पूजा के अन्त में प्रभु को प्रणाम भी करता आ रहा है, क्योंकि समाज को हृदय में प्रभु को प्रसन्नमूर्ति सदा दिखाई देती आ रही है। अतः वह "पुलकि तन" होता रहता है अभी चित्रकूट में प्रातरान्हिक कर्मानुष्ठान समाज के बाद श्रीराम को चाक्षुष् विषय बनाते हुए 'पुलकित तन' होना "रामहि करहिं प्रनाम पुलकि तन" से दर्शाया है।

ऊँच-नीच मध्यम

राजनीति के अध्यक्षप्रचारप्रकरण में राजकीय कार्य संपन्न करने हेतु ऊँचनीच मध्यम कर्म निरूपित हैं। तदनुसार कर्मवैजात्यानुरूपेण तत्तत्कर्मभेद से तत्तत्सजातीय उच्च-नीच माध्यम वर्ग को नियुक्त करने का विधान है। तत्तद्वर्ग भी अनुरूपता में स्वामी के द्वारा किये जाने वाले सम्मान को पाकर तुष्ट हैं अतः उनमें भेदोत्पादक स्थिति की प्रसक्ति नहीं है वे सभी उच्च-नीच मध्यम वर्ग चित्रकूट में उपस्थित हैं समझाने हेतु 'उच्चनीच मध्यम' कहा है जो उक्त राजनीति का स्मारक है।

दरसु

अनुजीविवृत्तप्रकरणानुसार उच्च-नीच, मध्यम सभी वर्ग तथा कार्यकर्ता श्रीरामदर्शन के आकांक्षी व उयके दर्शनाधिकारी हैं अतः कवि ने श्रीराम का सबको दर्शन होना वर्णित किया है।

अनुहारी

उच्च नीच मध्यम होते हुए भी प्रभु को किसी ने परदैवत के रूप में, किसी ने स्वामी के रूपमें, किसी ने नर के रूप में, किसी ने स्वजनरूप में, किसी ने विराड्रूप में, किसी ने शासक के रूप में किसी ने शिशु के रूप में किसी ने तत्त्व के रूप में देखना ही यहाँ "अनुहारी" का भाव है। इस प्रकार त्रयीमर्यादित नित्यकर्मतत्परता की रक्षक राजनीति के द्वारा भक्ति महारानी का पोषण दिखाना कवि का कौशल है।

संगतिः—अनुजीविवृत्त को देखकर उसके अनुपात से स्वामिबृत्त दर्शाते हुए सब वर्ग के लोगों को प्राप्त यथोचित सम्मान रूप निज-निज अनुहारीफल परिणाम दिखाकर प्रमादाभाव स्फुट कर रहे हैं।

अथवा :—समाज ने की हुई प्रार्थना के निरूपण का प्रयोजन सुना रहे हैं।

चौ०—सावधान सबही सनमानहिं। सकल सराहत कृपानिधानहि ।।४।।
लरिकाइहि तें रघुबरबानी। पालत नीति, प्रीति पहिचानी ।।५।।
सील-सकोच-सिंधु रघुराऊ। सुमुख सुलोचन सरल सुभाऊ ।।६।।

भावार्थ :– प्रभु सबका आदर करने में सावधान हैं। कृपा के धाम प्रभु की सराहना करते हुए लोग कहते हैं कि लड़कपन से ही रघुनाथजी की आदत है कि वे अभ्यागतों की प्रीति को परखकर नीति का पालन करते हैं। रघुनाथजी शील, संकोच के समुद्र हैं, सरल स्वभाव वाले है। सदा प्रसन्नमुख हो कृपादृष्टि रखते हैं।

सावधान

शा० व्या०—सावधान से प्रमादाभाव विवक्षित है।

श्रीराम में सर्वलोकनमस्कृतत्व इसलिए हैं कि वे सबका यथोचित सम्मान करने में प्रमाद नहीं करते। यही श्रीरामजी की सावधानता है।

सावधान का फल

स्वामी यदि प्रमाद व उपेक्षा करते हैं तो अनुजीविवर्ग में असन्तोष, अपमान, रोष, द्रोह, भय आदि उदित होते हैं जो विघटन का कारण होते हैं यहाँ उसका सर्वथा अभाव होना 'सावधान' का फल है।

सबही सनमानहि

मन्दाकिनी के तीर पर "करुनाकर सुजान भगवाना व (२४।१) "जो जेहि भायँ रहा अभिलाषी। तेहि-तेहि कै तसि-तसि रुख राखी" (२४।२) की एकरूपता "सबही सनमानहि" के व्यवहार से स्फुट है।

सकल सराहत

श्रीराम द्वारा किये गये सम्माननबोधक शरीर मुद्रा से "उच्च-नीच मध्यम सबको ऐसा प्रतीत हो रहा है कि प्रभु मेरा व्यक्तिशः यथोचित सम्मान कर रहे हैं। परिणाम में प्रत्येक व्यक्ति को श्रीराम के प्रति आत्मीयता का अनुभव होना "सराहत" से स्फुट है। अतएव 'सकल" कहना उपपन्न है जो शारीरिक माया का द्योतक है।

कृपानिधानहि

कृपा की सवत उपरिप्रधानता नीतिसार के लोकसंग्रह प्रकरण में गाई गई है। उसके रहते स्वामी के शरीर पर अनुजीवियों को मनोनुरूप प्रसाद की अभिव्यक्ति होना अर्थसिद्ध है यही स्वामी का माया का प्रपंच है जो प्रभु-प्रसाद में परिणत है ऐसा समझाने हेतु "कृपानिधानहि" कहा है।

लरिकाइहि

श्रीराम के स्वभाव का परिचय "लरिकाइहि" से हो रहा है जो कृपा आदि का बोधक है। इससे श्रीरामगुणों का यथार्थता अनुमेय हो रही है दयादि गुणरूप साध्य के अनुमान के प्रति प्रजा के प्रस्तुत सराहना हेतुरूप में ज्ञातव्य है।

रघुबर

रघुबर :—सत्वगुणविशिष्ट षोड़शकलापरिपूर्ण श्रीराम 'रघुवर' से विवक्षित है।

नाट्यशास्त्रानुसार कहना यह होगा कि सत्वपरिपूर्ण नेता विभूतिमान्‌नेना समाज को उपलब्ध होता है तब सात्विको शरीर की गति इत्यादि सभी तत्त्व प्रभु के शरीरवर्ती नैसर्गिक गुण के समान ही दृष्टिगोचर होते हैं फलतः वे गुण आश्रितों को आकृष्ट करने में सक्षम होते हैं। श्रीराम तो प्रभु ही हैं अतः श्रीराम के शरीर पर उन गुणों का रहना कैमुतिकन्यायेन सिद्ध है।

बानी :—जन्मजात नीति-प्रीति से संबद्ध पदकदंब "वानी" का अर्थ है।

निष्कर्ष यह कि प्रभु ने अपनाए सम्मानबोधक मुद्रासंवलित चरित्र को देखकर उनके बाल्यकालीन चरित्रों को याद करते हुए से समाज "रघुबर बानी" सुना रहा है।

पालत

पालत :—"स्वराष्ट्र में परराष्ट्रविजयपूर्वकं त्रिवर्गसमृद्धिप्रयोजकं दण्डप्रण यनात्मकं मन्वादिनिर्दिष्टं धर्म पालन' से विवक्षित है।

"पालत" का निष्कर्ष सबको योगक्षेम से पूर्ण कराने में है। अतः उसका अन्वय "नीति" के साथ है! उसके अन्तर्गत मुख्यधर्म कहकर विशेषतया सम्मानात्मक कर्म ज्ञेय है। जैसा कि दोहा २।२७४।४ में उक्त "सनमानहि" में व्याख्यात है।

नीति

नीति :— पालनात्मक व्यापार "नीति" है जो "सत्वबुद्धिसहकृत दण्डप्रणयन-प्रयुक्त त्रिवर्गसमृद्धिफलक कर्म है वही नीति" से बोध्य है। तात्पर्य यह कि स्वमण्डल का न्यायतः पालन करते हुए सत्य में अडिग रहना, रक्षण में कहीं से बाधा आती हो तो उस पर विजयपूर्वक शौर्य दिखाना तथा जो सेवक जितनी मात्रा में गुणप्रदर्शन करते हैं उतनी मात्रा में उनका सम्मान करना "नीति" है।

अथवा :—"नीति" शब्द आन्वीक्षिक्यादि समस्त विद्याओं का उपलक्षक है।

ज्ञातव्य है कि विद्या न कहकर नीति कहने का प्रयोजन यह कि उसी के माध्यम से सम्पूर्ण विद्याएँ प्रतिष्ठित होती रहती हैं।

प्रीति पहिचानी

प्रीति :—"प्रीति" से तद्दर्शनोपास्तिकता, प्रश्रयिता, तत्कारिता- तद्भाव-भाविता तथा शील ध्वनित है जो राजा व प्रजा के पारस्परिक संघटन का आधार है। उसको यथावत् पहिचानना "प्रीति पहिचानी" है।

अथवा :—लोकसंग्राहकगुणों के अन्तर्गत प्रत्येक के प्राकृतिकअभिमानसहकृत प्रीति को राजा ने समझना 'प्रीति पहिचानी' है।

सील संकोच

"सील" का अन्वय "सिन्धु" के साथ है अर्थात् प्रभु शील के समुद्र हैं।

सील :—"सद्भिः संभावनीयताहेतुः गुणः शीलम्"[1] के अनुसार रघुपति के स्वभाव का भरद्वाजमुनि, गुरु वसिष्ठजी, परशुराम महर्षि, कौशिकादि महात्माओं के द्वारा सराहनीय होने से श्रीराम का शील निर्विवाद है। "उत्साहः सत्वसम्पत्ति-शौर्यत्यागादिसम्भवः"[2] वचन में वीरस्थायी भाव की स्थिति तथा "यशः कीर्तिश्च विनयो नयश्च प्रभुशक्तिता मन्त्रशक्तिश्च संपन्नधनाभिजनमित्रता" वचन में उत्साह के अनुभाव कहे है, जो "सील" से विवक्षित हैं।

संकोच :—शुचिता के हेतु से शास्त्रविरोधीआचरण में लज्जा होना "संकोच, है। इसका भी अन्वय "सिन्धु" से हैं। फलतः सदा शास्त्रविरोधी कार्य न करना स्फुट है।

सुमुख सुलोचन सरल सुभाउ

सुमुख :—सुख-दुःख के प्रसंग में मुख के सौन्दर्य में विकृति न होना "सुमुख" है जो कि प्रजा के प्रति राग का परिचायक कहा जा सकता है।

सुलोचन :—दृष्टि की उत्फुल्लता, निर्मलता उर्ध्वाधस्तिर्यक्प्रसारण, व विकोशा, तर्किता द्रवार्द्रता आदि भेद भावप्रकाशनोक्त दृष्टि के वर्णन में ज्ञातव्य है।

"सरल सुभाउ" :—चरित्र वाणी एवं चित्त के धर्म की एकरूपता, ही सरल स्वभाव है। जो सहजतः श्रीराम में समासीन हैं। उनका स्मरण समाज को हो रहा हैं।

---

१. वैद्यनाथी २. भाव प्रकाशन पृष्ठ–६० पंक्ति २०।

शीलादि गुणों से स्मरणीय तत्त्व

श्रीराम की नीति आदि से यह ज्ञातव्य है कि उनके शरीरमुद्रा पर वनवासी होते हुए भी कोई अन्तर नहीं है किंबहुना पूर्वदृष्टशील ज्यों की त्यों है फलतः कालान्तर में उन गुणों का श्रीराम शरीर पर रहना स्फुट है अतः दौर्जन्याभाव, सुप्रीति, धृति, अनुराग, स्थैर्य, अत्यागिता सौमनस्य का होना निष्प्रत्यूह है।

संगति :—श्रीरामराज्याभिषेक की तैयारी के अवसर पर जिस प्रकार श्रीराम की निर्विकारिता परीक्षित कर रामसखाओं ने श्रीराम जैसे मित्र की प्राप्ति पर अपने को धन्य-माना उसी प्रकार अवधवासियों ने श्रीराम में निर्विकारिता देखकर शील सम्पन्न स्वामी की प्राप्ति से अपने को धन्य मानना ग्रन्थकार बता रहे हैं।

चौ० :—कहत रामगुनगन अनुरागे। सब निज भाग सराहन लागे ॥७॥
हमसम पुन्यपुंज जग थोरे। जिन्हहि रामु जानत करि मोरे ॥८॥

भावार्थ :—श्रीराम के उक्तशीलादि गुणों के प्रति सब पुरवासी अनुराग में ओत-प्रोत हो सभी अपने भाग्य की सराहना करते कहने लगे कि हमारे समान पुण्यशील संसार में कम ही होंगे जिन्हे श्रीराम अपना मानते हों।

कहत

शा० व्या०—"कहत" का अन्वय 'मोरे' तक समझना है।

रामगुनगन

श्रीराम और भरतजी की पारस्परिक त्यागमय अभेद्यप्रीति में संपूर्ण विद्याओं से पोषित भक्ति से अवधपुरवासी श्रीरामगुणगान में तन्मय हो रहे हैं।

अनुरागे

गुणगान करना अनुराग का अनुभाव है प्रजा ने अभी तक अवध से चलकर जो भी श्रम किया है उसका न केवल सम्पूर्णतया विलयन होना बल्कि पूर्ण सुखी होना "अनुरागे से समझना है।

निजभाग

"निजभाग" से श्रीराम के ऐकान्तिकभाव में प्रीति की पात्रता के अनुकूल अपने भाग्य की महत्ता स्पष्ट है। यद्यपि ऐसे उत्तम भाग्य की महत्ता अवधवासियों को छोड़कर अन्य किसी को उपलब्ध नहीं है अतः अवधवासियों की स्तुति में अभिमानिता प्रकट हो सकती है तथापि वह महत्ता अभिमानदोषास्पद न होकर गुणात्मक है।

सराहन

श्रीरामवनवासारंभ में अवधवासियों ने अपने आपको अभागा कहा था उसका उत्तर "सराहन" से स्पष्ट है।

पुन्यपुंज (रामदर्शनोपपत्ति)

अनुरागी उपासकों की संख्या का भक्तिपक्ष से स्वल्प होना 'पुन्यपुञ्ज" से स्पष्ट है। ज्ञातव्य है कि प्रभु का मिलन उसी महात्मा को होता है जो सन्तों के प्रति अनुरक्त है तथा उनके आदेश में रहते त्रयीप्रतिष्ठा में संलग्न होते हुए त्रयी व भक्ति के अंगांगिभाव में अपने को अनुगत करते हैं तभी उनको "पुन्यपुन्ज" की प्राप्ति होनी है। फलतः वे संतसेवा से प्रीति, निरहंकारिता, शांति, मैत्री व विनय को अपनाते हैं उसके पश्चात् विशेषतया हरिकृपा प्राप्त होती है। तदनन्तर हनुमान्जी जैसे सन्तों की उपलब्धि होकर उनके आशीर्वाद से उपासक के चर्मचक्षुष् को प्रभुदर्शन होता है।

थोरे

उपर्युक्त पुण्यपुञ्जविशिष्ट भक्तों की संख्या अंगुलियों पर गिनने योग्य होती है जो "थोरे" से दर्शाया गया है।

रामु जानत

"पुन्यपुञ्ज" की पहिचान अवधवासी "रामु जानत करि मोरे" से कर रहे हे। इसका अर्थ यह कि कि "अयं मम" ऐसा भाव प्रभु के हृदय में उत्पन्म होता है तो वही "पुन्यपुञ्ज" की पहिचान समझनी है। यद्यपि ऐसे भी अनेक भक्त हैं जिनके प्रति श्रीराम हृदय में मम का भाव रखते हुए प्रगट नहीं होते तथापि प्रभु के मम भाव की स्थिति समझने के लिए शास्त्रविहित स्वधर्म, एवं अहिंसादि व्रत में रहने का मार्ग पुराणों में उपलब्ध है तदनुसार उक्त अनुष्ठान में श्रीराम के ममभाव की व्याप्ति समझकर तर्ककुशल सेवक "रामु जानत करि मोरे'' की अपने में अन्वर्थता मानकर विश्वस्त होते रहते हैं। कालान्तर में उनको प्रभुदर्शन होना निर्णीत है। उसका उदाहरण अवध प्रजा आदि है। इस प्रकार २७३।२ चौपाई का भाष्य पूर्ण है।

संगति :—"सुनत जनक आगवनु"[१] से राजा जनकजी का आगमन सुनकर सभा विर्सजित हुई पश्चात् विद्याओं से से पोषित भक्ति की छत्रछाया में राजनीति की संघटित व स्थायी विश्वास्यता के रूप में स्थापना पूर्वक एकत्रित हुए परिवार मन्त्री व गुरु आदि की सभा में राजा जनकजी के पहुँचने का समाचार इसलिए सुनाया जा रहा है कि सुहृद्भाव में आबद्ध सभा से संघटित आश्रम रूप शान्तरससमुद्र में सोच से विक्षिप्त ब्रह्मविद्या की करुणा का समाविष्ट होना समझाना है।

दोहा :—**प्रेममगन तेहि समय सब सुनि आवत मिथिलेसु।**
सहितसभा संभ्रम उठेउ रबिकुलकमल दिनेसु ।।२७४।।

भावार्थ :—जिस समय सब प्रेम में मगन थे। उसी समय मिथिलापति का आगमन हुआ सुनते ही रविकुल के लिए सूर्यरूप श्रीराम सभासहित हो आदरपूर्वक-प्रीतिजन्य आवेग में उठे।

---

१. २।२७२।०।

तेहि समय

शा० व्या० :—"कहत रामगुन अनुरागे"[१] के अनुसार कीर्तन श्रवण में मग्न अवधसमाज-सभा की प्रेमावस्था को "तेहि समय" से कहा है।

अथवा—भरतवचन सुनकर संकोच में श्रीराम के रहने का व राजाऽऽगमन सुनने का समय 'तेहि समय' है। 'सब' से सभा के सदस्य सभी ज्ञातव्य हैं।

सुनि आवत

सुनि आवत :—श्रीरामाश्रम के सान्निध्य में जनक राजा का आना "सुनि आवत" से सूचित है।

आवत का अन्वय मिथिलेसु से है जो आगमन का कर्मकारक है।

सहित सभा

श्रीमद्भागवत में "यत्र चावस्थितो मर्त्यः मर्त्यधर्मेर्न युज्यते"[२] के अनुसार सभा का स्वरूप स्फुट है उसमें रागद्वेषादि को स्थान प्राप्त नहीं है। सभा में उपस्थित सदस्यों का विवेचन न करना ग्रन्थ की न्यूनता होगी उसका परिहार अग्रिम चौपाई से ग्रन्थकार करेंगे।

संभ्रम

"संभ्रम" :—श्रवणप्रीतिज आवेग का सूचक संभ्रम है जिसने श्रीराम को सभासहित उठने में शीघ्रता कराई।

अथवा—दूतसंभाषण से राजागमनश्रवणप्रयुक्त प्रीतिरूप समाधि में रहे श्रीरामप्रभृति भरतजी व पुरजन की प्रेमसमाधि का भंग होना 'संभ्रम' से स्फुट है।

रविकुलकमल

समस्तविद्यासमेत भक्ति की छत्रछाया में रहकर शास्त्रवचनसमन्वयपूर्वक आदेश के पालन में "रघुकुल रीति सदा चली आई"[३] कीर्ति को बढ़ानेवाली मर्यादा के पालकत्व गुण का संकेत ग्रन्थकार ने "रविकुलकमल" से किया हैं।

दिनेसु

कैकेयीरूप प्रयोजकवृद्धा की मनोरथपूर्ति के परिणाम में फँसकर दशरथसमेत रघुकुलकमल मुर्झा रहा था। उसको विकसित करने का कार्य श्रीराम ने किया है अतः उनको "दिनेसु" कहा है।

---

१. २।२७४।७ २. १०।५०।५५ ३. २।२८।४

संगति :—जनकाभिमुख गमनक्रिया के प्रति सभामात्र में रहा कर्तृत्व छत्रिन्यायेन (सर्वे छत्रिणो यान्ति) बोध्य होगा तो प्रतिसमुदायी का अ दर व्यक्त नहीं होगा अतः जनकाभिमुख गमनक्रिया का कर्तृत्व प्रतिसमुदायिवृतितया निर्णित कर रहे हैं। उसमें २७४ सेव याख्यातन्यूनता भी परिहृत होगी।

चौ० :—भाइ सचिव गुर पुरजन साथा। आगे गवनु कीन्ह रघुनाथा ॥१॥

भावार्थ :—भाई, मन्त्री, गुरु, परिजनों को साथ में लेकर श्रीरघुनाथजी आगे चले।

पुरजन

शा० व्या० —"पुरजन" से पूर्वोक्त पंचदेवपूजक सब जन व दोहा २।२५३ में कहे विप्र महाजन भी विवक्षित हैं जो सभासद के अन्तर्गत हो उस सभा में उपस्थित हैं।

साथा

भरतमिलनप्रसंग में "सीलसिन्धु सुनि गुरु आगवनू। सिय समीप राखे रिपुदवनू" (२४३।१) के अनुसार गुरुजी का स्वागत करने के लिए दूर जाते हुए प्रभु सीताजी के पास शत्रुघ्नजी को रखकर गये थे। यहां जनकजी आश्रम के समीप ही पहुँच गये हैं अतः सीताजी के रक्षणार्थ शत्रुघ्नजी को रखना अपेक्षित न होने से चारों दामादों का श्रीमान् श्वशुरजी के अभिमुख होना 'साथा' का भाव है जो उनकी समान-प्रीति का लक्षण है।

गवनु

साथ में रहे सभासदों मन्त्री, पुरोहित व प्रजाजनों का उल्लेख होने पर भी पुनः भाई, सचिव, गुरु, परिजन का उल्लेख युक्तिसंगत है इसलिए कि उनके माध्यम से उपनिद् विद्या के स्वागत में वसिष्ठादिरूप में अवतीर्ण तत्तद् विद्याओं का पारस्परिक सौहार्द प्रगट करना राजनीतिकर्म समझाना है जो साथा आगे 'गवनु' से स्पष्ट है।

संगति :—समाजसमेत श्रीराम का जनकराजा के आभिमुख्य में आश्रम से जाना बताकर जनकजी ने श्रीराम के निकट उनके सांमुख्य में आने का क्रम ग्रन्थकार बता रहे हैं। इसलिए कि दोनो की प्रीति प्रगट करना है।

चौ० :—गिरिबरु दीख जनकपति जबहीं। करि प्रनामु रथ त्यागेउ तबहीं ॥२॥
रामदरसलालसा उछाहू। पथश्रमलेसु कलेसु न काहू ॥३॥
मन तहँ जहँ रघुबर-बैदेही। बिनु मन तन दुख सुखु सुधि केही ? ॥४॥

भावार्थ :—राजाजनकजी को श्रीरामसान्निध्यापन्न पर्वतश्रेष्ठ कामदपर्वत ज्यों ही दिखाई पड़ा त्यों ही वे प्रणाम करके रथ से उतर पड़े। श्रीरामदर्शन की तीव्र इच्छा में उत्साहित होने से किसी को भी मार्ग में चलने का श्रम या जरा सा भी कष्ट का अनुभव नहीं हुआ क्योंकि उनका मनस् वहीं लगा रहा जहां श्री सीतारामजी थे।

शरीर के इन्द्रियों में बिना मन का सम्बन्ध हुए सुख-दुख का भान किसे होता है ?

गिरिवरु

शा० व्या :—गिरिवरु :—श्रीराम का निवास, मुनियों एवं पतिव्रताओं का समाश्रय, आदि समुच्चयों से चित्रकूट पर्वत के विशेष भाग में कामदत्व व श्रेष्ठत्व प्रसिद्ध है वैसा परिचय विन्ध्य की श्लाध्यता से शास्त्रकारों ने गाया है जैसा कि "पुण्य निषेवितं"[1] इत्यादि गुणों से विन्ध्यगिरि की सेव्यता नीति में प्रसिद्ध है।

दीख

गिरिवर को देखने का अर्थ विवेक राजा को देखना है जैसा कि कवि ने दोहा २।२३५।२ से २।२३६ तक भरतयात्रा में गाया है।

जनकपति

जनकवंश में कूटस्थ पुरुष 'जनक' नाम से विख्यात हुए वहीं संज्ञा अभी तक इस वंश में अनुस्यूत चल रही है उस वंश में आद्या शक्ति जगदम्बिका सीताजी ने जन्म लेकर अपने पिता को समृद्ध करना "जनकपति" से ध्वनित है।

जबही

जबही :—'जब ही' से कालात्यय का अभाव स्फुट है।

करि प्रनामु

"करि प्रनामु" का आनन्तर्य रथत्याग में "करि" (कृत्वा) से दिखा रहे हैं।

रथ त्यागेहु

शुचि तीर्थ मन्दिरों में उसकी सीमा से पैदल चलना विहित होने से समाज-सहित जनकजी अपने-अपने वाहनों से उतर गये। दोहा २।२३८।३ में कहे "राम पद अंका"[2] की एकवाक्यता में यह कहना है कि "रामपद अंकाविशिष्ट स्थल" से ही जनकराजा ने पैदल प्रस्थान किया है।

तबहीं

"तबहीं" जबही से संबद्ध है उसका आशय जबही में व्याख्यात हैं उसका निष्कर्ष गिरि को देखने प्रणाम करने व रथ त्यागने में क्षणपौर्वापर्य का प्रदर्शन न होने में हैं।

दरसलालसा

पूर्वाण्ह काल में ही श्रीरामाश्रम से लौटे हुए दूतों के द्वारा वहाँ के शान्तरस की सूचना प्राप्त होने से जनकजी की श्रीरामदिदृक्षा में औत्कट्य बढ़ गया जो कामिनी-

१. नीतिसार ५।१०   २. २।२३८।३।

जिज्ञासा के समान विषयान्तर का अवगाहन होने में प्रतिबन्धक हो रही है उसका परिणाम समाज-समेत राजा जनकजी को श्रम न होते हुए श्रीरामाश्रम की ओर विश्राम न कर चलने में है इसके उदाहरण में भरतजी का पैदल चलना स्मर्तव्य है।

पथश्रमलेसु कलेसु न

उत्साह पूर्वक पैंदल चलते हुए भी श्रीरामाश्रम में दूरत्व की प्रतीति न होने से राजादिदेह में वातापित्तादि वैषम्य न होना "पथश्रमलेसु कलेसु न" का भाव है।

कलेसु :—श्रमप्रयुक्त दोषवैषम्यजपीडा ही 'कलेसु' है। जैसा कि भावप्रकाशन में उक्त है[1]—

मन तहँ

"मन तहँ" से श्रम न होने की उपपत्ति बता रहे हैं। आशय यह कि प्रीति में एकाग्रमनस्क मैथिल जनों को आलंबन के रूप में श्री सीतारामयुगलमूर्ति प्राप्त है उसी को मिथिला वालों ने अपने मनोवृत्तियों का आश्रय बनाये रखा है उसी सीताराम युगल का आश्रम तहं से विवक्षित है। वही 'जहं' शब्द से भी संकेतित है जो मैथिलो के समाधि के बोधनार्थ है। यह उपनिषद्विद्यासंपन्न जनकराजा के संग का प्रभाव है अतः पथश्रम न होना स्फुट है।

बिनु मन तन

रघुबीरवैदेहीचिन्तन में डूबे एकाग्रमनस्क साधुओं के शरीर के साथ उनके मनस् का संयोग नहीं हो रहा है अतएव शारीरिक क्रियाओं के स्पन्दन का संपर्क न पाकर बाहरी सुख (आनुकूल्य) व दुःख (प्रातिकूल्य) अनुभूत कराने में मैथिलों के मनस् न अक्षम होना 'बिनु मन तन' है।

रघुबर बैदेही

विवाह के समय मैथिलों ने जब से श्रीसीताराममूर्ति को देखा है तव से उनके हृदय में वही युगलमूर्ति घ्येय हो गई है जो "रघुबर बैंदेही" से सूचित है।

सुधि केही ?

सुधि केही : –प्रीति की एकाग्रभूमिका में शरीरात्मभाव न होना "सुधि केही"? का आशय है। "केही" कहकर तात्कालिक समाजघटक प्राणियों की मनोवृत्ति का परिचय कवि दे रहे हैं जिससे जनकराजा के सामने शील का प्रभाव व्यक्त है। ज्ञातव्य है कि जनकसमाज का मनस् एकाग्र हो अपनी वृत्ति को विषयान्तर से हटाने में समर्थ है। उसके पीछे बलरूप में दर्शनलालसा भी प्रतिबन्धकतया उनको प्राप्त है।

संगति :—"आवत" का क्रम निरूपित करने के अनन्तर दोहा २।२७४ में कहे "आवत" के साथ कड़ी मिलाते हुए रामाश्रम की ओर आने में जनकराजावस्था बता रहे हैं।

---

१. अंगमर्दनविश्वासपादसंवाहजृम्भणैः मन्दयानेन सीत्कारमुखनेत्रविकूणनैः"। भावप्रकाशन पृष्ठ १८ पंक्ति १०—११

चौ० :—आवत जनकु चले एहि भाँती। सहित समाज प्रेम मतिमाती॥५॥

भावार्थ :—जनकराजा समाज को साथ में लेकर आते हुए इस प्रकार चल रहे हैं कि सभी के प्रेम का मति में ओत-प्रोत होना लक्षित हो रहा है।

आवत जनकु

शा० व्या० :—व्यापारान्तरनिरुद्ध मनस् से संयुक्त राजा जनकसहित संपूर्ण समाज पर ईश्वरप्रसाद समझाने हेतु समाजसहित जनकराजा के आगमन में श्रीराम की चाक्षुषविषयता समझाने में कवि का तात्पर्य "आवत जनकु" से मालूम हो रहा है।

चले एहि भाँति

देवादिगतियों की भाँति समाजसहित सत्त्वगुणसंयुक्त जनकराजा की मस्तानी राजगति "चलेहि भाँती" से सूचित है जो "प्रेम मति माती" में निरूपित होगी।

प्रेम मतिमाती

प्रेम :—समाधिस्थिति से उत्थान होने के अनन्तर की स्थिति ससमाज विदेह की रोमांचादि से ज्ञातव्य है वही सुखमयवृत्ति "प्रेम" है।

मति :—"मति" से यहाँ उस बुद्धिविशेष से तात्पर्य है जो शास्त्रनिरूपित तात्पर्यविषय में निष्णात होकर भय एवं स्खलन में संविधानकुशला हो।

माती :—विदेहों की उपर्युक्त शास्त्रविषयसंबद्ध बुद्धि (मति) सीतारामप्रीति का स्वाद ले रही है अतः उनका मनस् अपनी चंचलता ससाप्त कर सीतारामरूप बाह्यालंबनप्रीति में समाधिस्थ हो गया है यही प्रेम का मति में मस्तानापन है। जो 'माती' से स्फुट है। अर्थात् श्रीसीतारामरूप विपय का आलंबन लेकर मनस् ने स्थैर्यरूप समाधि को प्राप्त करना "प्रेममति माती" है। जैसा कि "वासो यथा परिकृतं मदिरामदान्धः" आदि भागवतोक्ति में गाया गया है इसका साफल्य कामक्रोधादिकों ने प्रेमसमाधिस्थों को त्यागने में है।

संगति :—सचिव, गुरु परिजन, व भाइसहित श्रीराम के साथ समाजसहित राजा जनकजी से मिलने के निमित्त भक्ति महारानी के चरणों में अंगतया ब्रह्मविद्या का समर्पण समझा रहे हैं जो मनीषियों के लिए स्वाद्य हो रहा है।

चौ० :-आए निकट देखि अनुरागे। सादर मिलन परसपर लागे॥६॥
लगे जनक मुनिजनपदबंदन। रिषिन्ह प्रनामु कीन्ह रघुनन्दन॥७॥

भावार्थ :—पास आने पर एक दूसरे को देख प्रेम में भरकर आपस में मिलने लगे। जनकजी, मुनिवरों को नमस्कार करने लगे। श्री रघुनाथजी ने भी ऋषियों को प्रणाम किया।

आए निकट देखि

शा० व्या० :—श्रीरामाश्रम के सान्निध्य में जनकराजा आते आते उनकी समीप में परिजन सहित श्रीराम का निकट आना "आए निकट देखि" का भाव है।

अनुरागे

"अनुरागे" कहकर दोनों ओर के समाज की सर्वत्र सुखमय प्रीति का संक्रमण होना कवि समझा रहे हैं उनकी अनुवृत्ति लगे आदि क्रिया में ज्ञातव्य है।

सादर

"अनुरागे" की तरह "सादर" की अनुवृत्ति भी जनकजी के मुनिवन्दन में तथा श्रीराम के "रिषिन्ह प्रनामु कीन्ह" में दर्शाई गई है जो नीतिदृष्टि से मन्त्रशक्ति की प्रतिष्ठा में अपेक्षित है। परिणाम में पारस्परिक अंगांगिभाव 'सादर' से व्यक्त हो रहा है।

मिलन

ब्रह्मविद्या भक्ति से मिलन पाकर अपने को कृतार्था समझ रही हैं। संपूर्ण विद्याओं का एकवाक्यता में स्थित होकर ब्रह्मविद्या के नेतृत्व में उपस्थित होना देखकर भक्ति भी हर्ष में सबसे मिलकर सुखानुभूति कर रही है।

मुनिजनपदबन्दन (राजनीति का मंत्रित्व)

यहाँ "मुनिजन" से श्रीरामाश्रम में स्थित वसिष्ठजी प्रभृति मुनि समझने हैं।

यद्यपि ब्रह्मविद्या या भक्ति में अधिकृत होने तक कर्म की उपादेयता शास्त्रों में चिन्तित है इसलिए कर्मशास्त्र की मर्यादा चित्तशुद्धि की अवधि तक ही सीमित है। तथापि ब्रह्मविद्या ने मंत्रिपदस्थानापन्ना नीति से, बहिर्भूत होना भक्ति महारानी को अमान्य होने से विनय को अपनाते हुए मुनियों को प्रणाम करना है ऐसा समझकर राजा ने "मुनिजनपद बंदन" से वृद्धसेवा का आदर्श उपस्थापित किया हैं अन्यथा भक्ति की अप्रसन्नता में अहंकारिता की आपाद्यता अविस्मरणीय हैं।

समेत

समेत कहने से 'चले लंबाई' के प्रति स्वतन्त्र कर्तृत्व का अभाव समाज में समझाया है।

प्रनामु

प्रनामु :—शास्त्रोक्त अभिवादन "प्रनामु" से ज्ञातव्य है।

चिन्त्य है कि जनकजी ने किए मुनिपदवन्दन और रघुनन्दनजी ने किए वन्दन में क्रियानन्तर्यं न होकर समानकालीनत्व है।

संगति :—जिस अनुराग में एक ओर से परिजनसमेत श्रीराम एवं दूसरी ओर से समाजसहित राजा जनकजी निकट आये हैं तदनुगुणतया मिलन होते हुए भी स्व-स्व

मर्यादा को प्रगट करते हुए श्रीरामाश्रमस्थान की ओर चलने का संकेत देते श्रीराम राजा को ले जा रहे हैं।

चौ० :—भाइन्हसहित रामु मिलि राजहि। चले लवाई समेत समाजहि ॥८॥

भावार्थ :—भाइयों समेत श्री राम राजा जनकजी से मिलकर समाजसहित उनको आश्रमस्थान की ओर लिवाकर चलें।

भाइन्ह

शा० व्या० :—"भाइन्ह" से कवि वासुदेव की चतुर्विधमूर्तिव्यूह का संकेत कर रहे हैं जो विशेषतया राजा जनकजी के चतुर्विध अन्तःकरण के स्वामी हैं। फलतः राजा जनकजी जिस वृत्ति से श्रीरामदर्शन के हेतु उत्सुक हो आए हैं उसके प्रति किसी प्रकार के अन्तःकरणचतुष्टय में से किसी का बाधक न होना स्पष्ट है।

मिलि राजहि

मर्यादा का अतिक्रमण न करते हुए ज्येष्ठकनीयोभावेन राजा से भाइयों का मिलन होना "मिलि राजहि" का आशय है।

चले लवाई

दोहा २।२६२।८ में राजनैतिक कर्म के प्रति प्रभु की उदासीनता निरूपित होने से मुनिवर ने तत्कर्तृत्व निभाया था, अभी आश्रमोचित वैयक्तिक कार्य होने से कर्तृत्व व प्रयोजकत्व का भार श्रीराम के ऊपर आना 'चले लवाई' से ध्वनित है।

समेत

समेत कहने से समाज में स्वतंत्रता चलनकर्तृत्व न होना स्पष्ट है।

संगति :—राजा के मानस् में बसे राजा दशरथरूप मन्दिर के ढहने से सीताजी-समेत चारोंभाइयों का दर्शन न होना उनकी करुणा के लिए आलम्बन बना था, अभी उस करुणा नदी को आश्रमरूप शान्तसागर में श्रीराम सही प्रविष्ठ कराना बता रहे हैं यतः महाराज पुनः स्वस्थिति में आकर अन्तःकरण में सीताजीसमेत चारों भाइयों का दर्शन सदा कर सकें।

दो० :—आश्रमसागर सांतरसपूरन पावन पाथु।
सेन मनहुं करुनासरित लिएँ, जाहिं रघुनाथु ॥२७५॥

भावार्थ :—चित्रकूटस्थ आश्रम मानो शान्तरस रूपी पवित्र जल से भरा समुद्र है। राजा जनकजी की सेना मानो करुणा नदी है; उसको साथ लिए प्रभु आश्रम की ओर आ रहे हैं।

आश्रमसागर

शा० व्या० :—श्रीरामाश्रम इतना गहरा है कि उसमें समाविष्ट हुआ शमजल बाहर जाता ही नहीं, वह ऐसा अद्वितीय है कि जहाँ काम, क्रोधादि ऊर्मियों को देशतः कालतो वा प्रवेश करने में स्वयं रुकावट हो रही है। फलतः बारह वर्ष पर्यन्त ऋषि ज्ञानियों द्वारा दैहिक, दैविक किसी भी प्रकार के ताप को न देखना रामसान्निध्य में प्रसिद्ध है। अतः रामनिवास को "आश्रमसागर" कहा गया है।[1]

१. १३८ पृ० में आश्रमव्याख्या चिन्तित है।

सान्त रस

साहित्यनिर्देशानुसार जगन्मात्रविषयिणी जुगुप्सामें रही वृत्ति शम है जो "प्रवृत्यजनकं ज्ञानमुपेक्षाबुद्धिः । साचेष्टसाधनस्यापि बलवदनिष्टसाधनत्वावगाहिनी द्वेषद्वारा निवृत्ति भावयन्ती शमसुखं जनयति" वचन से काव्यप्रकाश (पृ० ४२९) विवरण में प्रमाणित है ।

पूरन

श्रीराम लक्ष्मण व सीताजी ये तीनों प्रमाणमूर्धन्य शब्दराशि के अनुगमन में कार्यरत हो अहिंसादिव्रत की पूर्णता कर रहे हैं जो आध्यात्मिक ज्ञान का परिपाक है, ऐसे सीताजीसमेत श्रीरामलक्ष्मणजी का निवासस्थान आश्रम से बोध्य है, उस आश्रम में शान्तरस का लबालब होना' 'पूरन" है ।

पावन पाथु

पावन :—अखण्डब्रह्म की अनुभूति करने वाले विदेह के अनुकूल दिव्यता शमरस में होना "पावन" है । जैसा कि दोहा २।२१५ की चौपाइयों में संकेतित है ।

दोहा २।२३५ में वर्णित विवेक के सम्पर्क में अहिंसादि व्रत के निमित्त से अप्रगट ब्रह्म रामरूप में प्रगट होने से शान्त जल की पवित्रता और भी समृद्ध हो उठी । अतएव उसे "पावन" कहा गया । इसका ध्वनितार्थ बौद्धादिमतों में उपवर्णित सिद्धांतोपबृंहित शान्तरस न होकर वह शान्तरस है जो वेदों व उपनिषदों के प्रमाणभूत वचनों से प्रमित होता हुआ राजनीतिसमेत त्रयी व भक्ति के अंगांगिभाव (त्रयीरक्षण, भक्तिपोषण) आदि का संस्थापक होने के साथ उपनिषद् विद्या में निष्णात जनकराजा की पवित्रता व एकाग्रता में सहयोगी होते हुए ब्रह्मज्ञ के इन्द्रियों के लिए अपेक्षित घृणाशून्यता में सहभागी हो रहा है इस तथ्य को समझाने के लिए "पावन पाथु" मननीय है ।

करुना

करुना :—शान्तरस में काव्यप्रकाशविवरणोक्त लक्षणानुसार "दुःखसाधन विपदुपनिपातगोचरः द्वेषः" करुणा" है, उसमें में हेतुतया प्रियविरह विपत्ति, ही दुःख रुप में ही स्मर्तव्य है ।

प्रस्तुत करुणा के प्रति मिथिलावासियों के लिए श्रीरामवनवाससूचना ही दुःख है उसे देखना तो महाविपत्ति है उसी का प्रसंग अभी आ गया है यही दुःख वृन्द मिथिलावासियों के लिए करुणा है उसी को कवि सेना के रूप में देख रहे हैं । अतएव सेना का आश्रम में प्रवेश करना भी उपपन्न है ।

सरित

मानो अगणित करुणा के रूप में दुःखात्मक सैनिकों से संघटित सेना का श्रीरामाश्रम में मिलन होना है अतः सेना को करुणा "सरित" कहा है ।

करुणा का उद्यमस्रोत जनकराजा हैं वहाँ से चलकर वह दंब सेना परिणत हो प्रवाहित होती हुई छोटी दुःख को अपने में मिलाती कहीं भी विश्राम न लेते गंगाजी के समान चली है अतः उसको 'सरि' कहना उपपन्न है।

लिए जाहि

श्रीराम को देखते ही सम्पूर्ण मिथिलासमाज की करुणानदी उमड़ पड़ी तो मिथिलाराजसमाज आगे न बढ़ सका। अतः रघुनाथजी स्वयं करुणानदी के कर्णधार बन उसका आश्रम की ओर अपने साथ ले गए।

संगति :—को मोहः ? कः शोकः' ? अवस्था में पहुंचे राजा के हृदय में प्रभु ने अपने संकल्प से अपरिहार्य जिस करुणा को समुदित कराकर उसकी चिकित्सा शान्तरसपरिपूर्ण सागरप्रवेशरूप औषध से की है। उस करुणा का अप्रतिहार्य स्वरूप कैसा है ? कवि गा रहे हैं।

चौ० :—बोरति ग्यान बिराग करारे। बचन ससोक मिलत नद नारे ॥१॥
सोच उसास समीर तरंगा। धीरज तटतरुवर कर भंगा ॥२॥
विषम विषाद तोरावति धारा। भय भ्रम भंवर अबर्त अपारा ॥३॥
केवट बुध विद्या बड़ि नावा। सकहिं न खेइ ऐक नहिं आवा ॥४॥
बनचर कोल किरात विचारे। थके बिलोकि पथिक हियँ हारे ॥५॥

भावार्थ :—बढ़ती करुणा नदी ज्ञानविराग रूप दोनों किनारों को डूबा रही है। शोक से निकले वचन नद नाले के समान उस नदी में मिल रहे हैं! श्वासोछ्वास उठने वाली तरंगों के समान है। दोनों किनारों पर लगे धैर्यरूपी सुदृढ़ वृक्षों को उखाड़ कर वह गिरा रही है। कठिन दुःखरुपी तेजधारा चल रही है। जिसमें भय रुप भवर और भ्रपरूप आवर्त अपार पड़ रहे हैं। विद्या बड़ी नाव है। कोइ उपाय कारगर नहीं है। जनकजी जैसे बुध मल्लाह हैं। पर वे उस नाव को खेने में असमर्थ हैं। कोल-किरातादि वनचारी हिम्मत हारे पथिकों के समान थककर असहाय हो देख रहे हैं।

बोरति

शा० व्या० :—जीवन में जीव को व्यसनों, विपत्तियों से बचाने वाले एकमात्र ज्ञान एवं वैराग्य है यदि वेही डूब्र जाएं तो जीव का डूबना निश्चित है।

ग्यान-विज्ञान

ज्ञान :—ज्ञान दो प्रकार का होता है—(१) आत्मालंबन। (२) बाह्यालंबन आत्मालंबन ज्ञान योगियों के मनस् को विषयों की ओर से सादा विमुख रखता है। कार्याकार्यविवेक से उत्पन्न ज्ञान बाह्यालंबन कहा जाता है वह मनस् की विरुद्ध प्रतिपत्तियों की ओर जाने से रोकता है।

बिराग :—कर्तव्य को पूर्ण करने की अवधि में मानस की समानता बनाए रखना विराग है।

जबतक इन दोनों तत्त्वों से उपासक दूर नहीं रहता है तबतक वे दोनों तत्व विषयों के चपेट से अतिसन्तप्त होने से मनस् को बचाते हैं। जब कि वे ही दोनों तत्व करुणा के चपेट में आगए तब तो उपासक की दुर्गति होना कैमुतिकन्यायेन स्पष्ट है।

वचन ससोक

नदी में मिलने वाले नद-नालों की उपमेयता कवि ने "ससोक वचन" में की है। इसका तात्पर्य करुणा में मिश्रित शोकसन्तापज विकार की दिखाने में की है जो जनकजी के शोकपूर्ण वचन से निरूपित हैं।

उसास

श्वासोच्छ् वासोच्छ्वास होना करुणा का सात्विक भाव है उसे तरंग के रूप में कवि वर्णित कर रहे हैं।

धीरज तट तरु

ज्ञान, वैराग्य रूपी तट के स्थैर्य पर रहे अनुद्विग्नतात्मक (सत्व) धैर्य रूपी वृक्ष अंकुरित हो बढ़ते रहते हैं, फलतः धीर व्यक्ति निर्विकार होने से बल, सत्व, आरोग्य, शील, अस्तब्धता अचंचलता आदि गुणों से सम्पन्न लोकप्रिय होते हैं। यदि धैर्य ही नहीं रहा तब कौन किसे पूछेगा ? व नीति कैसे चलेगी ?।

विषम विषाद

उत्तम प्रकृति के मानस में विषाद मध्यमप्रकृति की तरह उदित होता है। दोनो में अन्तर यहीं कि मध्यमप्रकृति को शोक मूढ बनाता है। उत्तम प्रकृति को वही शोक ध्यान व उपायान्वेषण की ओर झुकता है, मैथिलसमाज उत्तम प्रकृति है तथापि उसके हृदय में उदित शोक अभी (विषाद) उपायान्वेषण कराने में असमर्थ हो रहा है यही विषाद की विषमता है।

तोरावती

विषाद के रूप में चलते करुणा नदी की तेजधारा का ज्ञानादिवृक्षों को चीरने में सफल होना "तोरावति" से ज्ञातव्य है।

भय भ्रम

रानी की कुटिलता राजा दशरथजी का स्वर्गवास अवध की अराजकता आदि को देखकर जैसे भरतसमाज भयभीत है उसी प्रकार मिथिलासमाज का भावि अनिष्ट-सम्भावना में ग्रस्त होना "भय" है।

भ्रम :—अमरकोष में "मिथ्यामतिर्भ्रमः" ऐसा कहा गया है अर्थात् कर्तव्या-कर्तव्य का विपरीतधारण होना "भ्रम" है।

अथवा :—किसी प्रकार का निर्धारण न होना भ्रम अर्थात् भ्रमण है जो मनस् की चंचलता का द्योतक है।

इनमें भय भँवर है, भ्रम अवर्त है। अर्थात् भय में कोई विषादी समाज व्यक्ति घूम रहे हैं तो कोई ऐसे डूब रहे हैं जिनका उद्धार होना असंभव सा है।

केवट बुध

आन्वीक्षिकीकुशल, नीतिसम्पन्न भगवदुपासक "बुध" हैं जैसे राजा जनकजी, शतानन्द महर्षि आदि यतः ऐसे कुशल ही तन्त्र के प्रणेता या व्याख्याता हो विद्यानौका के कर्णधार माने गए हैं।

विद्या बड़ि नावा

"विद्या बड़ि नावा" का अन्वय " न खेई" से है जो करुणादिविकट प्रसंगों में अपने उपासकों को प्रश्रय देकर तत्प्राप्त विद्या नाव का कार्य करती रही हो वैसी विद्या ही "विद्या" से विवक्षित है।

ज्ञातव्य है कि अभी तक कूटस्थ जनकपुरुष व महर्षियों ने आन्वीक्षिकी-त्रयीयुक्त ब्रह्मविद्यारूपिणी नाव में बैठकर मैथिलों को एक मार्ग दिखाया किन्तु ब्रह्मतत्व से भी अत्यधिक प्रियप्रेष्ठ श्रीरामका वनवास सुनकर संपूर्ण मैथिलों का अन्तःकरण ज्यों ही समाधि से विरत हुआ त्यों ही वह विशाल करुणा नदी में इस प्रकार गोते लगाने लगा कि उसमें से उद्धार कराने हेतु समाज को विद्यारूपी नौका में बैठा कर पार कराने की योग्यता बुधों में न रही। उसी का परिणाम यह है कि सम्पूर्ण करुणासेना के साथ विदेह, सदेह होकर यहाँ तक आ पहुंचे, जो "विद्याबड़ि नावा" व "सकहिं न खेइ" से स्पष्ट है। इसी तथ्य को दोहा २।२७१।४ में संकेतित किया है।

सकहिं न खेइ

जनकराजा व उनके सहचर कौशिकादि बुध, ज्ञान व विरतिरूप तट को डुबाने वाली धैर्य वृक्ष को गिराने वाली, संशयादि की उत्पादिका करुणा नदी में बहती विद्यानाव को पार लगाने में बुधो ने असमर्थ होना "सकहि न खेइ" का आशय है,

ऐक नहिं आवा

"ऐक नहिं नावा' से मिथिला में रहे बुधों की कर्तव्यमूढ़ता (बुधानुशासन) ऐक नहिं' से व्यक्त है।

बनचर

"बनचर" से कोल-किरातों के रहने का स्थान समझाया है जिससे उनकी आटविकता स्फुट हो रही है।

कोल-किरात

"कोल-किरात" आटविकों की जातियों के नाम हैं।

विचारे

जनकसमाज की करुणा नदी के तट पर भ्रमण करने वाले कोल यात्रीरूप में हैं उनका किंकर्तव्यविमूढ़ावस्था में खड़े रहना "विचारे का भाव है।

थके

स्वागतादि कार्यों से विरत होना "थके" से विवक्षित है।

पथिक

कोल-किरातादि का सामाजिक रूप में खड़े रहना "पथिक" से विवक्षित हैं।

हियँ हारे

"हियँ हारे" "विचारे" का व्याख्यान है अर्थात् थके समाज को उस करुणा मयस्थिति में देखकर कोल-किरातों का हृदय भी रोने की स्थिति में आया। फलतः सामाजिको के बारे में उचितानुचित विचार न करते हुए पथिक बनचरो का स्तब्ध भाव में आना "हियँ हारे" है।

इस प्रकार कवि ने ब्रह्मज्ञ स्रोतमे निकली करुणा की असाध्य चिकित्सा बताकर विषय पूर्ण किया है।

संगति :—मिथिलावासियों की भूपतिमरणश्रवणप्रयुक्तपीडा को तिरोहित करने वाली श्रीरामवनवासप्रयुक्तविरहपीड़ात्मक करुणानदी का शान्तरसपूर्ण आश्रमसागर में मिलन होने से निरस्त हो गई। तदनन्तर पूर्वतिरोहित राजमृत्युपीड़ात्मकशोकसमुद्र लहरें लेने लगा उसकी चिकित्सा वक्तव्य है। उसे पीड़ा का परिहार कहने के पूर्व राजमृत्युशोक का उठना कवि सुना रहे हैं। जैसा कि दोहा २।२४६ की चौपाइयों में व्यक्त है।

चौ०।—आश्रमउदधि मिली जब जाई। मनहुं उठेउ अम्बुधि अकुलाई ।।६।।

भावार्थ :—करुणा नदी आश्रम सागर में जाकर मिली तो अचानक (शोक) समुद्र उमड़ पड़ा।

आश्रम उदधि

शा० व्या० :—आश्रमरूपशान्त सागर "आश्रम उदधि" से बोध्य है जो २७५ में वर्णित है।

मिली जब जाई

अप्रताकार्य सर्वसाधारण वैद्यों से अचिकित्स्य करुणा नदो का आश्रमसागर में जा‌कर तदाकार बनना "मिली जब जाई" है। करुणानदो का यह मिलनकर्तृत्व प्रकरण-प्राप्त है।

मिली जब जाई का फल

ज्ञातव्य है कि ब्रह्मविद्यारूपी नौका को खींचकर प्रभु ने बलात् प्रशमरस में लाया न कि जनक राजा स्वयं आए। अतः दूतों के मुख से व श्रीरामवनवास से पीड़ित नकजी को आश्रमसागर से स्पर्श होना कुछ क्षणों के लिए सुखकर मालुम हो रहा है जो 'जब जाई" से सूचित है।

मनहुँ उठेउ

करुणा व शान्तसागर मिलनकाल में हुई दूसरी घटना "मनहुँ उठेउ" से व्यक्त कर रहे हैं।

अंबुधि अकुलाई

रामदर्शनविरहपीड़ा समाप्त हो चुकी। उसका परिणाम शोकरूप जल के उभरने में है उस जल अवधसमाज एवं मिथिलासमाज का एक इकाई होकर विशाल रूप में होता "अंबुधि अकुलाई" है जो जल के रूप में सीमित नहीं है अतः वही शोक अबुधि है जो अग्रिम छन्द में निरूपित होगा इसके अकुलाने का कारण पूर्वतिरोहित दशरथविरह पीड़ा का नाश है।

संगति :—दोनों समाजरूप इकाई में उभड़े शोकसागर का निरूपण कर रहे हैं क्योंकि वह दोहा २।२७० में कहे शोक से एकवाक्यतापन्न होता हुआ चिकित्स्य है।

चौ० :—सोकविकल दोउ राजसमाजा। रहा न ग्यानु न धीरजु लाजा ॥७॥
भूप-रूप-गुन-सील सराही। रोवहिं सोक सिन्धु अवगाही ॥८॥

भावार्थ:—दोनों समाज शोकाकुल हो गया। ज्ञान, वैराग्य, लाज सब खो गये। सब लोक राजा दशरथ के स्वरूप गुण व शील की सराहना करने लगे। शोकसागर में स्नान करते रोने लगे।

सोक बिकल

शा० व्या० :—"सोक" से मिथिलासमाज व अवधससाज की इकाई में उभड़ा शोक समझना है।

"शोक" की व्याख्या काव्यप्रकाशविवरण में उक्त है—"प्रतियोगिनि प्रीत्या तन्नाशासहिष्णुत्वलक्षणो द्वेषः शोकः"[1] ऐसा ही भावप्रकाशन में भी स्पष्ट है।[2]

"बिकल" से किंकर्तव्यविमूढ़ता आदि दोष ज्ञातव्य हैं जो उत्तरार्ध में स्फुट होंगे।

---

१. काव्यप्रकाश टीका चतुर्थोल्लास पृष्ठ—१५०

२. शोकात्मा करुणो योषिन्नीचादिप्रकृतिस्ततः।
अभीष्टविरहाच्छापात्क्लेशाच्च विनिपातनात् ॥
वधादिष्टस्य पुत्रादनिधनादर्थहानितः। राज्यदेशपरिभ्रंशादन्यान्यव्यसनोदयात् ॥
दैवोपघाताद्दारिद्र्याद्व्याध्यादिभ्यः प्रजायते।
श्रुतेभ्यो वानुभूतेभ्यो दृष्टेभ्यो वा नृणां भवेत् ॥
भावप्रकाशन तृतीयोधिकारः। पृ० ६२। पं० १५ से पृ० ६३ पं० तक

राजसमाजा

कवि ने "राजसमाजा" कहकर यहाँ समाज को राजा से पृथक् करने का कारण यह कि शोकचिकित्सानुकूल तर्कसमेत ज्ञानप्राप्तियोग्यता जितनी जनकराजा में है उतनी योग्यता समाज में न होने से उसका उत्तमप्रकृतित्व कुछ न्यून है उसकी चिकित्सा भी पृथक् है जो जनकराजा में प्रसक्त नहीं है। अतः समाज का पृथक् कीर्तन है। उत्तम प्रकृति राजा के शोक की स्थिति व चिकित्सा ग्रन्थकार के द्वारा स्वयं आगे वर्णित करेंगे।

न ग्यानु न धीरजु लाजा

राजा दशरथजी के परलोकनिर्याणज शोक के आवेग में दोनों समाज ऐसे व्याकुल हो गये कि ज्ञान, धैर्य, लाज सब खो गये।[1]

ग्यान :—तुच्छ, क्षणिक, मरणधर्मा देह के साथ अनात्मत्वबुद्धि भक्तों व ज्ञानियों में जिससे नही पनप रही थी वह "ग्यान" है। उसका निषेध न से समझना है।

धीरजु :—"इदं सुखसाधनं इदं दुःखसाधनं "इत्याकारक विज्ञानोत्पन्ननिर्विकारितात्मक धैर्य का अभाव "न धीरजु" है।

लाजा :—शास्त्रप्रामाण्य की मर्यादा का अतिक्रमण जिस समाज में लज्जा का विषय था वह मर्यादा बुधों के सामने से हट रही है यही न "लाजा" है।

राजा की उपादेयता

ज्ञातव्य है कि यह शोक, जिस प्रकार ज्ञान, धैर्य लज्जा के विनाशक होने से कुपथ की ओर प्रजा को ले जा सकता है वैसी ही स्थिति कामादि विकारो में भी ज्ञातव्य है। इन्हीं विकृतियों से प्रजा का रक्षण करने हेतु राजशास्त्र में आत्मगुणसम्पन्न विद्वत्संगतिरूप अंकुश से विशिष्ट राजा की उपादेयता मानी गयी है। यतः वैसे राजा के द्वारा प्रतिपालित ऋषि, विद्वान् समय-समय पर समाज के बीच पहुंचकर प्रजा को मर्यादा में व्यवस्थापित करते हैं। राजा भी दण्डप्रणयन के माध्यम से प्रजा को विकृतियों से बचाते हैं। जो अग्रिम सोरठा में स्फुट होगा।

---

१. अश्रुपातो मुखे शोषः स्वरभेदो विवर्णता। निश्वासः स्मृतिलोपश्च विलापस्त्रस्तगात्रता ॥

मोहागमोभिघातश्च भूपातः परिदेवितम्। विवेष्टनं महीपृष्ठे भुजयोश्च विवर्तनम् ॥

श्वासोच्छ्वासौ देहघातपातोरस्ताड़नानि च।

मोहो विषादनिर्वेदौ चिन्तौत्सुक्ये च दीनता ॥

जड़ता व्याधिरुन्मादापस्मारालस्यमृत्यवः। स्तम्भकम्पाश्रुवैवर्ण्यस्वरभंगादयस्तथा ॥

एतेऽनुभावाः कथिताः दीप्यमानास्तु दीपनाः। स्त्रीनीचादिषु शोकोयं मरणव्यवसायतः ॥

मध्यमानां भवेच्छोको मुमूर्षा मृतिरेव वा ॥

भूपरूप गुन-सील

शोक के निरासार्थं प्रिय का स्मरण जिस प्रकार न हो इस प्रकार की व्यवस्था करना शास्त्रों में बताया गया है ऐसा न कर शोक समृद्धि जिस प्रकार होगी उस प्रकार से समाज की स्मृति के विषय में दशरथजी का आना "भूपरूपगुन-सील" से बता रहे हैं।

रूप :—सामुद्रिकशास्त्रदृष्ट्या राजलक्षणसम्पत्तिविशिष्ट शरीर, "रूप" है जैसा कि नीतिकल्पतरु में व्याख्यात है।

गुन :—साधुओं के लिए अपेक्षित स्वात्मोपकारी एवं आश्रितोपकारी कुलादि-सम्पत्ति "गुन" से विवक्षित है।

सील :—सुस्वभाव "सील" है।

सराही

"सराही" से राजा दशरथजी के कीर्तिशरीर का जीवित रहना स्पष्ट किया है।

दूतो ने कहे दोहा २।२७० की व्याख्या की एकवाक्यता में अवध की दृष्टि से यह भी स्मरण रखना होगा कि राजा दशरथजी के राज्य में सभी व्यक्तियों ने त्रिवर्गसमृद्धि-हेतुतया कल्पवृक्ष के समान राजा की प्राप्ति होने की स्मृति करना "सराही" से ध्वनित है।

रोवहिं

दोहा २।१५६।३ में "सोकविकल सब रोवहिं रानी" से जैसे अवध में रानियों के विलाप से उनके शोक की वास्तविकता गाई है, वैसे ही यहां अवध व मिथिला समाज में "रहा न ग्यानु न धीरजु लाज।" से व्यक्त हार्दिक शोक की वास्तविकता 'रोवहिं' से समझाई है।

सोकसिन्धु

चारों ओर से नदियों का जल एकत्रित होने पर वह जलकूट समुद्रनाम से व्यवहृत होता है उसी प्रकार दोनों समाज के तत्तद् व्यक्तियों के शोककूट को सिन्धु कहा गया है।

अवगाही

ज्ञानादिकों का प्रतिषेध, राजा दशरथजी की सराहना, रोना आदि वैकल्य-सूचक कार्यों की उत्पत्ति में कारण के रूप में "अवगाही" शब्द प्रयुक्त है जो शोकसिन्धु-निमज्जन का वाचक है।

शोकवर्णन का प्रयोजन

पुनः पुन; शोकवर्णन का प्रयोजन दोनों समाज की पूर्ण विश्रान्ति व प्रीति राजा दशरथ (सूर्यवंश) के प्रति दर्शाने में है न कि शोकविकलता कहकर विवेक के समूल उन्मूलन में हैं जो अग्रिम छन्द से स्पष्ट है।

संगति :—शोकसिन्धु का वक्ष्यमाणरीतिक शोषण कहने के पूर्व करुणा नदी का शमरसपूर्ण सागर में विलीन होना सुनकर यह प्रश्न हो सकता है कि मिथिला में रहते प्रजा में जो शोक समृद्ध हो गया था क्या वह भी विलीन हो गया ? अथवा चारों भाइयों की रागद्वेषहीनता समझकर राजाजनकजी का राग भी क्या विलीन हो गया ? उसके समाधान के साथ ही कवि, दोहा २।२६१।१ (भरतवचन) की एकवाक्यता में अवध की घटना के बारे में मिथिलावासियों का शोकपूर्ण मत प्रकाशित कर रहे हैं। जिससे राजा का अनुराग स्पष्ट होगा।

अथवा समाजगत शोक को अनूदित करते हुए पूर्वनिरूपण के अनुसार उत्तम प्रकृति विदेह का पार्थक्येन शोक वर्णित कर रहे हैं इसलिए कि समाजशोकचिकित्सा से राजा के शोक कि चिकित्सा पृथक् कहनी है।

छन्द :—अवगाहि सोकसमुद्र सोचहिं नारि नर व्याकुल महा।
दै दोष सकल सरोष बोलहिं बामबिधि कीन्हों कहा ? ॥
सुर सिद्ध तापस जोगिजन मुनि देखि दसा विदेह की।
तुलसी न समरथ कोउ जो तरि सकै सरित सनेह की ॥

भावार्थ :—शोकसमुद्र में डूबे स्त्री-पुरुष अत्यन्त व्याकुल हो सोच रहे हैं कि वामविधाता ने क्या किया ? इस प्रकार बोलते हुए स्त्री-पुरुष, रागद्वेषपूर्वक विधि को दोष लगा रहे हैं। विदेह राजा की दशा, देवता, सिद्ध तपस्वी, योगी तथा मुनि देख रहे हैं। तुलसीदासजी कहते हैं कि इस समय कोई ऐसा समर्थ नहीं है जो प्रेमनदी को पार कर सकता हो।

अवगाहि

शा० व्या० :—पूर्वोपस्थित शोक की अनुवृत्ति व उसकी पुनरावृत्ति से उभड़े शोक-समुद्र में अपनी ओर से डुबकी लगाना "अवगाहि" से समझः रहे हैं, जो राजा दशरथजी के परलोकप्रयाणनिमित्तक द्वेष की अपारता का सूचक है।

सोचहिं

८वीं चौपाई में उक्त अर्थ का पौनःपुन्येन चिन्तन करना "सोचहिं" है इससे भविष्यत् में उनके हृदय में अराजकता होना भी आशंकित है।

व्याकुल महा

राजमरणप्रयुक्त युवराजपददानाभाव के सोच के परिहारार्थ किसी हेतु का न मिलना "व्याकुल महा" है।

दै दोष सकल सरोष

भरतवचन (दोहा २।२६१) की एकवाक्यता तथा सुमित्रावचन (२।२८२।१) की एकवाक्यता में अवधघटना के प्रति विधाता को कारण मानकर समाज ने कैकेयीजी आदि के प्रति अपने में असूया का अभाव स्फुट किया है जो "दै दोष सकल" से व्यक्त है।

"सरोष" से मालूम होता है कि संपूर्णसमाज एकमत से विधाता के चरित्र की प्रतिक्रिया में उसके प्रति कुछ करने को उत्सुक हैं।

बामविधि कीन्हो कहा

यद्यपि विधिरूप भगवदिच्छा ही उक्त घटना के प्रति कारण है जैसा कि देवों को सुनाए प्रभु के सम धान से स्फुट है तथापि यह समाधान दोनों समाज के चिन्तन में नहीं आ रहा है अतः "बाम बिधि कीन्हो कहा" कहा है।

कहा :—'कहा' शब्द अनुवादार्थक है। उसकी चिकित्सा २२७६ में द्रष्टव्य है।

समाज की परम भक्ति

विधि का वामता राज्योत्सवदर्शनेच्छा रूप निगमनिचोरभङ्ग होने से ज्ञातव्य है उससे समाज की श्रीरामप्रभुविषयिणी परम भक्ति कवि ने स्वोक्ति से प्रगट की है।

सिद्ध तापस जोगिजन

सिद्ध :—युक्तयोगी ब्रह्म के जन्मजात अनुभविता "सिद्ध" से विवक्षित हैं। जैसे सनत्कुमारादि।

तापस :—वैधक्लेश सहन करने में तत्पर या सत्तार्कदृष्टि से आलोचक 'तापस" होते हैं। जैसे भरद्वाजादि।

जोगिजन :—चिन्तासहकृत होते हुए मनस् को एकाग्र रखने वाले युंजान "जोगिजन" से विवक्षित है। मुनि-युक्त योगी विवक्षित हैं।

देखि

मिथिला में भए श्रीरामदर्शन से आरम्भ कर अभी तक राजा विदेह की बदलती मनोवृत्ति के वैचित्र्य को मुनि आदिकों ने देखना "देखि" है, यतः वे राजा की प्रत्येक गति में औचित्यानौचित्य के परीक्षक हैं। राजा की प्रत्येक मनोवृत्ति को देखकर सिद्ध आदि ने राजरूप में प्रगट ब्रह्मविद्या की श्रीरामविषयक प्रीति को ही लखा है।

'देखी' का अन्वय 'सोक' व 'दसाविदेह' से ज्ञातव्य है अथवा अति अभीसित होने से देखी का अन्वय दसा से संबद्ध है।

दसा

पूर्वोक्त सर्वविध विदेहमनोवृत्तिवैचित्र्य "दसा" से विवक्षित है।

विदेह की

यद्यपि "कः शोकः" की अवस्था में बैठे जनकजी के अन्तःसूर्यवत् चमकने वाले ज्ञान ने रति-शोकादि के भावों का निकृन्तन किया है अतः उनपर किसी प्रकार का भी शमातिरिक्त भावसंचार होना नहीं है तथापि ब्रह्मलीन राजा जनकजी के हृदय में सीताजीसमेत श्रीरामरूपी सगुण ब्रह्म के प्रीतिसंस्कार का विलयन नहीं हुआ है जैसा कि बालकाण्ड में विश्वामित्रजी के सामने श्रीराम को देखते ही राजा ने व्यक्त

किया है जो प्रपन्नों व भक्तों के लिए श्रुतिनिचोड़ होता हुआ अलंकार है। अतः मिथिला में प्राप्तदर्शन से लेकर अभी तक जो भी मनोवृत्तिवैचित्र्य राजा में दृष्टिगोचर हो रहे हैं वे व्यभिचारिभावापन्न होते हुए स्थायी प्रीति के पोषक हो रहे है ऐसा देखकर ही शिवजी ने शोकसमुद्र के लहर के अवसर पर भी 'निगमनिचोर' रूप प्रीति का आस्वाद लेते हुए "विदेह की" कहा है।

न समरथ कोउ

यद्यपि ब्रह्मविद्या पूर्णतया हर्षशोकाभिभाविका होने से वेदान्त में सबसे प्रबल मानी गयी है तथा कर्मकाण्ड में श्रुति, लिंग, वाक्य, प्रकरण, स्थान, समाख्या के बलाबल का विचार करते हुए कर्मबोधकश्रुति को ही सबसे प्रबल माना गया है तथापि भक्तिसिद्धान्त में ब्रह्मविद्या एवं कर्मविद्या को श्रीरामभक्ति में गुणभूता मानकर श्रीरामप्रीति को प्रबल एवं प्रधान माना गया है इसी में सबका समन्वय भक्ति में अभीप्सित है। इस सिद्धान्त की प्रबलता को श्री तुलसीदासजी ने "न समरथ कोउ" से ध्वनित किया है।

जो तरि सकै सरित सनेह की

सगुणब्रह्मरूपश्रेष्ठ आत्मतत्त्व के प्रति चढ़ी-बढ़ी स्नेहरूपा सरित् में नैरन्तर्येण गोते लगाते रहना ही श्रुति का निचोड़ है वह नदी जिन्हें प्राप्त हो चुकी है वे स्नेहरूप नदी को पार करना सोचते हैं पर पार होना असम्भव है ऐसा सोचकर ही "जो तरि सकै सरित "सनेह की" कहा हैं, अर्थात् नीतिसंगतरीत्या औचित्यानौचित्य को देखने वाले, ब्रह्मज्ञराजा की प्रीति का पार देखने के लिए उत्सुक व लालायित सुर सिद्धादि बड़े-बड़े महर्षि भी हैं किन्तु वे भी पार नहीं हो पाते अतः उनके लिए गोस्वामीजी ने "जो तरि सकें सरित सनेह की" कहना यथार्थ है। इसप्रकार स्नेह पोषक शोक का निरूपण पूर्ण हुआ।

संगति :—शोक की चिकित्सा बता रहे हैं क्योंकि उसके पश्चात् "साधुमत" व "निगमनिचोरि" व्याख्यात होगा।

सोरठा :—किए अमित उपदेस, जहँ तहँ लोगन्ह मुनिवरन्ह।
धीरजु धरिअ नरेस ! कहेउ बसिष्ठ बिदेहसन ॥ २७६ ॥

भावार्थ :—मुनिवरों ने जहाँ-तहाँ जाकर लोगों को (भिन्न-भिन्न टुकड़ियों में पहुँचकर) बहुत प्रकार से अनेकविध उपदेश सुनाये वसिष्ठजी ने राजा जनकजी को धृतिमान् होने को कहा।

अमित

शा० व्या०—ज्ञातव्य है कि जैसा जिसका अधिकार था उसके लिए उस भेद से उपदेश में विभिन्नता ही 'अमितता' है। उसके अतिरिक्त पुराणोपदेश व ऐतिहासिक तथ्य की अमितता भी ग्रन्थकार को अभिप्रेत हैं।

उपदेश

उपदेसः—साध्यसाधनावच्छेदक का पूर्वपरंपराप्राप्त निर्देश उपदेश से विवक्षित है। उसको सुनकर सम्पूर्ण दोनों समाज साधनतावच्छेदक की यथार्थता समझ रहा है ऐसा देखकर समाज को शोक ने त्यागना उपदेश का फल है। उसके अन्तर्गत धर्म व नीति को विविक्त कर भावस्वभाव को समझाना उपदेश का उद्दिष्ट है जो २।२७८ में स्फुट होगा।

जहँ-जहँ

२।२७४ में संघटित अवधसमाजसभा का विसर्जन होने पर यत्र तत्र रहे मैथिलसमाज से भेट करने पर एक एकाइरूप में परिणत होने के परिणाम में सभी व्यक्ति ने शोकसमाक्रान्त हो अपने-अपने स्थान पर मूढ़ होना "जहं-जहं" से विवक्षित है।

लोगन्ह

प्रजा को शोक से दूर करने का कार्य मुनियों ने किया है। तदनन्तर उनको कर्तव्य के प्रति प्रेरणा देकर सन्मार्ग की ओर प्रवृत्त कराने का प्रतिभूत्व राजा विदेह पर निर्भर है। अतः 'लोगन्ह' कहकर कवि उधर से चुप हो गये।

मुनिवरन्ह

मुनिवरन्ह :—प्रजा को शोक से बचाने में अधिकृत विप्र "मुनिवरन्ह" से विवक्षित हैं। एतावता मुनियों के आगमन की सार्थकता स्पष्ट है।

वसिष्ठ

राजकार्य की बिगड़ती स्थिति को देखकर उसके निरास का प्रतिभूत्व अभी गुनि वसिष्ठजी पर होना 'वसिष्ठ' से सूचित है।

धीरजु धरिअ

ज्ञातव्य है कि मित्रराष्ट्र के अन्तर्गत जो राजा हैं वे भी स्वराज्य के सप्तप्रकृति में गिने जाते हैं अवधराज्य की सप्तप्रकृति में जनकजी का स्थान मित्र का है यदि वे स्वकर्तव्य में प्रमाद करते हैं तो सम्पूर्ण उभय प्रजा स्वकार्य में स्थिर नहीं रह सकती फलतः अवधराज्य भी व्यसनग्रस्त माना जायेगा। उस दोष को निरस्त करने हेतु वसिष्ठजी जनकजी को 'धीरजु धरिअ' सुना रहे हैं।

अथवा :—जनकजी को सुनाए हुए उपदेश का सारांश "धीरजु धरिअ" है जिसके अवलम्बन में स्वकार्यव्यापृति होने के बाद राजमृत्यु विस्मृत होगी फलतः शोकसमुद्र सूखेगा।

कहेउ

'कहेउ' का अन्वय 'धीरजु धरिअ नरेस' से है।

सत्वप्रधान उत्तमप्रकृति सन्त-वियोग से प्रभावित होने पर अतिपीड़ित होते हैं ऐसी ही पीड़ा भरतजी को हुई थी उसके उपशमनार्थं धैर्य की चिकित्सा का प्रयोग वसिष्ठजी ने जिस प्रकार अपनाया था यहाँ भी वही प्रकार राजाजनकजी धैर्य धारण कराने में "कहउ" से उल्लिखित है।

बिदेह सन

शास्य प्रजा स्व-स्वकार्य में तभी रता हो सकती है जब राजा, उसको अकार्य से निवृत्त कराने में यथार्ह दण्ड का प्रणयन करता है इसलिए कवि पृथक्तया "बिदेह सन" कह रहे हैं।

'धीरजु धरिउ' कथन मात्र से ही जनकराजा का शोकसागर सुखा उधर मृन्युपदेश ने प्रतिबन्धकभूत शोकसागर को सुखाय। फलतः राजप्रभाव से प्रजास्वकार्य व्यापृता हो गई। शोक सूखने के अनन्तरभावी कर्म २७७।६ में निरूपित होंगे।

संगतिः—स्थायी शम प्राप्त होने के बाद ब्रह्मविद्या ने राग-द्वेष के अधीन होना ब्रह्मसिद्धान्तमत से स्थायी शमभाव के विपरीत है अतएव शोक को चिकित्सा से सुखाना आदि क्रियाएँ भी ब्रह्मसिद्धान्त को स्वाद्य नहीं है तथापि शिवजी ब्रह्मविद्या के प्रस्तुत विरहज शोकनाट्य की उपपत्ति भक्तिपक्ष से समझा रहे हैं जिससे ब्रह्मविद्या व भक्ति का अङ्गाङ्गिभाव समझने में दार्ढ्य प्राप्त होकर लोकमत भरतमत साधु मतनिरूपण के अनन्तर अवशिष्ट निगमनिचोर असंदिग्ध होगा जो श्रीराम को मान्य है।

चौ० :—जासु ग्यानुरबि भवनिसि नासा। बचनकिरन मुनिकमल बिकासा ॥१॥
तेहि कि मोह ममता निअराई ?। यह सियरामसनेह बड़ाई ॥२॥

भावार्थ :—जिनका ज्ञानरूप सूर्य प्रापंचिक महान्धकार का नाश करने वाला है जिनके वचनरूप किरणों से मुनियों का हृदयकमल खिल जाता है ऐसे जनकजी को क्या मोह हो सकता है ? यदि वह होता भी है तो श्री सीतारामजी के स्नेह की बड़ाई है।

जासु

शा० व्या०—जासु :—ब्रह्मज्ञ राजाजनकजी तच्छदार्थ है।

ग्यानु :—जगन्मात्रविषयकभ्रमनिवर्तक व समस्त प्रापंचिकमिथ्याज्ञानप्रयुक्त-संस्कारज व्यापार-शून्य निश्चलमनो भूमिका में उदित अधिष्ठानविषयक, अभानापादक आवरणनिवर्तक तर्कसंवलित ज्ञान "ग्यानु" से विवक्षित है।

ध्यातव्य है कि राजा जनकजी के हृदय में श्रीरामवनवासप्रयुक्तदुःख व दशरथजी के परलोकप्रयाणप्रयुक्त शोक से विकलता तथा उनका निरसन दोनों ही प्रसक्त नहीं है, यतः राजा के हृदय में ज्ञानसूर्य का प्रकाश सदा देदीप्यमान है।

अतएव मोह, ममता या ब्रह्मविषयक अज्ञतारूप अन्धकार के अभाव का रहना कैमुतिकन्यायेन सिद्ध है तथापि मोहप्रसक्ति की उपपत्ति "तेहि कि मोह" चौपाई की व्याख्या में निरूपित होगी।

रवि

रवितादात्म्य ध्यानु में ज्ञातव्य है उसका फल यही कि ज्ञाता के हृदय में कोने-कोने में प्राप्त आवरणों का भंग होने के बाद उनकी प्रसक्ति कदापि न होना ध्वनित है।

ज्ञान की महत्ता यही कि तर्क से शंकोन्मूलन के अनन्तर प्रमाणमूर्धन्यप्रसू होने से उसमें विसंगति होना कभी संभव नहीं न तो मिथ्या ज्ञान की प्रसक्ति ही है।

भवनिसि

ज्ञान वैशेषिकमत से संस्कारविरोधी माना गया है अर्थात् ब्रह्मविद्या का उदय प्रपञ्चसंबन्धिमिथ्याज्ञानप्रयुक्त रागद्वेषज संस्कारों का विनाशक है एवं च उक्त विनाशप्रतियोगी संस्कार ही 'भव' हैं उसके मूल में रही मूलाविद्या ही 'भवनिसि' है।

नासा

स्वमत में प्रपञ्च मूलाविद्या का परिणाम होता हुआ दुवा भी बाधित है अतः ज्ञान के उदित होते ही मूलाविद्या नष्ट होती है फलतः तदुपादानक जगत् का नाश भी रजतनाश के समान उपपन्न है जो 'नासा' से व्यक्त है। भक्तिपक्ष से जगत् सत्य होने पर भी उसको ईश्वरातिरिक्ततया प्रतिभात होने में कारणतया कथित पुण्यपाप का विनाश ईश्वरभक्ति से होना 'नासा' से स्पष्ट है।

बचनकिरन

ब्रह्मज्ञजनकवंश सदा दुःखासंसृष्ट सुखी होता हुआ ईशभक्ति की सेवा में अपने को अंगतया समर्पित करता आ रहा है जैसा कि शिवजी ने दिये धनुष् के रक्षण के प्रति राजा के दत्तचित्त से निर्विवाद है। वैसा कार्य मुनियों को ईश्वर से प्राप्त नहीं है। अतः समय समय पर सन्देह उपस्थित होने पर जनकवंश ने माध्यस्थ्य करते हुए अपने वचन को सुनाकर सबको अन्धकार से हटाने का कार्य किया है उसीको 'वचनकिरन' से ध्वनित किया है।

मुनिकमल विकासा

उपनिषद् के अर्थ में जब मुनियों को शंकाएँ उदित होती हैं तब वे मुझते हैं किन्तु राजाजनकजी के वचनरूपी किरणों से शंकार्थों का समाधान प्राप्त होने पर उपनिषद के अर्थनिर्णय में असंदिग्ध होते है यही "मुनिकमलविकासा" है। उदाहरणार्थ शुकदेवजी को जनकराजा ने अशंकित कर यथार्थ बोधकराकर भक्ति में अंग बनाना देवीभागवताने में वर्णित है।

तेहि कि

ग्रन्थकार ने "तेहि कि" प्रश्न से मोहाभाव की वास्तविकता ध्वनित की है। अर्थात् ब्रह्म का यथार्थस्वरूपानुभव जहां चमक रहा हो उस देह में आत्माभिमान-ग्रन्थि का ही जब उन्मूलन हो चुका है तब देहसम्बन्धिसम्बद्ध में आत्मीयता के अस्तित्व का भान कैसे रहेगा? यही 'तेहि कि' प्रश्न का आशय है।

तेहि 'जासु' में व्याख्यात है।

मोह

साभासजीव के अधिष्ठानभूत आत्मा में अज्ञानप्रयुक्त कर्तृत्व का आरोप होना व कर्तृत्वभान के साथ आत्मत्व का भी उसमें भान होना "मोह" है जो तथ्यभूत आत्मा के संबंध में अभानापादक होता हुआ आवरण है इसी की निवृत्ति "ग्यानु" शीर्षक में बतायी गयी है।

ममता

देहात्मभानप्रयुक्त परिमितप्रमातृतासम्बन्धनिमित्त से देह व तत् संबन्धी में रहा "अयं मम" इत्याकारक भाव ही "ममता" है।

निअराई

अधिष्ठानभूत ब्रह्म का भान जिस को प्राप्त है उसके समीप में किसी प्रकार का आवरण (अभानापादक असत्वापादक अनानन्दतापादक) न होने से उपर्युक्त मोह व ममता इन दोनों ने ब्रह्मज्ञ के सामीप्य में आना संभव नही, तथापि "निअराई" कहना न्याया-भिमत आहार्य के समान है जैसा कि विरोधी ज्ञान के रहते प्रतिबध्य का न आना निर्णीत है फिर भी वह प्रसक्त कभी होता है तो आहार्य है जो न्याय मत में विशेष इच्छा के अधीन माना जाता है, वही युक्ति प्रस्तुत में मननीय है।

यह

यत् :—अभानापादकआवरणभंगविशिष्ट ज्ञानसमानकालिक "मोहममता-निअराई", रहते मोह ममत होना "यत्" पद का वाच्यार्थ है।

सियराम

श्रीरामनाम के पूर्व सीताजी के नामोल्लेख से सीता माता के प्रति अनुराग-विशेष ज्ञात होता है। अथवा प्रपंच के प्रति माया एवं ब्रह्म दो मिलकर उपादान और निमित्त कारण होते हैं जैसा कि न्याय रत्नावल्यादि में कथित है। भक्तिपक्ष से इच्छा विशिष्ट होकर ब्रह्म जगत् का उपादान और निमित्त है समझाने हेतु "सीताराम" का उल्लेख है :

सनेह बड़ाई

सनेह :—"ममतासंबद्धं श्रीसीतारामः सुखं" इत्याकारक चतुर्थावस्थाकप्रतीति "सनेह" है इसका विवेचन पूर्व में हो चुका है।

भक्ति की सेवा में अंगतया रहे ब्रह्मविद्यासंपन्न को समाधिजगत् की न्यूनता दर्शाकर उसको भक्ति दिखाने हेतु अपने पास बुलाना सीताराम जी का स्नेह है।

बड़ाई

सियारामप्रीति का बड़प्पन उत्तरकाण्ड में "जोग बिराग ग्यान निपुनाई। विद्या विनय विवेक बड़ाई" से गाया गया है।

अथवा निश्छल प्रीति ही भक्ति है वही परमपुरुषार्थ है वही निगमनिचोर होती हुई उत्थितसमाधि की अवस्था में आस्वाद्य हैं। तदर्थं माया से अपरिच्छिन्न ब्रह्म की वासना से संप्रतिपन्न को अपने पास बुलाना 'सियाराम सनेह बड़ाई' है।

सनेह बड़ाई की उत्तेजकता.

सबीज समाधिक भेदवादियों के मत से चिन्त्य है कि मोह व ममता के लिए प्रतिबन्धकभूत ब्रह्मज्ञान में स्थित प्रतिबन्धकता के लिए 'सीतारामसनेहबड़ाई' उत्तेजक है फलतः राजा विदेह का वंश औपनिषदविद्यानुभव में जिस प्रकार निपुण है उसी प्रकार आद्या जगज्जननी श्रीसीताजी का अनन्य उपासक होता हुआ नैरन्तर्येण श्रीसीताराम के विग्रह को सुखरूप में प्रतिभात करता चला आ रहा है इसी तथ्य को तर्कतः मुनियों के सामने प्रगट कराने हेतु श्रीरामवनवास एवं भूपतिमरण को निमित्त बना कर "सीतारामसनेह" की उत्तेजकता प्रदर्शित कराना "सनेह बड़ाई" की उत्तेजकता का भाव है।

बड़ाई से पूर्वोत्तरपक्षविवेक

पूर्वपक्ष मत में राजा ने शोकाक्रान्त होना इष्ट नहीं है क्योंकि "यत्र-यत्र ब्रह्मविद्या तत्र-तत्र शोकाभावः" व्याप्ति स्मर्तव्य है।

उत्तरपक्ष में "सियाराम सनेह बड़ाई" उपर्युक्त साध्य-हेतु की व्याप्ति को प्रतिषेधित कर अपने अभावरूप उपाधित्व को सूचित कर रही है। आशय यह कि सीतारामविषयक अत्युत्कट प्रीत्यभाव के रहते उक्त साध्य की व्याप्ति हेतु में निर्णेतव्य है।

इस प्रकार पूर्वोत्तरपक्षाभिमत विवेचन पूर्ण है। उपाधि और व्याप्ति का विशेष विवेचन श्रीराम-लक्ष्मणसंवाद में द्रष्टव्य है।

संगति :—"निगम निचोर" संबंधी उक्त मत को प्रगट करने में अपेक्षित अधिकारी के रूप से राजा की महत्ता गाने के बाद "निगम निचोर" के प्रति साधु का व अपना मत शिवजी प्रकट कर रहें हैं।

चौ० :—बिषई साधक सिद्ध सयाने। त्रिबिध जीव जग बेद बखाने ॥३॥

रामसनेहसरस मन जासू। साधुसभा बड़ आदर तासू ॥४॥

सोह न रामपेमबिनु ग्यानू। करनधारबिनु जिमि जलजानू ॥५॥

भावार्थ :—वेदों ने संसार में तीन प्रकार के सयाने जीव कहे है-विषयी, साधक व सिद्ध, उनमें से जिनका मनस् श्रीरामप्रेम में रमा रहता है उनका साधुसभा

में बहुत आदर होता है। श्रीरामप्रीति के बिना ज्ञान शोभायमान नहीं होता। जैसे जहाज कर्णधार मल्लाह के बिना।

विषई साधक सिद्ध सयाने

शा० व्या: ०—विषई :—व्यभिचारिधृतिसम्पन्नपूर्वक नीतिकुशल होते पुत्र, मित्र, कलत्र, धन में आसक्त रहने वाले यहाँ "विषई" से विवक्षित हैं।

साधक :—धारणाशीलयुक्त युंजानयोगी "साधक' से विवक्षित हैं।

सिद्ध :—ध्यान में निपुण समाधिस्थ युक्त योगी 'सिद्ध' हैं।

सयाने :—स्व स्व विषय के प्रति अप्रामाण्यज्ञानानास्कन्दितः विदग्धव्यवहार सन्तोष शिष्यहिताधानार्थदर्शनानुमेयसुदृढ़मतिसंपन्न 'सयाने' हैं यह सिद्ध आदि तीनों का विशेषण है। उसकी सार्थकता स्व स्व विषय के संबन्ध में तर्ककुशलतापूर्वक ग्राह्याग्राह्यविवेक से ग्राह्यमात्रविषयक रुचि के सार्वदिक उदय से ज्ञातव्य है। अर्थात् विषयी का प्रबुद्ध बाह्यालंबन ज्ञान, साधकों का कुशलतापूर्वक प्राणायाम व तपस् आदि को सफल बनाने का ज्ञान एवं सिद्धों का उपनिषदुक्त ब्रह्म का अनुभव सयाने से समझाने में कवि का तात्पर्य अवगन्तव्य है। उस उक्ति का पर्यवसान विषयी आदि तीनों को रामस्नेह की अप्राप्ति न होने में है।

बेद बखाने

उपर्युक्त विषयी आदि तीन प्रकार के जीवों का कल्याण करना है अतः वेदों ने कल्याणसाधक कर्मकर्तृत्व के अनुबन्ध में त्रिविध जीव वेदबखाने के विषय हैं। तत्साधक मार्ग भी अनेक हैं अतएव वे पथ न तो खण्डनीय है न तिरस्करणीय हैं और न शोचनीय हैं क्योंकि अधिकारिभेदेन सबको की कल्याणप्राप्ति की व्यवस्था करने पृथक रूप में गायी गयी है। जैसा कि अक्रूरजी ने यमुनाजी में स्नान करते हुए किए भगवत्स्तुति से प्रसिद्ध है। (भा० १० ४ से ९ तक। अथवा ज्ञानयोग कर्मयोग व भक्तियोग गीता में स्फुट हैं वही "वेद" बखाने है।

रामसनेह

"रामसनेह" से "निगमनिचोर" बता रहे हैं।

यदि विषयी आदि जीव "बेद बखाने" के अनुगामी होते हुए तत्तद्वेदार्थ को प्राप्त करने के पूर्वोत्तर काल में श्रीराम के प्रति स्थायी प्रीति को प्राप्त करते हैं तो उनका प्रेमास्वाद, जीवन की सार्थकता का द्योतक माना जाता है।

सरस

"मन चंगा तो कठौती में गंगा" इस साधारणोक्ति के व्यावर्तनार्थ "सरस" कहा है। एवंच श्रीरामस्नेह में किसी भी प्रकार से अनौचित्य का प्रसंग न आना

तथा उस स्नेह को पाकर शरीर (कर्ता) इन्द्रियां (करण) और विषयापलब्धि में तुष्टि, बल और आरोग्य उपलब्ध होना "सरस" है। इसका अन्वय "मन" के साथ है, अर्थात् वह (मन) विषयी आदिकों का अन्तःकरण कुछ समय के लिए इधर उधर भटकता हुआ भी श्रीरामस्नेह को ही आलम्बन मानकर स्थिर होता रहा तो "सरस मन" कहा जाता है। मनस् के आलम्बन भूतस्नेह के संबंध में ही साधुमत का झुकाव होना इंगित है वही "निगम निचोर" है जिसमें राजा जनकजी का अभिमत प्राप्त है।

जासू

"जासू" से विषयी आदि त्रिबिध जीव विवक्षित हैं।

साधुसभा

राजनीति शास्त्र में धर्म की व्याख्या करते हुए यह कहा है कि सन्धि आदि उपायविकल्प में निष्णात आगमवेदी 'साधु' हैं वे जिसके चरित्र के प्रति प्रशंसा करते हों वही चरित्र धर्म माना गया है। तदनुसार विषयी नीतिकुशल हैं, सिद्ध सयाने हैं, अथवा विद्यासंपन्न होते हैं तो वे "साधुसभा" में प्रशंसित होते हैं। इसी को ध्यान में रखकर दोहा २।२६३।८ में "साधुसभा" का उल्लेख करना स्मर्तव्य है।

आदर

श्रीरामस्नेह में स्वाद चखने वाले विषयी आदिकों के प्रति साधुओं का अनुपेक्षात्मक ज्ञान "आदर" से विवक्षित हैं जो विषयी आदिकों के लिए दुर्ग का काम करता हैं।

"आदर" का अन्वय "बड़" से है। उसका निष्कर्ष पौनःपुन्येन साधुसभा से श्रीरामस्नेहियों का कीर्तन होने में है।

तासू

'जासु' शब्द का जो अर्थ है वही (रामसेवामनस्क) 'तत्' शब्द से ज्ञातव्य है।

सोह न

"सोह" का अर्थ शोभा है उसका अभाव "सोह न" है, जो "ग्यानू" से अन्वित है।

रामपेमबिनु

"रामपेमबिनु" से व्यतिरेक दिखाकर परविद्या तथा अपरविद्या में धर्मनीतिरूपता न होना समझा रहे हैं। श्रीरामप्रीति के अभाव में वैषयिक वासना का उन्मूलन

न होने से शास्त्रप्रसूत प्रबुद्धज्ञान या आत्मालंबन ज्ञान का विषयों के संसर्ग में तिरोधान होना असंभव नहीं क्योंकि उन्हें रघुपतिरक्षण का बल नहीं मिलता। निष्कर्ष में श्रीरामप्रीति पर बल देने का प्रयोजन यह भी है कि प्रीति के वश होकर श्रीराम जब विषई "साधक सिद्ध" अन्यतमों के हृदय में प्रवेश कर उनकी रखवारी का भार लेते हैं तभी वे श्रीराममस्नेही सुरक्षित हो सकते हैं अन्यथा नहीं।

ग्यानू

ज्ञान ही एकमात्र सबके (विषयी, साधक, सिद्ध सुजान) लिए अपेक्षित होने से "ग्यानू" गाया है। उसकी शोभनीयता का अभाव "नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं न शोभते ज्ञानमलं निरंजनम्" इत्यादि भागवतोक्ति से स्पष्ट है।

जलजानू

जिस प्रकार कर्णधाररूप रक्षक के बिना जलयान समुद्र की या हवा की तरंगों में किधर की गति को प्राप्त करेगा ? कहा नहीं जा सकता। उसी प्रकार रघुपतिरखवारी के लिए अपेक्षित श्रीरामस्नेह के विना युंजानादि का अन्तःकरण किस प्रतिभा के बल पर किस गति को प्राप्त करेगा ? कहा नहीं जा सकता। इस प्रकार साधुमतनिरूपण पूर्ण हुआ तथा सोह न रामप्रेमबिनु ग्यानू, उपमेय को 'करनधारबिनु जिमिजल जानू उपमान से उपमित कर उपमान की प्रमाणता भी समझायी है।

संगतिः—उक्त अर्थ समझने के बाद राजा का विराग के तरफ ध्यान देना देखकर जिस उद्देश्य को लेकर जनकराजा का आगमन हुआ है उसके अनुगमन से नृपनय के प्रकाशनार्थ प्रस्तुत कर्तव्य को पूर्ण करने के वारे में वसिष्ठजी प्रबोध करा रहे हैं। उसमें २७६ दोहे से कड़ी का जुटना समर्तव्य है।

चौ०—मुनि बहुबिधि बिदेहु समुझाए। रामघाट सब लोग नहाए॥ ६॥

भावार्थः—मुनि ने कर्तव्यांश को बहुत प्रकार से समझाया। फिर सब ने रामघाट पर स्नान किया।

बहुबिधि बिदेह

शा० व्या०—श्रीरामस्नेहाभिमुख विदेहराजा के लिए प्रस्तुत घटना के समाधान में अपेक्षित सभा को आगे संघटित करना होगा अतः स्नान, कामदगिरिप्रदक्षिणा, उपवास, सभासंघटन एवं चर्चा आदि 'बहुबिधि" से बिवक्षित है।

"बिदेह"—मुनि से कर्तव्य समझकर विदेह राजा अपनी कृति से जिस नीति को प्रकाशित करेंगे उसी को प्रजा ने अपनाना अर्थसिद्ध है अतः प्रजा ने कहा 'विदेह' पुनः दुहराना नीति का स्मारक है।

समुझाए

"समुझाए" कहकर विदेह राजा की साधुसभासांकुशता समझायी है।

रामघाट

"सबसर सिन्धु नदी-नद नाना। मन्दाकिनी कर करहिं बखाना" (१३८/५) से वर्णित मन्दाकिमी पर स्थित रामघाट का महत्व "परस चरनरत अचर सुखारी। भए परमपद के अधिकारी" से स्फुट है।

नहाए

तीर्थप्राप्ति के बाद तन्निमित्तककर्तव्य के अन्तर्गत प्रथमतः श्रीरामाश्रम में हुई धूलिवन्दना के बाद, तीर्थवन्दना, स्नानादि कार्य ज्ञातव्य है।

इस प्रकार साधुसभा में रहकर मुनियों से ज्ञानी राजा ने धृति ज्ञान आदि का समादर प्राप्त कर उन्होंने अपनाया तीर्थप्राप्तिनिमित्तक कार्य कविने सुनाया है।

संगति :—मिथिलावासियों का तीर्थप्राप्तिनिमित्तक उपवास सुना रहे है।

चौ० :—सकल सोकसंकुल नर-नारी। सो बासरु बीतेउ बिनुबारी ॥७॥
पसु खग मृगन्ह न कीन्ह अहारू। प्रिय परिजनकर कौन बिचारू? ॥८॥

भावार्थ :—सब स्त्री-पुरुषों ने शोक में व्याकुल हो बिना पानी पिये दिन बिताया। पशु-पक्षियों तक ने जब नहीं पिया तो स्नेही संबंधियों के बारे में क्या सोचा जाय?

सकल

शा० व्या० :—"सकल" से दोनों समाज विवक्षित है क्योंकि श्रीरामप्रीति में रहे दोनों समाज के सदस्य "विपई साधक सिद्ध" अन्यतम कोटि में गिने जा सकते हैं।

सोकसंकुल

अवध में घटित घटनाओं के मूल में प्रेरकतया स्वीकृत संपूर्ण राजवचनों को याद करते हुए श्री रामराज्योत्सव के विच्छेद की आशंका नाशक मुनियों के उपदेश से क्षीणबल हुआ शोक मौका पाकर दोनों समाजों को पुनः-पुनः संकुल कर रहा है।

बिनुबारी

ज्ञातव्य है कि श्रीरामराज्योत्सवाभावविद्वेष से व्याप्त अवध की नर-नारियाँ व्यभिचारिधृतिसम्पन्न होती हुई उसी एकाग्रता में मैथिलसमाज के, साथ पुनः उपोषण कर गई जिसका परिणाम फलत्याग में दिखाया है जो "बिनुबारी" से सूचित है।

पसु खग मृगन्ह

"स्वानि कर्माणि कुर्वाणा दूरे सन्तोपि मानवाः प्रिया भवन्ति लोकस्य[1] तथा[2] 'स्वे

---

१. मनु स्मृति २. गीता

स्वे कर्मव्यवस्थिताः' उक्ति की चरितार्थता समझाने हेतु ग्रन्थकार ने "पसु खग मृगन्ह न कीन्ह अहारू" कहा है। अर्थात् मिथिलावासीको दण्डनीति से स्वकर्तव्य की ओर अग्रसर करानेवाले राजा जनकजी, अपना कार्य नीति के साथ निभा रहे हैं उसी से प्रभावित होकर पशु तथा खगादि भी भोजन त्याग रहे हैं।

प्रिय परिजन

प्रभु के प्रियजन से अवधवासिसमेत मिथिलावासी गृहीत हैं इसलिए जिस प्रकार अवधवासियों की "मुनि कहे जल काहु न लीन्हा" से दशा दिखायी गई है उसी प्रकार मिथिलावासियों की दशा दिखाई जा रही है जिससे दोनों समाज की समानशीलव्यसनिता व शान्तरसपरिपूर्ण श्रीरामसागर भेट की चरितार्थता स्फुट हो रही है।

कौन बिचारू ?

यद्यपि कोल-किरातों के द्वारा दोनों समाज का आतिथ्यसत्कार होना असम्भ नहीं था तथापि श्रीरामप्रीतिसंपृक्त शोक का साधारणीकरण इतना तीव्र हुआ है कि कोलादि भी शोकसंकुल में निमग्न हो गए अतः किसी ने किसी को न पूछना "कौन बिचारू" ? से उपपन्न है। इस प्रकार अभ्यागत मिथिलावासियों कोशोक सूच्य प्रीति से परिवेष्टितव्रतात्मक प्रथमदिवसीय कार्य पूर्ण हुआ।

संगति :—मिथिला से अभ्यागत स्त्री-पुरुषसमाज का द्वितीय दिवसीय-चरित्र सुना रहे हैं।

दोहा :—दोउ समाज निमिराजु रघुराजु नहाने प्रात।
बैठे सब बटबिटपतर मन मलीन कृसगात ॥ २७७॥

भावार्थ :—दूसरे दिन प्रातः दोनों समाज, रघुपति व जनकजी ने यथासमय स्नान किया। सब वट वृक्ष के नीचे एकत्रित हो गए। उनका मनस् उदास व शरीर दुर्बल है।

दोउ

शा० व्या० :—"दोउ समाज" का अन्वय 'नहाने' से है।

निमिराजु

"निमिराजु" से जनकराजा विवक्षित हैं। दोनों राजु के उल्लेख का प्रयोजन दोनों समाजों के नायकत्व का प्रदर्शन है। यतः ये दो ही सभा के विसर्जयिता हैं जैसा कि २७८।५ व ६ चौपाई से स्फुट है।

नहाने प्रात

स्नान उपलक्षण है अर्थात् प्रातः कालीन कृत्य, पंचायतनपूजन, पार्थिवपूजन गिरिप्रदक्षिणा आदि नित्यकर्म स्नान से संगहीत हैं।

बिटप तर

"बिटप तर" से वही वृक्ष समझना है जहां बैठे हुए प्रभु को भरतजी ने देखा है। बिखरे समाज को एकत्रित करने का यही अवसर प्राप्त हुआ है, यतः प्रातः स्नान कर सभी श्रीरामदर्शनार्थ एकत्रित होते हैं।

मनमलीन कृसगात

"मनमलीन कृसगात" शोक का अनुभाव होता हुआ अधृति से विशिष्ट है जो शोक की पुष्टि करता हुआ श्रीरामप्रेम की पुष्टि का परिचायक होने से साधुओं के लिए आस्वाद्य हो रहा है।

संगति :—द्वितीयदिवसीय प्रातःकालीन कार्यों से निवृत्त होकर एकत्रित हुए समाज को उपदेश सुनाकर अग्रिम कर्तव्य व निर्णेतव्य तत्त्व के प्रति चिन्तन करने की योग्यताप्राप्ति हेतु समाज के साथ आए विद्वानों ने उपदेश सुनाना समझा रहे हैं जिसमें धर्म नय विरति एवं विवेक पूर्ण है।

चौ० :-जे महिसुर दसरथपुरबासी। जे मिथिलापतिनगरनिवासी ।।१।।
हंसवंसगुर जनकपुरोधा। जिन्ह जगमगु परमारथु सोधा ।।२।।
लगे कहन उपदेस अनेका। सहितधरम-नय-बिरति-बिबेका ।।३।।

भावार्थ :—अवधपुरीनिवासी एवम् मिथिलापुरीनिवासी ब्राह्मणों में प्रमुख, (जिन्होंने लोकयात्रा व परमार्थतत्व को प्रतिभात किया वे) वसिष्ठजी व शतानन्दजी यहां उपस्थित हैं उन्होंने अनेक उपदेश सुनाये जिसमें धर्म, नीति, वैराग्य विवेक का समन्वय था।

महिसुर

शा० व्या० :—वसिष्ठजी एवं शतानन्दजी की आज्ञा में निरत होकर आश्रम में रहने वाले वसिष्ठशतानन्दानुगत तत्तत्स्थानवासी ब्राह्मण भी यहां उपस्थित हैं तथा विश्वामित्रमुनिआश्रमवासी विद्वद्वर्ग भी वहां ज्ञातव्य हैं यतः वे (कौशिक) भी यहां उपस्थित हैं।

अथवा :—ब्रह्मविद्या व भक्ति के एकत्रावस्थापन की उपपत्ति जिनके विद्या-प्रचार से हुई है वैसे प्रचारक विप्र ही "महिसुर" से कीर्तित है।

दसरथपुरवासी

राजा दशरथजी ने अपने पुर में यत्र-तत्र विद्वानों को निवास देकर उनके द्वारा वर्णाश्रमोपबृंहित भक्ति व विद्या की इस प्रकार स्थापना करवाई है कि जिससे प्रजा सदैव

नीति, विवेक, विरति व धर्म में जागृत रहे। उसका फल जनपदों में राष्ट्रगुण-संपत्ति तथा निर्व्यसनिता ज्ञातर हे।

मिथिलापति

तत्काल में अवधपति का निर्णय होना है अतः केवल "मिथिलापति" कहा न कि अवधपति।

नगरनिवासी

जनकजी की परम्परा भी अवधपुरी की कार्यप्रणाली के समान ही है अन्तर इतना ही कि एक ओर भक्ति सबल-बलवती हो विराजमाना है दूसरी ओर उसकी अंगतया प्रधानभूता ब्रह्मविद्या सबल बलवती हो विराजमाना है उसका फल यह है कि अवध में श्रीराम व मिथिला में सीताजी प्रकट हुई। अभी दोनों नगरवासियों के एकत्रित होने का अद्भुत योग होना सोचकर कवि ने "दसरथपुरवासी" मिथिलापतिनगरनिवासी का एक साथ उल्लेख किया है।

गुर जनकपुरोधा

गुरु वसिष्ठजी व शतानन्दजी सभी (प्रजा, ज्ञानी, सन्त) की नीतिकुशलता विवेकिता धर्म व विरति के परीक्षक हैं अन्यथा तात्कालिक ब्रह्मक्षत्रोत्तर प्रजा को उपदेश देकर उनको शोक से बचाना असम्भव होता।

पुरोधा के उल्लेख का प्रयोजन

दोनों समाज शोक एवं चिन्ता से ग्रस्त हैं। दोनों ही "रसा रसातल जाई" स्थिति की आशंका में अवधराज्यस्थिति को यथा स्थित रखने में कृतसंकल्प हैं। यदि उनको उचितकारिताप्रयोजक धृतिभाव में न लाया जाय तो विचारशक्ति के अभाव में समाज की शोकाक्रान्तता उसको कुपथ की ओर ले जाने में सहायक होगी न तो परस्पर-विरोधी राजवचनों का समन्वय समझ में आएगा। परिणामतः दोनों समाज एकतापन्न होकर प्रभु के वनवास पर न स्वीकृति दे पाएगा न तो भरतजी का नन्दि-ग्रामवास लोकप्रिय होगा। अतः उपदेशकों की अपेक्षा यहाँ "पुरोधा" के उल्लेख से समझाई है।

जगमगु

"जगमगु" का निष्कर्ष लोकयात्रापरक है। वह तभी शोभित होता है जब वर्णाश्रम स्थापित होता है। अतः नीति के मत में "जग" शब्द वर्णाश्रम में संकेतित है। शास्त्रों में लोकयात्रा की सुचारुता में परमार्थ भी संलग्न किया है इसलिए जब पुरोधा जी स्वार्थ परमार्थ की प्राप्ति का मार्ग कर्तव्यतया समझाते हैं तब वह मार्ग

निष्कंटक होता है। अन्यथा स्वार्थलिप्सा को बढ़ावा दिया जाय तो उसके पूर्त्यभाव में सदा सन्ताप ही भोगना पड़ता है ऐसा समझाने हेतु 'जग मग' कहा है।

सोधा

धर्म नय, विरति, विवेक को यथावत् प्रचारित करने में अनेक प्रकार की शंकाएं असम्भवनाएं परिमितप्रमातृभाव, निजसुखदुः 'स्ववशता काल की मर्यादा' तृष्णा आदि प्रतिबन्धक रूप में माने गए है उनके निरासार्थ तर्कयुक्त प्रामाण्य की स्थापना की अपेक्षा "सोधा" से स्पष्ट है। वह कार्य सबसे सम्भव नहीं है समझाने के लिए तुलसीदासजी ने जानबूझकर "पुरोधा" के सम्बन्ध में "सोधा" कहा है।

उपदेस

उपदेश :—प्रभुसम्मित, सुहृत्सम्मित व कान्तासम्मित भेद से तीन प्रकार के पूर्वपरंपराप्राप्त विधान "उपदेस" से विवक्षित हैं।

धरम नय विरति बिबेका

धरम :—वेद विहित कर्म धर्म हैं। जैसे प्रस्तुत में वेदविधि के अन्तर्गत सत्यप्रतिज्ञ राजा दशरथजी के विधिविधान से श्रीराम को वनवास और भरतजी को (नन्दिग्रामवासपूर्वक राज्यसंचालन) टीका होना धर्म है।

नय :—वेदविधि से विहित होते हुए प्रत्यक्षानुमानतः फलसाधनतया परिज्ञात देशकालशक्त्यनुकूल कर्म "नय" है। जैसे स्वामित्वोपधायकरूप में राज्यटीका 'धर्म' होते हुए 'नय' नहीं है क्योंकि यदि भरतजी राज्यटीका स्वीकारते हैं तो "रसा रसातल जाई" की स्थिति उत्पन्न होगी। जब श्रीराम स्वामी होंगे उसके पश्चात् भरतजी टीका लेंगे तब वह 'नय' होगा।

विरति :—"इन्द्रियाणां स्वेषु२ विषयेषु अविप्रतिपत्ति" : अर्थात् इन्द्रियों को शास्त्रानुमोदित प्रमाणसमन्वित अर्थ की ओर ही प्रवृत्त कराना "विरति" है अथवा सर्वथा मनोव्यापार का निरोध होना "विरति" है।

विवेक :—प्रमाण और प्रमेयविषयक तर्क (ऊहापोह) विवेक है। जैसे आरम्भ में माताओं के वचनप्रमाण पर अपनी असन्तुष्टि प्रगट कर प्रमाणरूपी त्रयी को आरम्भ में दुर्बल ठहराना व पर्यन्त में भक्तिप्रतिष्ठा के बाद राजनीतिसमन्वय में पुनः पितृमातृ उभयवचनानुरूप त्रयी का अनुगामी होना विवेक है।

संगति :—वसिष्ठमुनि आदि पुरोधाओं ने प्रजा को जो भी उपदेश सुनाए वे प्रभुसम्मित एवं सुहृत्सम्मित थे पर उनसे पुरजनमनोमलिनता व कृशगात्रता निरस्त नहीं हो रही थी। उसके निरासार्थ उपचार के रूप में कान्तासम्मित उपदेश आवश्यक है ऐसा सोचकर जिन्होंने पौराणिकी कथा सुनाई उनका व कथा का संकेत सुना रहे हैं।

चौ०-: कौसिक कहि कहि कथा पुरानीं । समुझाई सब सभा सुबानीं ।।४।।

भावार्थ :—विश्वामित्र मुनि ने पुराणकथाओं का पुट देते हुए पूर्वेतिहास (रामकथा) का वर्णन कर सबको गम्य (ऋत) वाणी से समझाया।

कौसिक

शा० व्या०—यद्यपि चित्रकूट में विश्वामित्र मुनि के आगमन व उपस्थिति का पृथक् वर्णन नहीं है तथापि ऐसा मालूम होता है कि जनकजी उनको साथ में लेकर आए हैं क्योंकि प्रभु के साथ विचार करते हुए यदि नीति धर्म विवेक के समन्वयहेतु कोई समस्या उपस्थित होती है तो उसकी नियामकता महर्षि विश्वामित्रजी में सर्वमान्य है।

कथा पुरानी

पुरानी :—"पुरानी।' से पुराणोक्त योगावासिष्ठादिकथा विवक्षित है।

पुराणकथाओं का उपयोग विवेक जागृत कराते हुए मोह को दूर कराने में हैं क्योंकि श्रीरामवनवास का उद्देश्य असुरसंग्राम और नैतिकप्रयोगबिशेष से भी संबंधित है उसी में धर्म नय विरति विवेक भी प्रदर्शित है।

समुझाई

दोहा १।२०६।५-६ के अनुसार कहना है कि विश्वामित्र मुनि ने श्रीराम का प्रभुत्व जानकर राजा दशरथजी से "इन्हे कहं अति कल्यान" (१।२०।७) हेतु याचना की थी उसका संकेत 'समुझाई' से है।

सब सभा

"सब सभा" से सम्पूर्ण सभासद विवक्षित है जहाँ सचिव, पुरजन-परिजन, नर-नारी, महारानियां, चारों भाई, मुनि विप्रमण्डल, विषयी, साधक, सिद्ध, उपस्थित हैं।

सुबानी

"सुबानी" का तात्पर्य श्रीरामवनवास के प्रति भरतसम्मति एवं अवधस्वामित्व-स्वीकृति में श्रीराम से सम्मति प्राप्त कराने हेतु मुनि की उस वाणी से है जहां ब्रह्मज्ञजनाभिमत अध्यात्मतत्व और भक्तमण्डली की श्रीरामसेवात्मकशरणागति समझाने के साथ-साथ "निगमनिचोरि" समझाने में है। जहां साधुमतलोकमतनृपनय व भरतमनस् भी समन्वित होकर रहेंगे।

संगतिः—धर्म, नय, विरति विवेक आदि तत्वों को प्रकाशित करनें वाली श्रीरामप्रोक्त विधि से संगत विविध वाणी को सुनते हुए जब विश्वामित्र जी के द्वारा स्वस्तुति का उपक्रम देखा तो उसको बीच में ही रोककर श्रीराम देशकाल-

विशेष का बहाना उपस्थापित कर गुरुजी से अग्रिम कर्तव्य के निर्देश की ओर ध्यान दिला रहे है।

चौ० :—तब रघुनाथ कौसिकहि कहेऊ। नाथ! कालि जलबिनु सबु रहेऊ ॥५॥
मुनि कह उचित कहत रघुराई। गयउ बीति दिन पहर अढ़ाई ॥६॥

भावार्थ :—तब श्रीरघुनाथ ने विश्वामित्र जी से कहा कि कल सब लोग निर्जल रह गये हैं। विश्वामित्रजी ने कहा कि श्रीरघुनाथजी उचित कह रहे हैं आज के दिन का भी ढाई पहर बीत गया है।

तब

शा० व्या० :—स्वस्तुति की प्रवृत्ति को श्रीराम ने लखना "तब" से संकेतित है। भाव यह कि जैसे बालकाण्ड में मुनि ने जनकजी के सामने अपने प्रति ब्रह्मस्वरूप का प्राकट्य करने के पूर्व ही प्रभु ने विश्वामित्रजी को "मन मुसुकाहि रामु सुनि बानी' अनुभाव से क्रियान्तर की ओर संकेत कराते हुए लौकिक रूप की चर्चा में सम्मुख कर दिया वैसे ही यहां स्तुति-प्रवृत्ति से सर्वथा विमुख कराकर कालोचित कर्तव्य की ओर मुनि को प्रेरित किया है।

नाथ !

समाज की 'कृसगात' अवस्था (२५७) देखकर दयार्द्र हो प्रभु ने शिष्टाचार की मर्यादा रखते हुए "नाथ" संबोधन से कर्तव्योचित व्यवहार की ओर कौशिक मुनि का ध्यान आकृष्ट किया है।

कहेऊ

ज्ञातव्य है कि अभी तक २।२७०।३ में कहे "चुपहिं रहें" की अनुवृत्ति चली आ रही थी उसका भंग होना "कहेऊ" से विवक्षित है।

जलबिनु

समाजसहित राजा जनकजी ने कल का दिन तीर्थोपवास करते बिताया जो धर्म-प्राप्त था। अवधसमाज के लिए शोक की व्याकुलता में निर्जल उपोषण होना भी स्वाभाविक है। जैसा कि पूर्व दोहे ("बासरु बीतेउ बिनुबारी") से स्पष्ट है। दूसरे दिन भी प्रातः स्नान के बाद पूर्व गृहीत नियम, व्रत एवं गिरिप्रदक्षिणा पूर्ण करके "बैठे सब बिटपतरु" के अनुसार सभा के रूप में सभी एकत्रित हो गये पर अभी तक उन्होंने पारणा न करना "जलबिनु" का भाव है।

उचित

श्रीरघुनाथजी की उक्ति के अनुमोदन में मुनि ने "उचित" कहा है। आशय यह कि तीर्थप्राप्तिनिमित्तक उपोषण की पारणा के समय का अतिक्रमण आज होता है

तो नियमातिक्रमणप्रयुक्त अनौचित्य व पुराणकथाकीर्तन के बाद स्तुति का अनौचित्य ध्वनित है। अतः कथाविसर्जन में ही गुरु, व राजा की प्रसन्नता स्फुट होगी।

पहर अढ़ाई

दिन का चतुर्थ भाग प्रहर है–, अर्थात् दिन के दस घण्टे बीतना "पहर अढाई" है। धर्म, नय, विरति, विवेकात्मक उपदेश को सुनकर समाजने मनस्तः शोकसमुद्र को सुखाने हेतु विशेषउपन्यासपूर्वक नानाविधकथाश्रवण कराने में बिताया व्यतीत काल "पहर अढाई" से व्यक्त किया है।

संगति :—ढाई प्रहर बीतना सुनने के बाद मुनि के अभिप्राय को परखकर राजा ने व्रतपारणा की इतिकर्तव्यता श्रीरामाश्रम में अनुचित है ऐसा बताकर अपने-अपने स्थान में जाकर आहार की अनुमति देते हुए सभा को विसर्जित करना सुना रहे हैं।

चौ०—रिषिरुख लखि कह तेरहुतिराजू। इहाँ उचित नहिं असन अनाजू ॥७॥
कहा भूपभल सबहि सोहाना। पाइ रजायसु चले नहाना ॥८॥

भावार्थ :—मुनि का संकेत समझकर मिथिलानरेश ने कहा कि श्रीरामाश्रम में अन्न का आहार करना उचित नहीं है। राजा की कही बात सबको उचित लगी और आज्ञा पाकर मध्यान्ह स्नान के हेतु सभी गये।

रिषिरुख

शा० व्या० :—"रिषि" से वसिष्ठ, शतानन्द, कौशिकादि मुनि विवक्षित हैं। उनका रुख एकवाक्यतार्थ है क्योंकि "नैको मुनिर्यस्य वचः प्रमाणं" का उत्तर देना है, अर्थात् सभी मुनि प्रभु के संकेत पर स्वमत प्रगट कर उनके अंगांगिभावानुगमन में एकमत रहते हैं। तदनुबन्धी एकवाक्यता को लखकर राजा देश में मुन्यनुशासन स्थापित करते हैं उसी सिद्धान्त को कवि ने "रिषिरुख" से समझाया है।

उचित नहिं असन अनाजू

"उचित नहिं" भी 'रिषिरुख' से अन्वित है अर्थात् मुनियों का रुख राजा ने सुनाए "उचित नहिं असन अनाजू" के प्रति भी है अन्यथा राजसभास्थल में भोजन होगा तो अशुचिता प्रसक्ति से अनुचित होगा जिससे मुनिवृन्द अप्रसन्न होगा एवम् प्रस्तुत समस्या के समाधान में बाधा होगी। उस दोष से राजा ने सबको बचाया है।

असन :—अशनोक्ति से अशनीय पदार्थ भी निरूपित है।

भल

धर्म एवं शोक के सम्बन्ध से पूर्व दिन में भूख का भान न होना ठीक रहा वर्तमान दिन में अपरान्ह तक विश्वामित्रजी के उपदेश सुनते हुए श्रीरामप्रीति के आस्वाद में भूख न लगना भी ठीक ही था। कथाविश्राम होते ही देहाभिमान जगने से भूख की प्रतीति समझकर तदनुबन्धित कार्य करने में हित होना "भल" है।

सबहि सोहाना

सबहि :—उत्तम, मध्यम, अधम के अन्तर्गत रहे व्यक्ति "सबहि" से बोध्य है।

सोहाना :—राजा का निषेधवाक्य (असन अनाजू) सभासदों को ग्रहणीयतया प्रतीत होना "सोहाना" है जो राजा की दीर्घदर्शिता का सूचक है।

पाइ रजायसु

श्रौत सिद्धान्त में जो भी कर्म अनुष्ठित होते हैं-, वे यदि ईश्वरसमवेत या ईशप्रतिनिधिसमवेत प्रेरणा से प्रयोज्य होते हैं तो उसमें श्रुतिप्रयोज्यत्व आने से धर्मत्व आता है अतः स्नानादिकार्यों में धर्मत्व लाने हेतु "पाइ रजायसु" कहा है।

सभाविसर्जन की अनुमति होने के बाद सभासदों ने अपरान्हकाल की समाप्ति का समय देकर मध्यान्हस्नान किया क्योंकि आहारोत्तर स्नान आयुर्वेद में निषिद्ध है अतः सायंकालीन स्नान होना नहीं है।

संगति :—अभ्यागतों (समाज सहित राजा जनक) के आतिथ्यहेतु प्रभुप्रीति-सूचक शास्त्रविध्यनुष्ठान संकल्पमात्र से मुनि ने भेजे वनचरों ने तदनुरूप कार्य करने में प्रवृत्त होना बता रहे है।

दोहा :—तेहि अवसर फल फूल दल मूल अनेक प्रकार।
लइ आए बनचर बिपुल भरि भरि कांवरि भार ॥२७८॥

भावार्थ :—उस समय वनचारी कोल-भील कांवरों का बोझ (जिनमें बहुत प्रकार के फल-फूल, दल-मूल, प्रचुरता से भरे थे) ले आए।

तेहि अवसर

शा० व्या० :—"तेहि अवसर" से एक ओर सभी स्नानार्थ प्रवृत्त हैं दूसरी ओर वनचरों ने आहार का सामान जुटाना बता रहे हैं।

अनेक प्रकार

प्रभु के संकल्पित अतिथिसत्कारावसर पर "असन अनाजू" की व्यवस्था पूर्ण है किन्तु वनचरों ने नानाविध फल-फूल, दल-मूल आदि की अविलंब उपलब्धि समाज को कराई है फलतः फलाहार से ही पारणा होना स्फुट है। "अनेक प्रकार" का व्याख्यान "फल-फूल दल-मूल" है।

बनचर

भरतसमाज के सम्मान में भरद्वाजमुनि के द्वारा दिव्यभोगपदार्थों की उपलब्धि कराई गई थी उसमें और इसमें अन्तर इतना ही कि प्रयाग में ऋद्धि-सिद्धि उपस्थित हुई। यहाँ गुरुजी ने चरों के रूप में कराए सम्मान में स्वयं प्रकृति ही उपनिषद् विद्या एवम् भक्ति की सेवार्थ उपस्थिता हुई है।

संगति :—जिस प्रकार से से दोनों समाजों की सेवा हो रही है वह प्रकार कवि गा रहे हैं।

चौ० :-कामद भे गिरि रामप्रसादा। अवलोकत अपहरत बिषादा ॥१॥
सर-सरिता-बन-भूमिबिभागा। जनु उमगत आनँद अनुरागा ॥२॥
बेलि बिटप सब सफल सफूला। बोलत खग मृग अलि अनुकूला ॥३॥
तेहि अवसर बन अधिक उछाहू। त्रिबिध समीर सुखद सब काहू॥४॥
जाइ न बरनि मनोहरताई। जनु महि करति जनकपहुनाई ॥५॥

भावार्थ :—श्रीराम की कृपा से चित्रकूट पहाड़ इच्छित फलदाता हो गया। उसका दर्शन दुःखहारक हो गया। वहाँ के तालाब, नदी, वन, भूमि, वृक्ष, सभी फल-फूल से लदे हैं। पशु-पक्षी और भौंरे अनुकूल मंगलबोली बोल रहें है। उस अवसर पर वन में बड़ा उत्साह है। शीतल, मन्द, सुगन्धित हवा सबको सुख दे रहो है। वन की उस सुन्दर शोभा का वर्णन नहीं किया जा सकता मानो पृथ्वी, राजा जनकजी का आतिथ्यसत्कार कर रही हो।

कामद भे

शा० व्या० :—"कामं-मनोरथं ददातीति कामदः" यह कामद की व्युत्पत्ति है।

रामप्रसादा

रामशैल का वर्णन पूर्व में (२।२४९) में हुआ है अभी उसका कामदत्व वर्णित होने से पुनरुक्ति नहीं है, अर्थात् समाज संपूर्ण कामदगिरि को व्याप्त कर उतरा मालूम होता है। इसकी कामदता श्रीराम की प्रसन्ता का मूर्तरूप है। यही प्रभु का प्रसाद है। भाव यह कि प्रभु जिस पर प्रसन्न होते हैं वह कामद हो जाता है।

अवलोकत

"अवलोकत" से यह स्पष्ट है कि "जिन्ह प्रभु हेरे"[1] की सार्थकता "कामद-गिरि" से स्पष्ट है।

ज्ञातव्य है कि कामदगिरि में विवेकसाम्राज्य इतना फैला है कि उस पर्वत के कण कण को देखकर प्रबोध का उदित होना "अवलोकत" का फल है। जैसा कि भरतजी ने विवेकराज्य की स्थिति वर्णित की है।

अपहरत बिषादा

"भरतदरस मेटा भवरोगू" जैसा ही कामदगिरि के अवलोकन में विषादहरण समझाया है।

अथवा :—विवेकसाम्राज्य में सुख ही प्राप्त होता रहता है। यदि उस राज्य के निवासियों को विषाद प्रसक्त हो तो उस पर विजय प्राप्त करने का निरूपण भी होना चाहिये वह प्रकृतिवर्णन से स्फुट है। यही तथ्य "अपहरत विषाद" से सूचित है।

१. २।२१७।२

जनु उमगत आनन्द अनुरागा

धर्म, नय, विरति, विवेक से संपन्न होकर स्वशुध्यर्थ स्नान करने में प्रवृत्त, समाज की सेवा करने हेतु कामदगिरि सरितादिजड़ एवं वृक्षादिचेतन के माध्यम से भुमि सब अभ्यागतों के अनुकूल सेवा कर सुखी हो रही हैं। यह सामर्थ्य भूमि कामदपर्वत में श्रीरामप्रसाद का प्रभाव है इसी को कवि "जनु" से कह रहे हैं।

आनन्द :—"आनन्द" से दुःखासंस्पृष्ट सुखस्पर्श समझना है जो श्रीराम हैं।

अनुरागा :—"अनुरागा" से आल्हादिनी शक्ति सीताजी विवक्षिता हैं। इसके समभिव्यहार में "आनन्द" से श्रीराम ज्ञातव्य हैं अर्थात् वे दोनों सरित, वन, भूमि रूप से प्रगट होकर वृक्षादिको आनन्दानुराग के माध्यम से पुलकित करा रहे हैं।

वन अधिक उछाहू

"जब ते आइ रहे रघुनायकु। तब ते भयउ बनु मंगलदायकु।
सुरतरु सरित सुभायं सुहाए। गूंज मंजुतर मधुकरश्रेनी।
त्रिबिध बयारि बहइ सुख देनी'' (२।१२६।५-८)

आदि से वर्णित प्रकृति की अनुकूलता श्रीराम के अहिंसा, सत्य, अस्तेय आदि महाव्रत के यथार्थ अभिनय से उनके स्वागत में वर्णित हुई थी। अभी मिथिलासमाज के धर्म-नययुक्त विरति, विवेकशील आचरण से तुष्ट प्रभुसंकल्प का बल लेकर 'आनन्द अनुरागा के भाव में प्रकृति ने दर्शाई उदारता में विशेषाधिक्य समझाने हेतु ग्रन्थकार "अधिक उछाहू" कह रहे हैं। उसका कारण प्रभु के अनन्यसेवक जनकराजा की आत्म-संपन्नता, नय, शील, उदारता, चरितता, विवेकिता, विरक्तता, व प्रभु की अनन्य-सेविता है। इसके मूल में "निधिदेवमहीपानां प्रभावाच्चेव कृत्स्नशः। असात्म्य भूमिमापन्ना अपि रोहन्ति पादपाः" (वृक्षायुर्वेद) वचन के साथ "तद्भक्तेषु च सौहार्दं" भागवतोक्ति भी स्मरणीय है।

सब काहू

समस्त इन्द्रियजयसुख की एकसमयावच्छेदे प्राप्ति होना "सब काहू" से स्फुट है।

मनोहरताई

जबकि प्रकृति स्वयं ही फलफूल से सेवा करने में प्रवृत्ता है तब किसी पदार्थ में दौर्लक्षण्य न होना "मनोहरताई" है।

जनु महि करति

किसी को कहीं भी जाने की आवश्यकता प्रतीत नहीं हुई क्योंकि आभिमानिक, वैषयिक आदि सभी प्रकार के सुख की सामग्री वहीं उपस्थित हो गयी इसी को लक्ष्य रखकर उत्प्रेक्षा से कवि ने "जनु महि करति" से पृथ्वी का कर्तृत्व गाया है।

जनकपहुनाई

"क्रतौ विवाहे व्यसने रिपुक्षये प्रियासु भार्यास्वधनेषु बन्धुषु
यशस्करे कर्माणि मित्र संग्रहे धनव्ययस्त्वेषु न गण्यते बुधैः।"

उक्ति के अनुसार क्रतु आदि निमित्त से धन का व्यय होना नीति में बताया गया है। यहां ब्रह्मविद्या के प्रचारक, धर्म-नय-विरति-विवेकी राजा जनकजी की पहुनाई में उन२ व्यक्तियों के मनोवृत्यनुकूल फल-मूलादिप्रचुरसामग्री के समर्पण में प्रकृति का योग उसी प्रकार दिखाया गया है, जिस प्रकार भरतसमाज के आतिथ्य में भरद्वाजमुनि के निर्देश (रामविरहव्याकुल भरतु सानुज सहितसमाज। पहुनाई करि हरहु कहा मुदित मुनिराज) के अनुसार ("अतुल अतिथि राम लघु भाई") भरतसमाज के विशेष आयोजन में ऋद्धि-सिद्धि का योगदान गाया है।

संगति :—पूर्वोक्त दोहे के अन्तर्गत ८वीं चौपाई में "पाइ रजायसु चले नहाना" के आगे का चरित्र गा रहे हैं।

चौ० :—तब सब लोग नहाइ-नहाई। राम-जनक-मुनिआयसु पाई ॥६॥
देखि-देखि तरुबर अनुरागे। जहँ-तहँ पुरजन उतरन लागे ॥७॥

भावार्थ :—तब श्रीरामजी, जनकजी, वसिष्ठजी, शतानन्दजी, व विश्वामित्रजी की आज्ञा पाकर सब नहा-नहाकर चले। किसी एक वृक्ष को देखकर अनुराग में जहां-तहां पुरवासी उतरने लगे, अर्थात् डेरा जमने लगा।

तब

शा० व्या०—स्नानोत्तरकालवृत्तित्व "तब" से स्फुट है, अर्थात् स्नान के बाद स्थलनिवास व फलप्राप्ति में देर न होना समझा रहे हैं।

उपदेशश्रवण से शोक का परिहार होने के बाद राजा व मुनि से प्राप्त आदेशानुसार कर्तव्यतया प्राप्त स्नान करके ही सामाजिक प्रति व्यक्ति का लौटना नहाइ की द्विरुक्ति से समझा रहे हैं।

आयसु पाई का प्रयोजन

दोनों समाज निर्णयाकांक्षी है तदर्थ फलादि के अशनकालावधि की जैसी अपेक्षा है वैसी ही विश्राम काल की भी है इसलिए समाज ने अपनी अकांक्षा श्रीराम, मुनि व राजा के समक्ष दर्शायी तब तीनों ने एकमत से चार दिन की अवधि बिताकर सबको बिदा करना 'आयसु पाई" का प्रयोजन है।

अनुरागे

प्रत्येक पुरवासी ने जिस वृक्ष को विश्रामस्थल की अपेक्षा से देखा है वही वृक्ष उनके अनुराग का विषय बन गया। इसी को "अनुरागे" से कह रहे हैं। नीतिमत

से यह अनुरागवृत्ति एकार्थाभिनिवेशाभाव की सूचक कही जाएगी जो पारस्परिक प्रेम व संगठन का द्योतक है।

उतरन लागे

मिथिलावासियों ने ऐसे विश्रामस्थल को चुना जिससे अवधवासियों से किसी प्रकार का विरोध न हो। इस से गोसाईंजी ने जगत् की असत्यता समझाते हुए उसमें मायावशवर्तित्व स्फुट किया है जैसा कि "यन्मायावशवर्ति विश्वमखिलम् ब्रह्मादि-देवासुराः"[1] से स्पष्ट है।

संगति :- श्रीराम, जनकजी, व मुनि के निर्देशानुसार स्नानोत्तर फलाद्यशन सुना रहे हैं जिसमें "बिपुल भरि भरि कांवरि भार" का क्रम स्फुट असंन्दिग्ध होगा।

चौ०—दल फल मूल कंद बिधिनाना। पावन, सुन्दर, सुधासमाना ॥८॥

दोहा :—सादर सब कहँ रामगुर पठए भरि भरि भार।

पूजि पितर सुर अतिथि गुर लगे करन फरहार ॥२७९॥

भावार्थ :—भारवाहकों ने कहा कि श्रीराम के गुरु, वसिष्ठजी ने अनेक प्रकार के फल-फूल से भरे बोझ के बोझ भिजवादिए जो पावन सुन्दर और अमृतवत् स्वादु हैं। सब पुरवासी देव-पितृगण, अतिथि, गुरु की पूजा कर फलाहार करने लगे।

पावन

शा० व्या० :—"सुरतरु सरिस सुभाय सुहाए" से पूर्ण कामदपर्वत में श्रीरामप्रसाद से "दल फल मूल कन्द बिधि नाना" उदित हुए है। ज्ञातव्य है कि भरत-समाज के आतिथ्यसत्कार में भरद्वाजमुनि के आश्रम में भी "सुरभि फूल-फल अमिअ-समाना"[2] आदि कि प्रस्तुति हुई हैं तथापि ऋद्धि-सिद्धिनिर्मित पदार्थ के सुगन्ध से आकृष्ट हो उसके प्रति "सुर सुरभि सुरतरु सबही के" से इन्द आदि को लोभ होना कहा है वह दोष प्रभुसंकल्पप्रसूभोजनसामग्री में नहीं है समझाने हेतु 'पावन' कहना सार्थक है।[3]

सादर

"दल फल मूल कन्द बिधि नाना" सब कुछ होते हुए भी उपनिषद् विद्या निष्कामा होने से वह कामदगिरि से प्राप्त फल-मूलादि की लालसा से युक्त नहीं है। किंबहुना मिथिलासमाज चकवा के समान निस्पृह है ऐसा देखकर वसिष्ठजी ने अपनी ओर से भेजे सत्कारसामग्री लेने की प्रार्थना करना "सादर" से ध्वनित है। उसका अन्वय "कहँ" से है।

कहँ

कहने का कर्तृत्व निषादों में है। क्या कहा ? आदि आकांक्षाओं का उपशमन "रामगुर पठए" से मननीय होगा।

---

१. १.१० मंगलाचरण। २.२।२१५।४

३. सुधा से फलादिमें मेध्यत्ता गुणवत्ता दर्शित है।

रामगुर

प्रतीत होता है कि कौशिकमुनि, राजा जनकजी व उनकी रानीप्रभृतियों के आदर में भाईसहित श्रीराम व्यस्त होने से वसिष्ठजी ने मैथिल समाज के "पाहुन चारा" की ओर ध्यान दिया है।

भरि-भरि

बन्धु सत्कारार्थ अपने में यंभ्रम दर्शाया है भरि भरि से

पूजि पितर

भोजन के पूर्व पंचममहायज्ञ कर्तव्य होता है उसी का स्मरण कवि ने "पूजि पितर" से स्पष्ट किया है।

संगति :—यहाँ से जनकजी एवं समाज का विभज्य कर्म चिन्तनीय होगा। उसके अन्तर्गत राजा को समाज से विभक्त कर ग्रन्थकार "रहब दिन चारी" (२७३।२) का उपसंहार कर रहे है।

चौ० :-एहि बिधि बासर बीते चारी। रामु निरखि नर नारि सुखारी।।१।।

भावार्थ :—इस प्रकार चार दिन बीत गए। श्रीराम का दर्शन कर सब स्त्री पुरुष सुखी हो रहे हैं।

एहि बिधि

शा०व्या०—राजा के आगमनकालीन प्रथमदिवसीय अपराण्ह समय से प्रारम्भ कर दूसरे बर्तमान अपराण्ह पर्यन्त तक समाज के द्वारा अनुष्ठित कर्म गाए जिसके अन्तर्गत शोक का उभरना, उसके शोषणार्थ उपदेश उस बाद कर्तव्यतया प्राप्त स्नानाहार आदि एहि विधि से बोध्य है।

चारी

"दिन चारी" की उपपत्ति मे जनकराजा के कार्यकलाप की चिन्ता की गई है उसके अनुसार राजा जनकजी का चार दिन का कार्यक्रम संपन्न होना है उस मध्यावधि में अवधसमाजने चार दिन तक चुप रहने का एवं सुख भोगने का संकेत किया था उसके अनुबन्ध में कार्यक्रम को संपन्न करने वाले समाज के व्यतीत दिन यहाँ "चारी" से व्यक्त है।

चारी से चिन्त्यतत्त्व

चिन्त्य है कि वसिष्ठजी ने श्रीराम का अभिप्राय प्राप्त कर अवधसमाज को चित्रकूट में ठहराया मैथिलसमाज को भी चित्रकूट में चार दिन ठहराकर विश्राम दिलाया जो विश्वामित्रोपदेशकीर्तनसमाप्ति के बाद अपेक्षित था दोनों में अन्तर इतना

ही कि अवधसमाज के विश्राम के समय भरतचिन्तन व भरत-मुनि संवाद निरूपित हुआ तदनन्तर सभा संघटित हुई। यहाँ कौसल्या-सुनयनासंवाद, सीता-जनकजीभेंट, गुरु से श्रीराम की प्रार्थना, वसिष्ठ-जनक संवाद, वशिष्ठ-जनकजी-भरतसंवादनिरूपण के पश्चात् अन्तिम सभा का पुनः संघटित होना कहा जाएगा। उसका प्रयोजन राजा को चित्रकूट में स्वागमनवैयर्थ्य प्रतीत कराकर श्रीराम में 'बड़उ सोच' से शून्यता समझानी है।

रामु निरखि

नरनारियों का सुखानुभव, व तत्संबन्धितया पूर्व में की गई प्रार्थना "एहि सुधा सीचि सब काहू। देव! देहु जग जीवन लाहू"[1] में उक्त सफलता के द्योतकरूप में कही गइ थी उसकी पूर्ति यहाँ "रामु निरखि" से ध्वनित है।

सुखारी

"नर-नारि सुखारी" अवध व मिथिला के वासो समाज "सुबल बसउ फिरि सहित समाजा। भरतहि रामु करहि जुवराजा"[2] एवम् "राजा रामु जानकी रानी"[3] में कमित सुख की प्राप्ति होना ध्यातव्य है।

संगति :—प्रभु व गुरु के प्रसाद से सर्वविध अर्थ की सुलभता, उनकी आज्ञा-पालन करने में प्रीति, तथा धर्म-नय-विरति विवेकप्रचुर उपदेश का कार्यान्वियन इन तीन तत्त्वों से सन्तुष्ट समाज के मानसविचारात्मक कर्म कवि गा रहे हैं जो फलाहारोत्तर रात्रिकालीन है।

चौ० :—दुहु समाज असि रुचि मन माहीं। बिनु सियराम फिरब भल नाही ॥२॥
सीतारामसंग बनबासू। कोटिअमरपुरसरिस सुपासू ॥३॥
परिहरि लखन-रामु-बैदेही। जेहि घरु भाव बामबिधि तेही ॥४॥
दाहिन दइउ होइ जब सबही। रामसमीप बसिअ बन तबही ॥५॥

भावार्थ :—दोनों समाज के मनस् में ऐसी रुचि है कि विना सीतारामजी के लौटना अच्छा नहीं है। श्रीसीतारामजी के संग में वनवास, करोड़ों स्वर्ग के समान सुखकारी है। श्रीराम, लक्ष्मणजी व सीताजी को छोड़कर जिसको घर में प्रीति हो उसकी ओर विधाता की वामता कही जाएगी, जब सबका देव अनुकूल रहेगा तभी श्रीराम के साथ वन में वास होगा।

दुहु समाज

शा० व्या० :—'दुहु' से अवधवासो व मिथिलावासी विवक्षित हैं।

असि रुची

वक्ष्यामण मनोरथ "असि रुचि" से ध्वनित कर रहे हैं। जिसमें उत्तरार्ध अरुच्य है और तिसरी चौपाई का अर्थ रुच्य है।

---

१. २।२७३। २. २।२७३।७ ३. २।२७३।६

बिनु

"बिनु" का अन्वय "सियराम" से है। उसका भाव "सियराम के बिना है।

सियराम

सगुण ब्रह्म शक्तिमान् "सियराम" से विवक्षित हैं अथवा 'सिय' से नीति एवं 'राम' से धर्म विवक्षित है उनका अभाव "बिनु सियराम" है। उसका परिणाम "फिरब भल नाहीं" से आगे बतावेंगे।

फिरब

अरुच्य का कार्यान्वियन 'फिरब भल नाही' से प्रारम्भ हो रहा है।

'फिरब' से अयोध्या या मिथिला में प्रत्यावर्तन करना विवक्षित है, उसमें "भल नाहीं" अन्वित है। अर्थात् दोनों समाज स्वमत से श्री सीताराम के बिना लौटने में हितसाधनत्वाभाव समझ रहा है। उसके उदाहरणरूप में सद्यःघटित मिथिला व अवध की स्थिति समझनी है अतः "फिरब" कहना उपपन्न है।

भल नाहीं

'भलनाहीं' से अनिष्टसाधता भी समर्तव्य है। सामान्यतया यह भी कहा जा सकता है कि भल शब्द से ध्वनित श्रीरामप्राप्ति या त्रिवर्गभोग में से एक का भी न होना 'भल नाहीं' है। उसकी उपपत्ति में 'बिनु सियराम' उक्ति समर्तव्य है।

अथवा :—"भल" शब्द से श्रीसीतारामजी की प्राप्ति ही अन्तिम पुरुषार्थ है उसका न होना "भल नाहीं" है। आशय यह कि जब मूलतः प्राप्य ही नहीं रहेगा तब उसकी प्राप्ति का सुख कहां से प्राप्त होगा!

मतान्तर में त्रिवर्गसमृद्धि पुरुषार्थ मानी गयी है वह 'भल' तब होगी जब निर्बाध होकर निर्बाधरूप में उपभोग्य होगी। उसका व्यतिरेक "भल नाहीं" है वह जो "बिनु सियाराम" का कार्य है अर्थात् जब रक्षकरूपमें सीताराम ही नहीं रहेंगे तब त्रिवर्गसमृद्धि होना न होने के समान है क्योंकि अपने हृदय में प्रतिपक्ष के रूप में मोह आत्मबल के साथ कहां से प्रगट होगा ? कहा नहीं जा सकता।

सीताराम

सीताराम :—रुच्यसमझारहे हैं'सीताराम' से २६४।३ से ८ तक की उक्ति के अनुसार धर्मनयविरतिविवेक श्री सीताराम से विवक्षित हैं। उनके निवासस्थल समाज को निवास से विवक्षित है। यदि यह अभिमत न होकर प्रजा लौटती है तो उनको भक्ति व प्रपत्ति छोड़ देगी परिणाम में राज्योत्सव कदापि नहीं हो सकेगा। यदि श्रीराम का वनही में वास होता है तो वनवासावधि के पश्चात् अवध में न सही वन में ही राज्योत्सव दृष्टिगोचर संभावित है। यह 'संग वनवासु' से आगे ध्वनित होगा। अतएव 'कोटिअमरपुरसरिस' कहना भी उपपन्न होगा।

संग

संग से श्रीसीताराम अर्थात् भक्तों को सीता के विना श्रीराम व श्रीराम के विना सीताजी उपास्यरूपमें मान्य नहीं हैं जैसाकि "सीतारामसेवकाइ" कहते आये हैं। उसी को सङ्ग से समझाया है।

बनवासू

"बनबासु" से यह ध्वनित हो रहा है कि श्रीराम नगर के भोज्य पदार्थ को छोड़कर फल-फूल आदि को ही भोग्य समझ रहे हैं तो उनके सेवक दोनों समाजों को सियराम संग में वनवास करते हुए जैसी रुचि फल-फूल पर होगी वैसी रुचि श्रीसीता-रामाभाव के रहते अवध के नागरिक भोजन पर नहीं होगी। आशय यह कि अपने स्वामी श्रीसीताराम को समर्पित नैवेद्यग्रहण में ही दोनों समाज का उदर्याग्नि तृप्त होता आ रहा है जब से श्रीसीतारामजी का अवधस्वामित्वत्याग देखा या सुना गया तब से उनकी नागरिक भोग तृप्त नहीं कर रहा था। यतः उन पदार्थों को समाज का उदर्याग्नि स्वीकार नहीं करता है अतः वनवास में इस स्थिति का (वनवास में) न होना ध्वनित है।

अथवा श्रीसीताराम ने अपना स्वत्व आश्रम में सीमित किया है उसी स्थान पर वास करने में समाज अपनी इष्टसाधनता (भल) समझ रहा है अन्यत्र अहित होना अर्थसिद्ध है यतः अन्यत्र मोह के चरण पदासीन हो चुके हैं जैसाकि समृद्ध-कामद गिरि के माध्यम से प्रकृति सूचना दे चुकी है अतः वनस्थल को निवासार्थ चुनना समाज की दूरदर्शिता का परिचायक है।

कोटि अमरपुर

'कोटि अमरपुर' से समाज ने अपनी अकामहतना स्फुट की है जो सीताराम सङ्ग में प्राप्त हो चुकी है।

परिहरि

"परिहरि" का अनिष्टसाधनाता रूप अरुच्य कार्य 'परिहरि' से समझा रहे हैं। चिन्त्य है कि परिहारि के प्रतियोगी वैदेहो लक्ष्मणजी श्रीराम है, अर्थात् जहाँ उनमें से एक भी निवास नहीं करते उस स्थल को "परिहरि" का अनुयोगी समझाया है। इसलिए कि तीनों जहां रहेंगे वहीं विवेकसाम्राज्य, विद्वत्ता शक्ति आदि प्रगट होते हैं।

लखन

श्रीराम के अंकुश में रहने वाले अनन्य अनुचर लक्ष्मणजी का प्रथम कीर्तन उनके प्रति सम्पूर्ण समाज के अतिआदर का सूचक है यतः लक्ष्मणजी के भाग्या-तिशय को भरतजी ने गाया है।

"लखन" से यह समझना होगा कि सीतारामतत्व का वहीं निवास होता है जहां अनन्यभक्त लक्ष्मणजी रहते हैं। अथवा अनन्य भक्त लक्ष्मणजी उपासक वहां रहते हैं। जहां श्रीसीतारामतत्व रहते है। आशय यह कि लक्ष्मणजी अवध जायें व श्रीसीता-रामजी वन जायें यह भी समाज को रुच्य नहीं है। यहां लक्ष्मणशब्द उपासना की दृष्टि से गाया गया है जो कौसल्याजी के प्रस्तावित अर्थ (२८४।२) का उत्तर है।

लखन :—लखन से भक्तिप्रपत्तिमान् बोध्य है।

राम :—अप्रगट या प्रगट ब्रह्म रामशब्दार्थ है।

वैदेही :—आल्हाददायिनी शक्ति वैदेही शब्दार्थ है।

रामु वैदेही

बृहस्पति ने कहे "सीतापतिसेवक सेवकाई" में घटकतया उक्त सीतापतित्व का अर्थ स्मर्तव्य है।

जेहि घरु

'जेहि' से सियराम-लक्ष्मणसंग में रुच्यभावविशिष्ट व्यक्ति ज्ञातव्य है।

भौतिक ऐश्वर्य से पूर्ण या अपूर्ण दोनो ही श्रीसीतारामलक्ष्मण से शून्य घर 'जेहि घरु' है। यतः लक्ष्मणसीता समेत श्रीराम के अभाव से अशुचित्व व कामादि विकृतियों का वहां प्राबल्य रहता ही है।

भाव

रामदिशून्य घरों के प्रति रहा राग 'भाव' है जो (रति) रागाद्यभावविशिष्ट शुचित्व बुद्धि के प्रति प्रतिबन्धक है।

बाम विधि

'बाम विधि' से अत्युकटभक्तिविघातक कर्म समझा रहे हैं। विधि की वामता यही कि उन उन अभागे स्वामियों को वैसे-वैसे घरों में विधि ने बैठाया जो घर "परि-हरि लखन रामु बैदेही" हैं उसका आशय तथाविध स्वामियों को अपवर्ग वा रामप्रपत्ति की ओर जाने से रोकने में है।

बाम विधि का उदाहरण

बाम विधि का उदाहरण इन्द्रकृत मायाप्रयोगमात्र है जो आगे व्यक्त होगा। यद्यपि ऐसा कहा जा सकता है कि इन्द्रकृत वह मायाप्रयोग रामसंकल्पानुगुण होता हुआ प्रभु के आगमन की आशा में समाजकृत व्रतानुबन्धी होने से नैतिक कहा जायगा तथापि तदतिरिक्त स्थिति से इन्द्रकृत मायाविशिष्ट होना विधि की वामता से यहां मननीय है। इस प्रकार अरुच्य का कार्यान्वयन पूर्ण है।

विधि की चर्चा

भारतीय वर्णाश्रम धर्म अपवर्ग उद्देश्य के साधनार्थ विहित है उसके अनुयामी ने रामसान्निध्य में निवास करने की रुचि रखनी ही होती है ऐसी अवस्था में रामप्रेमी समाज से श्रीराम के असान्निध्यबारे में स्वीकृति लेकर केकेयीजी व उन अनुयायियों को शासन में रखना अधर्म का परिपाक न होकर अनतिक्रमणीय विधिविशेष के अधीन मानना होगा जैसा कि श्रीराम के कार्यकलाप संकल्प से ही पहले व्यक्त हो चुका है। इस प्रकार विधि की समाज ने चर्चा करना व्यक्त है।

तेही

उपरिव्याख्यात "जेहि घरु" के स्वामी "तेही" से समझने हैं। एवंच अरुच्य का व्याख्यान पूर्ण हुआ।

दाहिन दइउ

पुनः रुच्य की कार्यान्वयितायोग्यता दर्शा रहें हैं 'दाहिन' से। राज्योत्सव का आनन्द लेने वाला सम्पूर्ण अवध तथा मिथिला का समाज इकाई के रूप में जहां जिन वचनों से अभी "परिहरि लखनु रामु बैदेही तथा जेहि घरु" की ओर झुक रहा है, उन (दो। ६९ व २।७२) वचनों को अप्रमाणित कर रहा है अतः ऐसा मालुम हो रहा है उक्त वचन को अप्रमाणित करने की अपेक्षा में "दाहिन दइउ" कहा है।

होइ

"होइ" से दैव के प्रादक्षिण्य के बारे में सन्देह व्यक्त हो रहा है। उसका एक अंश "यदा एवं देवं उपलम्येत" रूप में यहाँ गृहीत है इसका दूसरा भाग "बसिअ" शीर्षक में द्रष्टव्य है।

सबही

"सबही" से नम्पूर्ण समाज विवक्षित है इसका अन्वय "दइउ" के साथ है। अर्थात् सभी समाज के इकाई ने दैवकी उपलब्धि पर निर्भर रहना "सबही" से स्फुट है। पश्चात्तापयुक्ता केकेयीजी भी सबके अन्तर्गत स्मर्त्तव्य है।

राम समीप

"राम" शब्द से "लखन रामु बैदेही" विवक्षित है। क्योंकि रामसामीप्यं यत्र कहने से सीतालक्ष्मणोभयंक्त ऐसी व्याप्ति हैं। यहां सर्वमतसाधारणयेन राम का उल्लेख कर सर्वमतसांमंस्य स्थापित है।

बसिअ

"होइ" शीर्षक में अकांक्षित तदा का भाग "बसिअ" से ज्ञापित है अर्थात् "यदा तथाविधदेवमुपलम्येत तदा वने श्रीरामसान्निध्यं रुच्यं प्राप्येत" ऐसा समझना

होगा। यद्यपि वाक्य से वनवास 'बसहि' से ज्ञात है तथापि 'बसहि' स्थल वही विवक्षित है जहाँ स्वामित्वसम्बन्ध को श्रीराम ने जिसमें अपनाने का निश्चय कर रखा है उसी में समस्त वासी रहना चाहते हैं।

तबही

"रामसंबन्धाभावो न" यह अर्थ "तबही" से बोध्य है।

इस प्रकार ग्रन्थकार ने द्वितीय चौपाई में "रुचि मन माहीं" शीर्षक में उक्त कार्यान्वयन के साथ व्याख्यात रुचि व अरुचि का विषय निरूपित किया। जिसमें प्रधान कर्मसं केतित है।

संगति :—श्रीरामप्राप्तिप्रयुक्तसुखोद्देश्यक इतिकर्तव्य का वर्णन कर रहे हैं जहाँ षाडवरसन्यायेन अकामहत सुखसमशील सुख होता हुआ भक्त प्रपन्नों के लिए परमपुरुषार्थ हो सदा देदीप्यमान होता है। जो उपास्योपासकभेदेदसहकृत भक्ति सिद्धान्ताभिमत से वानप्रस्थ (मुनिव्रत) के लिए प्रदर्शक है।

चौ० :–मंदाकिनिमज्जनु तिहु काला। रामदरसु मुद-मंगलमाला ॥६॥
अटनु रामगिरि बन तापसथल। असनु अमिअसम कंद-मूल-फल ॥७॥

भावार्थ :—त्रिकालस्नान मन्दाकिनी नदी में होगा। श्रीराम का दर्शन प्राप्त होता रहेगा जो संपूर्ण मोदमंगल की माला का निर्माता है। श्रीरामशैल (कामद) वन व तपस्वियों के आश्रम ऐसे तीन स्थानों पर घूमने को मिलेगा। अमृत के समान मीठे कन्द, मूल, फल खाने को मिलते रहेंगे।

मंदाकिनिमज्जनु

शा० व्या० :—"दाहिन दइउ" कहकर दोनों समाजों ने दैवप्राप्ति की आशा में "बसिअ बन" का मनोरथ किया है। उसी मनोरथ में तल्लीन रहते वननिवास करते जो इतिकर्तव्य होंगे उनकी तालिका बता रहे हैं। जिसका प्रथम बिन्दु "मंदाकिनि-मज्जनु" व अन्तिम बिन्दु "जनिअहिं जाता" है।

तिहुकाल

त्रिकालस्नान शौचान्तर्गत आदिम कर्तव्य के रूप में परिगृहीत है यह पहिला इतिकर्तव्य है।

रामदरसु

श्रीराम पुण्यश्लोक मंगलपति हैं। उनका दर्शन 'रामदरस' से निरूपित है। यह पूजन सन्ध्या आदि निसकर्म का उपलक्षक है इसमें पौवपिर्य २।२७२।३ से ५ तक कही उक्ति के अनुसार ज्ञातव्य है।

'रामदरस' का अन्वय 'मूला' से है। अतएव यह दर्शन भक्ति के अभिमत में पुरुषार्थ है। चिन्त्य है कि स्नान से आरंभ कर अशनान्त सभी इतिकर्तव्यों का विनि-योग अपेक्षानुसार पूर्वप्रोक्त राग की दृष्टि में माननीय है।

मुद मंगलमूला

मुद :—श्रीरामदर्शन होने में इच्छापिधान होकर तन्मात्र से श्रीराम ने भक्तों के हृदय में सदा हर्षविषय बने रहना 'मुद मूला' का ध्वनितार्थ है।

मंगल :—अप्रशस्तानाचरणविशिष्ट प्रशस्ताचरण 'मंगल'पदार्थ है। उनमें मुख्यतया आदि मध्य अन्त में रामदर्शन ही है। क्योंकि रामदर्शनकर्ता सदा अनौचित्य से बिरत होने के साथ विद्वत्साधु अंकुश को शिरोधार्य करते रहते हैं। इसी से 'मूला' शब्द व्याख्यात है यह दूसरा इतिकर्तव्य है।

अटनु

भक्तों के लिए कामद कामदे होने से उसने आकर्षक होना 'अटनु' से व्यक्त है। उसका अन्वय गिरि कानन व तापस स्थल से है यह तीसरा इतिकर्तव्य है।

गिरि वन

गिरि :—गिरि से कामद प्रसिद्ध है।

वन :—सीतालक्ष्मणसमेत श्रीराम के आश्रम संपर्क में विवेकराज्य जहां तक प्रसृत है मोह को अवकाश प्राप्त नहीं है वहाँ तक का स्थान 'वन' से विवक्षित है। जिसमें अटन होना है।

तापसथल (विशेष राजनीति का परिचय)

मंगलदर्शन, कामदगिरिभ्रमण, तापसस्थल में भ्रमण व फलभक्षण आदि कार्यक्रमों के अन्तर्गत तापसस्थलभ्रमणरूप कार्य पूर्व में नहीं कहा है इससे यह स्पष्ट होता है कि समाज को प्रकृतसमस्या की चिन्ता का समाधान पाना अपने प्रतिभूत्व से बाहर है, यतः उस दुरपनेय विकट समस्या के समाधान का भार राजा जनकजी ने स्वयं अपने ऊपर लिया है। क्योंकि राजा, ने "प्रजा के पालनार्थ ही ऋषियों की ओर से अभिषिक्त होने के पूर्व प्रजापालन की प्रतिज्ञा की है" ऐसा सोचकर उक्तचिन्ता के समाधान की ओर से मुड़ कर राजा जनकजी के भरोसे पर दोनों समाजों ने तापस-स्थल में अटन को इतिकर्तव्य माना है जो विशेष राजनैतिक सिद्धान्त का परिचायक है।

संगति :—उपर्युक्त दैनन्दिन कार्य पूर्ण करते हुए भी समाज "चतुर्दशवर्षावधिक दीर्घकाल कैसे व्यतीत किया जाय" ? इस प्रश्न का समाधान आगे सुना रहा हैं। उसमें प्रेम समाधिरूप फल ध्वनित होगा।

चौ० :—सुखसमेत संबत दुइ साता। पलसम होहिं न जनिअहिं जाता ॥८॥

भावार्थ :—इस प्रकार चौदह वर्ष का समय सुखपूर्वक एक क्षण के समान बीत जाएगा अतः बिलंब मालूम ही नहीं पड़ेगा।

सुखसमेत

शा० व्या० :—"सुखसमेत" का अन्वय "दुई साता" से है अर्थात् सुख विशिष्टत्वभानविषयता व्यतीयमान समय में ज्ञातव्य है।

दुइ साता

चतुर्दशवर्षाविधिक लम्बायमान काल "दुइ साता" है तादृश कालव्यापित्व "सुख समेत" में दर्शाया गया है एवं च चतुर्दशवर्षविधिक काल में नैरन्तर्येण सुख प्रतीति "दुइ साता" से बोध्य है।

पलसम

उपर्युक्त कालविशेष्यक क्षणत्वप्रकारक बुद्धि "पलसम" का अर्थ है। अर्थात् अयं (चतुर्दशवर्षकालः) क्षणः इत्याकारक विषयता की पर्याप्ति का होना ही "पलसम" का भाव है। परिणाम यह कि उतने काल में अधिकत्व का भाम न होने से तत्प्रयुक्त श्रम, चिन्ता, विरह आदि को उदित होने का अवकाश प्राप्त नहीं होगा।

न जनिअहि (प्रेमसमाधि)

उपर्युक्त प्रतीत्यभाव की उपपत्ति "न जनिअहि" से बता रहे हैं।

श्रीरामशरणागत श्रीरामादेशानुरागी समाज की यह उक्ति दोहा २।१३२ के अन्तर्गत गाई चित्रकूटमहिमा का स्मरण कराने में सहायक हैं। उसी को साररूप में वर्णित करते हुए "राम समीप बसिअ" का सुख गाया है। प्रभु के सान्निध्य में रहकर उनके आदेश का पालक समाज श्रीराम की प्रसन्नतानुभूति में १४ वर्ष को लम्बी अवधि नहीं मान रहा हैं। यह प्रेमसमाधि का रूप है।

इस प्रकार समाज की विषयविरति दिखाई है जिसकी पुष्टि आगे श्रीरामप्रेरित ऐन्द्रीमाया से समाज की परिवर्तित बुद्धि से ज्ञापित होगी। इस प्रकार सफल वनवासात्मक प्रधान कर्म इति कर्तव्यों के साथ निरूपित हुआ।

संगति :—अकाट्य दशरथवचनप्रमाणसूचित दैव की प्रबलता व राज्य स्वत्वत्याग से श्रीरामवनवास की अपरिहार्यता ध्यान में लाकर चौपाई ५ में कहे "दाहिन दइउ होइ जब सबही" से समन्वित दैव की प्राप्ति होने की योग्यता अपने में न होना सोचकर उपर्युक्त "मन्दाकिनिमज्जनु" से "न जनिअहि जाता" तक कहे मानोरथिक सुखों का वैषयिक सुख रूप में परिणत न होना व तत्प्रयुक्त दुःखानुभूति आगे समझा रहे हैं। परिणाम में भक्ति का महारानीत्व भी उपपन्न होगा।

दोहा :—एहि सुखजोग न लोग सब कहहिं कहाँ अस भागु ?।
सहज सुभायँ समाज दुहु रामचरन अनुरागु ॥२८०॥

भावार्थ :—सब लोग कहते हैं कि ऐसा भाग्य कहाँ है ? हम इस सुख को भोग सके ?। ये वचन ही दोनों समाजों के सहजस्वभावसिद्ध श्रीरामचरणनुराग के द्योतक है।

सुखजोगु न

शा० व्या० :—सुख :—ज्ञानलक्षणासन्निकर्ष जन्यरामप्राप्तिविषयिणी सुखत्व प्रकारिका प्रतीति सुख है।

कार्योत्पादक दैवोपलब्धियुक्तसामग्री न रहने पर न्यायपरिभाषित कार्योपधायकत्व का अभाव "सुखजोगु न" से दर्शाया है। जब योग नहीं है तब सुखभोग न होना कैमुतिकन्यायेन सिद्ध है।

कहां अस भागु ?

१४ वर्ष पर्यन्त के वनवास में कहे सुखोपधायकत्वाभाव की उपपत्ति में "कहां असभागु" कहा गया है।

अर्थात् स्वामीरूप में श्रीरामसान्निध्य का नैरन्तर्य हृदय या वन में नैरन्तर्येण न होने से दशरथवचन व राज्यस्वत्वत्यागोपबृहितदैव की प्रतिबन्धकता दोनों समाज को दृढ़तया अनुभून हो रही है : राजा जनकजी समस्या का समाधान करने हेतु आने पर भी वे समाज को वन में निवास के प्रति श्रीराम को प्रेरित करने में सक्षम होंगे ऐसा नहीं समझना।

सहज सुभायँ

जन्मतः प्राप्त स्वभाव "सहज सुभायँ" है। वह सीतारामविषय सम्बन्धी होने से श्रीसीताराम के प्रति रहा राग स्वाभाविक कहा जा सकता है।

समाज

समाज से रुक्मिण्युक्त समाजस्वरूप स्मर्तव्य है।[1]

रामचरन अनुरागु

यद्यपि "सुख जोगु" से ग्रन्थकार ने दोनों समाजों के द्वारा कही दीनता अनुमोदित की है तथापि अवध व मिथिलासमाज की भक्ति में वास्तविकता ध्यान में लाकर उनका अनुराग ही कवि "अनुरागु" से गा रहे हैं।

ज्ञातव्य है कि रामचरणानुराग स्वाभाविकरूप में समाज को प्राप्त होने पर भी दोनों समाजों ने भरतजी जनकजी जैसे जहाज के अवलम्बपर आधारित रहना ही होगा इसलिए कि समाज साधु होते हुए भी सयाना नहीं है जो "जेहि घरु भाव वामविधि, का स्पष्टीकरण है। इससे कवि ने भक्ति महारानीका अंगित्व समझाया है। अतएव भक्ति ने साधु व सयानों को एकसमान अपनाना स्फुट है।

चरणानुराग से गोपीभक्ति की समीक्षा

यद्यपि प्रपन्न मुनि प्रभृति प्रभु के चरणों पर अपने मस्तक को रखते शरणागत प्रपन्न होते हैं तथापि गोपियों की भक्ति की ओर ही स्थिति है उन्होंने अपने स्तनों पर प्रभु के चरणों को रखने व मस्तक पर करकमलको रखने की प्रार्थना की है उसको

---

१. त्वं समस्तपुरुषार्थमयः फलात्मा त्वद्वांछया सुमतयो विसृजन्ति कृत्स्नम्।
तेषां विभो! समुचितो भवतः समाजः स्त्रीपुंसयोश्च रतयोः सुखदुःखिनोर्न भा० १०।६०।६८

स्वीकृत कर गोपालकृष्ण ने गोपी के मनोरथ पूर्ण किए वैसी भक्ति को प्राप्त करने के प्रति पीछे संपूर्णप्रजा काचरणानुराग हेतु है जो गोपी के रूप में परिणत होगा।

संगति :—जनकराजा से पृथक् होकर समाज का कर्म बताना प्रारम्भ किया था जो भक्ति का पोषक थाउसका उपसंहार करते हुए ग्रन्थकार नाट्यमंचपर गाए वनवासजनकानुरागात्मक "अनुरागु" का प्रयोजन बता रहे हैं।

चौ० :–एहि विधि सकल मनोरथ करहीं। वचन सप्रेम सुनत मन हरहीं ॥१॥

भावार्थ :—इस प्रकार सब मनोरथ करते हैं। उनके प्रेमपूर्ण वचन को सुनकर सामाजिकों का मनस् आकृष्ट होता है।

एहि विधि

शा० व्या० :—"एहि विधि" के अन्तर्गत अवधवासियों के पूर्वोक्त वचन भी संगृहीत है।

सकल मनोरथ

पूर्व चौपाइयों में उक्तवचन फलाहारीत्तररात्रिकालीन हैं। इससे यह स्पष्ट है कि समाज को फलाहार के बाद स्वभावतः निद्रा आनी चाहिए थी पर ऐसा न होकर वे मानोरथिक सुख में तल्लीन हैं।

सप्रेम

सप्रेम शब्द २८० दो० में उक्त 'चरणानुरागु' का बोधक है उसका व्याख्यान 'सप्रेम' है जो सुखमात्रप्रतीति है।

यद्यपि 'प्र' अक्षर संयुक्त होने से तत्पूर्व 'स' अक्षर गुरु है फलतः चौपाई में छन्दोभंग प्रतीत हो रहा है फिर भी 'स' कहते ही शिवजी का गला भक्तानुराग में रुंध सा गया इसलिए 'स' को लघु ही समझना चाहिए।

मन हरहीं

परिस्थिति का अध्ययन करने हेतु आए महाराजा जनकजी ने प्रजा के सम्पूर्ण मानोरथिक सुख के साथ उनका ऐकमत्य सुनकर दोहा २।२८८ व २।२९२।२ में उक्त निर्णय पर पहुंचना "मन हरहीं" से ध्वनित है।

इस प्रकार ग्रन्थकार राजा जनकजी के सामने दोनों सामाजिको को मनः स्थिति को प्रगट कराकर एकाग्र भूमिका में ऐकमत्यास्वाद में समाज की मानसस्थिति को समझाते हुए श्रीराम विश्वामित्रमुनि व राजा के अशनादेश का कार्यान्वियन पूर्ण कर रहे हैं।

संगति :—पौर्वापर्य की संगति में यह वक्तव्य है कि मुनियों ने अपने उपदेशों से समाज की ईकाई को सान्त्वना देकर उन्हें शोकमुक्त कराया फलतः समाज का मनोरथ स्फुट हुआ उस क्रम से कैकेयीसमेत कौसल्याजी को सान्त्वना देने का कार्य व उनके

मनोरथ राजाजनक को ज्ञापित कराते हैं अतः कवि कौसल्याजी को सुनयनाजी ने दी हुई सान्त्वना व राममाता से प्राप्त उत्तरपूर्वक मनोरथ सुना रहे हैं।

चौ०:—सीयमातु तेहि समय पठाई। दासीं देखि सुअवसरु आई ॥२॥

सावकास सुनि सब सियसासू। आयउ जनकराजरनिवासू ॥३॥

भावार्थ :—सीताजी की माता ने उस समय एक दासी को भेजा। वह पता लगाकर आई कि यह मिलने का अवसर उचित है। सीताजी की सब सासुएँ कार्यान्तर से निवृत्ता हैं ऐसा सुनकर राजा जनकजी का रनिवास (अन्तः पुर) कौसल्याजी से मिलने आया।

सीय मातु

शा० व्या० :—आद्या श्रीसीताजी श्रीराम की अर्धांगिनी हो महालक्ष्मी आदि देवियों कीं जननी है उन्होंने सुनयनाजी को मातृत्व इसलिए दिया कि वे ब्रह्मविद्या दासी हो प्रभुचरणानुराग में रहती हुई पातिव्रत्य धर्म की प्रतिष्ठापिका हैं।

पठाई

ज्ञातव्य है कि निरपेक्षा महारानी भक्ति (कौसल्या) की सेवाकांक्षी होने से सुनयनाजी ने कौसल्याजी से भेंट प्राप्त करने की अनुमतिहेतु दासी को भेजने का कर्तृत्व स्वीकारा है।

तेहि समय

दूसरे दिन का सायंकालीन समय "तेहि समय" है। जब फलाहार से निवृत्त हो सभी सायंसमय में विश्राम लेते रामचरणानुरागी हो वार्ता कर रहे हैं।

देखि

"देखि" से दासी को स्वपरसन्धानचतुरता स्फुट की है। जो दूतकर्मके अन्तर्गत माना है। वस्तुतः यह दासी केवल कौसल्याजी से भेंट करने का समय देखने की इच्छा से आयी थी उसकी पूर्ति 'देखि' से स्पष्ट है।

सुअवसरु

"सुअवसर" से भक्तिरूपा कौसल्याजी ने कार्यान्तरनिवृत्ता हो विश्राम लेने का समय सूचित है उसी को देखकर आने व जनकराजा की सेवा से निवृत्ता सुनयनाजी को प्रस्थान करने के अनुकूल समय 'सुअवसर' है।

सावकास

"सावकास" का अन्वय "सियसासू" के साथ है। भाव यह कि सम्पूर्ण सासुओं ने दैनन्दिन सम्पूर्ण कार्यों से निवृत्ता होकर अभ्यागतों से भेंट करने का समय "सावकास" से सूचित है।

अथवा रात्रि के आठ भाग के अनुसार द्वितीय अष्टम भाग में स्नान भोजन स्वाध्याय विहित हैं[1] किन्तु दिन रहते राजा कौशिक व श्रीराम के निर्देश पर सबने पूजाआहार स्नान आदि कार्य पूर्ण किए. अतः रात्रि का द्वितीय अष्टम् भाग किसी कार्य में संबद्ध नहीं था उसी समय को सावकास से समझाया है। इसकी एक वाक्यता २८७।७ से मननीय है।ज्ञातव्य है कि राजा जनकजी भी मंत्रणार्थ गुरु वशिष्ठजी के समीप पहुंचे है जैसा कि २।२८६।३ चौ० से सूचित है उस ओर से सुनयनाजी को भी अवकाश प्राप्त होना 'सावकास' का ध्वनितार्थ है।

सियसासू

कौसल्याप्रभृति संपूर्ण सासुओं का अनुगम ग्रन्थकार ने "सियसासू" से दर्शाया है। 'सब' से कैकेयीजी की उपस्थिति सूचित है

आयउ

भरत-श्रीराम संवाद में भरतजी का पक्ष और उसके प्रतिउत्तरफल में श्रीराम का उत्तर व भरत के जीवन की सुरक्षासोच से संवलित "सीतापतिसेवकसेवकाई" को प्रकाश में लाना "आयउ" का प्रयोजन है।

अथवा कौसल्याजी शतरूपाजी को प्राप्त वर के संकेत से 'सोइ मति' से परिपूर्ण हो अपने को धृति में रखती उचित कार्य की ओर स्वयं प्रवृत्ता हैं उसी की पुष्टि मुनिवचन व याज्ञवल्क्यमुनिवचन से प्राप्त है जो सुनयनाजी की बल स्फुट होगा उसी को सुनाने हेतु सुनयनाजी का आना की २८५ उक्ति से 'आयउ' से ध्वनित है।

रनिवासू

साक्षीरूप में सुनयनाजी के साथ उनको मंत्रणा देने वाली ऋषिपत्नियाँ भी स्मर्तव्य है।

संगति :—समधिनी की प्रथम भेंट हो रही हैं समझकर ज्येष्ठा महारानी, अन्य रानियों को साथ लेकर सुनयना महारानी का समयोचित सम्मान कर रही हैं।

चौ० --कौसल्याँ सादर सनमानी। आसन दिए समयसम आनी ।।४।।

भावार्थ :—कौसल्याजी ने आदर के साथ जनकरनिवास का स्वागत किया और समयानुसार बैठने को आसान दिया।

सादर

शा० व्या० :—ब्रह्मविद्या सेविका होकर आई है फिर भी भक्ति ने स्वयं अपने को समर्पित कर उसका सम्मान करना दोनों का महान् गौरव है। चिन्त्य है कि सेव्य-सेवक में रही दोनों रानियों में महान् अन्तर है फिर भी किसी के प्रति उक्त अन्तरप्रयुक्त हिचक न होना उनके निश्छल सामाजिक चरित्र का आदर्श है। "सादर" से अनुप्रेक्षात्मक भाव प्रगट है।

१. अर्थशास्त्र १।१९।१६

सनमानी

यद्यपि ब्रह्मविद्यारूपा सुनयनाजी, भक्तिरूपिणी कौसल्याजी के सामने अपने को २८५।४ के अनुसार सेविका मानकर आयी हैं उसका लाभ लेकर कौसल्याजी ने अपने को अंगिभाव में समझकर किसी भी प्रकार का अहं न दिखाना "सनमानी" है।

समय समआनी

भक्तिरूपिणी कौसल्याजी ने स्वयं उठकर आसन[1] देना ब्रह्मविद्या को अभिन्न मानना है। "समयसम" से भक्ति ने अपनी धृति प्रगट की है न कि एक रानी के सामने अपनी वनवासप्रयुक्त हीनता व पतिहीनताप्रयुक्तग्लानि को। फलतः सुनयनाजी के हृदय में कौसल्याजी ने अपने प्रति प्रीति के वे संस्कार अंकित किये हैं जिनसे सुनयनाजी सदा प्रीति की स्मृति करती रहेंगी। प्रस्तुत स्वागत का प्रयोजन संगति में स्फुट है।

अथवा :– महारानी पद पर विराजमाना सुनयनाजी के सम्मान में समयोचित आसन देना ठीक था पर वैसा न करते हुए श्रीरामाश्रम में वनवासोचित आसन देने में ही औचित्य यहाँ "समय सम" से समझाया है।

संगति :—सेव्यभूता कौसल्याजी ने किए सम्मान से उत्पन्न चित्तद्रवीभाव व पतिव्रताधर्मसंपृक्त उपनिषद्विद्या को देखकर अतिउल्लसित हुई कौसल्याजी के द्रवीभाव का निरूपण आगे कर कहे हैं। प्रसंग से स्मर्तव्य है कि स्वकर्मनिरत पुण्यवान् समाज को एकसूत्र में बांधने हेतु ब्रह्मविद्या एवं भक्ति का नैतिक मिलन होना अपेक्षित है उसी को दिखाकर उक्त मिलन का परिणाम आगे दर्शा रहे हैं क्योंकि वही आदर्श तात्कालिक होता हुआ दीर्घकालपर्यन्त स्थायी रहकर समाज को एकसूत्र में गूथने का मार्ग प्रशस्त बनाता है।

चौ०:—सीलु सनेहु सकल दुहु ओरा। द्रवहिं देखि सुनि कुलिसकठोरा ॥५॥

भावार्थ :—दोनों ओर के रनिवास में ऐसा शील, स्नेह उमड़ा कि मानो उसको देख सुनकर वज्र के समान कठोर हृदय भी पिघल जाएगा।

सीलु सनेहु

शा० या० :—दोनों रनिवास में दंभ, कपट, छल-छिद्र का अभाव "सीलु" से प्रगट है। "सनेहु" से दोनों पक्ष के सुख-दुःख में अद्वैतभाव स्फुटित है।

दुहु ओरा

"दुहु ओरा" से नाट्यव्यापार के द्वारा प्रीतिभाव का दोनों रनिवासों में पारस्परिक संक्रमण दिखाकर कवि ने दोनों समाजों में स्नेहसंचार दिखाया है।

---

१. तृणानि भूमिरुदकं वाक् चतुर्थी च सूनृता।
एतानि च सतां गेहे नोच्छिद्यन्तेकदाचन ॥

सकल

'सकल' से उभयसाधारणसमाजत्वव्यापकता शील स्नेह में दर्शायी है।

द्रवहिं

अन्तःकरण का द्रुत होना स्नेह का द्योतक है जो २।२३८।७ में व्याख्यात है।

कुलिसकठोरा

एक ओर ब्रह्मविद्या जगत् को तुच्छ देखती हुई आत्मतत्व के परिचय में स्थिरा है। दूसरी ओर भक्ति सर्वत्र सीताराममय जगत् को देखती हुई स्थिरा है। दोनों ओर जगत् की घटनाओं के बारे में हृदय की 'कुलिसकठोरा' से सिद्ध हो चुकी है फिर भी दोनों पक्षों में सीतारामचरणानुराग उत्तरोत्तर बढ़ता ही जा रहा हैं उसी के प्रभाव से रानियों के हृदय का पिघलना यहाँ आस्वाद्य है।

संगति :--रनिवास में उमड़ी उपर्युक्त प्रीति से सनी हुई राजमरणश्रीरामवनवासीभयप्रयुक्त करुणा का आस्वाद कवि सुना रहे हैं।

चौ० :-पुलक सिथिलतन बारि बिलोचन। महि नखलिखनलगीं सब सोचन।६।।
सब सियरामप्रीति कि सि मूरति। जनु करुना बहुबेष बिसूरति ।।७।।

भावार्थ :—उनका शरीर पुलकायमान हो शिथिल हो गया। आँखों में आँसू आ गए। नखों से पृथ्वी कुरेदने लगीं और सोचने लगीं। जैसे सभी श्री सीतारामजी की प्रीति की मूर्ति हो गयीं हों। मानो करुणा ही बहुत से वेष धारण करके दुःखी हो रही है।

पुलकि

शा० व्या० '—"पुलकि" से दोनों समाजों का रोमांच, तन का शैथिल्य एवं "बारि बिलोचन" से सात्विक भाव प्रगट हैं।

महि नख

महि नख :—पृथ्वी को नख से कुरेदना करुणा का द्योतक है उसी का निरूपण 'सब सोचन' से आगे कर रहे हैं।

सब सोचन

प्रेमपुतली सीताजी को अपने जीवित रहते वन में जाने की अनुमति देकर तत्प्रयुक्त विरहपीड़ा से पीड़ित हो दशरथरनिवास ने पूर्वघटना को सोचना व जनकरनिवास ने दशरथरनिवास के स्वरूपदर्शन से जनित पीड़ा से पीड़ित हो अवधघटना को सोचना "सब सोचन" से ज्ञातव्य है।

प्रीति कि सि मूरति

ब्रह्मविद्या, श्रीसीतारामजी को ज्ञानरूप में दर्शन करती हुई आनन्दित होती रहती हैं, भक्ति भी श्री सीतारामजी को जगत् में देखती हुई स्नेह से भरी है। दोनों में

अनानन्दतापादक, असत्त्वापादक व अभानापादक आवरण नहीं है शृङ्गार की शुचिता में दोनों ही आत्मरति में बैठी है। दोनों की प्रीति में चपलता का गन्ध नहीं है। अतएव मत्सरता, ईर्ष्या, द्वेष का न होना सिद्ध है, अन्यथा शीलदर्शन का अभाव आपादित होगा वैसी प्रसक्ति न होने से दोनों रनिवास की प्रीतिसंस्कारों का विविधरूप में प्रगट होना "मूरति" है।

जनु

"जनु" इसलिए कहा कि करुणा रामरससागर में विलीन हो चुकी है अभी वह उत्प्रेक्षितमात्र है क्योंकि कुछ क्षण के बाद भावरूप में दुःख प्रगट है।

करुना

करुणा ने रानियो के दुःख बाहुल्य से बहुत रूप में प्रगट होना 'करुनाबहुबेष' से स्फुट है।

संगति :—प्रत्यक्ष में घटित अवधीय घटना के प्राबल्य से २८५।६-७-८ में याज्ञवल्क्योक्त शब्द प्रमाण को भूलकर सुनयनाजी प्रात्यक्षिक घटना की कारणमीमांसा सुना रही हैं चिन्त्य है कि यहमत कौसल्याजी द्वारा बाधित होने से सुनयनाजी के बहाने ब्रह्मविद्या में अंगत्व समझने में सहायक होगा जैसा कि २८५।३-४-५ में स्पष्ट है।

चौ० :—सीयमातु कह बिधिबुधि बांकी। जो पयफेनु फोर पबि टांकी ॥८॥
सुनिअ सुधा देखिअहिं गरल सब करतूति कराल॥
जहँ तहँ काक उलूक बक मानससकृत मराल ॥२८१॥

भावार्थ- :सीताजी की माता कहती हैं कि विधाता की बुद्धि बड़ी उज्वल है जो दूध के फेन को वज्रकी छेनी से फोड़ने का काम करती है। मात्र सुनने को अमृत सुन्दर हैं पर वह दुर्लभ है।

विष मृत्यु है फिर भी वह सुलभ है। जहां-तहां कौवे व बगुले दिखायी पड़ते हैं हंस मानसरोवर में ही मिलते हैं।

सियमातु

शा० व्या० :—दोनों रनिवासों ने आसनासीन होने के बाद संवाद आरम्भ किया इसमें पहल सीतामाता ने कहा हैं इसलिए कि दैव से ज्ञात विधाता के नाम पर कौसल्याजी को सान्त्वना देनी है जिसका आशय तत्प्रतीकार को कृत्यसाध्य समझकर उस ओर से मनस् को पृथक् करना समझाने में है। दूसरा आशय संगत्युक्त है।

बिधि (दैव की कर्तृता)

सम्पूर्ण घटना के प्रति साधारण-कारणता विधि में होने पर भी जहां मानव की कर्तृता विशेषघटना के प्रति उपलब्ध नहीं होती उस घटनाविशेष की कर्तृता के विधि में मानने के प्रति प्रपन्नातिरिक्त सभी का एकमत है! उसी को "विधि" से ध्वनित किया है।

बुधि

केवल "विधि" न कहकर "बिधिबुधि" कहा है। यद्यपि आचार्य विधि स्वतन्त्रकर्ता माने जाते हैं इसलिए फिर भी प्रयत्नारम्भ के पूर्व निर्णय बुद्धि में कर्तृत्व होना निर्णीत है अतः ब्रह्माजी को उपालम्भ न देकर उनकी बुद्धि को सुनयनाजी उपालम्भ दे रही हैं।

विशेष ज्ञातव्य है कि साधारणतया ब्रह्माजी ने विवेक को प्रगट किया है यहाँ तो विवेक प्रगट न कर बुद्धि को उन्हो ने स्वतन्त्रता देना प्रतीत हो रहा है जो 'पवि' से स्फुट होगा। इससे प्रतीत होता है कि श्रीरामवनवासप्रयोजक बिन्दु (वरयाचना) से लेकर जो भी घटना हुई उसकी कर्तृता सुनयनाजी के मत से विधि में न होकर बुद्धि में मानी गई है।

बाँकी

'विधि' शब्द वैचित्र्यबोधक है जो सुनयनाजी (ब्रह्मविद्या) के लिए विस्मयकारक है क्योंकि जो विधिबुद्धि तपस्वी राक्षसों को मारने हेतु कोई न कोई एक स्थान रखकर उनको वर देती हैं। अभी राज्यस्वत्वत्यागपूर्वक श्रीरामवनवास एक ऐसा कार्य बुधि ने किया कि पुनः श्रीराम के वापस होने का कोई मार्ग उसने प्रशस्त नहीं कर रखा है ऐसा सोच कर सुनयनाजी "बाँकी" कह रही हैं।

पय

"पय" से सूर्यवंश की निर्मलता ध्वनित है जैसा कि "बिमलबंश यह अनुचित एकू" से स्पष्ट है। इस वंश की विमलता शब्दप्रमाणमूर्धन्यानुगामिता, उत्साह, सत्य, अध्यवसाय, चेष्टा, दाढर्य, त्याग, सत्य, शौर्य, भक्ति, पक्षानुराग, श्रद्धा, विनय व आत्मसंपत्ति की स्थिरता से निर्विवाद है।

फेनु

निर्मल सूर्यवंश में अनेकविध परमाणुस्थानापन्न राजा, रानियां, कुमारपुत्रवधुएँ उदित हुई जो 'फेन' की तरह विशद हैं वे किंचिद्विश्लिष्ट परमाणु की तरह रहते हुए भी परस्पर में आबद्ध हो अति मृदु हैं।

फोर

दूध में उदित राजा दि फेनों के परस्पराकर्षक सम्बन्ध को निरस्त करने की चाल अपनाना व सबको विलग करने की स्थिति में पहुँचाना "फोर" से ज्ञातव्य है।

पबि

"पबि" से वनवासनिमित्तक सभी प्रतिज्ञाएं विवक्षित हैं उनको प्रगट कराने का कर्तृत्व है यह ऐसा प्रतिज्ञाकूट है जो किसी की कल्पना में नहीं आ सकता था।

वह प्रतिज्ञाकूट दोहा २९।१-५, ३६।२, २४१।७, २६३, २८०।२ आदि में संगृहीत है। इनको 'पबि' इसलिए कहा कि राजनीति व त्रयी को परस्पर में समन्वित कराने हेतु आन्वीक्षिकी को अपने में असमर्थता अनुभूत हो रही है फलतः विद्याओं व प्रमाणों का असमन्वय इतना कठोर है कि उसके सामने वज्र भी नतमस्तक हो सकता है।

फोरपबि का तात्पर्य

चारों भाइयों व चारों कुमारियों को प्रमाण के नाम पर दूरीहोने में अब अवशेष नहीं है। जैसे ननिहाल जाने की भरतजी को प्रेरणा प्रथम विभाजन है, भरतजी को राज्य प्राप्त कराना द्वितीय विभाजन है, श्रीसीतारामजी जैसे निर्मलप्रकृति को वनवास कराना तीसरा विभाजन है जो प्रतिज्ञाकूट मात्र से सब सम्भव हो गया ऐसा समझाने में तात्पर्य है।

टाँकी

प्रमाण व विद्याओं का असमन्वय रूप टांका ऐसा लगाया कि श्रीरामप्रभृति चारों कुमार व कुमारियों को बिखरने की स्थिति पर आना पड़ा।

विपरीतार्थदर्शन

प्रतिज्ञा करने वालों को प्रतिज्ञारूप में वैसे-वैसे विपरीतार्थ का प्रकाशन जिसने कराया वह ब्रह्मबुद्धि ही है। ऐसा ही वैभव विपरीतार्थप्रकाशन काल में माना गया है।

जैसा कि—"न कालः खड्गमादाय शिरः कृन्तति कस्यचित्

कालस्य बलमेतावद्विपरीतार्थदर्शनम्" में उक्त है।

यह ब्रह्मबुद्धि का एक ऐसा उदाहरण है जिसमें तत्कर्तृककर्म के प्रतीकार के प्रति कृत्यसाध्यता मानव में ध्वनित हुई।

सुनिअ

ब्रह्मबुद्धिवैचित्र्य का द्वितीय उदाहरण 'सुनिअ' है उसका विष' 'सुधा' आदि है।

सुधा

"सुधा" से अमरता निर्व्यसनिता, समुन्नति, समृद्धि आदि सत्वगुणात्मक तत्त्व ध्वनित हैं जो अमृत्यु, अनीहा, कीर्ति से सम्बद्ध है। उनके अतिरिक्त ब्रह्मविद्याप्रपत्ति-शरणागति भी है जो कहीं-कहीं पर दृष्टिगोचर होते हैं लोक में तो नहीं के बराबर हैं। एवं च उन्नतिसाधन को भीतर छिपाते रहना जैसे समझाया वैसे ही कृतिसाध्यता व बलवादनिष्टाभाव को यहां छिपाना भी स्मर्तव्य है।

देखअहि

हितसाधनतादिविरोधी दर्शन "देखिअहि" उसका अन्वय गरलादि से हैं।

गरल

"गरल" से प्रकृतिव्यसन कामज व क्रोधज विवक्षित हैं जो सर्वत्र दृश्य हैं जैसा धुर्नभंगावसर पर व्यसनियों की बहुलता बालकाण्ड में किए गान से प्रसिद्ध है।

कराल

अहित को प्रगटकर लोक को अमृत से वंचित रखना "कराल" है।

जहँ-तहँ

ब्रह्मबुद्धिवैचित्र्य का एक तृतीय उदाहरण "जह तहँ" से ज्ञातव्य है। उसका अन्वय 'देखिअहिं गरल' आदि से है जिसमें अनीति, हिंसा, असत्य, पारुष्य, निर्दयता असत्संग लोकापराग आदि ध्वनित है।

काक उलूक बक

काक व उल्लुओं के कथन से कही प्रकाश कहीं अंधेरा बताया है। जैसे काक रात्र्यन्ध है व उल्लू दिवान्ध है। "बक" से ब्रह्मबिद्या, कर्मविद्या भक्ति का कुपात्र में होना दर्शाया है।

मानस सकृत मराल

आन्ध्यप्रतियोगी व असत्पात्रसम्बन्धाभाव "मानस सकृत मराल" से दर्शाया है।

"मानस" से विशुद्ध रागद्वेषरहित मन में बोध्य है जो प्रपन्नों को ही प्राप्त होता है।

विवेक को उदित होने का स्थान एकमात्र विशुद्ध प्रपन्नमनस् है समझाने हेतु "सकृत" कहा है। "मराल" से भरतजी विवक्षित हैं जिनका विवेक अवधवासियों के लिए जहाज माना गया है। मनस्तुष्टि के सहाय से उन्होंने विद्याओं का बलाबल समझकर उनको समन्वित कर प्रतिष्ठापित किया है। यद्यपि सीतारामजी भी मराल हैं तथापि उन्हें भक्त की श्रेणी में नहीं रखना है। भरतजी यहां जैसे स्मर्तव्य हैं वैसे रानियां कौसल्याजी भी स्मर्तव्य हैं। यतः वे भी ईशगति पर ही अधिष्ठिता हैं। इस प्रकार ब्रह्मविद्या का यह मत पूर्वपक्ष के रूप में पूर्ण है।

पूर्वपक्ष की समीक्षा

चौपाई ८ में 'ब्रह्मा आन्वीक्षिक्यकुशलः गुरुतरकार्यकरत्वात्' व दोहे में ब्रह्मा अनीतिकर्ता हितादितिरोधायकत्वे सनि व्यसनिनां सारल्येन प्रकाश्य तन्स्थापनकारित्वात्' ऐसे दो अनुमान प्रणाली का उपस्थापन सुनयनाजी ने किया है उसके उत्तर में कहना यह कि प्रथम प्रणाली में आन्वीक्षिकीकुशलत्वरूप बाघ व दूसरी अनुमान प्रणाली के उत्तर में नीतिकुशलता व अज्ञता की इष्टापत्ति से सिद्धसाधन समझना होगा। उसका विवेचन आगे "बालकेलिसम" शीर्षक में ज्ञातव्य है।

सुनयनोक्ति पर समन्वयात्मक दृष्टि

वस्तुतो यह ज्ञातव्य है कि सुनयनाजी ब्रह्मज्ञा होती हुई भी उसने सान्त्वनाहेतु कर्मसिद्धान्तमत सुनाया है जैसा कि ऊपर व्याख्यात है। उसके बाद कर्तव्य पर दृढ़ता रखने हेतु भक्तिसिद्धान्त मत से कर्तव्यतानिर्णय सुनाना चाहिये था क्योंकि भक्ति भी चरम पुरुषार्थ है वैसा नहीं हुआ कारण कौसल्याजी ही भक्तिसिद्धान्त को व्यक्त करने के प्रति अधिकृता हैं। अतएव सुनयनाजी 'करतूति' कहकर चुप हो गईं। अभी उस उक्ति का दूसरा अर्थ कोइ न समझे इसलिए कौसल्याजी ने कहा प्रस्तुत विषयसुनयनोक्ति का व्याख्यान समझना है।

संगति :—उक्त पूर्वपक्ष का उत्तर तीसरी चौपाई से प्रारम्भ होगा अभी सुमित्राजी का अभिप्राय सुना रहे हैं इसलिए कि वह भी 'ससोच है। चिन्त्य है कि वे ब्रह्माजी को वे दोषी नहीं समझती। यतः कौसल्याजी की अनुगामिनी होने से सुमित्राजी को सुनयनाजी ने सुनाया तीक्ष्ण उपालम्भ अच्छा नहीं लगा अतः वह विधि को दोषी न कहकर 'बुधो बालकवत् क्रीडेत्' सिद्धान्त को स्थिर कर रही हैं।

अथवा :—भक्ति की छत्रछाया में रहकर प्रभु या उनके प्रियों पर किए गये आक्षेप सुनकर उनका प्रतीकार 'न' किया जायेगा तो भक्ति ही लुप्त होगी इस भय से सुमित्राजी स्वशुध्यर्थ भक्तिपक्ष से स्वाभिप्राय विधाता के बारे में प्रगट कर रही हैं।

चौ० :—सुनि ससोच कह देवि सुमित्रा। बिधिगति बड़ि बिपरीत बिचित्रा॥१॥
जो सृजि पालइ हरइ बहोरी। बालकेलिसम बिधिमति भोरी॥२॥

भावार्थ :—असमाधेय सोच में रही सुमित्राजी ने सुनयनाजी के वचन सुनकर बोली कि विधाता की प्रक्रिया अजीब है वह उलटी और विचित्र है। सृष्टि के कर्ता पालयिता संहर्ता होकर भी उनकी बालक के खेल के समान भोली भाली है।

सुनि

शा० या० :—सुनयनोक्तिव्यापार से सोच का आधिक्येन संक्रमण होना "सुनि" से ध्वनित है।

ससोच

ब्रह्मविद्या के आगमन से प्रकृत समस्या का समाहित होना सोचकर सुमित्राजी आश्वस्ता हो गयी थी किन्तु अभी ब्रह्मविद्या के श्रीमुख से विधिबुद्धि को दिया उपालंभ सुनकर समस्या का समाधान न होना सोचकर पुनः सोच होना "ससोच" है। फलतः उन्हें श्रीराम का लौटना असम्भव सा प्रतीत हो रहा है।

सुमित्रा

'ईस अधीन' आदि श्रीरामोपदेश उनके लिए कार्यकारी न होने से सुनयनाजी ने सुनाए उपालंभ पर अपना अनुमोदन बालकेलि वलों इष्टापत्ति से प्रकट कर रही हैं जैसा सूर्संगीम में सूचित सुमित्रा जी पर विशेष विवेचन २।२८४।७ में द्रष्टव्य ।

बिधिगति बड़ि

'बुद्धि' की दिया उपालम्भ सुनकर उससे प्रयोजकता प्रयत्न या व्यापार में "बिधिगति" सेबोध्य है।

'बिधि गति' की अप्रतीकार्यंयत। "बड़ि" से ध्वनित है।

बिपरीत बिचित्रा

"विपरीत" से सुनयनोक्त सभी तथ्य गृहीत हैं जो व्याख्यात हैं, वे प्रतीतमात्र हो रहे हैं न कि दोषावह हैं।

"विचित्रा" का व्याख्यान 'बालकेलिसम बिधिमति भोरी' हैं। 'विचित्रा' कहकर सुमित्राजी ने अपना सोच व्यक्त किया है जो 'ससोच' शीर्षक में निरूपित हैं।

जो सृजि

'जो' से देवत्रय भी विवक्षित हैं उनका लक्षण 'सृष्टि' आदि हैं; अर्थात् सर्जनादि-कर्तृत्व देवत्रय में होने पर भी विधिगृहीत तीनों देव अपने को स्वतन्त्र न मानकर सदा प्रयोज्यकर्ता मानते हैं जैसा कि 'बालकेलि' शीर्षक में व्याख्यात होगा।

बालकेलिसम

हिताहितप्राप्तिपरिहारानुकूल स्वतन्त्र चेष्टा न करने वाले बालक होते हैं वही योग्यत त्रिदेव में मानी गयी है यतः वे सदा देव के प्रयोज्य हैं। उनकी सर्जनादि क्रीडान 'बालकेलिसम' होना ही मननीय है परिणाम में वे उपालभ्य नहीं है। अतएव वे सुखादिभागी नहीं होते। एवंच "बालकेलिसम" से देवत्रय में अनभिज्ञत्व होना सिद्धसाधन है।

मति भोरी

कापट्यादि दोष न होना "मतिभोरी" है। ब्रह्मादिदेव आत्मरति में सर्जनादि कार्य करते हैं उन्हें लोक के अनुग्रह या रोष की अपेक्षा नहीं है अतएव उन्हे माया का बन्धन न होना उपपन्न है। इस प्रकार विधि के सम्बन्ध में अपना अभिप्राय व्यक्त करने पर भी ठीक समाधान प्राप्त न होने से भाग्य कहकर वे सोच में ही पीड़िता मालूम होती हैं।

बालकेलिसम बिधि मति भोरी में गुणाधान

जो भी श्रीराम के सेवक हैं वे श्रीराम के कार्य को व्यर्थ नहीं समझते किंबहुना उन्हें यह ध्यान रहता है कि प्रभु ने जो भी संकल्पात्मक विधान नियत किए हैं उनका परिणाम हितावह होना निर्णीत है। इस निर्णय पर यह समझना होगा कि प्रकृत घटना के पीछे भी प्रभु का जो विधान निर्णीत है उसके आनुगुण्य में श्रीरामराज्योत्सव तभी सम्भव है जब कैकेयी जी के मनोरथपूर्तिप्रागभावध्वंस करने हेतु किए वनवास

से त्रैलोक्यकंटक वध्य होंगे उसको कार्यान्वित करने हेतु विधिगति ने अपनी विचित्रता अपनाई है। इसी में 'बालकेलिसमत्व' परिलक्षित होना भूषण है। ऐसी अवस्था में गुरुतर कार्य करना अभीप्सित होने से ब्रह्माजी में आन्वीक्षिकीकौशल बाधित नहीं है इस प्रकार सुमित्राजी ने प्रभुप्रियदेवयीत्र के चरित्र में सांकुशता प्रयोज्यवृद्धता की स्थिरता, आन्वीक्षिकी की निपुणता सिद्ध कर अपने को दोषमुक्त रखते हुए रानियों ने स्वभक्ति सुरक्षित की है।

संगति :—ब्रह्मविद्या ने उपस्थापित पूर्वपक्ष को सुमित्राजी ने भंग्यन्तरेण अर्थान्तरित करना सुनकर प्रसन्ना हो "सोइ गति सोइमति" में रही कौसल्याजी भक्ति सिद्धान्त सुना रही हैं जिसमें सोचनीय विषय की ओर सुनयनाजी का चित्ताकर्षण नहीं होगा।

चौ० :—कौसल्या कह दोसु न काहू करमबिबस दुख सुख जति लाहू ।।३।।
कठिन करमगति जान बिधाता। जो सुभ-असुभसकलफलदाता ।।४।।

भावार्थ :—कौसल्याजी कहती हैं कि किसी का दोष नहीं है। सुख व दुःख कर्महेतुक हैं। उसकी गति (कर्म फल भोग) अपरिहरणीय है क्योंकि वह अज्ञेय है। एकमात्र विधाता ही उसकी सूक्ष्मता के ज्ञाता हैं। वे ही सुख दुःख रूप फल के दाता हैं।

कौसल्या (भक्ति पक्ष से उत्तरारंभ)

शा० ब्या० :—एकादशेन्द्रियों की वृत्ति को प्रभुचरणों में समाविष्ट करने वाली प्रपन्ना आनन्दमयी राममाता 'कौसल्या' से विवक्षित है।

दोसु न

'बालकेलिसम बिधि मति भोरी' कहकर सुमित्राजी ने ब्रह्मप्रभृति त्रि देवों को प्रभुप्रेरणाप्रयोज्य प्रवृत्तिमान् बताया है उसी के अनुमोदन में "दोसु न काहु" कहा है अर्थात् भक्तिमत सेयह कहना है कि विपदा के अवसर पर उसकी अप्रतीकार्यता देखकर अपने को स्वकार्य (भक्ति) में स्थिर रखने हेतु औषध रूप में कर्मसिद्धान्त का आदर किया जाता है। निष्कर्ष यह कि कमी कर्म के तारतम्य को देखकर उसका फल देने के अधिकारी ब्रह्मप्रभृति देव ही हैं तो उधर से प्रपन्न ने मनस् हटाकर भक्ति को अन्यथासिद्ध नहीं समझना है कि बहुना देवत्रय भी फल देने के प्रति कर्म की अपेक्षा सोचते हैं तो उनको दोषी कहना भक्तिविरोध है जैसा कि—

निन्दां भगवतः श्रुत्वा तत्परस्य जनस्य वा।
ततो नापैति यः कोपिसुकृतात्यात्यधच्युतः ॥[1] से अनुमत है। फलत. "दोसु न" से अपने में निरसयुत्व प्रगट किया है।

करम बिबस

जीव के द्वारा किए कर्म (धर्म, नीति, भक्ति) "करम" से बोध्य हैं उनकी कारणता में अदृष्टद्वारकत्व "बिबस" से दर्शाया है।

१. श्रीमद्भागवत १०।

दुःखादि के वाच्यार्थ

दुख :—"दुख" निग्रह का बोधक है। प्रतिकूलवेदनीयम्।

सुख :—"सुख" अनुग्रह का बोधक है। अनुकूलवेदनीयम्।

छति :—"छति" लब्धनाश का बोधक है। 'अग्न्यादिना विध्वंसनं विनाशः'।

लाहू :—अलब्ध का लाभ होना "लाहू" है।

कठिन करम गति

'करम बिबस' का व्याख्यान "कठिन करम गति" है। यहाँ "करम" से तज्जन्य अदृष्ट समझना है जो कर्म के अनन्तर कालान्तर में होने वाले फल के व्यापार रूप में स्वीकृत है। वह अदृष्ट अय या अनय के रूप से कर्मसिद्धान्त में गेय हैं। नीतिपक्ष से नय या अपनय से विख्यात है। भक्तिपक्ष में भगवदुपाश्रितत्वानाश्रित से ज्ञातव्य हैं। उसकी गति फलोत्पत्ति पर्यन्त रहने में है तथा उसकी अदृश्यता। "कठिन' से बोध्य है।

जान बिधाता

विधाता को भी कर्म अदृश्य हैं तथापि उनकी पवित्रता का प्रभाव है कि वे जिसे जिस चेष्टा के प्रति प्रेरित करते हैं उसमें अन्यथात्व कभी नहीं आता। यही "विधाता" का ज्ञातृत्व है।

सुभ-असुभ

सुभ :—शास्त्रविहित कर्मजन्य फल "सुभ" है।

असुभ :—शास्त्रनिषिद्धकर्मजन्य फल "असुभ" है।

दाता

"दाता" से शुभाशुभनिमित्तक फूलदान कृतिमान् समझना है।

संगति :—"कौसल्या कह दोसु न काहू" की संगति में उक्त सिद्धान्त का समर्थन करते हुए कौसल्याजी विधाता का स्वरूप प्रगट कर रही हैं।

चौ० :—ईसरजाइ सीस सबही के। उतपति थितिलय बिषहु अमी के ॥५॥

भावार्थ :—ईश्वर का शासन सबके ऊपर है। उसी के अनुसार उत्पत्ति, स्थिति, विनाश, विष क्या अमृत क्या सभी हो रहा हैं।

ईस रजाइ

जैसे राजा दुर्ग में रहते हुए भी अपने तेजस् से प्रजा को अनुशासित करते हैं। वैसा ही शासन रजाइ सबके शासक प्रभु ने जिसकी जैसी उत्पत्ति, स्थिति, विनष्टि निर्णीत की है। वे सभी पदार्थ उसी प्रकार से उत्पन्न होते हुए भी अपने में एकसी योग्यता नहीं रखते। इसके लिए हेतुत्वेन "ईस रजाई" कहा है अर्थात् जिसके साथ

जो कार्यकारणभाव प्रभु ने निश्चित किया है उसका अपरिवर्तनीय होना "ईसरजाई" है। वही शास्त्रान्तरमें काल, कर्म, स्वभाव, दैव आदि शब्दों से संबोधित है।

अथवा :--यहाँ "ईश" से देवत्रय के साक्षी नियन्ता विवक्षित हैं उनका शासन ही "ईसरजाई" है जो शास्त्रान्तरों में कार्य-कारणभाव, आदेश, प्रेरणा प्रकृति, स्वभाव आदि शब्दों से संकेतित है।

सीस सबही के

"दोसु न काहू" को ही कौसल्याजी ने 'सीस सबही' के से व्याख्यात किया मालूम होताहैं। एवंच यह भी कहना होगा कि उन्होंने दोहा २।२६९ में कहे भरतमत पर अपना समर्थन सुनयनाजी को सुनाया है।

अथवा :--"सबही" से देवत्रय समझने हैं फलतः सभी जीव संग्राह्य हैं। निष्कर्ष यह कि यदि ईशा शासनोल्लंघन होता है तो जीवों को सन्तापादि दोष भोगने होंगे।

उतपति

"उतपति" आदि से पूर्वोक्त देवत्रय के अपने-अपने कार्य स्मृत हो रहे हैं।

बिषहु अमी

निन्दित होने पर भी विषका स्वभाव अपरिर्तनीय है। वैसे ही अपरिहणीय सभी ईश्वरसंकल्प को समझाने हेतु वेदों का प्रादुर्भाव हुआ है ऐसा समझकर तदुक्तकार्य-कारण-भावानुगमन में ही सबका कल्याण होने का संकेत कौसल्याजी 'विषहु' से दे रही हैं।

संगति :—ब्रह्मज्ञा सुनयनाजी ने भक्तिरूपा कौसल्याजी को सान्त्वना देने हेतु जिस विद्या के सिद्धान्त का आश्रय लिया है वह ठीक है पर भक्ति के सामने उसका वैयर्थ्य कौसल्याजी समझा रहीं हैं।

चौ०: –देबि ! मोहबस सोचिअ बादी। बिधिप्रपंचु अस अचल अनादी ।।६।।

भावार्थ :—देवि ! मोहवश होकर सोचना व्यर्थ है विधाता का ऐसा प्रपंचकार्य अपरिवर्तनीयरूप में अनादिकाल से चला आ रहा है।

देबि !

शा० व्या० :–अंगांगिभाव होने परभी उसे समझाने हेतु कौसल्याजी ने अपनी समता सुनयनाजी में "देबि" संबोधन से ध्वनित की है। वही भाव सुमित्राजी में भी चिन्त्य है।

मोहबस

देवोपघात व इष्टवस्तु के अपहार से चित्त का शून्य होना (न सूझना) 'मोहबस' होना है। जैसे अवधराजा का साकेतनिर्याण दैवोपघात है श्रीरामवनवास होना इष्टा-पहार है जो दोनों समाजों के लिए मोह का साधन हो रहा है। उसका परिणाम करुणा व शोक है उन दोनों का वर्णन कवि कर चुके हैं।

अथवा :–आन्वीक्षिक्युक्तभावस्वभाव विद्या को न समझकर दुःख-शोकसाधनतया कर्तृति या किसी अन्य को समझना "मोह" है उसके आवरण में अपने ने पीड़ित होना "मोहबस" है।

सोचिअ

विध्यनुसार जो घटना (वनवास, राजमृत्यु, राज्योत्सव का तात्कालिक भंग) घटनी थी वह हो गई उसके पश्चात् पुनःसंजातघटना की कारणमीमांसा "सोचिअ" है।

अथवा :—सुख-दुःखप्राप्ति के अवसर पर तदनुबंधितया सोचना "सोचिअ" है।

बादी (सोच विशेषनिषेध)

"वादी" शब्द वैयर्थ्य का बोधक है इसका अन्वय "सोचिअ" से है।

"बादी" से सोचने मात्र का सर्वथा प्रतिषेध न समझते हुए मोह में होने वाले प्रबलतर दैवसम्बन्धी सोच का प्रतिषेध समझना है क्योंकि प्रबलतर दैवसम्बन्धी विधानुटालना जीवों के लिए सम्भव नहीं। जैसाकि काक विष आदि के स्वाभाविक उत्पत्ति आदि, या उनके गुणसम्बन्धी सोच व्यर्थ हैं। यतः वे गुण जीवों के लिए अपरिवर्तनीय हैं। ज्ञातव्य है कि कठिनतम अवसर पर भी ईश्वर-विधान समझकर उनके आदेश में रहने की प्रक्रिया के प्रति अवश्य सोचने का संकेत अनुपेक्षणीय है। निष्कर्ष यह कि चित्रकूट में आया अवधसमाज मोहवश हो नहीं आया है बल्कि श्रीराम से स्वामित्व-ग्रहणपूर्वक श्रीरामादेशपालन के सफल सोच में आया है। जैसाकि दोहा २।२६९ में भरतप्रार्थना से स्पष्ट हो चुका है उसके अतिरिक्त 'सोच' 'वादी' है।

विधिप्रपंच

सुनयनाजी ने २८१।८ में 'विधिबुद्धि' कहा है उसके उत्तर में यहाँ 'विधिप्रपंच' निर्दिष्ट है।

अस अचल अनादी

"अस अचल अनादी" से मोहाधीनता का निषेध कौसल्याजी व्यक्त कर रही हैं।

संगति :—स्वयं पर आए दुःख की चिकित्सा कौसल्याजी ने जिस प्रकार की है उसके स्पष्टीकरणार्थ 'मोहबस सोचिअ वादी' को उदाहरण से समझा रही है।

चौ० :—भूपतिजिअब-मरब उर आनी। सोचिअ सखि! लखि निजहितहानी ॥७॥

भावार्थ :—अपनी स्वार्थहानि देखने हेतु से राजा दशरथजी का जीवन-मरण सोचा जा रहा है न कि उनके हित की दृष्टि से यही मोह है।

जिअब मरब

शा० व्या :—राजा का जीवित रहना 'जिअब" व भौतिक शरीर का न रहना "मरब" है।

उर आनी

भूपति का जीवन-मरण तो उपनिषदुक्त रामवनवासविधि ने विधान के अनुगमन में तय किया था उनको चिन्तन के माध्यम से हृदय में बैठाना "उर आनी" का भाव है।

लखि

भूपति के जीवन-मरणोभय के परिणाम को स्वहित-हानिहेतुतया सातत्येन प्रतिभात करते रहना "लखि" शब्द का अर्थ है।

निजहित हानि

"निजहित" का निष्कर्ष श्रीरामराज्योत्सवदर्शन है उससे वंचित होना निजहित 'हानी' है। एवंच दोहा २८२।५ में सोच के व्याख्यान से स्फुट राजमृत्यु को स्वहितहानि-कारणतया सोचना 'बादी' (व्यर्थ) है इसलिए कि भविष्यत् में राजजीवन होना नहीं है।

संगति :—कौसल्याजी ने प्रारंभ किए विषय (सबविधिसोच) पूर्णता की प्रतीक्षा न कर बीच में सेव्या कौसल्याजी की प्रसंशा करते ब्रह्मविद्या अपना सामंजस्य प्रकाशित कर रही है इससे उनका आन्वीक्षिकी के प्रति रहा प्रेम व्यक्त हो रहा है।

चौ० :-सीयमातु कह सत्य सुबानी। सुकृती-अवधि अवधपतिरानी! ॥८॥

भावार्थ :-सीताजी की माता बोली कि हे पुण्य की सीमा अवधपति की पत्नी! आपकी वाणी सत्य व सुन्दर है।

सीयमातु

शा० व्या० :—दोहा २।२८१।८ ये कहे "सीयमातु" का ध्वनितार्थ शोचनीय न होकर समाधानपरक हुआ समझने के लिए ग्रन्थकार ने "सीयमातु" कहा है।

सत्य सुबानी

सत्य :—अर्थतः व अनुष्ठानतः वस्तुगत प्रामाणिकता "सत्य" है।

सुबानी :—यत्नरूप वचन की शोभा होना "सुबानी" है।

बालकाण्ड दोहा १५१ के अन्तर्गत मनुपत्नी शतरूपा को भगवान् ने दिए वरदानानुषक्त विवेक की एकवाक्यता में कौसल्याजी ने सुनाए वचन को सुनकर कण्ठतः व अनुष्ठानतः रही तदर्थगत प्रामाणिकता को कवि, सुनयनाजी के मुख से प्रगट कर रहे हैं।

सुकृती-अवधि

संसार में दशरथ राजा व कौसल्याजी ने सर्वापेक्षया अधिक सुकृती होना हा यहाँ "सुकृती-अवधि" का भाव है उसका परिपाक चारों भाइयों का अवतरण हुआ है।

अवधपतिरानी

"अवधपतिरानी" से राजा दशरथजी के शरीर में प्रविष्ट मनुजी एवं कश्यपजी के संसर्ग में उनके पुण्य के साथ शतरूपा व अदिति का कौसल्याशरीर में भागी होना "अवधपतिरानी" से स्पष्ट है।

न्यूनतापरिहार

ज्ञातव्य है कि यद्यपि यहां सुमित्राजी मौन हैं तथापि अत्यन्त भक्तिमती होने से उन्हें कौसल्याजी का वक्तव्य अमृतवत् लगा होगा। फलतः उन्होंने भी अभिनय से कौसल्याजी के वचनों का अनुमोदन किया ही होगा। अतः उनका निरूपण न होते हुए भी ग्रन्थ की न्यूनता निरस्त है।

संगति :—सुनयनाजी को उनके द्वारा प्रगट में आए मोह का अनौचित्य तर्ककुशलता से समझाने के अनन्तर आन्वीक्षिकी के अनुगमन में सुनयनाजी का प्रीतिपूर्वक रहना देखकर प्रस्तुत समस्या के समाधान में विचारणीय एक मत कौसल्याजी सुना रही हैं

दोहा :—लखनु रामु सिय जाहुं बन भल परिनाम न पोचु।
गहवरि हियें कह कौसिला मोहि भरतकर सोचु ।।२८२।।

भावार्थ :—कौसल्याजी ने व्याकुल होकर कहा कि लक्ष्मणजी, श्रीराम और सीताजी वन में भले ही चले जायें उसका परिणाम अच्छा होगा उसमें कोई बुराई नहीं है। मुझे भरतजी की चिन्ता है।

जाहुँ बन

शा० व्या० :—वनवासारम्भ में ही कौसल्याजी ने श्रीसीतालक्ष्मणजीसमेत श्रीराम को वन में जाने की स्वीकृति दी है अतः वह 'जाहुं बन' कह रही है।

भल परिनाम

सीताजी व लक्ष्मणजी-समेत श्रीराम का वनवास, गंगाजलनिसृत अपौरुषेयवचनोपवृंहण[1], विश्वामित्रजी का आशीर्वाद[2] तथा दशरथवचन, ("सुबस बसिहि फिरि अवध सुहाई। सब गुन धाम राम प्रभुताई। करिहहि भाइ-सकल सेवकाई। होइअहि तिहुँ पुर राम बड़ाई"[3] से प्रमित तथा "सब जागबल्कि कहि राखा"[4]) आदि से पुष्ट वनवास की सफलता कौसल्याजी "भल परिनाम" से व्यक्त कर रही हैं। ज्ञातव्य है कि "भल परिनाम" से कौसल्याजी की प्रतिभा का प्रामाण्य सिद्ध होकर उनकी लक्ष्यज्ञता की पुष्टि असन्दिग्ध है।

---

१. २।१०३।— २. १।३६०।९, १०
३. २।३६।४ ४. २।२८५।८

न पोचू

राजकीय मतानुसार "न पोचू" से सब परिवार में अभेद व बलवदनिष्टानुबन्धित्वाभाव समझाकर पतिवचनप्रमाणता की पुष्टि कर रही हैं। क्योंकि कार्यान्तर में सूर्यवंश के व्यग्र होने की अवस्था में विद्वान्, निर्व्यसनी मन्त्रिमण्डल स्थिरता के साथ सूर्यवंश के हितैषी रहते हुए राज्य के संरक्षण में तत्पर हैं। अतः अराजकता का प्रसंग न होना भी स्पष्ट है।

गहबरि हियँ (कौसल्याचिन्ता)

'चिन्ता से मुक्त होकर भी' ("भरत प्रानप्रिय पावहि राजू") 'श्रीराम वचन व ('आवहि बहुरि रामु रजधानी') भरत वचन के परस्पर विरोध का समन्वय न होने से कौसल्याजी ने अराजकता की चिन्ता से हट कर भरतजीवन की चिन्ता में व्यग्र होना "गहबरि हियं' से कवि दर्शा रहे हैं।

मोहु

अस्मच्छब्दार्थ आन्वीक्षिकीकुशला, नीतिमती, ब्रह्मविद्या को उपदेष्ट्री कौसल्याजी हैं।

भरत

"भरत" शब्द से माण्डवीसमेत भरतजी विवक्षित हैं। यह भरतशब्द पत्नीसमेत शत्रुघ्नजी का उपलक्षक है।

सोचु

भरतजीवनसम्बन्धी चिन्ता "सोचू" से विवक्षित है यही एकमात्र विचारणीय है।

चिन्ताविशेष का कारण

ज्ञातव्य है कि भरतजी को टीका लगाने का आदेश राजा से प्राप्त होने पर भी उसके पालन में श्रीरामभक्तिरूप अंगी का सर्वथा लोप है। यदि वे टीका नहीं लगाते तो राजवचन अप्रमाण होगा। परिणाम से अन्यान्यवचन की प्रमाणता सन्दिग्ध होगी। भरतजी ने श्रीरामवनवास की तीव्रवेदना होने पर भी श्रीरामोपदेशपालन में ही जगन्मंगलकारिता घोषित की है तदनुसार श्रीरामादेश भी स्वयं वन में रहते हुए भरतजी के लिए राजटीका लेने में ही होगा तथापि भरतजी की विरहवेदना बनी रहेगी फलतः उनका जीवित संदिग्ध है। वे तो श्रीराम के साथ अथवा श्रीराम के प्रातिनिध्य में वनवास के लिए अभिलाषुक हैं।

संगति :—"भरत कर सोचू" से व्यक्त भरतजीवनाभाव पर किसी के द्वारा इष्टापत्ति आक्षिप्त है तो उसका समाधान कौसल्याजी सुना रही हैं।

अथवा :—द्वितीय सोच की कर्तव्यता उपपत्ति से समझनी हैं उसका उपक्रम "ईसप्रसाद" से कर रहीं हैं उसमें चारों भाइयों की राजनैतिक उपादेयता प्रकाशित होगी।

चौ० :—ईसप्रसाद असीस तुम्हारी। सुत सुतबधू देबसरिबारी ॥१॥

भावार्थ :—ईशकृपा व आपकी आशिष् से सब लड़के और उनकी वधुएं गंगाजल के समान शुद्ध हैं।

संगत्युक्त इष्टापत्ति का समाधान

शा० व्या० :—चारों भाई व चरो वधुएं प्रीतिसूत्र में आबद्ध हो अयोध्या को अलंकृत कर रहे हैं। इनमें से एक को भी परलोकगति हो जाय तो सभी का प्रयाण होना निश्चित है इष्टपत्ति का यह समाधान स्पष्ट है।

ईसप्रसाद

"ईस प्रसाद" से योगक्षेम के अन्तर्गत योग होना प्रदर्शित है।

"ईसप्रसाद" का अन्वय "देवसरिबारि" से है अर्थात् जीवों पर जब प्रभु प्रसन्न रहते हैं तभी घर में यथायोग्य पुत्र-पुत्री जन्म लेते हैं ऐसा सोचकर ही सुनयनाजी व कौसल्याजीने पतिव्रत में रहते सुत व सुतों को एवं तदनुबन्धितया दामाद व स्नुषाओं कोप्राप्त करना ईसप्रसाद का परिचायक है क्योंकि पुत्रवधु की प्राप्ति योग होना ईशप्रसादाधीन ही है।

अथवा :—द्वितीय सोच की कर्तव्यता की उपपत्ति २ चौ० आदि से आगे समझनी है, उसका उपक्रम "ईसप्रसाद" से कर रही हैं उसमें चारों भाइयों की राजनैतिक उपादेयता प्रकाशित होगी।

असीस (क्षेभ)

सीतादि चारों पुत्रियो के लिए ब्रह्मविद्यासंपन्नमातृशिक्षा का प्रभाव भी कम नहीं है क्योंकि सीताप्रभृति चारों लड़कियां नीत्यनुमोदितशिक्षाग्रहणार्हतारूप द्रव्यतासंपन्ना होने से उन पर माताकी शिक्षा ने अपना अधिकार बना लिया है। क्रमशः चारों वधुएं शूश्रूषा पतिदेवभक्ति, अहिंसादिसाधारणधर्म मत्र्येशीलवतो गुणसम्पन्ना होने से उनको ब्रह्मविद्या ने पूर्ण विनीता बनाकर अयोध्यामें भेजा है जिसका परिणाम योगक्षेम के अन्तर्गत क्षेम स्पष्ट है।

अथवा :—'असीस्' से सुनयनामनोरथसंकल्प विवक्षित है उसका प्रत्यक्ष फल यहां चिन्त्य है जैसाकि सुतपक्ष से यह कहना है कि ब्रह्मविद्या के द्वारा पुत्रीयोग्य पति की अपेक्षा से सुनयनाजी ने जो व्रत संपन्न किए कराए हैं वे कर्म कोसलेश्वर के यहाँ पुत्रों ने जन्म लेने के प्रति सहायक हो गए हैं अतः "असीस तुम्हारी" कहा है।

सुत सुतवधू

सुत :—चारों भाई "सुत" से समझने हैं।

सुतवधू :—"सुतवधू" से चारों वधुएं समझनी हैं।

देवसरिबारी

सामने मन्दाकिनी उपस्थिति है अतः "देवसरिबारी" का उल्लेख है।

एक भाव यह कि दुष्ट पदार्थ का कैसा भी संसर्ग गंगाजी में हो किन्तु गंगाजी की पवित्रता कुछ और ही है। वैसे ही भेद, कुटिलता, दुष्टाधीनतादि दोष, सुतों व सुतवधुओं में कालत्रय में प्रसक्त नहीं है उन सभी में शुचिता अक्षुण्ण है जिसका ध्वनितार्थ तेजस्विताधायक परमपवित्रता (शुचिता) व देवादितृप्ति को स्फुट करने में है।

संगति :—अवध में अप्रत्याशित घटित घटना को सुनकर घबरायी अंगभूता ब्रह्मविद्यारूपिणी सुनयनाजी को अपने पुत्रों के वर्णन से अपेक्षाकृत सुखास्वाद नहीं मिल रहा है ऐसा देखकर कौसल्याजी अपने प्रतिज्ञातार्थ (भरतकर सोचू) के प्रति औपचारिकता का अभाव समझाने हेतु उसकी यथार्थता प्रगट करने के लिए शपथग्रहण कर रही हैं।

चौ० :–रामसपथ मैं कीन्हि न काऊ। सो करि कहउँ सखी! सतिभाऊ ॥२॥

भावार्थ :—मैंने श्रीराम की शपथ कभी नहीं ली है उसको लेकर मैं सत्यभाव से कह रही हूँ।

रामसपथ

शा० व्या० :—अप्रत्याशित घटना सुनकर सुनयनाजी के हृदय में कैकेयीजी के प्रति कुटिलता का भाव जागृत हो गया उसी हेतु से कैकेयीजी के गोद में जन्म लेने वाले भरतजी के प्रति भी अशुचिता अर्थात् उक्तघटनारूपअकार्यकारिता शंकित हो गयी थी वह जब तक निरस्त नहीं होती तब तक ब्रह्मविद्या सुतचरित्रवर्णनास्वाद पा नहीं सकती अतः उक्तशंकानिरसनार्थ सत्य, शील स्वभाव में बैठी हुई कौसल्याजी 'देवसरिबारीसम' की यथार्थता के बोधनार्थ श्रीराम की शपथग्रहण कर रही हैं।

ज्ञातव्य है कि सुनयनाहृदयोदित शंकाओं का निरसन उपायान्तरों या प्रमाणान्तरों से संभव होता तो कौसल्याजी शपथग्रहण न करती इस प्रकार शपथग्रहण की अपरिहार्यता मननीय है।

कीन्हि न

हंस (सूर्य) वंश में ऐसी कोई आपत्तिजनक स्थिति उत्पन्न नहीं हुई थी जिसके निमित्त से त्रयी विद्या, ब्रह्मविद्या व राजनीति विद्या इस वंश पर आशंकित हो बिछुड़ने की स्थिति में पहुंचती। फलतः यह वंश सदा साधुसमाश्रयरूप दुर्ग में स्थिर ही बना रहा। ऐसी स्थिति में श्रीरामजी जैसे पवित्रात्मा की शपथ लेने की आवश्यकता नहीं हुई इसीको "कीन्हि न" से समझाया है।

सखी ! (आर्थिक अशुचिता का निरास)

सख्य की स्थिति में दार्ढ्य लेने हेतु दोहा २।२८२।७ में उक्त 'सखि शब्द' का पुनरुच्चारण "सखि"रूप में किया है अन्यथा भरतचरित्र में आशंकित दम्भ से छुटकारा सुननयनाजी को प्राप्त नहीं होता न ही, देवसरिबारी' का तादात्म्य सुत व सुतबधुओं में जाना जा सकता था।

सतिभाऊ

"सतिभाऊ" के पीछे आधाररूप में दृढ़तर परलोकविश्वासपूर्वक नरकभय समझना होगा जिसे अर्थशास्त्र ने भी सन्धिप्रकरण में प्रथम स्थान दिया है। इसमें चिन्त्य है कि संदिग्ध स्थिति में एकतर कोटि को निर्णीत करने हेतु कोई दृष्टोपाय उपलब्ध नहीं होता तब धर्मराज्य में शपथादि दिव्यपरीक्षा को नियामकतया व्यवहारालय के उपयोग में लाने का विधान शास्त्रों में प्राप्त है। तदनुसार कौसल्याजी ने शपथ लेकर कहने का संकल्प लिया है। फिर भी तात्पर्य यह कि यदि "सतिभाउ" न कहती तो शपथ की प्रतिष्ठा नरकभयप्रतीति के विना लोकमान्य नहीं होती।

संगति :—'भरतकर सोचू' व "रामसपथ" लेने का प्रयोजन आगे (२।२८४।२) वक्तव्य है उसके पूर्व कौसल्याजी "सति भाऊ" के वश होकर (१६७।५ से १६८।८ तक) भरतजी ने अपनायी नीति आदिकों को यथावत् समझकर उसके बारे में निर्णय की अक्षमता के बहाने दोहा २६३।७ श्रीराम ने कहे "उर आनत तुम्ह पर कुटिलाई "में निर्णीत "परलोकुनसाई" रूप दोषाभाव अपने में ध्वनित कराने हेतु भरतजी के पालनीयगुण वर्णन से सुना रही है। जिस से भरतजी के वनवास की सोच्यता में अनुपेक्षणीयता स्पष्ट होगी।

चौ० :—भरतसीलगुन विनय बड़ाई। भायप-भगति-भरोस-भलाई ॥३॥
करत सारदहुकरमति हीचे। सागर सीप कि जाहिं उलीचे ? ॥४॥
जानउं सदा भरत कुलदीपा। बार-बार मोहि कहेउ महीपा ॥५॥
कसे कनकु मनि पारिखि पाए। पुरुष परिखिअहिं समय सुभाएं ॥६॥

भावार्थ :—भरतजी के शील, गुण, विनय से युक्त बड़प्पन सहजभ्रातृत्व, स्नेह भक्ति, विश्वास व भलाई का वर्णन करने में सरस्वतीजी की बुद्धि हिचकिचाती है। कहीं सीप से समुद्रजल को बाहर निकाला जा सकता है ? राजा (दशरथ) ने बार-बार मुझसे कहा है और मैं जानती हूं कि भरतजी सदा कुल को उज्वलित करने व ले हैं। कसोटी पर कसने पर सोने की पहिचान होती है। उसी प्रकार समय पड़ने परमनुष्य की परख होती है तभी वे शोभित होते हैं।

सील

शा० व्या० :—साधु समाज में जिसका स्वभाव परीक्षणीय होकर पीनःउपुन्येन सराहनीय होता है उसी को अथवा सुखभाव को "सील" से समझना है।

गुन विनय

नीतिमत में श्री के समृद्धयर्थं हेतुतया प्राप्तव्य जनानुराग के लिए जिनकी उपयोगिता मानी गई है, वे 'गुन' हैं।[1]

'विनय' से लोकमर्यादा व शास्त्रार्थानुष्ठान समझना है। यदि वह (विनय) प्राप्त है तो शास्त्र सम्यक्तया समझे जाते हैं। फलतः उससे श्री का अर्जन वर्धन पालन सत्पात्रप्रतिपत्ति आदि होती है।

बड़ाई

अमानी होते हुए यथावत् दूसरे का सम्मान करते जो मान्यता प्राप्त करता है वही उसकी 'बड़ाई' है। जैसा कि विष्णुसहस्रनाम में "अमानी मानदो मान्यः" से स्पष्ट है।

भायप

कर्कटकसधर्मत्वरूप एकर्थाभिनिवेश न होना 'भायप' है। जैसा कि लक्ष्मणजी के प्रति कही भरतोक्ति[2] से 'भायप' व्यक्त है।

भगति

आयी हुई राज्यश्री के बारे में सन्तुष्टि न पाकर अपनी स्वतन्त्रता त्यागना व प्रभु के द्वारा राज्यस्वत्व स्वीकार कराने के लिए उनके चरणों में समर्पित होना भरतजी की प्रपत्ति 'भगति' है।

भरोस भलाई

श्रद्धा ही 'भरोस' का वाच्यार्थ है। उसकी उत्तरावस्था 'भलाई' है जो विश्वास से पुकारी जाती है। "भरोस भलाई" से स्वपरोभयहितकर्तृता ज्ञातव्य है इसमें सभी नैतिक गुण अन्तर्हित हैं जो नीतिसार में आभिगामिक और आत्मोपकारिक कहे गए हैं।

कहत सारदहु कर मति हीचे

'सारदहुकर मति हीचे' से भरतजी की अपारगुणसागरता ध्वनित है इसलिए कि उनके सम्पूर्ण चरित्र को देखकर तत्संबद्ध महावाक्यतात्पर्यनिर्णय करना असंभव है। इसकी यथार्थता इसी से समझनी होगी कि भरतजी के महिमा की अपारता का साक्षित्व वसिष्ठ मुनि ने १५७ में दिया है उसके रहते शारदा जी ने भरतगुण का पार न पाना यथार्थ है।

---

१. बुध्या श्रीःपाल्यते उत्साहाध्यवसायाभ्यां विस्तारमुपनीयते सत्वात् फलाध्यवसानम्।
(नीतिसार जयमंगला १४ सर्ग)

२. २।१८२।७

सागरसीप

"सागर" से मायातीत व्यक्तियों की मति एवं "सीप" से मायापरिच्छिन्न मति ध्वनित है। आशय यह कि सागरसदृश भरतजी के अपार भक्ति-नीति-धर्ममहिमा को अवगाहित करने में देशकालपरिच्छिन्न 'सीप' के सदृश अपरमति समर्थ नहीं हैं क्योंकि देशकालमायातीत छलशून्य भक्तों के अनुष्ठित व निर्णीत तथ्य मायापरिच्छिन्न मति से बहुत दूर हैं।

सदा भरत कुलदीपा

प्रस्तुत घटना संपृक्तसुख, लोभ, स्वार्थ से अयोध्या अभी अशुचित्वप्रयुक्त आवरण में फसने जा रही थी उस अशुचित्वप्रयुक्त आवरण ('अंधकार') को हटाने में एकमात्र भरतजी ही दीपक का कार्य कर रहे हैं। इस प्रकार प्रत्याक्षानुमानतः निर्णीत गुणविशिष्ट भरतचरित्र से श्रीरामराज्योत्सव की आशा हो रही है जो 'कुलदीप' का प्रकाश है।

महीपा

'महीपा' का अन्वय "बार-बार" से है प्रत्यक्षतः शिशुपन से देखने के बाद कौसल्याजी ने उसी की यथार्थतया भरतजी के अनुभावों विपत्ति व व्यवहार से अनुमित कर शीलादि गुणों को सुनयनाजी के सामने जो गाया है उनमें शब्दप्रमाण-प्रमितत्व लाने हेतु "महीपा" कह रही हैं।

भरतगुणनिरूपण का प्रयोजन (सुनयनाजी की शंकाओं का निरसनोपाय)

सामान्यतः "देवसरिबारी" कहने के बाद विशेषतया भरतगुणों का निरूपण करने का प्रयोजन सुनयनाजी को भरतजी के बारे में निःशंक बनाना है क्योंकि श्रीरामवनवास सुनकर उनके हृदय में आशंकाओं का उत्पन्न होना मालूम होता है जिसका कारण प्रभु का दुर्नय या भरतजी का क्रौर्य होना उन्होंने समझा है किन्तु उसमें से सुनयनाजी, श्रीराम में दुर्नयाभाव का रहना जानती हैं यतः वे परशुरामजी द्वारा प्रसादप्राप्ति आदि कार्य देख चुकी हैं फलतः उन्हें परिशेषानुमान से भरतजी के बारे में क्रौर्य आशंकित हो सकता है नीतिपक्ष से यह आशंका "देवसरिबारी" मात्र से निरस्त नहीं हो सकती जब तक कि उन्हें भरतजी में साध्वाभिगामिक व समस्त आत्मोपकारिक गुणों का होना न समझाया जाय। यही कौसल्याजी के भरतगुणगान का प्रयोजन है।

कसे परिखहि

संवादी विसंवादी या शत्रु-मित्र की पहिचान समय पड़ने पर होती है। दोहा १८० के अन्तर्गत कहे श्रीरामलक्ष्मणसीताबनवास, राजा दशरथजी का स्वर्गवास, माताओं का वैधव्य, प्रजा का शोकसन्ताप, माता केकेयीजी का कुटिल कार्य, राज्य लेने का आग्रह आदि कुसमय देखकर भरतजी ने उससे किए छुटकारे के परीक्षण हेतु

कौसल्याजी ने "कुसमउ समुझि सोक परिहहेउ" से भरतमणि को कसौटी पर कसने तथा वसिष्ठजी ने 'पावतिनाव नबोहितुवेरा' सुनाकर भरतजी के प्रति अपना अभिप्राय श्रीराम को २५८ में सुनाने से 'कसेक नकु' आदि कहना सही है।

सुभाएँ

"सुभाएँ" कहकर भरतजी का त्याग, निर्लोभता, भक्ति, भलाई आदि की परीक्षा में उत्तीर्ण होना समझाया है।

संगति :—अपने स्नेहियों के प्रति आप्त स्नेहियों ने स्वयं ही गुणगान करना उचित नहीं है ऐसा सोचकर कौसल्याजी, सुनयनाजी के सामने लजाती, व्यंजनया पुनः भरतगुण प्रकाशित कर रही हैं।

चौ० :—अनुचित आजु कहब अस मोरा। सोक-सनेहँ-सयानप थोरा ॥७॥

भावार्थ :—आज मेरा ऐसा कहना अनुचित है (मगर क्या करूँ) शोक स्नेह के वश सयानापन लघु हो गया।

अनुचित

शा० व्या० :—अभ्यागतों के सामने अपने प्रेमी का गुणगान करना रागोपाधिप्रयुक्त हो तो चपलता कही जाएगी यही अनौचित्य है उसका पर्यवसान नीत्याभास है। दूरदर्शिता में कौसल्याजी सोच रही हैं कि पूर्वोक्तभरतप्रशंसा से गुरु, राजा, देव आदि का प्रसाद प्राप्त नहीं होगा इसलिए कौसल्याजी ने मौन धारण कर अपने को दोषमुक्त किया।

अथवा :—प्रीति के औत्कट्य में प्रेमी के प्रति साहित्यसिद्धान्तानुसार जुगुप्सा नहीं होती[1] अतएव उसके दोष दृष्टिगत नहीं होते यही दशा शोकाक्रमण में रहती है। कौसल्याजी का भरतजी के प्रति राग अवध में भरतमिलन के अवसर पर उनके दुग्धस्राव से निर्णीत है ऐसे प्रेम के वश में बोलना, सयानेपन का दिवाला दिखाना होगा। यही आपत्ति शोक में भी चिन्तनीय है।

सोक-सनेह-सयानप-थोरा की मीमांसा मुनिपक्ष से

अनुमानप्रणाल्यनुसार "मम पूर्वोक्तभरतप्रशंसावचनं अनुचितं" यह प्रतिज्ञा कौसल्याजी ने सुनाई। उसके लिए अपेक्षित हेतुवाक्य "सोक सनेह सयानप थोरा" है अर्थात् शोकस्नेहान्यतरभावे सति वास्तविक तत्वविवेकप्रकाशक बुद्धेः-संभावित-तिरोधानसूचनात्" स्मरणीय है। अतएव कौसल्याजी को भरत प्रशंसा सुनाने में संकोच होना उपपन्न है।

ज्ञातव्य है कि यद्यपि कौसल्याजी ने बुद्धिके तिरोधान को हेतुरूप में सामने रखकर अनौचित्य आशंकित किया किन्तु विवेकियों के अभिमत से कौसल्याजी में विवेक बुद्धि

---

१. आलस्यौग्र्यजुगुप्साभ्यो विना संचारिभिर्युतः (चन्द्रालोक)

का तिरोधान होना स्वीकार्य नहीं है क्योंकि उनके किये हुए भरतप्रशंसन की वास्तविकता वसिष्ठजी, श्रीराम आदि के द्वारा निर्णीत है तथापि कौसल्याजी का आशंकित अनौचित्य मनीषियों को उचित मालूम हो रहा है क्योंकि कौसल्याजी के उन वचनों से कौसल्याजी आदि समस्त रानियों के प्रति पूर्वानुस्यूत स्थायी प्रेम ही प्रकाशित हो रहा है।

संगति :— अन्य रानियों के द्वारा नीत्याभासाभाव को उनके हृदय में उभड़े वात्सल्यरससंक्रमण से पुष्ट करुणप्रयुक्तविफलता वअनौचित्य न होने से कवि व्यक्त कर रहे हैं।

चौ० :—सुनि सुरसरिसम पावनि बानी। भई सनेहबिकल सब रानी ॥८॥

भावार्थ :— कौसल्याजी की गंगासम पवित्रवाणी सुनकर सब रानियाँ प्रेम में व्याकुला हो गईं।

पावनि बानी

शा० व्या० :— गंगाजी में दूषित पदार्थों का जितना भी प्रवेश हो उससे वे दूषित नहीं होती किं बहुना दृष्ट ही स्वयं धीरे-धीरे पवित्र हो जाते हैं वैसे ही कौसल्याजी की वाणी स्वयं 'सोइ भगति' से समन्वित हो गंगातादात्म्य को धारण कर चुकी हैं। उसमें शोक व प्रीति का प्रवेश होने पर भी तत्प्रयुक्त सोपाधिकत्व दोष नहीं है। अर्थात् उसमें अनौचित्य नहीं है, किंबहुना शोक व प्रीति ही कौसल्यावाणी के संसर्ग में पवित्रता को प्राप्त कर कवियों को आस्वाद्य हो रहे हैं।

सनेहबिकल

"सनेहबिकल" का भाव भरतजी के प्रति सबका प्रेम समझाने में है क्योंकि प्रस्तुत समस्या का समाधान करते हुए भरतजी की सुरक्षा कैसे की जाय? इसका उत्तर रानियों को अनुपलब्ध हो रहा है। यदि वे उपेक्षा करती हैं तो उनका स्नेह से विकल होना औपचारिकता का ही द्योतक होगा उसी का अभाव "सनेहबिकल" से दर्शाया है।

ज्ञातव्य है कि इस स्नेहविकलता में श्रीसीतारामवनवासनिमित्तक दुःख का तिरोधान होने से उनके वनवाससम्बन्ध में विचार की समाप्ति दर्शाई है।

सब रानी (अंगागिभावप्रकाशन)

रानियों के अन्तर्गत सामाजिक स्थान में बैठी हुई विदुषी सुनयनाजो (ब्रह्मविद्या) भी कौसल्याजी के वचनों से वात्सल्य में ओतप्रोत हो करुण रस में समा गई।

इस प्रकार समझदारी की शिक्षा देने वाली सुनयनाजी कौसक्ष्याजी के वचन सुनकर स्वयं अधीरा हो गयीं अतः भक्ति का अंगित्व एवं उपनिषद् विद्या का अंगत्व समझाया गया है।

संगति :—७ वीं चौपाई की उक्ति के साथ कौसल्याजी स्वयं अधीरा हुई फिर भी ग्रन्थकार ने अपनी ओर से सामाजिकों के हृदय में हुइ संक्रमणावस्था बताकर पुनः कौसल्याजी ने अपनी चिकित्सा करके सुनयनाजी के प्रति की हुई स्मरणोद्बोधनात्मक चिकित्सा सुना रहे हैं।

दोहा :—कौसल्या कह धीर धरि सुनहु देवि ! मिथिलेसि ! ॥
को विवेकनिधिबल्लभहि तुम्हहि सकइ उपदेसि ? ॥२८३॥

भावार्थ :—धैर्य धारण कर कौसल्याजी ने कहा कि हे मिथिलेश्वरि ! देवि ! आप सविवेक तो पराविद्यासम्पन्न जनकजी की रानी हैं। आपको कौन उपदेश सुना सकता है ?

कौसल्या कह

शा० व्या० :—स्नेहविकलता की चिकित्सा में "कौसल्या कह" सुनाते हुए उन्हें चिकित्सक के रूप में ध्वनित किया है।

धीर धरि

"अनुचित आजु"[१] में व्यक्त आशंकासमाधान से अपने में शंकोपाधिमस्वाभाव याद कर कौसल्याजी का पुनः धैर्य में आना "धीर धरि" से कहा है जिससे कौसल्याजी भरतजी की प्राणरक्षा करने का सुझाव सुना सकें।

देवि ! मिथिलेसि !

"देबि"—यहां "देबि" शब्द ब्रह्मविद्याप्रयुक्त द्युतिपरक है।

मिथिलेसि :—मिथिलानगरी के निमिराजा से प्रारम्भ कर राजाओं ने निरन्तर ब्रह्मविद्या को अपने हृदय में बसाते हुए ब्रह्मविद्याप्रयुक्त शोकहर्षाभाव व स्थैर्य का यशस् प्राप्त किया है उसमें देवी रानी का भी महान् योग है। ज्ञातव्य है कि कामिनीत्व के कारण जहां शुचिता सन्दिग्ध रहती है वहां ब्रह्मविद्या का अस्तित्व मिट जाता है परन्तु यहां वह दोषमिथिला की महारानियों में नहीं फैल सका है। इसी सीख में "मिथिलेसि" सम्बोधन है।

को विवेकनिधि ?

को :—"को" शब्द प्रश्नार्थक है। इसका अन्वय "उपदेसि" से है।

राजसभा में प्रतिक्षण ब्रह्मवादियों का समागम होने के फलस्वरूप सुनयनाजी को विवेक से प्रत्येक वस्तुतत्व का परिच्छेद परिज्ञात होना "विवेकनिधि" से ध्वनित किया है। उससे कवि ने आन्वीक्षिकी की उपयोगिता प्रदर्शित की है। जैसाकि "हर्षशोकौ-व्युदस्यति" से नीतिसार में स्पष्ट किया है।

उपदेसि

"उपदेसि" का अन्वय 'को सकइ' में है ब्रह्मविद्या स्वयं समर्था है वह अपने में कभी अविवेक का स्पर्श नहीं होने देती अतः सुनयनाजी को उपदेशान्तर की अपेक्षा नहीं है

१. २।२८३।७

इसलिए उक्त दोषचिकित्सार्थं विवेकनिधि से अन्य के द्वारा उपदेश का वैयर्थ्य (अन्यथासिद्धत्व) कौसल्याजी ने कहा है। क्योंकि विवेकनिधि' कहते ही सुनयनाजी ने धैर्य को धर लिया है।

संगति :—दोहा २।२८३।३ में भरतगुणगान करते हुए कौसल्याजी ने उनके संरक्षण की अपेक्षा ध्वनित की है जो अपनी ओर से अग्रिम सभा में रखना असम्भव सा लग रहा है। अतः "भरतकर सोचू" के समाधान में अपनी ओर से सोचे पक्ष को प्रभु के सामने उपस्थापित करने का कार्यभार जनकजी पर सौंपने की प्रार्थना कौसल्याजी सुना रही हैं।

चौ० :—रानि ! रायसन अवसरु पाई। अपनी भांति कहब समुझाई ॥१॥

भावार्थ :—हे रानि ! मौका पाकर आप जनकजी से अपनी ओर से समझाकर कहिए।

रानि !

शा० व्या० :—कौसल्याजी प्रत्यक्षतया भरतजीवन होना अवध में असम्भव सा प्रतीत हो रहा है ऐसा मानकर 'सोचे' के समाधान को भावी सभा में अपने पक्ष का उपस्थापन करवाना चाहती हैं। राजा जनकजी इसके योग्य हैं सोचकर उनको अपना अभिप्राय व्यक्त कराने हेतु "रानि" सम्बोधन है।

"राय" से जनकराजा विवक्षित हैं।

अवसरु पाई

"अवसरु" से देशकालसंयोग विशिष्ट वर्नेमानरात्रि विवक्षित है।

ज्ञातव्य है कि जनकजी से किसी को वार्ता का अवसर प्राप्त नहीं है तथापि पत्नी होने के नाते सुनयनाजो को अहोरात्र में कभी न कभी राजा से भेंट करने का अवसर प्राप्त होता ही है उस समय पति का रुख देखकर विषयोपस्थापन करना होगा उसमें प्रमाद न होना "पाई" से कहा है।

अपनी भांति

भरतजी के प्रति आपको भी स्नेह है वे आपके दामाद भी हैं उनको जीवित रखना आपको इष्ट है क्योंकि अवध व मिथिला का राज्य उनके संरक्षकत्व में सुरक्षित रह सकता हैं। अतः आप भी अपनी सम्मति राजा के सामने प्रकट करें जो "अपनी भांति" से सूचित हैं।

समुझाई

ब्रह्मज्ञ राजा के सामने तर्कपुरस्सर परामर्शसंयुक्त पंचांगपूर्ण मत का उपस्थापन करने की प्रार्थना "समुझाई" से स्पष्ट है। यतः वे आन्वीक्षिक्यनुमत शब्द को ही प्रमाण मानते हैं।

संगति :—कौसल्याजी अपनी ओर से प्रार्थना का विषय सना रही हैं।

चौ० :-राखिअहि लखनु भरतु गवनहि बन। जौं यह मत मानै महीपमन ॥२॥
तौ भल जतनु करब सुविचारी। मोरे सोचु भरतकर भारी ॥३॥
गूढ़ सनेह भरतमन माहीं। रहे नीक मोहि लागत नाहीं ॥४॥

भावार्थ :—लक्ष्मणजी को यहां रख कर भरतजी वन में जाएँ यदि यह मत जनकजी को जंचे तो उसके लिए खूब विचार कर अच्छा उपाय करें क्योंकि भरतजी के जीवित के प्रति मुझे बहुत चिन्ता हे। भरतजी के मन में ऐसा गुप्त प्रेम है कि इनका श्रीराम से अलग रहना मुझे शुभ नहीं लगता।

राखिअहि लखनु

शा० व्या० :—ज्ञातव्य है कि यदि लक्ष्मण जी को अवध में रखकर राज्य-संचालन करवाया जाय तो भी वे राजा नहीं कहे जा सकते क्योंकि राजा दशरथजी ने अवध का स्वामी उन्हें नहीं बनाया है। फलतः श्रीराम १४ वर्षों के बाद लौटेंगे व श्रीरामराज्योत्सव होगा जिसके लिए सम्पूर्ण प्रजा व रानियां जीवित हैं।

भरतु गवनुबन

यदि भरतजी अवध में रहकर राज्यसंचालन करते हैं तो राजनिर्देशानुसार उनमें स्वामित्व अर्थतः प्राप्त ही है तो वे हरिजन नहीं कहे जाएँगे सभी के लिए सेव्य मान्य हो जाएँगे इसलिए उनको वन में भेजा जाय तो श्रीराम का सेवकत्व अवध स्वत्वासामानाधिकरण्य के साथ भरतजी में अनुस्यूत होगा। फलतः उनका श्रीराम-विरहासमानाधिकरण्य होने से जीवन सुरक्षित रहेगा इस प्रकार २६८ दो० में उक्त (नाथ चलौ में) भरतपक्ष स्थिर होगा।

जौं यह मत

"जौ" से ध्वनितार्थ यह कि कौसल्याजी को पतिवचन की प्रमाणता का अपने मनस् में उल्लंघन होना मालूम हो रहा है।

अथवा :—"जौं" का संकेत यह कि राजा जनकजी शब्दप्रमाणमूर्धन्यवादी हैं वे प्रत्यक्षतया भरतजीवन को प्रबल मानकर शब्द प्रमाण को संकुचित करने में स्वीकृति नहीं देंगे, अतः संभव है कि भरतवनवास उन्हें मान्य न हो।

अथवा :—दोहा २।२६९।१ में उक्त अन्तिम भरतमत पर रही उनकी तुष्टि के विरुद्ध जनकजी को अपना मत मान्य न होने की संभावना "जौं" से सूचित है।

मानै महीपमन

"मानै" शब्द अनुष्ठानतः स्वमतप्रामाण्य का बोधक है।

ज्ञातव्य है कि दोहा २।२६९ में भरतवचन सुनकर श्रीराम तूष्णीभाव में रहते हुए संकोच में आ गये जैसा कि दोहा २।२७०।३ में स्पष्ट है। उसी समय जनक राजा

का आगमन सुनकर अत्यन्त संकोच में आकर अपनी ओर से उत्तर देना श्रीराम ने उचित नहीं समझा क्योंकि जनकजी के द्वारा प्रकृत समस्या के बारे में अपनाया मत समझना आवश्यक था। उसको ध्यान में रखते हुए कौसल्याजी "महीपमन" कह रही हैं।

तौ भल

कौसल्याजी कहती हैं कि ब्रह्मविद्या भी भक्ति को प्रधान मानती है अतएव वह प्रभु के लिए नवविध भक्ति के अन्तर्गत सख्य या आत्मनिवेदन करने के लिए प्रस्तुत हैं। जैसा कि पुरंजन के जन्म में पुत्र के वर्णनप्रसंगान्तर्गत सात द्रविड पुत्रों की व्याख्या में श्रीधराचार्यजी ने की हुई व्याख्या में स्फुट है। अतः कौसल्याजीका मत भरतजीवन-रक्षण ब्रह्मविद्या की दृष्टि में भी भल कहा जाएगा।

"भल" का अर्थ हित साधने में है उसके अन्तर्गत विशेषतया प्रपत्ति की स्थापना करनी है उसमें भरतरक्षण मननीय है जो ब्रह्मविद्या एवं भक्तों के लिए हित है।

जतनु

हितसाधनता प्रमाणत्रयप्रमित करने के बाद राजा ने कृत्युद्देश्यक कर्म बनाना "जतनु" है।

करब

तदर्थविधेयक प्रयत्न "करब" का भाव है।

सुबिचारी

"सुबिचारी" का आशय यह कि कौसल्याजी का मत "भरतकर सोचू" है इस के उपशमन में "भरतु गवनहि बन' रूप प्रतिज्ञातार्थ की सिद्धि की कार्यता समझ कर जनकजी ने ब्रह्मविद्या के अधिकार से तर्कपूर्वक परामर्श करना 'सुबिचारी' है। गूढ़ार्थ यह कि यदि वन में न जाते हुए भरतजी का जीवित रहना निर्णीत होता है तो 'भरतगवन' मत कौसल्याजी को मान्य नहीं होगा।

'सुशब्द' वने भरतगमनं बिना भरतो न जीवेत् ऐसा तर्क आन्वीक्षिकी से युक्त कार्यकारणभाव के आधार पर है तो कौसल्यामत स्वीकार्य है समझाने के लिए उक्त है।

भारी

राजनीतिसमन्वित आन्वीक्षिकी आदि अपरा विद्या एवं परा विद्या के ऊपर यह अत्यन्त बोझ है कि उसने निर्णय इस प्रकार करना होगा जिसमें भरतजी की प्रपत्ति व जीवन में कोई बाधा न आ सके यह प्रतिभूत्व "भारी" से विवक्षित है।

गुढ़ सनेह

भरतोपासना, पतिव्रता की पति के प्रति होने वाली उपासना के समान है जिसमें निष्कपट, अहैतुक प्रीतिमात्र ओत-प्रोत रहती हैं। वह प्रेम पतिव्रताओं के लिए संवेद्य

हैं वैसा ही प्रेम भरतान्तःकरण में उद्बुद्ध है वह गूढ़ इसलिए कि भरतजी पुरुष हैं। अतः 'माने महीपमन' कहना भी सार्थक है।

रहे नीक

"रहे नीक" से कौसल्याजी अपने मतसंबन्धी भाषण का उपसंहार कर रही हैं। "रहे" से अवधवास समझना है।

मोहि

"मोहि" से उपर्युत 'भारी सोच' विशिष्टा कौसल्याजी बोध्य हैं।

लागत नाहीं

बलवदनिष्टाननुबन्धिता के प्रतिषेध का बोधक "लागत नाहीं" है।

संगति :—कौसल्याजी द्वारा भरतगूढ़स्नेह सुनकर सब रानियों पर भरतविरहजदुःखसंक्रमणपूर्वक प्रीतिप्रचुर करुणरससंक्रमण होना कवि सुना रहे हैं।

चौ० :—लखि सुभाउ सुनि सरल सुबानी। सब भइ मगन करुनरस रानी ॥५॥

भावार्थ :—कौसल्याजी का सुन्दर भाव देखकर व उनकी सरल सुबाणी सुनकर सब रानियाँ करुण रस से ओत प्रोत हो गई।

सुभाउ

शा० व्या० :—असूयारहित व विश्लेषणात्मकभेदशून्यभाव "सुभाउ" है।

सरल सुबानी

सरल :—सुवाणो में शारीरिक व मानसिक एकरूपता "सरल से ध्वनित है।

सुबानी :—"सुबानी' से वाणी की मृदुता, माधुर्य, अर्थगांभीर्य प्रसाद एवं मनस् की निष्कपटता ध्वनित है।

वाणी की सुष्ठुता का दूसरा भाव यह कि पुत्रवत्सला माता होकर उसने पतिव्रतपूत अन्तःकरण में रहे प्रेम के सजातीय भरतगूढ़स्नेह को अपनी वाणी से प्रगट करना गूढ़स्नेह की यथार्थता का बोधक है।

करुन रस रानी

करुण की व्याख्या इस प्रकार है—"प्रतियोगिनि प्रीत्या तन्नाशासहिष्णुत्वलक्षणो द्वेषः प्रथमः द्वितीयस्तु दुःखसाधनविपदुनिपातगोचरः। तत्राद्यः करुणरसप्रकृतिः।[1]

ज्ञातव्य है कि पूर्वप्रसंग में "सकल सोकसंकुल नर-नारी" से राजमृत्युशोक से संबन्धित करुणा वर्णित थी अभी कौसल्या-सुनयनामिलन में "बिकल सब रानी" से

१, काव्यप्रकाश पृष्ठ १५० चतुर्थ उ०।

उनके अन्तःकरण में भरतजी के प्रति द्रुतता दिखाकर सब रानियों का आनन्दमय 'करुण' दिखाया है जो रसरूप में परिणत हो पतिव्रताहृदयस्थित पतिप्रेमसजातीयतास्वाद्य हो भरतालंबन में व्यक्त है।

संगति :—पतिव्रतासंवेद्यप्रेमयुक्त भरत के गूढ़प्रेमज्ञान के प्यासे सिद्धादि थे, वे उस प्यास की शांति की आशा में पेड़ो आदि की ओट में रात्रि के समय पहुँचे थे। उन पर कौसल्यावाणीजनित प्रभाव को कवि स्पष्ट कर रहे हैं।

चौ० :—नभ प्रसून झरि धन्य धन्य धुनि। सिथिल सनेहँ सिद्ध जोगी मुनि ॥६॥

भावार्थ :—आकाश से पुष्पवर्षा के साथ धन्य-धन्य की ध्वनि होने लगी। सिद्ध, योगी, मुनि स्नेह में शिथिल हो गए।

नभ

शा० व्या० :—सिद्धादि ने फूल बरसाये और वे धन्य-धन्य कहने लगे इसलिए कि कौसल्यावाणीश्रवण से उनकी प्रेम की प्यास शान्त हो रही थी। अवध से चलने के बाद चित्रकूटसभा के सघटित होने में भरतजी का प्रेम देखा गया है उसकी वास्तविकता दोनों महाव्रतस्थरानियों के मिलन में अवगत होने के हर्ष में पुष्पवर्षा है, अर्थात् भरत-प्रेम पतिव्रताओं के संसद में ही अभिनेय है क्योंकि वे ही उसके स्वाद की अधिकारिणी हैं।

सिथिल सनेहँ

देवों की आश्वस्तता गुरुजी के वचन '(तजहु सोचु विधि बात बनाई)' तथा भरतवचन से प्रेम प्रगट है किन्तु वह स्वार्थ में प्रतीत था। अभी तो प्रीति का गूढ़ स्वरूप प्रगट होने पर सिद्धादि के स्नेह में विशेष रहस्य है।

सिद्ध

सिद्धादि पूर्व (छन्द-२।२७६) में व्याख्यात हैं।

संगति :—शिथिलगात्रा रानियां एकाग्रता में भरतजी के गुणों को ध्यान में लाती हुई रसास्वाद में देशकाल-परिच्छेद को भूल गईं तब कौसल्याजी की कार्यप्रणाल्यनुगन्त्री सुमित्राजी ने विक्षेप करना आरम्भ किया इसलिए कि कर्तव्य अतिक्रान्त न हो।

चौ० :—सबु रनिवासु बिथकि लखि रहेऊ। तब धरि धीर सुमित्रा कहेऊ ॥७॥
देबि ! दण्डजुगजामिनि बीती। राममातु सुनि उठी सप्रीती ॥८॥

भावार्थ :—सुमित्राजी ने देखा कि सब रानियां स्तब्धा हो देखती रह गईं। तब सुमित्राजी धैर्य धारण कर बोलीं। हे देवि! दो घड़ी रात बीत गई है। यह सुनकर श्रीराम की माता प्रसन्ना हो उठीं।

बिथकि

शा० व्या० :--"बिथकि" से स्तम्भरूप सात्विक भाव दिखाकर कवि ने करुण का रस रूप में परिणत होना स्पष्ट किया है।

अथवा :--सिद्धादिकों के द्वारा प्रशंसित वास्तविक भरतप्रेमास्वाद में रनिवास का स्तब्ध रहना 'बिथकि" है।

लखि रहेऊ

रानियों की स्तब्धता को देखते रहना "लखि रहेऊ" है।

कहेऊ

प्रीत्यास्वाद में एकाग्र रनिवास को खलल पहुंचाने का अनौचित्य होने पर भी दूसरी ओर रात्रि में राजा के सेवारंभक्रम में बाधा होने का अनौचित्य सोच कर सुमित्राजी धैर्य अपनाकर बोली।

दण्दजुग

राजनीतिसम्मत से गूढ़ मंत्रणा व भोजन का समय रात्रि का प्रथम व द्वितीय भाग है जो बीत चुका है।

अथवा :—दिन रहते ही फलाद्याहारादिनिवृ॑त्ति हो चुकी है परिणातः रात्रि के द्वितीय भाग का भी भरतगुणगान में बीतना "दण्डजुग" है।

उठी

राजा से सोच सुनाने को यही अवसर है सोचकर उस में विलम्ब सह्य नहीं है अतः कौसल्याजी का उठना अवसर पाई (२८३।२) समयसूचकता का चिन्ह है।

सप्रीती

"सप्रीती" से सुनयनाजी के साथ हुए संवाद में कौसल्याजी की पूर्ण रुचि व्यक्त है।

संगति :–जनकजी की सेवा में विलम्ब होना पतिव्रतधर्मविरुद्ध है सोचकर कौसल्याजी, सुनयनाजी को जाने हेतु कह रही है।

दोहा :--बेगि पाउ धारिअ थलहि कह सनेहँ सतिभाय।
हमरें तौ अब ईशगति के मिथिलेस सहाय ।।२८४।।

भावार्थ :—कौसल्याजी स्नेहपूर्वक बोलीं। आप अपने विश्रामस्थल को शीघ्र पधारें मेरे लिए तो ईश्वरगति या जनकराजा कीं सहायता का आसरा है।

पाउ धारिअ

शा० व्या० :—उठने के पूर्व सुनयनाजी के लिए पातिव्रत्यधर्मानुकूल इति-कर्तव्यता का स्मरण कर कौसल्याजी ने "पाउ धारिअ" कहा है।

सतिभाय

"सतिभाय" से, अनौपचारिकता से बचने में उसने जनकराजा की सहायता व उनको बुद्धि देने वाले ईश्वर में पूर्णतया विश्वास एवं श्रद्धा समझना स्पष्ट है।

ईसगति

"कठिन करमगति जान विधाता। जो सुभ-असुभ सकल फलदाता" के अनुसार श्रीरामवनवास एवं राजा के परलोकप्रयाण दुःखमें कौसल्याजी ने धैर्य धारण किया है। पर भरतजी को अवध में रखने या वन भेजने में विधि अज्ञात हो रहा है अतः स्पष्ट-विध्यधीनता याद में न आनेसे 'ईसगति' कहा है।

अथवा २४५।२ में उक्त 'ईसअधीन जगु' व २६३।५ में उक्त 'ईसअधीन जीवगति' की सेद्धान्तिक धारणा के अनुसार कौसल्याजी ने प्रथमतः 'ईसगति' सुनाया है।

मिथिलेस

'मिथिलेस सहाय' कह कर भक्तिरूपा कौसल्याजी ने राजा की पूजा की है। इसकी पश्चादुक्ति का कारण २८९ व २९२।२ में जनकसहायता को अन्यथानिद्धत्वेन राजा घोषित करेंगे।

सहाय

भरतजीवनोपाय के अन्तर्गत अपना मत सभा में उपस्थापित करने में मिथिला-पति सहायक होंगे अतः "सहाय" कहा है। सहाय की अभ्यर्हितता दोहा २।२९१ में द्रष्टव्य है।

सहाय :—यहां 'सहाय'से राजा का उपरिबुद्धित्व अभिप्रेत है।

आन्वीक्षिमत में सहायक अर्थ सहायक न होकर सहायता ने होने के अर्थ में अभिप्रेत है वैसा न कहकर 'मिथिलेस सहाय' कहना उनके विनय का द्योतक है।

भक्तिद्वारा राजनीति में मन्त्रित्व पर स्वीकृति

श्रीरामसन्निकट में रही कौसल्याजी उन्हें (श्रीराम) ही "मोरे सोचु भरतकर भारी" कह सकती थी उसके उत्तर में श्रीरामजी भी कुछ कहती किन्तु उसकी स्वीकृति पर राजनीति (नृपनय) के मत से नेतिक अशुचिता आरोपित होकर रहती क्योंकि राज-परिजन के बारे में मिथिला की ओर से कूटनीति का आक्षेप होकर रहता परिणामतः अग्रिम सभा में होनेवाले निर्णय में 'नृपनय' का मत प्राप्त न होने से वसिष्ठोक्ति ('नृपनय निगमनिचोरि') का अर्थ बाधित होता अतः कौसल्याजी ने अपना सोच राजा जनक के सामने रखने हेतु सुनयनाजी को सुनाया है अतएव वर्णाश्रमधर्म ने स्वरक्षणार्थं स्व राजनीति की अपेक्षा करना उपपन्न है अन्यथा धर्म नीति से अरक्षित हो नेतिक शुचिता के अभाव में व्यक्तिपर्याप्त होकर विलुप्त ही होगा। इस प्रकार भक्ति ने राजनीति के मन्त्रित्व को स्वीकृत करना उपपन्न है।

संवाद का प्रयोजन

राजा के अभाव में वर्णाश्रमाभिप्रेत आभासरहित राजनीति के मन्त्रित्व में भक्ति पर विचार करने में कौसल्याजी ने प्रेरणा देना उक्त संवाद का प्रयोजन है।

संगति :—शरण में आई ब्रह्मविद्या को सर्वतंत्र स्वान्तभक्तिने अपनाना देखकर सुनयनाजी अपने सुनयनात्व को दर्शा रही है।

अथवा :—दोहा २८३ में "विवेकनिधिबल्लभहि" कहने के बाद 'मिथिलेस सहाय' सुनते ही सुनयनाजी के हृदय में प्रतिभात सत्तर्कपूर्ण अर्थ शिवजी सुनायेंगे इसके पूर्व प्रतिभात अर्थ का परिणाम सुना रहे हैं।

चौ० :—लखि सनेह सुनि वचन विनीता। जनकप्रिया गह पाय पुनीता ॥१॥

भावार्थ :—कौसल्याजी का प्रेम देखकर व उनकी नम्रवाणी सुनकर जनकप्रिया ने उनके चरणस्पर्श किये।

लखि

शा० व्या० :—भक्त्युपबृंहित आन्वीक्षिकीकौशल व उसका परिणाम कौसल्याजी ने सुनाए "बिबेकनिधि बल्लभहि" घटक विवेकनिधि से ज्ञापनीय अर्थ (२।२८८।२) से वर्णनीय होगा अभी "बल्लभहि" कहते ही भक्तिप्रसाद से उद्बुद्ध आन्वीक्षिक्यभिप्रेत अर्थ के स्फुरणानुकूल्य में सुनयनाजी का कायिक व्यापार "लखि सनेह" से सुना रहे हैं।

कौसल्याजी के पवित्र चरणों के स्पर्श का कारण स्नेहदर्शन है। इससे ज्ञातव्य साध्य की अनुमानप्रणाली इस प्रकार होगी—"इयं कैकेयाः सपत्नी पवित्रा महत्यामापद्यपि सपत्न्याः पुत्रे स्वपुत्रापेक्षया अनुरक्तत्वात्।" यह प्रणाली "घृतिं चैवानुरागं च स्थैर्य चापदि लक्षयेत्"[१] इस नीत्युक्त विधिवचन का स्मारक हो रहा है।

आन्वीक्षिकीमत से आन्वीक्षिक्यभिमतयथार्थतत्वस्मरण कारयितृत्वात् पापनिवारक सन्मार्ग प्रदर्शनरूप सख्यवतोऽयं ऐसा ब्रह्मविद्यान ने किया अन्य अनुमान 'लखि सनेह' से ज्ञातव्य है।

बचन बिनीता

विनय भी उक्त दोनों अनुमान प्रणाली की पुष्टि में अभ्युच्चय रूप में हेतुतया स्पष्ट है।

अथवा :—भक्ति ने सुनयनाजी के सामने उनकी चित्तवृत्ति का दमित करने के लिए जिन वचनों का प्रयोग किया है वे वचन चिकित्सारूप में सुनयनाजी के लिए कुपथ से निवारक हो गए। स्मर्तव्य है कि कौसल्याजी के ये वचन ब्रह्माजी के प्रति रानी ने प्रयुक्त वचनापराधनिमित्तक दण्डप्रणयनात्मक होते हुए भी विनय से ओत-प्रोत होने के कारण सुनयनाजी के लिए अनुरागाधायक हुए न कि द्वेषोत्पादक यह "बचन बिनीता" से ध्वनित है।

---

१. नीतिसार ४ स०   २. २।८२।४

गह पाय

"विवेकनिधिबल्लभहि" सुनते ही वक्ष्यमाणतर्कपूर्ण अर्थस्फूर्ति की उपकृति का परिचय "गह पाय" से स्फुट है।

भक्ति के द्वारा दमित होने का प्रभाव "गह पाय" से कवि समझा रहे हैं। ज्ञातव्य है कि भक्तिरूपा कौसल्याजी के द्वारा दण्डप्रणयन राजनीति मतमें दण्ड्या सुनयनाजी के लिए प्रायश्चितरूप हुआ है उससे सुनयनाजी की शुद्धि होना कवि दर्शा रहे हैं परिणामतः प्रायश्चित्त से अपनी शुद्धि देखकर सुनयनाजी ने नमस्कार करना राजनीत्युक्त दण्डप्रणयन की महत्ता है।

अथवा :—आन्वीक्षिकी को भूलकर ब्रह्मविद्या या श्रीरामभक्ति से विचलित होने का प्रसंग सुनयना के लिए आसन्न था किन्तु सहायताप्रदानप्रयुक्त विवेकोपवृंहित स्तुत्या वक्ष्यमाण छल से बचाकर मिथिला में पूर्ववत् श्रीरामस्नेहपाल्यता को स्थिर रखने की उपकृति में "गहपाय" वर्णित है।

पुनीता

स्वतन्त्रभाव में भी द्रोह न रहना समानभाव में सब रानियों से पूर्ववत् व्यवहार करना निष्कामता का चिन्ह है जो पवित्रता से साध्य हैं यह पवित्रता भक्ति एवं नीति को अभिमत है वही जगद्वन्दना का हेतु है तद्दर्शनार्थ ब्रह्मविद्या के आने की सप्रयोजनता स्फुट है।

अथवा :—आन्वीक्षिकीमत से पुनः श्रीरामभक्ति के प्रति छलशून्य हो रहने की स्थिति में आना "पुनीता का भाव है यतः सहायता करने हेतु आई ब्रह्मविद्या में छलकी प्रसक्ति आ रही थी।

संगति :—प्रथम चौपाई की संगति के निर्देशानुसार कवि सुनयनाजी के वाक्य सुना रहे हैं जिसमें भक्ति व ब्रह्मविद्या का अंगांगिभाव स्फुट होगा।

चौ० :—देवि ! उचित असि विनय तुम्हारी। दसरथघरिनि राममहतारी ॥२॥
प्रभु अपने नीचहु आदर ही। अगिनि धूम गिरि सिर तिनु धरही ॥३॥

भावार्थ :—सुनयनाजी बोलीं ! हे देवि ! आपका ऐसा विनय आपके लिए उचित है क्योंकि आप राजा दशरथजी की गृहिणी व श्रीराम की माता है। श्रेष्ठ छोटों का भी आदर करते हैं जैसे अग्नि, धूमको व पर्वत, तृण को अपने मस्तक पर धरते हैं।

उचित

शा० या० :—दोहा २।२८४।६ में उक्त प्रशंसानुगुण्य में सुनयनाजी "उचित" का प्रयोग कर रही हैं।

असि

'अस' शब्दार्थ से अन्तिम पुरुषार्थ होने पर भी अंगो ने अंगत्व को अपनाते हुए सहायता की याचना कर स्व में पराधीनतासामानाधिकरण्य के बोधकवचन बोध्य है।

बिनय

"बिनय" से औचित्याधार सूचित है। विनय में रहे उचित के समभिव्याहार से औचित्य एवं विनय का सामनैयत्य दर्शाया है। निष्कर्ष यह कि यत्र-यत्र औचित्यं तत्र-तत्र विनयः ते यत्र तेपि तत्र है।

तुम्हारी

'युष्मत्' शब्द का अर्थ औचित्यविनयोभयविशिष्ट कौसल्याजी हैं।

आन्वीक्षिकीमत से यह समझना है कि पूर्वानुस्यून प्रकाश को पुनः प्राप्त कराना समझ कर उस अभिप्राय से कहा "उचित" देखकर है।

दसरथघरिनि

"घरिनि" से पूर्वजन्म की शतरूपा व अदिति विवक्षित हैं जैसे पूर्वजन्म में स्वायंभुवमनु व कश्यपजी को श्रुति ने प्रमाण रूप में स्वीकार किया है अतः मनु व कश्यपजी ने दशरथरूप में अवतीर्ण होकर अपनी आँखों के सामने दासीभाव में आए व्यक्ति की पवित्रता परखना निर्णीत है तदनुसार राजा ने कौसल्याजी को अपनी गृहिणी बनाना 'दसरथघरिनी' का निष्कर्ष है। उसका निष्कर्ष पुण्य को सीमा समझाने में है।

राममहतारी

श्रीराममातृत्व से अन्य रानियों की अपेक्षा कौसल्याजी में अधिक गौरव दर्शाया है जिसके पुत्र पिता के वचनको प्रमाण मानकर त्रयीस्थापना में संलग्न है वही राम-महतारी का पुण्यपरिपाक है। दोनो विशेषण की सार्थकता 'असि विनय' प्राप्ति के प्रति उक्त विशेषणों में प्रयोजकता समझाने में है इससे नायिकाओं में नीति के होने की दुर्लभता माननीय है।

सेवा में आई ब्रह्मविद्या को नीचे गिरने से बचाकर शिष्यहिताधान के प्रदर्शन हेतु अपेक्षित कृपा आन्वीक्षिकी मत से "राम महतारी" में दर्शाया है।

प्रभु

कौसल्याजी ने अपने में विनीत पुत्रों के प्रति स्वकार्यसाधमसामर्थ्य का आधान रखने की शक्ति के प्रति असन्दिग्ध होना "प्रभु" का भाव है।

अथवा :—विकट प्रसंग में जबकि सेवकों को सयस्या का समाधान समझ में नहीं आता उस समय अपनी पवित्रतम प्रभुत्वप्रयुक्त प्रतिभा से समस्या को समाहित करने में सक्षम विरल व्यक्ति 'प्रभु' से समझने हैं। कौसल्याजी को उसी कोटि में समझना हैं।

नीचहु आदरहीं

प्रभु ने समस्यासमाधानसाधकता का परिचय गुप्त रखते हुए सेवकों को बड़प्पन देना व अपने को पूर्णपरतन्त्र बनाना "नीचहु अदरहीं" का भाव है।

अगिनि

जिस प्रकार अग्नि में देदीप्यमानता (तेजस्विता) रहने पर भी वह तमोगुण-प्रधान धूम को अपने से ऊँचा करती हैं उसी प्रकार कौसल्याजी जो पूर्वजन्म से ही "सोइ गति सोइ भगति सोइ निजचरनसनेहु" से कहें वरों से पूर्णा हैं फिर भी वह अंगस्वरूप में आयी ब्रह्मविद्या को अपने से ऊँचा बना रही हैं। स्मर्तव्य है कि सुनयनाजी की धूमता यही कि वे आनन्दस्वरूप के विपरीत घबराकर चित्रकूट आ पहुँची है।

गिरि सिर

राजपरलोकगमन व भ्रातृसमेतश्रीसीतारामवनवास जैसी दुःसहस्थिति में स्थैर्य देखकर उन (कौसल्याजी) में पर्वत का तादात्म्य दिखाया है।

तिनु धरहीं

"तिनु धरही" से सुनयनाजी ने अपने को तृणकोटियोग्य मानकर "तृणादपि सुनीचेन स्मर्तव्यः सततं हरिः" उक्ति कार्यान्वित की है।

संगति :—दोहा २।२८४ में उक्त राज सहायता में अनौचित्य ठहरा कर ईशगति पर सुनयनाजी बल दे रही है जो कौसल्या से निरूपित है।

चौ० :—सेवकु राउ करम-मन-बानी। सदा सहाय महेसु-भवानी ॥४॥
राउर अंग जोगु जग को है ? दीपसहाय कि दिनकर सो है ? ॥५॥

भावार्थ :—मनसा, वाचा, कर्मणा मिथिलेश तो सेवक हैं। पार्वतीसहित शिवजी सदा सहायक हैं। आपके सहायक होने योग्य संसार में कौन है ? क्या दीपक की सहातया से सूर्य को देखना शोभा देता है ?।

सेवकु

शा० व्या० :—"सेवकु" से प्रभुसमवेतप्रेरणाप्रयोज्य प्रवृत्तिमत्वरूप आन्वीक्षिक्यभिमत अर्थ दर्शाया है जो उपर्युक्त "धूम अगिनि" दृष्टान्त के अनुरूप है अर्थात् 'मिथिलेससहाय' में रहे गूढ़ाभिसन्धि के आनुगुण्य में रहकर अंगस्वरूप सहायत्व के अभाव को ध्वनित किया है क्योंकि लक्ष्मणजी को अवध में रखने व भरतजी को वन में जाने के प्रति अंगत्वरूप में दी सहायता छलकी पूर्ण स्थापना के बराबर होगी।

करम मन बानी

शा० व्या० :—कर्म आदि तीन का उल्लेख सेवा में निश्छलता समझाने के लिए है।

राउ

राजा सेवक हैं प्रभु कौसल्याजी के लिए कारकत्वेन सहायक हैं पर वे स्वतन्त्रतया कौसल्याजी के प्रस्तावित अर्थ के औचित्यानौचित्य को समझकर मत प्रकाशित वहीं

कर सकते जैसा कि 'जौ यह मत माने महीपमन' में कहा गया है। क्योंकि राजा की प्रतिभा कौसल्याजी की बुद्धि से उपरिबुद्धि नहीं हैं। उसका परिचय राजा की चित्त-व्याकुलता में चित्रकूट तक सदेह होकर आने से प्राप्त है।

सदा

'महेसु भवानी' की सहायताप्राप्ति में सूर्यकुल के लिए कालत्रयव्यापित्व "सदा" से निरूपित है।

महेसु भवानी

निष्कपट हो शास्त्र के शरण में विश्वासपूर्वक रहना 'महेशभवानी' के प्रति स्नेह प्रगट करना है उसमें रहा सूर्यकुल, शिवजी को इष्टदेव मानता है। वे ही सदा सूर्यकुल के लिए सहायक हैं क्योंकि वे श्रुतिमार्ग के रक्षक हैं। अतः "महेसु भवानी" कहा है।

रउरे

बालकाण्ड में पात्रों के वन्दनाप्रकरण में "बन्दउं कौसल्या दिसि प्राची। कीरति जासु सकल जगमाची" से कौसब्याजी की अंगिता गाई गई है। सब रानियों में राम-माता होने की योग्यता कौसल्य जी को प्राप्त है अतः "रउरे अंग जोगु जग को है"? की यथार्थता सर्वविदित है। इसकी उपपत्ति २८८ की चौपाइयों में देखें।

अंग

दूसरे के अंगत्व की स्थिति तब होती है जब अंगी के कार्यसिद्धिहेतु वह उपरि-बुद्धि होकर कार्य करता है फलतः उस (उपरिबुद्धि के आश्रय) के बिना अंगी की क्रियाशक्तिका कुण्ठित होना माना जाता है उसका प्रतिषेध व उपरिभाषित अंगत्वस्वीकृति में पूर्वोक्त छल प्रसक्ति का विशेष प्रतिषेध 'अङ्ग जोगु' से दर्शाया है।

आशय यह कि कौसल्याजी स्वयं उपरिबुद्धि हैं उनकी तुष्टि यहां प्रमाण मानी जाएगी तदनुसार तुष्टि यह समझनी है कि जहां लक्ष्मण जी हैं उनको वहीं रखना है। और 'भरतु गवनहु वनु' से भरतजी को नन्दिग्रामवन में जाना है ऐसी माकी मनस्तुष्टि निर्णीत है उसपर, विचार करना नहीं है। उसको बदलने हेतु राजा में उपरि-बुद्धित्व न होना 'अङ्ग जोगु' से दर्शाया है। ज्ञातव्य है कि यह निर्णय भाइयों को स्वीकार्य होगा। उसके प्रति सहायता भवानीशंकर से प्राप्त करनी होगी क्योंकि वे सूर्यकुल के पूज्य देव हैं। उनके रहते औरों में अंगत्व मानने का वैयर्थ्य ही समझना है।

जगु को है ?

"जगु" से विधिप्रपंच समझना है। उसमें रहे किसी को भी उपरिबुद्धि होकर स्वकार्यसाध नसमर्थ से कौसल्याजी के प्रति विचार न करना 'जगु को है' से दर्शाया है।

अथवा श्रीराम व भरतजी के गूढ़स्नेह को देखते हुए उनके स्वसंवेद्य आन्वीक्षिकी-पुष्ट विद्यार्थ को समझने की शक्ति किसी में न रहने से कौसल्याजी उक्तार्थ का उप-स्थापन करना छलप्रयोग होगा ऐसी प्रसक्ति सर्वत्र देखकर सुनयनाजी 'अंग जगु' को है, कह रही हैं।

दीप सहाय

भरतजीवनानुसन्धान से "रहे नींक मोहि लागत नहीं" में उक्त 'मोहि मत' का अप्रत्युत्तर "दीप सहाय" से ध्वनित है।

दिनकर सोहै

सहायक की अपेक्षा न होते हुए भी सेवकों ने प्रभुसेवा करते हुए अपने को धन्य मानना यहाँ ध्वनित है जिस प्रकार देदीप्यमान सूर्य की शोभा दीपकों से नहीं होती उसी प्रकार प्रभुस्थानापन्न कौसल्याजी अपनी मनोरथपूर्ति में स्वयं समर्था हैं वह सामर्थ्य रूप अंगस्थानापन्न ब्रह्मविद्यादि के लिए लब्धव्य नहीं है जो "दिनकर सो है" से ध्वनित है। इसी तथ्य को आगे जनकसुनयनासंवाद में राजा स्फुट करेंगे भङ्ग्यन्तर से।

अथवा श्रीराम व भरतजी पूर्ण प्रकाशमय हैं वहाँ अन्यथा अर्थ होना ही नहीं है तब सहाय बनकर भरतगवनोपस्थापनवैयर्थ्यछल की प्रसक्ति न होने देने की प्रार्थना "दीपसहाय कि दिनकर सोहे" से ज्ञातव्य है।

संगति :—कृत्वा-चिन्तया भरतजीवनचिन्ताग्रस्त कौसल्याजी ने उक्त 'न पौचु' वचन में याज्ञवल्क्ययजी से श्रुतपचनानुवाद से सुनयनाजी दृढ़ता ला रही है इसलिए कि अंगशीर्षकीक्त व्याख्या आत्मतुष्टि को याद रखनेवाले राजा ने भावी सभा में कौसल्योक्त अर्थ व्यक्त न करने पर भी उनपर भक्ति को रोष न हो।

चौ० :—रामु जाइ बनु करि सुरकाजू। अचल अवधपुर करिहहिं राजू ॥६॥
अमर नाग नर राम बाहुबल। सुख बसिहहिं अपनें-अपनें थल ॥७॥
यह सब जागबलिक कहि राखा। देवि ! न होइ मुधा मुनिभाषा ॥८॥

रामु जाइ

भावार्थ :—श्रीराम वन में जाएंगे। देवताओं का कार्य संपन्न करेंगे। अवध में अचलराज्य करेंगे। देव (स्वर्गवासी), नाग (पतालवासी) व मनुष्य (पृथ्वीवासी) श्रीराम के बाहुबल के सहारे अपने-अपने लोक में सुखपूर्वक निवास करेंगे। ये सब बातें याज्ञ-वल्क्यजी ने कह रखी हैं। हे देवि ! मुनि का कहा झूठा नहीं हो सकता।

करि सुरकाजु

शा०व्या० :—सुनयनाजी ईशविधान का कार्यान्वियन बता रही हैं जो याज्ञ-वल्क्यजी ने कहा था उनमें प्रथम कार्य श्रीराम का वनगमन है क्योंकि रावण का संहार मनुष्यरूप में अवतीर्ण ईश्वर विशेषराजधर्मादि का अवलंबन न लेकर पारिभाषिक शास्त्रसम्मत मानवधर्म के अवलंब से करेंगे।

"करि सुरकाजु" से सुनयनाजी ने अभी श्रीराम का न लौटना कहा है क्योंकि अभो सुरकार्यसंपन्न नहीं हुआ है। इसके आविरोध में अंग की व्याख्याद्र द्रष्टव्य है।

अचल

श्रीरामराज्यारोहणप्रसंग में जिस प्रकार कैकेयीजी व मन्थरासहित सरस्वती-जी ने विघ्न पहुँचाया उस प्रकार के विघ्नों का भविष्यत् में न होना "अचल" से प्रदर्शित है।

करिहहिं राजू

कैकेयीमनोरथपूर्तिहेतु श्रीराम ने स्वत्व का त्याग किया है वह स्वत्व श्रीराम के द्वारा भविष्यत् में सदा स्वीकृत होना 'करिहहिं राजू" से ध्वनित है।

बाहुबल

"बाहुबल" से श्रीराम का सत्य, शौर्य, त्याग ध्वनित है जो परपुरंजयरूप आनुषंगिककर्मपूर्वक होकर ही सिद्ध होने वाला है।

सुख बसिहहिं

वर्तमानसमय में स्वर्ग-पाताल मृत्यु आदि लोक में निवास करते हुए भी तत्तत्-स्थलस्थित प्राणी चिन्ताग्रस्त होकर सुखानुभूति से वंचित हो रहे हैं उसका अभाव "सुख बसिहहिं" से दर्शाया है जैसाकि नीतिसार[1] से स्पष्ट है।

अपने-अपने थल

स्वमर्यादित ईश्वरप्रदत्तनिवास में अधिकृत खण्ड "थल" से विवक्षित है। जब कोई विकृतमनस्क मर्यादा का उल्लंघन करता है तब उसके शासनार्थ राजा अधिकृत किए गए हैं उसका परिचायक राज्याभिषेक है इस भारतीय नीति का समर्थन "अपने-अपने थल" से दर्शाया है।

जागबलिक

उक्त त्रिबिध कार्यों की प्रमितता, मुनिवचन की प्रमाणता से अडिग है। सम्भव है कि ये वाक्य याज्ञवल्क्यजी ने रामतापनी उपनिषद् के आधार पर गाये हों यतः उस उपनिषद् में याज्ञवल्क्यजी का संवाद प्रसिद्ध है।

मुधा

"मुधा" कहकर भरतसोच कार्य मात्र में राजा की सहायतानपेक्षता का परिचय सुनयनाजी ने अपनी ओर से देना ध्वनित है। इस प्रकार कौसल्या व सुनयनाजी के संवाद से संवादसंगत्युक्त विषय पूर्ण है।

संगति : – जनकराजा की घोषणानुसार (पालविहि) विवाह के बारह वर्ष की मध्यावधि में सुपालित सीताजी के शरीर पर सतिव्रतधर्मप्रयुक्त तेजस की प्राप्ति राजा-

---

१. नीतिसार ७।५८सुखं स्वपन्तीह निराधयः प्रजाः।

जनकजी के द्वारा परीक्षित करा रहे हैं तथा, दोहा २।२८३ में उक्त जिज्ञासाका, प्रशमन होने के बाद सीताजी को साथ ले जाने का उपक्रम कवि सुना रहे हैं।

अथवा उपर्युक्त अर्थ यदि आन्वीक्षिक्यभिमत है तो सीतारूपिणी आद्याविद्या साथ में चलेगी ऐसा सोचकर सुनयनाजी ने की हुई प्रार्थना शिवजी सुना रहे हैं।

दोहा :—अस कहि पग परि प्रेम अति सियहित बिनय सुनाई।
सियसमेत सियमातु तब चली सुआयसु पाई।।२८५।।

भावार्थ :—ऐसा कहकर कौसल्याजी की चरणवन्दना करके प्रेम में द्रुत हो सीताजी को ले जाने की प्रार्थना कर जब आज्ञा मिली तब वे सीताजी को लेकर चलीं।

अस

शा० व्या० :—अस शब्दार्थ २ चौ० से ७ चौ० तक कहे वचन ससझने हैं। जिस में आन्वीक्षिक्यभिमत अर्थ स्फुट हो गया है।

पग परि

"पग परि" से वापस लौटते हुए सेवक का सेव्य के प्रति कर्तव्य समझा रहे हैं जो वक्ष्यमाण प्रार्थना के प्रति भी तन्त्रया सिद्ध है।

अथवा भक्तिच्युति से अपनात्राण हुआ सोचकर उस प्रीतिकी पुनरुपकारिता "पगपरि" से सूचित है जो गुरुदक्षिणारूप में भक्तिको प्रिय है यतः पुनः संवाद होना नहीं है।

पेमअति

कौसल्याजी की सुरसरिसमपावन वाणी सुनकर उनके विनय को देखते हुए कौसल्याजी में ईर्ष्या व असूया के शून्यभाव को परखकर जनकरानी का प्रेमाधिक्य सीताजी के सकल पतिव्रतधर्मपरिचय की प्रतिष्ठा में दिखाया गया है।

आन्वीक्षिकीमत से यह कहेगें कि छल से अपना निर्बाध बचना समझकर अति-घृणित छल से दूर होने का सन्तोष व प्रीत्याधिक्य में सुनयनाजी ने आना "प्रेम अति" है।

सिय हित बिनय सुनाई

यथाज्ञातकारिता भी प्रीति का परिचायक होने से कौसल्याप्रीति की पात्रभूता सुनयनाजी ने सीताजी को साथ में ले जाने की प्रार्थना की जो निष्फल नहीं होनी है इसका उद्देश्य पुत्रबधू की परतन्त्रता का प्रदर्शन नहीं अपितु उच्च-विनीतकुलमर्यादा का आदर्श चित्रण है।

सुनयनाजी में छलशून्यतानिश्चय समझकर सन्तुष्टा सीताजी को ले जाने की आकांक्षा इसलिए किये दोनों रानियों की प्रसन्नता के माध्यम से सीता जी की शुद्धि परीक्षित होगी।

सिय

माता के द्वारा छलप्रसंजक साहस का प्रतिषेध सुनकर प्रसन्ना सीता जी 'सिय' से बोध्या हैं।

सियमातु तब चली

"सियमातु" से हार्दिक द्रवतासुसम्पन्न प्रेममूर्ति सुनयनाजी ध्वनित हैं।

तब :—कौसल्याजी के द्वारा आज्ञाप्राप्तयानन्तर्य प्रद "तब" शब्दार्थ है।

चली :—विश्रामस्थलसम्मुख जाना "चली" है।

सुआयसु पाई

"सुआयसु" का सीताजी के लिए यह उपयोग है कि वनवास सहने में क्लेश नहीं अपितु पातिव्रत्यसहचरित सुखानुभूति "नहि मग श्रमु दुख मन मोरे। मोहि लगि सोचु करिअ जनु भोरे")[1] को प्रगट करने का अवसर कौसल्याजी ने देना है जिससे मातृपक्ष की चिन्ता मिटे।

अथवा :—इसी रात्रि में राजा से सुनयना के सामने सहायताविषय निर्णीत कराना है तदनुकूल समय यही है ऐसा देखकर जानेका आदेश देना 'आयसु' का निष्कर्ष है।

अथवा :—भक्तिद्वारा उक्त 'विवेकनिधिबल्लभहि' से प्रभावित सुनयनाजी को देखकर अतिप्रसन्नता में सीताजी को ले जाने की अनुमति देना "सुआयसु" हैं।

सु की सार्थकता

रात्रिकालीन उपासना का अविरोध व सुनयनाजी की समयसुचकता 'सु' से दर्शाई है।

अथवा :—अंगत्व को अस्वीकृत कर सुनयनाजीने छलशून्य हो प्रार्थना करने से कौसल्याजी के द्वारा प्राप्त आदेश में माधुर्य (स्वारस्य) रहना 'सु' का भाव हैं जो आन्वीक्षिक्यनुमोदित है। चिन्त्य है कि यहाँ तक 'विवेकनिधि बल्लभ' (२।२८८।३।०) घटक बल्लभ से प्रतिभात सहायता से संभावित छलप्रसक्ति का अभाव निरूपित हुआ। विवेकनिधि का व्याख्यान २।२८८।३ से समझावेंगे।

संगति :—मिथिला में चलते समय सीता जी की जिन जिनसे भेंट हुई उन मिथिलाराजमहलवासिनी सखियों व पुरनारियों को सीताजी से बिछुड़कर कई दिन व्यतीत होने से उनमें सीतादिदृक्षा बढ़ रही थी तत्प्रयुक्त दुःखनिवारण के बहाने उनकी स्थायी प्रीति व उन्हीं का वर्तमानवेषदर्शननिमित्तक विषाद सुना रहे हैं।

चौ० :—प्रिय परिजनहि मिली बैदेही। जो जेहि जोगु भांति तेहि तेही ॥१॥
तापसबेष जानकी देखी। भा सबु बिकल बिषादबिसेषी ॥२॥

भावार्थ :—सीताजी प्रिय परिजनों से मिली। जो जिस योग्य था उससे उसी तरह मिली। जनकदुलारी को तपस्वीवेष में देखकर सब विशेष दुःख से व्याकुला हो गईं।

---

१. २।९९।२

प्रिय परिजन

शां० व्या० :—"प्रिय परिजन" से सुनयनातिरिक्त, अनुजीविनी, गुरुपत्नियाँ, पौरस्त्रियां, मातृसखियाँ, धात्रियाँ विप्रपत्नियाँ व अन्तःपुरवासी आदि ज्ञातव्य हैं।

मिलि

वर्णश्रमसमाज के तत्तद्वर्गों में अपने अपने उदर में स्थित अग्निज्वाला के उच्छलनप्रयुक्त आभिमानिक सुख भिन्न भिन्न देखा जाता है। उसके अनुसार सीताजी का मिलन है। उसी के अनुबन्ध में सबको सीताजी के प्रति आत्मीयता अनुभूत हो रही है।

जो जेहि जोगु

स्मित, हस्तान्दोलन, हास्य, आलिंगन, प्रणाम आदि के योग्य "जो जेहिं जोंगु" से विवक्षित है।

तेहि-तेही

जिस प्रकार अवधवासी स्वजनों के मिलन में "जो जेहिं भाय रहा अभिलाषी। तेहि-तेहि कै तसि-तसि रुख राखी"[1] से श्रीराम का प्रभुत्व प्रगट है उसी प्रकार 'माया' सीताजी का प्रभुत्व उक्त मिलन में मननीय है। जैसा सासुओं के मिलन व उपचार से दर्शाया है। (२४६।७।८)

तापस

मुनिव्रतसंकल्प लेने से सीताजी को तापसवेष में भेंट के प्रति संकोच नहीं हुआ यही उनकी स्वाभिमानिता व तर्ककुशलता है जो सीताजी के प्रति सबकी विश्वास्यता का आधार है।

सबु बिकल

"सबु" से 'प्रिय परिजन' शीर्षकोक्त व्यक्ति समझने है।

मिथिला में परिजनों को अलंकारसहित सीताजी के दर्शन में सुखानुभव होना उनकी दिदृक्षापूर्ति का परिचायक था। अभी तापसवेष व अलंकारशून्यता देखकर परिजनों का विकल होना "बिकल" है। यह तर्कसंस्कारानुद्बोधसमानाधिकरणरागोपाधि का प्रभाव है।

ज्ञातव्य है कि बिकलता तब कम होगी जब वे राजा व सुनयनासंवाद में कथित आन्वीक्षिकी सुनकर पुनः तर्कसंस्कारोद्बोध से संपन्न होंगे।

---

१. २।२४४।२

बिषादबिसेषी

विकलता का परिणाम "बिषाद" है जो ओजोहीनता का परिचायक है। उसकी विशेषता यह कि धर्म, नय, विरति से संपृक्त उपदेश सुनकर मिथिलासमाज विवाद शून्य हो गया था उस विषाद का यहाँ प्रत्यक्ष के बल से उभरना विषादविशेष है।

अथवा स्वभावतः "मिथिलाविज्ञानपुरी विषयों के प्रति प्रीतिमती नहीं है तथापि श्रीरामरूपेण अवतीर्ण स्नेहात्मक आत्मा प्रभु से कुछ समय के लिए पृथक् हो श्रीराम-स्वरूपा सीताजी ने मिथिला में रहकर अलौकिकविज्ञानानन्द में विज्ञानपुरी को आकृष्ट कर उसके हृदय में जिस रूप से विषयविधया अपना स्थान बनाया उस सीताविषय को विपरीत वेष में देखकर विज्ञानपुरी ने विषाद में आना पूर्व निरूपित (२।२६६।८) विषाद से विजातीय है समझाने के लिए "विषादबिसेषी" कहा है।

संगति :—सुनयनाजी, "सुआयसु पाई" के अनन्तर अपने विश्रामस्थान पर ज्योंही पहुँची उसी क्षण एक ओर विषाद उभरा दूसरी ओर जनकजी वसिष्ठजी से भरतजी की स्थिति का पूर्ण पता लगाकर गुर्वाज्ञा से अपने विश्रामस्थान पर आये। फलतः सुनयनाजी के पतिव्रत में बाधा नहीं पहुंची उसी क्षण में भए राजागमन को कवि वर्णित कर रहे हैं।

चौ० :—जनक रामगुर-आयसु पाई। चले थलहि सिय देखी जाई ॥३॥
लीन्हि लाइ उर जनक जानकी। पाहुनि पावन पेम-प्रान की ॥४॥

भावार्थ :—श्रीराम के गुरुजी से आज्ञा लेकर राजा जनकजी ने अपने स्थान पर पहुँचचने पर देखा कि सीताजी आई हैं। जनकजी ने पुत्री सीताजी को हृदय से लगाया जो प्रेम और प्राण की पाहुनि है।

रामगुर पाई

शा० ब्या० :—जनकजी ने गुरु वसिष्ठजी से परामर्श कर उनके द्वारा किए गए अपार भरतमहिमाकानिरीक्षण आदि तथा पूर्व दिनों तक के सभी कार्य मालूम किए हैं फलतः भावी सभा में जनकजी को स्वयं द्वारा विषयोपस्थापन करने वा उत्तर न देने में सौलभ्य प्राप्त हुआ है। इसी दृष्टि से राजा ने गुरुजी से रात्रि के पूर्वाण्ह में भेट की है। मंत्रणा पूर्ण कर लेने पर राजा को गुरुजी ने जाने लिए आदेश देना 'रामगुर' पाई से स्फुट है।

सिय देखी आई

सिय :—प्रस्तुत प्रसंग में राजा के देखने का विषय केवल सीताजी ही नहीं अपितु द्वादश वर्षावधिक समय में आचरित पातिव्रत्यधर्मप्राप्त तेजस्वितासंपत्ति व माता के द्वारा छलप्रसंजकसहायतारूप अंगत्वप्रतिषेधयुक्त वाणीश्रवण से प्रसन्ना सीताजी यहाँ "सिय" से बोध्य हैं उनको देखना "सिय देखी" है। यह देखना किसी पूर्व संकेत से न होकर स्वाभाविक हुआ है।

लीन्ह लाइ उर

तेजःपरीक्षक राजा ने अपने पवित्र लक्ष्यपरिचायक चक्षुष् से तेजस्वितागुणयुक्ता सुप्रसन्ना सीताजी को देखा तो उनका हृदय भर आया। फलतः उन्होंने सीताजी का आलिंगन कर उन्हें आशीर्वाद दिया मालूम होता है।

पाहुनि प्रेम प्रानकी

यहाँ "पाहुनि" से जानकजी के प्रति छिपी जनकजी की भक्तिसंपन्न आन्तरिक प्रेम की आलम्बनता, कवि ने प्रगट की है यतः तथाविध एकमात्र सीताप्रेम पाहुनि के अधीन है।

अथवा :—"प्रेम" की पावनता आत्मरति में समझनी है कारण यह कि उसमें विषयसंस्पर्श न होने से शुचिता निर्बाध रहती है वही आनन्दतत्त्व प्रेममूर्तिमती सीताजी के रूप में प्रगट है जो जनकजी के प्रेमकी 'पाहुनि' हुई हैं।

"प्रान की" का अन्वय 'पाहुनि' से है। इससे मालुम होता है कि राजा जनकजी का जीवन सीताजी के सुरक्षित प्रसन्न जीवन से सुरक्षित है। उसकी गड़बड़ी की आशंका में राजा का चित्रकूट आना तदनुगुण है।

संगति :—सीताजी के प्रति रहे ब्रह्मज्ञजनकजी के प्रेम का वाह्यालंबन होने का प्रभाव व प्रयोजन कवि समझा रहे है जो ब्रह्मज्ञ के विवेक को सुरक्षित रखता है।

चौ० :—उर उमगेउ अंबुधिअनुरागू। भूपमनु मनहु पयागू ॥५॥
सियसनेहबटु बाढ़त जोहा। तापर रामपेमसिसु सोहा ॥६॥
चिरजीवी मुनि ग्यान बिकल जनु। बूड़त लहेउ बाल अवलंबनु ॥७॥

भावार्थ :—जनकजी के हृदय में अनुराग उमड़ पड़ा मानो उनका मनस् प्रयाग है। जैसे चिरंजीवी मार्कण्डेय मुनि को विकलता के कारण प्रलयसागर में डूबते हुए बालरूप भगवान् का सहारा मिला वैसे ही जनकजी के डूबते ज्ञान ने सीता प्रेमरूप वट को बढ़ते देख उस पर शोभायमान श्रीरामप्रेमरूप बालक को पाया।

उर उमगेउ

शा० व्या० :—उर :—वक्ष्यमाण मनस् उर से ज्ञातव्य है।

उमगेउ :—वक्ष्यमाण सीतास्नेह दुर्लभ है वह प्राप्त हुआ देखकर तत्प्रयुक्त पूर्वाननुभूत अनुरागका उभरना 'उमगेउ' है।

अनुरागू

"अनुरागू" का अन्वय "उमगेउ" से है। जो सीतास्नेहबट के चारों ओर लहरा रहा हैं।

कन्या के प्रति पिता होने के नाते राजा के हृदय में अनुराग इस प्रकार उछला कि उसमें संगरहित त्रिगुणभावसम्बद्ध जनकज्ञान डूबने की स्थिति में आ पहुंचा। ऐसी

ही अनुरागसमृद्धि में आकर जवकजी की अविकृत ब्रह्मविद्या के विलयन की स्थिति बाल-काण्ड (दोहा २१६) में निरूपित है।

भूपमनु

अनुराग अंबुधि का जो गर्त सीतास्नेहरूप वटका आधार है वही 'भूपमन' है।

प्रयागू

मंगलाचरण के अवसर पर प्रयागतादात्म्य से वर्णित सचल संत समाज की एक-रूपता को प्राप्त करना मनस् को 'प्रयाग' कहने से समझाया गया हैं जो कि वक्ष्यमाण स्नेहरूप वट का आधारभूत स्थल है उसको अनुरागरूपी समुद्र ने चारों ओर से घेरा है उसी घेराव में रहा जनकजी का मनस् ब्रह्मविचारप्रचारात्मक सरस्वतीजी श्रीराम-भक्तिरूपगंगाजी व विधिनिषेधमय कलिमलहरिणी कर्मकथात्मक यमुनाजी से बनी हरि-हरकथात्मक त्रिवेणी से वेष्टित हो प्रयागभाव को प्राप्त हो चुका है अतः भूप के मनस् में रहा अनुराग स्वसुताविषयसंस्पृष्ट होते हुए भी कवियों के लिए आस्वाद्य है।

ज्ञातव्य है कि उक्त रीति से परिभाषित संतसमाजरूप प्रयाग से तादात्म्यापन्न मनस् में ब्रह्मविद्या अवतरित होती है तो उनके घर में आदि शक्ति का प्राकट्य होता है जिसके परिणाम में घटनाओं के साथ प्रभुदर्शन भी सुलभ होता है।

सियसनेह बटु

"सिय" से समस्तविद्यासमन्वित पराविद्या सीताजी हैं उसने स्वकेप्रति रति प्राप्त करना "सियसनेह" है। सीताजी का स्नेह, मिथिलापरिवार तथा श्रीराम के संपूर्ण परिवार के प्रति जिस प्रकार से मिथिला अवध में व्याप्त था उस स्नेह ने घोर विपदा एवं व्यवहार में भी सम्पूर्ण भरतादि देवर व सासुओं के प्रति बने रहते षाडव रसन्यायेन तेजोमयसीतास्नेह का राजाके प्रति समृद्ध होना "स्नेहबटु" है। वही रामप्रेम का स्वविहारस्थल हैं।

अथवा ब्रह्मज्ञ राजा ने माताजी को विवेकदृष्टि देकर उसके द्वारा विद्यादीपकसे प्रकाश प्राप्त किया है उसीके परिणाम में माता कौसल्याजी के (अगशीर्षकोक्त) अभिप्राय को समझकर सहाय होनेका प्रतिषेध आगे किया है तन्निमित्त से सीताविद्याका राजा पर प्रेम समृद्ध भया है उसको 'बट' से दर्शाया है।

जोहा

मिथिला में रहते जो सीताजी का स्नेह राजा पर था उससे विजातीय स्नेह की स्थायी समृद्धि को देखना 'जोहा' का निष्कर्ष है।

तापर

तत् शब्दार्थं सीतास्नेहरूप अक्षय वट हैं।

रामप्रेम सिसु

सीताजी यदि वर्णाश्रमजगत् में प्रत्यक्षानुमान को प्रबल मानती व उसके विरोध में वचनविपरीत कार्य करतीं तो वह भी सतीजी के समान परित्यक्ता हो जाती उसकी प्रसक्ति न होकर श्रीरामप्रेम को पाना "सिसु" से कवि समझा रहे है। इससे 'राम भगतिकर लच्छन एहु'[1] के अनुसार रामस्नेह की लक्ष्यता स्पष्ट है।

आन्वीक्षिक्यभिमत से यह समझना है कि विवेकचक्षुष्सहकृत विद्यादीप से यथावत् प्रमेय को सेवक देखते हैं तो सीताजी का मातृस्नेह सेवक को प्राप्त होता है तभी रामप्रेम तत्संवद्धतया मनोवेद्य होता है अतएव मनस् को प्रयाग कहना उपपन्न है।

ज्ञातव्य है कि यदि केवल श्रीरामप्रेम ही रहेगा तो प्रभु प्रसन्नतापूर्वक अपने सेवकों की वैसी रक्षा नहीं करते जैसी मनस् को प्रयागस्थिति में पहुँचाकर विद्यारूपिणी सीताजी का स्नेह प्राप्त करने वाले सन्तों की करते हैं।

सोहा

उपयुक्त विवेकपरिष्कृत सीतारूप परा विद्या का स्नेह प्राप्त होने पर ही राम प्रेम का सुशोभित होना 'सोहा' का भाव है। अन्यथा रामभक्ति छलानुविद्ध होकर असम्प्राप्त या प्राप्य ही रहती है।

चिरजीवी

निमिसे मैथिलवंश में उपनिषद्द्वारा प्राप्त ज्ञान कृष्णावतारपर्यन्त स्थायी होने से उसको "चिरजीवी" कहा है।

ग्यान

छान्दोग्यउपनिषद् में नारदजी ने गुरु के सामने प्रदर्शित अधीतविद्याओं से समन्वित गुरुप्राप्त परा विद्या "ग्यान" है।

बिकल

श्रीसीतारामवनवास सुनकर विदेहराजा की विदेहावस्था में शैथिल्य हुआ फलतः मिथिला में रहते श्रीराममूर्ति का हृदय में यथावत् अप्राकट्य, सीतावनवासश्रवण-पीड़ा, कैकेयीजी के प्रति रोष, कन्या का पक्षपात, उसी प्रभाव में राजा का मिथिला से प्रस्थान, मार्ग में न रुकना, सीतारामस्नेहालंबन में ब्रह्मानन्द की ओर से पराङ्मुख होना आदि घटनाओं से सीताविषयसंस्पृष्ट अनुरागां बुद्धि आधारभूत अर्थात् मनस् में आई चंचलता "बिकल" से सूचित है।

---

१. ३।१०।६

जनु

ब्रह्मचिन्तन से हटकर सीताराममात्राविषयक रति आदि में मनसको लगाना पुरुषार्थ है अतः वह निन्दनीय नहीं उसके रहते ज्ञान के विकल होने की चर्चा होना रसिकों के लिए आस्वाद्य होगा ऐसा सोचकर कवि ने की हुई "जनु" उत्प्रेक्षा भी भक्तिपक्ष में आस्वाद्य है।

बूड़त

ब्रह्मसंस्कार मलिन से हो गए हैं अभी तथाविध प्रसन्नताविशिष्ट सीताजी के बढ़ते अनुराग से जनक जी के वे संस्कार व तज्जनक ब्रह्मानुभूति दोनों के मज्जन प्रागभाव का विनश्यदवस्था में पहुँचना "बूड़त" है।

लहेउ

सीतानुराग में आकर जनकज्ञान के डूबने की स्थिति में पहुँचते हुए भी तथाविध सीतास्नेहवट पर समासीन श्रीरामप्रमका प्रत्यक्ष होना "लहेउ" का ध्वनितार्थ है।

बाल अवलंबनु

"बाल" से श्रीरामप्रेम विवक्षित है। जनकजी के सामने श्रीराम को अपना प्रेम निर्बाध रूप से व्यक्त करने का अवसर सीताजी ने अपने माध्यम से अभी दिया होने से कवि महाभाग ने "बाल अवलंबनु" कहा है।

ज्ञातव्य है कि सुनयनाजी को दोहा २।२८४ में कहा-अर्थ प्रतिभात न होने की दशा में जनकजी ने उन्हें धर्म के नाम पर प्रश्रय दिया होता तो उसी मिथ्याज्ञान से राजा में मोह ममता जागती परिणाम में उनका ज्ञान विलीन होता सीताराममक्ति भी विलीन होती किन्तु वैसा न होना ५-७ चौपाई का निष्कर्ष है।

इस प्रकार अनुरागरूपी समुद्र के गर्त रूप में स्थित भूपमनोरूप प्रयागस्थलो दत सीतास्नेहरूपी वट में श्रीरामप्रेमरूपी बालकी प्राप्ति दिखा कर बालकाण्ड के अन्तर्गत दोहा १।३३८।५ में कहे राग की निर्दोषता स्पष्ट की है।

संगति :--जनकजी ने अनोखे ज्ञान की भूल होने की उपपत्ति समझा रहे हैं।

अथवा :—दोहा २।२७७।२ के उपक्रम में उक्त "सियरामसनेह बड़ाई" तत्व का अन्तर्गत निगूढ़ आन्वीक्षिकी रूपचक्षुष् द्वारा विद्याप्रदीपार्थ बताकर कहे उपक्रम का उपसंहार कर रहे हैं।

चौ० :-मोहमगगनमति नहि विदेह की। महिमा सियरघुवरसनेह की ।।८।।

भावार्थ :--श्रीसीतारामप्रेम की यह महिमा है कि विदेह राजा की बुद्धि मोहग्रस्त हुई है न कि विदेहराज की ओर से।

मोह मगन

शा० व्या० :--श्रुति ने तर्कपूर्वक वस्तु को बताकर यह सिद्ध किया है कि सत्तर्कप्रयुक्त परामर्श पूर्वक श्रौतप्रकाश प्राप्त होने के बाद मोहरात्रि को आना नहीं है।

फिर भी अभानापादकआवरणरूपरात्रि में पहुँचकर चित्तशून्यताया अनवधारणा होना "मोह" शब्दार्थहै। उस पर भी रागद्वेषोद्रेक में रही मुग्धता ने न त्यागना 'मोह-मगन' है।

ज्ञातव्य है कि जनकजी को प्रकाश प्राप्ति होना श्रुति व ऋषि आदि के वचनों से प्रमाणित है अतः वहाँ मोह को अवकाश नहीं है फिर भी ब्रह्मविद्या की सेवकता सिद्ध करने हेतु जनकजीं में मोह वर्णित है। उसका कारण प्रभु की विशेषेच्छा है उसके बल-पर सीताराम रूप बाह्य की ओर ममता का अटूट भाव रहना "मोह मगन मति" है।

नहिं बिदेह की

"नहिं बिदेह की" का अन्वय "महिमा' से है। उक्त ममता के प्रति विदेह में बुद्धिविकृतिकर्तृता का प्रतिषेध कर उपनिषद् के प्रामाण्य की अखण्डता सुरक्षित की है अत एव प्रभुसेवा में अंगभूत ब्रह्मविद्या का राग आस्वाद्य होने से उसका मोह शिवजी गा रहे हैं। परिणामतःसीताप्रेम से विकल राजा को चित्रकूट में सीताजी के द्वारा सासू व देवरों के प्रति प्रगट किए गए प्रेम में श्रीरामप्रीतिशिशुका दर्शन कराना था। अतः प्रस्तुत विकलता जनकजो की बुद्धि का विकार नहीं मानी जाएगो। जैसाकि उत्तरकाण्ड के अन्त में "कामिहि नारि पियारि जिमि लोभिहि प्रिय जिमि दाम। तिमि रघुनाथ निरन्तर प्रिय लागहु मोहि राम" की प्रार्थना से अनुमोदित है।

महिमा

"महिमा" से सियरघुबीरजी की स्वतन्त्रकर्तृता "महिमा" से समझनी है।

सिय रघुबीर सनेह की

श्रीरघुनाथजी ने ज्ञानी को अपनी आत्मा मानकर उनके प्रति अपना स्नेह व्यक्त कर रखा है। जैसाकि "ज्ञानी त्वामैव में मतम्" से स्फुट है। तदनुसार प्रभु ने जनकजी में रहे सियरामप्रेम में यथार्थ विवेक बोध प्रचुरता घोषित कराने हेतु श्रुति को परतन्त्र बनाकर अपनी स्वतन्त्रकर्तृता व्यक्त की है जो श्रुति केलिए दूषण नहीं अपितु भूषण है।

संगति :—माता-पिता को देखकर सीताजी में उभरे अनुरागप्रयुक्त परिणाम व उसका नियन्त्रण दोहा २.२८६।४ से मिलाते हुए कवि वर्णित कर रहे हैं।

अथवा :—"सियरघुवरसनेह महिमा" का दूसरी रीति से वर्णन प्रारम्भ कर रहे है जिसमें सीताजी की निरभियनिताशिक्षा ज्ञातव्य होगी।

दोहा :—सिय पितु-मातुसनेहबस विकल न सकी सभारि।
धरनिसुता धीरजु धरेउ समउ सुधरमु बिचारि ॥२८६॥

भावार्थ :—माता-पिता के प्रेमवश व्याकुल हो सीताजी अपने को न संभाल सकी। फिर भी जानकीजी ने समय व स्वधर्म का विचार कर धैर्य धारण किया।

सनेहबस

शा० व्या० :—शिवस्नेहलक्षणलक्षित श्रीरामस्नेह में रहे माता-पिता की वश्यता सीताजी में 'सनेहबस' है। यद्यपि सीताजी अविकृता हैं तथापि उन्होंने अपनी स्नेहवशता से "तथापि भक्तान् भजते यथा-तथा सुरद्रुमो यद्वदुपाश्रितोर्थदः" सिद्धान्त स्थापित किया है।

बिकल

बहुत दिवसानन्तर उद्भूतविवेकसंपृक्तस्नेहशीलसंपन्न माता-पिता के स्नेह में आकर चित्तकी अधीरता होना "बिकल" है।

न सकी

अधीरतात्मक शून्यतास्थिति को एकक्षणावच्छिन्न बनाए रखने में अक्षमता होना "नस की" का वाच्यार्थ है।

धरनिसुता धीरजधरेउ

सीताजी में जन्मतः धरणोसदृश अप्रकम्प्यना, क्षमा आदि गुणों का स्वाभाविक रूप से रहना "धरनिसुता" से समझना है।

धीरज :—जिस मनोवृत्ति का कार्य उचित कर्तव्यपरायणता है अभी वह मनोवृत्ति "धीरज" से व्यक्त है जो अधीरतारूप अभाव को भगा रही है।

"धरेउ" से अधीरत्वाधारण लक्षित है।

समउ सुधरमु

प्रस्तुत अधीरता से ग्रस्त होने में अननुकुलतारुप भूत आपत्ति का समय 'समउ' है। मुनिव्रत अपनाकर वनवासारंभानन्तर अधैर्य में आने का फल मुनिव्रतधर्मच्युति होगी वहा "सुधरमु" से ध्वनित है।

विचारि

"यदि (सीता) अहम् स्नेहवशतया विकला स्याम् तर्हि भरतजीवनानधिकरण समयवती स्वधर्मच्युता च स्याम्" यह आपाद्यआपादकभाव "विचारी" से सूचित है।

संगति :—सीताजी का समयोचित धर्मानुरूप धैर्य देखकर धर्मप्रतिष्ठापक ब्रह्मज्ञ पिता ने किये सीताजी के सम्मान को कवि उनके हर्षानुभव से स्फुट कर रहे हैं। जो २८६।२ चौ. में उक्त अर्थ से सम्बद्ध है।

चौ० :—तापसबेष जनक सिय देखी। भयउ पेम-परितोषुविसेषी। १।।

भावार्थ :—राजा जनकजी ने सीताजी को तपस्वी वेष में देखा तो पुत्री के प्रति प्रेम व विशेष परितोष हुआ।

तापसवेष

शा० या० :—केकेयीजी को वर देने में बद्धप्रतिज्ञ सत्यसन्ध पिताजी के वचन (चौदह बरिस रामु बनवासी) को कार्यान्वित करते हुए श्रीराम ने संकल्पित मुनिव्रत की नुरूपता में तदंगतया गृहीत पतिसेवोचित तापसवेष को सीताजी ने सहकाररूप में अपनाना व व्रतांगतया सामान्यधर्म पर प्रसन्नतापूर्वक विशेष बल देना "तापस वेष" का भाव है जो पुत्री के विवेकयुक्त पूर्ण प्रज्ञा का परिचायक है।

देखी

सीताजी की पतिव्रतधर्मप्राप्त, शत्रुओं के लिए अजेय तेजस् को तापसवेषसाहचर्य में परखने की योग्यता रखना "देखी" का भाव है जिसमें तेजस्विता के प्रतिबन्धकभूत वैषयिकविकारों का अभाव स्पष्ट हैं। परिणाम में नैतिक दृष्टि से केकेयीजी के विरोध से प्रसक्त पारस्परिक व्यावहारिककटुता का उन्मूलन व्यक्त हैं।

पेमु परितोषु

अपने जैसे समान शील, व्यसन में रता सीताजी को देखकर जनकजी का धर्मयुक्त पुत्री-दर्शनप्रयुक्त आल्हाद व अत्यधिक परितोष "पेम परितोषु" है। जो पूर्ण सुख का बोधक है।

बिसेषी

"मोहमगनमति नहिं बिदेह की। महिमा-सियरघुबीरसनेह की" के अनुसार ज्ञान-वैराग्य-सम्पत्ति की सफलता व पुत्रीदर्शनसम्बद्धराग में दोषोपशमयमनाभाव का होना "बिसेषी" है।

संगति :—जनकजी स्वदृष्टिप्रामाण्य से प्रमित स्वपरितोषु'बिसेषी' का व्याख्यान कर रहे हैं।

चौ०:—पुत्रि ! पवित्र किए कुल दोऊ। सुजस धवल जगु कह सब कोऊ ॥२॥

भावार्थ :—हे पुत्रि ! तुमने दोनों कुलों को पवित्र कर दिया। तुम्हारे उज्वल यशस् का गान सारा जगत् कर रहा है।

पुत्रि !

शा० व्या० :—ज्ञातव्य है कि मुनि सबका त्याग करते हैं किन्तु बन्धुस्नेह को त्यागना उनके लिए भी एक समस्या बनी रहती है जैसा कि "स्नेहानुबन्धो बन्धूनां मुनीनामपि दुस्त्यजः"[1] से श्रीमद्भागवत में कहा है। राजा जनकजी ज्ञानी हैं फिर भी वे स्नेह को दूर करने में असमर्थ हैं उसी से प्रभावित राजा शंकित हो चित्रकूट

---

[1] श्रीमद्भागवत १०।४७।५

आ पहुँचे हैं उसका प्रभाव अवध व मिथिलाराज्य में परस्पर आकीर्ण हो सकता है व अवध राज्य अपने स्वरूप से च्युत होकर अकीर्ति का भाजन भी हो सकता है यह एक महती समस्या उपस्थित हो गयी थी उसकी पूर्णप्रसक्ति के अभाव को देखकर प्राप्त सन्तोष "पुत्रि!" सम्बोधन से बोध्य है।

पवित्र किए (निराभमानिता परीक्षा)

आत्मतुष्टि से सभी सीताचरित वास्तविकता समझते हुए राजा 'पवित्र किए' आदि कह रहे हैं। जिसमें सीताजी की निरभीमानिता भी परीक्षित हो गई।

पवित्रता का पर्याय शुचिता है यह वेदैकवेद्य है अतः कहना होगा कि जनकजी ने ब्रह्मज्ञ होते कर्मकाण्ड व उपनिषद् की प्रयाणता समानरूप से स्वीकृत की है।

उत्तरकाण्ड में शिवजी के वचन 'सो कुल धन्य उमा! सुनु जगत पूज्य सुपुनीत' की चरितार्थता "पवित्र किए" से स्फुट है।

प्रस्तुत घटना से यदि सीताजी में अप्रीति का लेश भी रहता तो अवध व मिथिला-देश में वह अशुचिता निरस्त नहीं होती जो कैकेयीवरयाचना से प्रसक्त हो गई थी। अतः 'पवित्र किए' कहा है।

कुल दोऊ

जनककुल में जन्म लेने से पितृकुल व दूसरा रघुकुल है क्योंकि इस कुल में सीताजी का पदार्पण हुआ है। दोनों को पवित्र इसलिए कहा कि विवेकप्रचूर विद्या-प्रदीपप्रकाश में स्फीत पतिसेवाधर्म को श्रीरामभक्ति की सेवा में अंगतया समर्पित कर जनकजी का अभिलषित तेजस्वित्व सीताजी ने प्राप्त किया है जो रावणवध में सहायक होकर सूर्यवंश ने खोया चक्रवर्तित्व श्रीराम को प्राप्त होना स्फुट करा रहा है इससे बालकाण्ड दोहा २५०।४ में कहो उक्ति का सार्थक होना अनुमित है।

ज्ञातव्य है कि भरतजी ने स्वकुल को अशुचित्व से बचाया है सीताजी ने दोनों कुल को धन्य कर श्रेयस्का प्रदान किया है।

सुजस धवल

"सुजस" को धवल कहना कविसमय से सिद्ध है वहां यशस् का रंग सफेद माना गया है, अर्थात् मातासीता के चरित्र में व 'सुजस' किसी प्रकार का कोई दाग न लगते अत्यर्थ सत्त्वका परिचायक है।

कह सब कोऊ

दोहा २।१०३ में गंगाजी की अपोरुषेयवाणी तथा अरण्यकाण्ड में सती अनसुयाजी की वाणी अनुसार सीताजी के धवलयशस्ख्याति की विश्वव्यापकता "कह सब कोऊ" से प्रगट है।

संगति :—सर्वत्र पितृकुल एवं पतिकुल को संभावित भेद से बचाने में उदाहरण-रूप से सीताजी का चरित्र सामने रखा जाएगा यही प्रसिद्धिप्रवाह है उसकी तुलना में गंगाप्रवाह को न्यूनता समझा रहे हैं।

चौ० :—जिति सुरसरि कीरतिसरि तोरी। गवनु कीन्ह विधिअण्डकरोरी ।।३।।
गङ्ग अवनिथल तीनि बडेरे। एहिं किअ साधुसमाज भनेरे ।।४।।

भावार्थ :—सीताजी का धवल यशोधारा गंगानदीप्रवाह को जीतकर करोड़ों ब्रह्माण्डों में पहुँच गयी है। पृथ्वी पर गंगाजीने तीन तीर्थों (प्रयाग, हरिद्वार, गंगासागर) को बड़ा बनाया है। सीताजी की यशोनदी ने तो अनेकों साधुसमाज को बड़ा बना दिया है।

कीरति

शा० व्या० : कीरत :—तेजसापेक्ष नारी धर्म की प्रतिष्ठा से कन्याण होने की विश्वाजित प्रसिद्धि कीर्ति से यहां वोध्य है। सीमित त्रैलोक्य में गंगाप्रवाह गति पुरणों में मर्यादित बताई है यदि कीर्ति धारा फैलती है तो वह गंगाजी पर विजय पाती है, वही जीवन माना जाता है उस सिद्धान्त को ध्यान में रखते हुए जनकजी, सीताजी के यशस् के संबंध में "जिति सुरसरि कीरति सरि तोरि" बता रहे हैं।

ज्ञातव्य है कि इतनी छोटी अवस्था में ही पतिव्रतधर्मानुष्ठानप्रयुक्त तेजस्विता-प्राप्त कर अपनी कीर्ति नदी को सबलोक में फैलाना उनकी स्वतन्त्रविशेषता है उसी का परिणाम है कि रावण के द्वारा सीताऽपहरण होने के बाद संपूर्ण त्रैलोक्य में हाहाकार मचेगा उसी के बल पर श्रीराम का लंका पर चढ़ाई करना नीतिसंगत होगा क्योंकि नीति मत में देशकालशक्ति संयोग प्राप्त होने पर भी जिन निमित्तों को लेकर विग्रह न करने का संकेत किया है उनके अन्तर्गत मनचली योषित् भी मानी गई हैं।

अण्डकरोरी

गंगाप्रवाह त्रैलोक्यमें भी देश-विदेशों से आबद्ध है पर सीताजी का कीर्ति प्रवाह किसी सीमा से आबद्ध न होकर संपूर्ण अनन्तब्रह्माण्डदेश में व्याप्त हो गया है यही वर्णाश्रम का तेजस् है। जिसके प्रभाव से अनेकों ब्रह्माण्डों की जनता नतमस्तक हो उनकी अनुयायिनी होना चाहती है।

तीनि बडेरे

"तीनि" से महत्ता की हरिद्वर प्रयाग गंगासागर त्रितय में पर्याप्ति बतायी है।

चिन्त्य है कि गंगासंपर्क से उक्त तीर्थों में रही पूर्वसिद्धमहत्ता में सर्वसाधारण-तीर्थों से आधिक्य होना पुराणों से प्रमाणित है इसीको "बडेरे" से ध्वनित किया है।

साधुसमाज घनेर

सीताजी के निश्छल प्रेममय आदर्श को प्रमाणत्रय से हित समझने वाले अनेक विध प्राणी दोषों को त्यागकर स्थायी श्रीराम के प्रति अनुराग से संपन्न साधुसमाज के रूपमें अवतीर्ण हो अनेकविधी प्राणी देशों में व्याप्त हैं। जैसा कि "सठ परिहरि सत्संगति पाई" आदि से उल्लिखित है।

घनेरे

राजनीति के मंत्रित्व में संपूर्ण विद्याएँ समन्वित होकर भक्ति या ब्रह्मविद्या की अनुगता होती हैं तो उनके अनुशासन में शासित सन्तों में बढ़ी पारस्परिक प्रीति के अनुरागावस्था में पहुंचकर तात्कालिक सामाजिक व्यक्तियों में पूर्ण अभेद्यता रखना "घनेरे" का तात्पर्य है।

इस प्रकार आत्मतुष्टिप्रमितत्व के साथ 'प्रेमपरितोष' विशेष का व्याख्यान पूर्ण हुआ उसमें २।१०३।५ से १०३ की एकरूपता स्मर्तव्य है।

संगति :—जनकराजा ने कहा पूर्वोक्त अर्थ सत्य होते हुए भी स्वयं ने स्वयं की कीर्ति को सुनना चपलता का द्योतक है वैसी ही स्थिति सीताजी में हो रही है ऐसा देखकर उसको शिवजी गा रहे हैं।

चौ० :—पितु कह सत्य सनेह सुबानी। सीय सकुच महु मनहुं समानी ।।५।।

भावार्थ :—पिताजी सत्य कह रहे हैं उनकी सुन्दर वाणी सत्य व स्नेह से परिपूर्ण है। फिर भी उस वाणी को सुनकर सीताजी मानो संकोच में डूब गई।

सत्य

शा० व्या० :—प्रशंसा में कहे वचन अर्थवाद के समान भी हो सकते हैं उनका उपयोग अप्रवृत्त को स्वकर्म में उत्साहित करना है वैसी स्थिति सीताजी की की हुई प्रशंसा में नहीं है यतन उसके बारे में जनकजी ने जो कहा है वह यथार्थ होते हुए जगदनुमोदित अर्थ का सम्मान है। अतः "सत्य" कहा है।

सनेह

ज्ञानी पिता, अंगतासहित त्रयी की प्रतिष्ठा तथा भक्ति की अंगित। स्थिर रखते हैं। मिथिला उसी के अनुगमन में यशस्विनी है जो रामादि पुत्रों के भावी चरित्रों से अनुमेय है वह कार्य सीताजी ने भी वन में रहकर दिखाया है अतः जनकजी का स्नेह वर्णित है जो उनकी हार्दिक द्रवता का सूचक है।

सुबानी

राजा ने कुल की पवित्रता का क्षेम कहना वाणी का सौष्ठव है।

संकुच

संकोच से कुलजनप्रभव युक्त लज्जा स्फुट हो गई जो २५९।७ में उक्त भरतसंकोच से अधिक है।

सीताजी की दृष्टि में उनको प्राप्त यशस् का कारण वे स्वयं न होकर उनकी रघुवीरप्रियता और स्वयं ने मुनिव्रतान्तर्गत पतिसेवा में अंगतया समर्पित होना है अतःप्रशंसा श्रीराम की होनी चाहिये यह आन्वीक्षिकीकौशल है वैसा न होकर अपनी प्रशंसा स्वयं (सीताजी) ने सुनना संकोच का कारण है।

निरभिमानिताशिक्षा की सप्रयोजनता

स्वधर्म से प्राप्त तेजस् इतना पवित्र रहता है कि अभिमानादिविकृति की अशुचिता का स्पर्श भी हो जाए तो वह तेजस् उन्मूलित होता है। जैसे प्रथमतः विदेह ब्रह्मज्ञ ने निरभिमानितापरीक्षणार्थं आत्मतुष्टि से सीताजी के सामने उनकी कीर्तिव्याप्ति को यथार्थतया ठहराया है फिर वैसा सुनकर उन्नता सीताजी थोड़ा भी मान छलसहकृतमान से दर्शाती है तो जनकजी की आत्मतुष्टि में अर्थतः अप्रामाण्य आकर रहेगा क्योंकि अभिमान होने पर उक्त तेजस् तिरोहित होगा ऐसे दोषों की अप्रसक्ति को 'समानी' से व्यक्त की है इस प्रकार निरभिमानिताशिक्षा की सप्रयोजनता स्पष्ट है।

समानी

लज्जा से अनुमित अमानिता समझाने हेतु 'समानी' कहा है। "समानी" से सीताजी की विशेष लज्जा ज्ञातव्य है आशय यह कि सीताजी ने यशस् के श्रवण से अधो मुखी के भाव में विशेषतया आना "समानी" है।

संगति :—अपने विश्राम स्थल में आई सीताजी के संकोचने का चरित्र देखकर उन्हें माता-पिता वनवास में भावी सफलता हेतु आशिष् दे रहे हैं।

अथवा सीताजी की निरभिमनिता को देखकर आत्मतुष्टि का प्रामाण्या रहना समझकर उससे प्राप्त आनन्द में पुनरालिंगन सुना रहे हैं।

चौ० :—पुनि पितु मातु लीन्ही उर लाई। सिख आसिष हित दीन्हि सुहाई ॥६॥

भावार्थ :—तदनन्तर माता-पिता ने सीताजी को पुनः हृदय से लगाया व हितकारी शिक्षा से आशीर्वाद दिया।

पितु मातु

शा० व्या० :—"पितु-मातु" का निष्कर्ष यह कि प्रशंसा सुनकर उसके प्रति बीभत्सिता जैसी स्थिति में आयी सीताजी की संकोचावस्था से उनकी निरभिमानिता का परीक्षण करना था।

उर लाई (तुष्टि प्रामाण्यस्थैर्य)

स्नेह का प्रभाव "उर लाई" से स्पष्ट है। वह इसलिए हुआ कि माताजी के साथ सीताजी का आगमन राजाधिष्ठित देश में हुआ है वहां आने के बाद सीता माताजी से

पहिले आलिंगन न कर अभी इसलिए किया कि सीताजी का यथार्थ्य रूप प्रत्यक्षतः प्रमाणित करने के साथ सीता जी के प्रति आत्म तुष्टि का प्रामाण्य जतक जीपरीक्षित करना चाहते थे वह अभीपूर्ण हुआ ।

सिख

सीताजी ने तान्त्रिक सिद्धान्त की प्रतिष्ठा के अनुसार श्रीराम को उनके मुनिव्रत की पूर्णता में स्वयं सहयोग दिया है फिर भी माता-पिता की शिक्षा का प्रयोजन १४ वर्षावधि में मनस् को विचलित न होने देने की इतिकर्तव्यता सिखाना "सिख" से विवक्षित है। उसका प्रभाव विनय बनाए रखने मे स्मर्तव्य है ।

आशिष्

गृहनिवास को त्यागकर पतिसेवा में आयी सीताजी ने कामिनीत्व को पूर्णतया निरस्त करने व मुनिव्रत के प्रति तन्त्रराद्धान्तानुसार स्वसेवा को सर्मपित करने में अभी तक प्रेम का बल प्राप्त था उस प्रभाव से रावणवधोपधायकता पुष्ट नहीं थी अभी सत्यसन्ध ज्ञानानिष्ठ माता-पिता के आशीर्ववचन कण्ठतः प्रमाण रूप से तदर्प प्राप्त हो रही हैं इसलिए प्रकृत आशीर्वचन का वैयर्थ्य नहीं है ।

सुहाई

'विनयं विद्योपदेशेन' यह अर्थशास्त्रीयवचन यदि शिष्य में चरितार्थ है तो राजा देवता व साधुओं, सन्तों, पतिव्रताओं को वह शिक्षा सुहावनी मालूम होती है। यदि वही शिक्षा उसी उपदेश्य के द्वारा पूर्ण चरितार्थ है तो वह उपदिश्यमान अर्थ में प्रीतिमान् कहा जाता है। सीताजी की श्रीरामसेवा में वह प्रीति होने से उनको प्रस्तुत शिक्षा में सुहावनापन है। फलतः सीताजी ने वनवासार्थ आगमन की सार्थकता स्पष्ट है ।

संगति :—कार्य की सफलता हेतु तात्कालिककर्तव्यतया अपेक्षित सेवा कार्य की उपादेयता प्रमित होने के बाद 'श्वः कार्यमद्य कुर्वीत' के न्याय से रात्रि के अवसर पर व्रतस्थ श्रीराम को सेवा कार्य में विलम्ब करना प्रमाद कहा जाएगा उसके अभावार्थ सीताजी ने निरभिमानिता रहते जो अग्रिम कर्तव्य सोचा है उस गूढ़ भाव को (एतद्देशत्रासनिषेध) अनुभावों से सीताजी इंगित कर रही हैं ।

चौ० :—कहति न सीय सकुचि मनमाही । इहां बसब रजनी भल नाहीं ॥७॥

भावार्थ :— यहाँ रात्रि बिताना उचित नहीं ऐसा सोचती हुई सीताजी अक्षरशः कहने में सकुचा रही हैं ।

कहति न सीय

शा० व्या० :—"कहति न सीय" से कवि ने वमनाख्य दोष निरस्त कर सीताजी का नायिकात्व दर्शाया है।

संकुचि

उत्साह में भरी सीताजी ने इतिकर्तव्यता के दार्ढ्य में माता-पिता से आशिष् प्राप्त करने के बाद रात्रि में यहाँ रहना ठीक नहीं समझा है। तदर्थ "प्रतिगमन हेतु अभ्यनुज्ञा" की याचना में सीताजी को संकोच हो रहा है क्योंकि "बिछुरत एक प्रान हर लेहीं"[१] की प्रसक्ति स्मृत हो रही है।

रजनी भल नाहीं

"मननाहीं" से का व्याख्यान रजनी भल नाहीं है।

"रजनी" से रात्रि में श्रीराम के अनुष्ठेय मुनिव्रत में अंगतया अपेक्षित सेवाव्रत ध्वनित है।

'भलनाहीं' से मुनिव्रत व सेवाव्रत की च्युतिरूप अनिष्ट की साधनता ज्ञातव्य है।

संगति :—सीताजी का संकोचात्मक मनोभाव लखकर दोहा २:२८६।७ की एकवाक्यता में रानी सुनयनाजी ने जनक राजा से सीताजी को विदा करने के लिए कहा।

चौ० :—लखि रुख रानि जनायउ राऊ। हृदयं सराहत सील-सुभाऊ ॥८॥

भावार्थ :—सीताजी के पूर्वोक्त (संगीत) भाव लखकर जनकरानी ने राजा को सूचित किया। दोनों राजा-रानी पुत्री के शील स्वभाव की प्रशंसा हृदय में करने लगे।

लखि रुख

शा० व्या :—"रुख" से सीताजी की क्रियात्मक चेष्टाएं विवक्षित हैं जो मीमांसा में[२] शाब्दबोध के लिए करणतया स्वीकृत हैं अर्थात् सुनयनाजी को सीतारुख से होनेवाला ज्ञान, उस मत से शब्दबोध माना जायेगा।

जनायउ राऊ

स्वभावतः विदेहभाव में रहे जनकजी व्यावहारिक भाव को नहीं देखते किन्तु स्वतन्त्र रघुपतिमाया की अधीनता में रहने से अभी भेदनीति की आशंका में आए राजा उसके समाधानार्थ सीताजी के हर्षात्मक भाव को देखते हुए प्रेमसमाधिस्थ हैं उस समाधि से जगाने का कार्य सेवाभाव में रही रानी ने किया है अतः "जनायउ राऊ" कहा है।

हृदयँ

श्रीराम के मुनिव्रत में अंगतया अपनाई सेवा में सीताजी का अदम्य उत्साह देखकर माता-पिता का प्रफुल्लित हृदय "हृदय" से व्याख्यात है।

---

१ १।५।४

२. पश्यतः श्वेतिमारूढं हेषाशब्दं च शृण्वतः खुरविक्षेपशब्दाच्च श्वेतोऽश्वो धावतीति धीः।

जैसा कि २८४।१ मो कौसल्याजी के द्वारा उपस्थापित पूर्वपक्ष में स्फुट है

संगति :—सीताजी को बिदा करना व दोहा २।२८४।१ में कही उक्ति को कार्यान्वित करना कवि समझा रहे हैं।

दो०:—बार-बार मिलि भेंटि सिय बिदा कीन्हि सनमानि।
कही समय सिर भरतगति रानि सुबानि सयानि ॥२८७॥

भावार्थ :—सीताजी को बार-बार हृदय से लगाकर सम्मानपूर्वक बिदा किया। समय पाकर रानी ने भरतजी की दशा को सुन्दर वाणी में व्यक्त किया।

बार-बार

शा० व्या० :—"बार-बार" से मिलनकृति का पौनःपुन्य समझाना अत्युत्कट प्रीति के द्योतनार्थ है।

मिलि भेंटि

एक बार रानी से पश्चात् राजा से पुनः रानी से इस प्रकार मिलन एवं भेंट ज्ञातव्य है। मिलि से आने का व भेंटि से जाने का संकेत समझना है।

सनमानि

सीताजी ने अपनाए निष्कपट धर्मपालन से पितृत्व-मातृत्व की सार्थकताप्रयुक्त-आभिमानिक सुख में सुनयनाजी व जनकजी ने भविष्यत् में इसी धर्म को अपनाते रहने की सूचना देना 'सनमानी' है। इस प्रकार सीताजी की भेंट का प्रकरण पूर्ण हुआ।

समय सिर (भरतसम्बन्धी परामर्श)

यहाँ "समयसिर" से अनुकूल समय समझना है। जैसी प्रीति सीतारामजी की देखी गई है वैसा ही गूढ स्नेह श्रीराम व भरतजी में है उसको ध्यान में लाकर कौसल्याजी ने कही भरतजीवनसंबंधीचिन्ता को राजा जनकजी के आगे वर्णित करने का समय (२।८४।१ में स्वमतप्रकाशनानुकूलतया व्याख्यात है) वह समय समयसिर है।

सराहत

अत्युच्च पवित्र प्रीति को गौण मानकर पतिव्रतांगतया स्वीकृत अमानितारूप शील व जन्मजात सेवारुचिररूपस्वभाव की प्रशंसा 'सराहत' से समझनी है। इसी से 'शील स्वभाव' व्याख्यात है।

भरतगति

भरत :—'मोरे सोचु भरतकर भारी' में उक्त रक्षण की असम्भवस्थिति में आए भरतजी 'भरत' शब्दार्थ है।

आत्मतुष्टि पूर्ण न होने की दशा में भरतशरीर की गति "भरतगति" है।

सुबानि

ब्रह्मज्ञ राजा पर कौसल्याजी का आशय जिस प्रकार की वाणी से प्रभावित होगा वह वाणी "सुबानि" है।

सयानि

"सयानि" से देशकालज्ञता, समयसूचकता, शास्त्रप्रमाणतात्पर्यज्ञता आदि विवक्षित हैं। इस प्रकार सुनयनावचन के माध्यम से कौसल्याजी का पूर्वपक्ष पूर्ण हुआ। उसका उत्तर २८९ में द्रष्टव्य है।

संगति :— उपर्युक्त समस्याओं व भरतमहिमा सुनकर समस्या का समाधान सुनाने के पूर्व भरतमहिमा को सुनते-सुनते जनकजी जिस प्रीति में आए हैं वह प्रीति शिवजी गा रहे हैं। अथवा वाणी से सुनयना रानी ने किया प्रतिषेध सुनकर शंकारूप भवजाल से मुक्त राजा के हर्ष को देखकर शिवजी मग्न हो हर्ष की अनुभाव में गा रहे हैं।

चौ० :—सुनि भूपाल भरतब्यवहारू। सोन सुगन्ध सुधा ससि चारू ॥१॥
मूँदे सजल नयन पुलके तन। सुजसु सराहन लागे मुदित मन ॥२॥

भावार्थ :— जनकजी ने सोने में सुगन्ध तथा चन्द्रमा के अमृत के समान भरतीय व्यवहार सुनकर अश्रुपूर्ण नेत्र बन्द कर दिये। शरीर में रोमांच हो गया। वे प्रसन्नान्तः करण से भरतजी के सुयशस् की प्रसंसा करने लगे।

सुनि

शा० व्या० :— "त्रयाणाम् एकवाक्यत्वे संप्रत्ययः"[1] उक्ति के अनुसार भरतचरित्र के प्रति समाज मुनि व कौसल्याजी की एकवाक्यता सुनकर उसका यथार्थ सम समझने से भूपाल का हर्ष में आना "सुनि" से सूचित है।

भूपाल

रक्षककर्मभूतभूपालनार्थं अपेक्षित गुणों के पूर्ण परिज्ञाता "भूपाल" से विवक्षित हैं।

व्यवहारू

ननिहाल से आने के बाद दोहा २।१५७ से २।१८३ तक भरतजी के संपूर्ण चरित्र "व्यवहारू" से समझने हैं। जो भूपालन व रामकृपा के आधायक सेवाधर्म है।

सोन सुगन्ध

भूपालनप्रयोजक क्षत्रधर्म में निश्छल स्वार्थशून्य सेवाधर्म का सम्बन्ध होना 'सोन सुगंध' व 'सुधा ससि चारू' से ध्वनित कर रहे हैं।

श्रीरामका राज्यत्याग, भरतजी के लिए उनसे राज्यदानानुमति, व सीताजी का सासुओं के प्रति समान सम्मानभाव आदि सुवर्ण हैं उसी में भरतजी का राज्य लेने में असन्तोष, प्रभु को राज्यसमर्पण, चित्रकूट आकर प्रभु से राज्य स्वीकारने की

---

१. अर्थशास्त्र।

प्रार्थना व आदेश में रहना विशेषतया कौसल्याजीने भरतजीवन सोचना श्रीरामवनवास में सन्तोष प्रगट करना सोने में सुगन्ध है जो सेवाधर्म से अभिन्न है।

सुधा ससि सारू

साधुसमाज को आप्यायित करने वाली श्रीरामभक्ति रूप सुधा से भरतचन्द्रने आप्लुत होना "सुधा ससि सारू है।

अथवा :—श्रीराम स्वयं चन्द्र हैं उसको भरतजी की सेवारूपसुधा से पूर्ण करना "सुधा ससि चारू" है।

दो उत्प्रेक्षा का उपयोग

'विकारं यति पुत्रोंपि राज्यालीढस्तथा पिता तल्लोकवृत्तान्नृपतेरन्यद्वृत्तं प्रचक्षते'।

उक्ति के अर्थ से सर्वथा दूर रहकर भरतजी ने असंभव को संभव कर दिखाना ही सोने में सुगन्ध उत्प्रेक्षाका व श्रीरामराज्योत्सव का सर्वथा उच्छेद देखकर साधु-भक्तों का हृदय सूख रहा था उस रोग को हटाकर राज्योत्सव को कार्यान्वित करने की आसन्नता देखकर साधुभक्तों को आल्हादित कराना "सुधा ससि सारू" उत्प्रेक्षा का उपयोग है।

मूंदे सजल नयन

भरतजी के यशस् को समाजस्थित अष्टविध वर्गों[1] से सुनकर राजाने की हुई भरतभक्त्यनुभूति को कवि "मूदे सजल नयन" से व्यक्त कर रहे हैं।

"सुजल" से हर्षाश्रु विवक्षित हैं।

पुलके तन

सजल नयन के कारण शरीर में रोमांच होना "पुल के तन" है।

सुजसु

सूर्यवंश में भरतजी ही ऐसे कुलदीपक हुए जिन्होंने अभूतपूर्व चरित्र प्रगट कर प्रभु का तत्तत्पुरियों में स्वामित्व स्थापित कर विश्वकल्याण किया उसी को "सुजसु" से कहा है जो यशस् की व्याख्या—

"यतो विश्वस्य शमिति तस्माद्यश इतीरितम्"[2] को चरितार्थ कर रहा है।

मुदित मन

सराहना के प्रति हेतुतया "मुदित मन" कहा है इसका व्याख्यान हर्ष में परिणत है जो मनःप्रसाद का वाचक है व 'हर्षो मनःप्रसादः स्यात्'[3] से प्रमाणित है उसका भी

---

१. कामुकैश्च विदग्धैश्च श्रेष्ठिभिश्च विरागिभिः। शूरैर्ज्ञानवयोवृद्धै रसभावविवेचकैः॥
बालमूर्खबलाभिश्च सेव्यं यन्नाद्यमुच्येते (भाव प्रकाशन २२७।१४)

२. भावप्रकाशम ७०।४ ३. भावप्रकाशन

कारण राजा के हृदय से उदित उस शंका का उन्मूलन है जो भरतीयचरित्र के बारे में "चौर्या- दिग्रहपापादि कर्मक्ष्मापापराधजा"[1] भई थी।

संगति :—"भरतदरस मेटा भवरोगु" व 'रामभगतिरससिद्धिहित भा यह समउ गनेसू[2]" की यथार्थता जनकजी, सुनयनाजी के सामने प्रगट करेंगे उसके पूर्व राजा शंकारूपभवबंधन के मिटने का कारण सुना रहे हैं। अथवा 'अंग जग जोगू' को व्याख्यान कवि कर रहे हैं इसलिए कि सहाय होने पर छलप्रसक्ति प्रगट होगी परिणाम उसका रामप्रसादक्षभाव व अपने में से वक का न रहना परिचित होगा।

अथवा :—सहाय सुनते ही राजा को भरतजी के प्रति छल की प्रसक्ति करना परिज्ञात हुआ जो उनकी दृष्टि में आपाद्य है वह २८८।५ में उक्त है उसकी उपपत्त्यर्थं राजा के द्वारा भरतकथा सुनाने का उपक्रम शिवजी कर रहे हैं जिससे भरतमहिमा की अपारता और अधिक स्फुट होगी। फलतः सुनयनाजी अपने निर्णय को अपने तक ही सीमित रखना समझेंगी।

अथवा :—दोहा २।२८३ में उक्त 'विवेकनिधि' से आकांक्षित विवेक, राजा के उत्तर पक्ष से सुना रहे हैं।

अथवा :—'सराहन' का व्याख्यान कर रहे हैं जो 'भरतव्यवहारू' से संबद्ध हो वाचिक अनुभाव है।

चौ० :–सावधान सुनु सुमुखि ! सुलोचनि ! भरतकथा भवबन्धविमोचनि ॥३॥

भावार्थ :—हे सुमिखि ! सुलोचनि रानी ! संसार के बन्धन को तोड़ने वाली भरतकथा को सावधान हो सुनो।

सावधान सुनु

शा० व्या० :—"सावधान" पद सुनने व समझने में प्रमादाभाव के बोधनार्थ हैं यतः तर्कपूर्वक भावस्वभाव समझकर भवबन्धनविमोचनकार्यके प्रति कारणभूत कथा को समझकर रखना है।

"सुनु" से शास्त्रसंबद्ध तात्पर्यविषयीभूतार्थबोधक श्रवण विवक्षित है।

सुमुखि ! सुलोचनि !

रानी के मुख से निकली वाणी से अभी भरतकथा सुनाने का अवसर आया सोच कर "सुमुखि" संबोधन है। "सुलोचनि" से संपूर्णशास्त्रसंबद्ध राजनीत्यभित भक्ति-शास्त्रचक्षुष्मत्ता सुनयनाजी में ध्वनित है।

---

१. भाव प्रकाशन १६।२

२. २।२१७।२

भरतकथा

संक्षेप में भावस्वभावविद्या के आधार पर भरतकथा व भवबन्धविमोचनि का कार्यकारणभाव विवेचित हो रहा है उसके अन्तर्गत भरतकथा कारणतया निरूपित हो रही है। सारांश यह कि सम्पूर्ण परा व अपरा विद्या से प्रसू मति को अगोचर व श्रीराम को संवेद्य होना 'भरतकथा' में दर्शाया है।

नाट्योक्त पंचसन्ध्यात्मक चरित्र "कथा" से विवक्षित है। उसचरित्र में किसी प्रकार की शंका या अपने विचार को प्रकट कर सहायक हो विघ्न पहुंचाने की अपेक्षा नहीं है किंबहुना उसके अनुगत हो सेवक बनने में भला है।

भवबन्ध विमोचनि

भव :—'सोचुभरतकरभारी' (२।२८४।३) में शंका या तत् सम अन्यान्य शंकायें उठाना ही "भव" है।

अथवा :—भक्तिपक्ष से परा व अपराविद्या में प्रतिपाद्य अर्थ मात्र में तत्पर रहना पारिभाषिक "भव" है।

बन्ध :—शंकाजाल में फंसकर सेव्य सेवकों (श्रीराम-भरत) के चरित्र को शंकित कर उनके सम्बन्ध में कुछ भी स्ववृत्तिप्रेरणा के बल से किसी भी विद्या ने अपनी ओर से कुछ भी कहना या न मानना "भवबन्ध" है। जैसा कि दोहा २।२६८ की चौपाइयों व दोहा २।२५८ आदि उक्तियों में निर्णीत है।

अथवा :—भक्तिपक्ष से सेवाधर्मरति प्राप्त न होना भववन्ध है जो पारिभाषिक है।

विमोचनि

उक्त शंकाओं के जाल से मुक्त हो 'भरतकथा सुनकर आन्वीक्षिकी की सहायता से मर्म समझते हुए सेवाधर्ममात्र में साधनतया व साध्यतया प्रीति रखना "बिमोचनि" है।

ज्ञातव्य है कि भरतकथाकथन के प्रति प्रेरणा का कारण "ते सब भए परमपदजोगु"[२] को जनकजी स्वयं अनुभूत कर रहे हैं अतः सुनयनाजी को भरतकथा सुनने हेतु प्रेरणा दे रहे हैं। आशय यह कि भरतजी स्वयं पुण्यश्लोकशिरोमणि हैं उनके बारे में अपनी ओर से निर्णय करना अथवा स्ववृत्ति प्रेरणा प्रयोज्यता के बलसे भरतजी को प्रयोज्यमृवृद्ध बनाना ठीक नहीं है।

संगति :—"जौ यह मत मानै महीपम" का उत्तर (सहायक प्रतिषेध) स्वमति की सीमिततारूप अल्पज्ञता से दे रहे हैं।

चौ० :—धरम राजनय ब्रह्मबिचारू। इहां जथामति मोर प्रचारू ॥४॥
सो मति मोरि भरतमहिमाही। कहै काह छलि छुअति न छाही ॥५॥

भावार्थ :—धर्म (त्रयी) राजनीति (नीतिविद्या) ब्रह्ममीमांसा के संबंध में जहाँ तक गति होनी चाहिये वहाँ तक मेरी गति है पर वह मति भरतमहिमा (भक्तिविद्या) के विचार में क्या कहे ? जबकि छल से भी उसकी परछाई छूने में असमर्थ है। भाव यह कि बुद्धि से भरतजी की प्रपत्तिविधि (गतिविधि) को समझकर कोई सर्वांगपूर्ण निर्णय करना संभव नहीं नतो ''मत मोरे महीपमन'' कहना कठिन है।

धरम

शा० व्या० :—कर्मप्रतिपादक विद्या या कर्म धर्म से बोध्य है। ''धरम'' से त्रयोप्रोक्त कर्म समझना है। उसके अन्तर्गत सामान्य विशेष, नित्य, नैमित्तिकं व काम्य आदि कर्म समझने हैं। प्रस्तुत में निर्णेतव्य धर्म से पितृवचनप्रमाणप्रमितधर्म विशेषतया ग्राह्य है।

राजनय

नयः—राजविद्या नय से बोध्य है दण्डनीति, राजधर्म, आदि शब्द राजनय के पर्यायवाची हैं। इसमें परलोक के साथ इहलोक में जनानुराग भी उद्देश्यतया चिन्तनीय है उसके अन्तर्गत कहे राजवृत्त का परिचय करते नय को धर्म से सुसंगत करना ही ''राजनय'' है।

ब्रह्म

ब्रह्म :—ब्रह्म से वेदान्तविद्या विवक्षित है। ''ब्रह्मबिचारू'' से ब्रह्ममीमांसा समझनी है जहाँ उपनिषद् के वाक्यों का समन्वयपूर्वक अर्थ निर्णीत है इसमें अनेकविध द्वैताद्वैततत्व चिन्तनीय होते हैं।

ज्ञातव्य है कि ''धरम राजनय ब्रह्मबिचारू'' कहने से जनकजी की परिषद में सन्तों का साथ मिलना ध्वनित है।

बिचारू

विचारू का अन्वय धर्म नय एवं ब्रह्म से ज्ञापित विद्याओं से है।

उनमें गौरव लाघव देश शक्ति काल अपवाद कर्ता आदि के भेद को देखकर विद्यार्थ का निर्णय धर्मविचारू है।

राजनय के अन्तर्गत उच्चादिकर्मभेद से तत्तत्ज्जातियों का विनियोग, योगक्षेम अर्जनादि चतुर्विध वृत्त तीक्ष्ण मृदुय थार्हदण्ड प्रकृतिकर्म असंपन्नसंपादनसंम्पन्नभिवर्धन का विचार नयविचारू है।

ब्रह्मविद्या से अद्वैतों के अनेकविध भेदों को देखते हुए तत्तदर्थों में तात्पर्य-विचार करना ब्रह्म विचारू है।

इहाँ

''इहाँ'' से 'धरम राजनय ब्रह्मबिचारू की पूर्वपरंपरा के रक्षकविद्याएँ 'इहाँ' से समझना है। आशय यह कि जनकजी की विवेकात्मक मानसगति को धर्म, राजनय, ब्रह्म-

विचार तक ही सीमित रखने में भगवदाज्ञा है उन्हीं में मति की अवगाहनशीलता का सहचारिणीत्व प्रभु से अनुमोदित है।

जथामति

त्रयी, नीति व ब्रह्मविद्याएँ भक्ति की छत्र छाया में सुरक्षित होती हुई भी कभी-कभी अपने में टकराती हैं उस समय उन अंगविद्याओं के समन्वय हेतु विरोधपरिहार की कला प्राप्त होने पर भी कब किसकी मोह होगा ? कहना जीवके लिए संभव नहीं अतः जथामति कहा है।

मोर प्रचारू

'मोरः'—ईश्वर ने प्रदत्त अधिकारानुरूपतया त्रयोआदिसहित राजनय व ब्रह्मविद्या के विचार में अधिकृत जनक राजा अस्मच्छब्दार्थ है। यह मति शास्त्रार्थ निष्पन्ना है। जिसमें शिष्यहितदर्शनादि सम्भव है।

प्रचारू—आर्यपथ की रक्षार्थ राजा का वरण प्रभु ने करा रखा है उसके द्वारा आर्यपथ का अतिक्रमण प्रपन्न भक्तों के बिना कोई कर नहीं सकता उसके अन्तर्गत रहे भक्तों वैचारिकों आदि को में विद्यास्थापन करना 'प्रचारू' से विवक्षित है। जैसा कि—

भागवतमें-भिक्षोर्धर्मःशमोऽहिंसा तपोन्वीक्षे वनौकसां।
गृहिणो भूतरक्षेज्या बटोरोराचार्यसेवनम् ॥

से प्रसिद्ध है।

"मोर प्रचारू" इसलिए कहा कि विश्वामित्र आदि मुनि राजा के सुविचारों को सुनने के अभिलाषुक है। जैसाकि २७७।१ में जासु ग्यानु भवनिसि नासा। वचनकिरन मुनिकमलविकासा' में उक्त है। मनोनिरोध के हेतु अपेक्षित बाह्या लंवन व आत्मालंवन ज्ञान त्रयी व वेदान्त से प्राप्त है इस प्रकारत्रयी व ब्रह्मविद्योपादेयता प्रसिद्ध है। इस प्रकार प्रचारूकी सार्यकता स्पष्ट है।

सो मति मोरी

प्रस्तुत में अंगी (सेव्य) रूप में रही भक्ति के लिए अंगभूत में रही त्रयी आदि ने सहाय होने का विवेक कर्तव्य है। यही कि आपाततः स्वयं श्रीराम रूप में प्रगट ब्रह्मबल के आश्रय में भरतजी विराजमान हैं उनकी आत्मतुष्टि को देखते हुए भरत जीवनार्थ चिन्ता प्रस्तुत है परन्तु तत्संबन्ध में अवगाहन करने का अधिकार प्राप्त न होने से इतरा को भरतया थातथ्यानवगाहिनी मति सो मति' का अर्थ है। उस अवस्था में भरतमति का तात्पर्यबिन्दु समझना अंगभूत ब्रह्म विद्या के लिए ईश्वरप्रदत्त अधिकार का अतिक्रमण करना है। इस प्रकार जनकजी ने "सो मति मोरी" से अपनी अक्षमता प्रगट कर ईश्वर-शासन को दृढ़ बनाया है।

भरत महिमाहीं

भरत : योगी मुनियों के लिए दुर्लभ भवभयादिरहित दण्डानपेक्ष सेवाधर्म-विशिष्ट भरत 'भरत' शब्दार्थ है।

महिमा :–भरतसंकल्प का सर्वातिशायी जीवमत्यगोचर प्रामाण्य महिमा से बोध्य है।

ज्ञातव्य है कि भगवान् ने अपने संविधान में भक्त की इच्छा के विरुद्ध जाना अस्वीकार कर रखा है। अर्थात् मूलतः गूढतया अप्रमाणित रहे 'पावहि राजू' वचन को अप्रमाणत्वेन ही घोषित करवाना भरतमहिमा है ऐसी ही महिमा श्रीमद्भागवत् में द्रष्टव्य है जैसाकि भीष्मपितामह की प्रतिज्ञा होते ही श्रीकृष्णजी (शस्त्र न उठाने) की प्रतिज्ञा अप्रमाण हो गई फलतः श्रीकृष्ण ने शस्त्र उठाकर अपने अप्रमाणभूतवचन की अप्रमाणता सिद्ध कर दी।

कहैं काह ?

भक्तों के गुणगान में भक्ति का जो रसास्वाद हृदय में होता है उसको वाणी-द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता उस अवस्था में बुद्धि लगाकर भक्ति की महिमा को कौन कहेगा ? ऐसा प्रश्न 'कहै काह' से स्फुट है। उसकी पुष्टि में वसिष्ठोक्ति (२५७।२ व २५८) स्मर्तव्य है।

छलि (सहायता में छलत्व)

छल से राजाविवेक सुना रहे हैं उससे सहायाप्रतिषेध स्फुट होगा जो (२८५।५) सुनयनोक्तिप्रसंग में व्याख्यात है।

छल की व्याख्या न्यायसूत्र में उपलब्ध है वह इस प्रकार है—(१।२।१०) वंचन-विघातोऽर्थविकल्पोपपत्त्या छलम। अर्थात् प्रतिवादी के अभिमत अर्थ का विधान विरुद्ध-कल्पना से दूषित करना छल है।

उसके अनुसार वसिष्ठदृष्ट भरतापारमहिमा को न समझकर कौसल्योक्त भरत-वनगमन को यथार्थ करने हेतु सहाय होकर भरतजी को व श्रीरामको कुछ भी समझाना छल होगा क्यों कि भक्ति का पुट देकर उनको वन में जाने का प्रस्ताव रखकर भरतजी की आत्मतुष्टि (निस्वार्थ सेवा धर्म) को अवगत न करके उनको वनमें भेजने की चर्चा की जाएगी उसपर भरताभिमत अर्थ का विघात हो जाय तो छ छल होगा जो आपाद्य होकर राजा के लिए विद्या विद्यातक हो सकता है। जैसे भरतजी के विरह दुःख से अनुमित अजीवनसोचु की विभीषिका प्रस्तुत कर श्रीराम के द्वारा वनगमन की ओर भरत भक्ति को मोड़ना होगा इस प्रकार का छल उपचारच्छल[1] है जो विवेकनाशक है।

छुअति न छाहि

कहा जाय छल आपाद्य नहीं अपितु छल से भरतमहिमा देखना है उसका उत्तर 'छुअति न छाहिं' से सुना रहे हैं।

१. धर्मविकल्पनिर्देशे अर्थसद्भावप्रनिषेध उपकारच्छलम् (१।२।१४ न्याय सूत्र)

छाहिः—भरतमहिमा को पूर्णतया देखने का अधिकार प्राप्त न होते हुए भी ब्रह्मविद्या भरतजी नार्थ सहाय हो भरतवन गमन व लक्ष्मणवासप्रस्ताव को स्थापित करती है तो वह कापटय मेंघो की तरहज्ञान का आवरक होगा। फलतः भरतमहिमा का एक अंश भी दृश्य नहीं होगा। किंबहुना प्रभु की भरतजी के प्रति कही शापोक्ति का भजन होना पड़ेगा यह दूसरा विवेक है।

भाव यह कि श्रीराम की वास्तविकता समझने में सतीजी ने छलप्रयोग किया परिणामतः वे स्वयं छली गईं उसी प्रकार प्रभु के निष्कपट उपासक की महिमा को समझने हेतु कोई कपट करता है तो वही दण्ड्य हो सकता है जैसा कि सुरगुरु बृहस्पतिजी ने इन्द्रजी को कपट करने से रोका है इसलिए जनकराजा भरतजी के विषय में अपनी ओर से स्वतन्त्र सहायक होना छल छाहि मानते हैं।

संगति :—अपनी मति में भरतमहिमनवगाहन सिद्ध करने के बाद समर्थों की मति का भरत महिमा वहगहन करने मे संकोच होना आगे दोहे में कहेंगे उसके पूर्व अभी महिमा वगाहनक्षम सभी समर्थों का नाम सुना रहे हैं।

चौ० :—विधि गनपति अहिपति सिब सारद। कवि कोविद बुध बुधिविसारद ॥६॥

भावार्थ :—ब्रह्माजी, गणेशजी, शेषजी, सरस्वतीजी, कवि, ज्ञानी, विद्वान्, तथा बुद्धिमान् भरतजी की कीर्ति को नहीं कह सकते।

कवि कोबिद बुध बिधि बुद्धिबिशारद

शा० व्या० :—विधि (ब्रह्माजी), गनपति (गणेशजी), अहिपति (शेषजी), शिव (शिवजी), व सारदा (शारदाजी) स्वनाम से ही प्रसिद्ध हैं।

कबि :—"कबि" लक्ष्यलक्षणोभयज्ञ रसिक होते हैं जैसे—वाल्मीकिजी आदि।

कोबिद :—"कोबिद" से लक्ष्यलक्षणोभयज्ञ समझने हैं।

बुध :—"बुध" से लक्षणज्ञ समझने हैं।

बुद्धिविशारद :—बुद्धिविशारद से लक्ष्य समझे जाते हैं।

सङ्गति विधिआदि विशारदों के आचार सुना रहे हैं जिनसे भरत कीर्तन में सुखसाधनता समझ में आयेगी व भरतकथा में गेय तत्त्व भी समझ सकेगा।

चौपाई—भरतचरित कीरति करतूती धरम सील गुन विमलविभूती ॥७॥
समुझत सुनत सुखद सब काहू। सुचिसुरसरिरुचि निदर निबाहू ॥८॥

भावार्थ :—भरतजी के कर्म शील गुण और निर्मल ऐश्वर्य चरित्र को समझने व सुनने से सबको सुख मिलता है जो गङ्गाजी के समान पवित्र और अमृत से भी बढ़कर स्वाद देनेवाला हैं।

भरत चरित आदि की व्याख्या

भरत :—चरितादिगुणविशिष्ट निश्छलसेवाभक्तिरत भरत 'भरत' शब्दार्थ है।

चरित :—जन्म से ही व्रतरुपेण गृहीत सेवानुरूप धर्म कर्म आदि व्यापार 'चरित' से बोध्य है।

कीरति :—सूर्यवंशानुकूल क्षात्रधर्मपालनानुकूल कृति 'कीरति' से समझना है।

करतूती :—स्वीय विशेष आदर्श 'करतूती' से समझना है जो भरतचरित्र मीमांसोभाषित सर्वाङ्गोपसं हारात्मक प्रकृतिरूप है।

धरम :—धरम से एकमात्र शब्दगत भावनाज्ञांनप्रयोज्येष्टसाधनत्वादिप्रकारक अनुमितिविशेष्य कर्म बोध्य हैं।

सोल :—करण ('पूर्वावस्था') व कर्म ('उत्तरावस्था') भाव में रहे सेवात्मक धर्म में सदैव स्वाद लेना 'सील' से ज्ञातव्य है।

गुन :—आत्मसंस्कारसंपत्तियुक्त स्वपरहितकारि आभिमानिक तत्त्व 'गुण' से बोध्य है।

विमल :—चरित्रों में अनौचित्यादिदोषसामान्याभाव विमल से समझना है जो उद्देश्यप्रतीतिप्रतिबन्धकाभाव में तात्पर्य रखता है।

विभूती :—भूत-भौतिकवशित्व को स्थायिता 'विभूती' से सूचित है।

समुझत सुनत

'समुझत सुनत' से भरतजी की कीर्ति आदि को सुनने व कहने सभी कवि पूर्वोक्त विधि से प्रारंभ कर बुद्धिविशारदान्ततक स्मर्तव्य है।

सुखद

'सुखद' से पूर्वोक्त विधि आदि कवियोंने स्वमत्यनुसार गायन करने का प्रयोजन (उद्देश्य) बताया है। उसी तत्त्व की ध्यान में रखकर बृहस्पति-इन्द्रसंवाद कविने दो बार गाया है।

यहां वर्णित सुख शब्द परम पुरुषार्थ ब्रह्मविद्यास्वाद्यरूप में स्मर्तव्य है उसको प्राप्त करानेवाले गायनकर्म सुखद हैं।

सब काहु

विधि से लेकर बुद्धिविशारदान्त सभी (२७७१६)'सब' से समझने हैं। अतएव विधि आदि सभो कवियों का एकत्र वर्णन करने की सार्थकता स्पष्ट है।

सुचि

'सुचि' कहकर भरतजी की कीर्ति आदि के गान मे त्रिकालाबाधित पवित्रता दर्शाई है। उसमें कालसम्बन्धप्रयुक्त दोषों को स्पर्श न होना स्फुट है जैसे भगवत्कीर्तन में शुचिता। इससे भरतमहिमा व्याख्यात है।

सुरसरि

भरतगुणगान व सुरसरित् के सम्बन्ध से शिवादि को प्राप्त सुखों में समानजातीयता सुचिन्त्य है फलतः भरतगुणगायकों को होने वाले सुखप्रत्यक्ष से सामान्यलक्षणया सभी शिवादिसुखों में प्रत्यक्षवेद्यता स्पष्ट है।

निदर

समुद्रमथनोद्भुत अमृत का स्वाद प्राप्त होने पर भी अमर स्वस्थ नहीं है न तो उन्हें परम पुरुषार्थ ही प्राप्त है। इसलिए सुधा के बारे में निदर कहना उपपन्न है। निदर का कर्तृत्व 'सबकाहु' में चिन्त्य है। इस प्रकार शिष्टाचारप्रमाण से भरतमहिमा की गेयतासिद्धि के परिणाम में शाण्डिल्योक्त सूत्र में उक्त मानुषसेवाप्रतिषेध का प्रतिप्रसव स्फुट है।

संगति :—'कहैकाहु' की उपपत्ति समझा रहे हैं जिसमें उपमानप्रमाणप्रमितत्व स्पष्ट होगा।

अथवा भरतमहिमा में गायन की योग्यताबोधनार्थ कतिपय सब्दों से भरतीय गुणों में मापदण्ड प्रकाशित कर रहे हैं जैसे 'निरवधि' आदि।

दोहा :—निरबधिगुन निरुपम पुरुषु भरतु भरतसम जानि।
कहिअ सुमेरु सेरसम कबिकुलमति संकुचानि ॥१८८॥

भावार्थ :—भरतजी के गुण असीम है। उनकी तुलना किसी से नहीं की जा सकती। यदि उपमा कहनी है तो अनन्वयमुखेन भरतजी ही उपमान कहे जायँगे ऐसा जानकर कविसमुदाय की बुद्धि भरतगुणवर्णन से संकुचाती है। जैसे सुमेरुपर्वत को सेर से तौलने की योजना कहना कवि के संकुचित बुद्धि का द्योतक है।

निरबधि

शा० व्या० :—देशविशेष कालविशेष आदि से भरतजी के शौर्य आदि में घटबढ़ न होना निरबधि है। यह एक महिमा गायनयोग्यता का मापदण्ड है।

पुरुष

पुरुष से शरीरतादात्म्याभिमानी साक्षी 'पुरुष' है।

भरतसम

सादृश्य को न्यायाभिमतपदार्थों से अतिरिक्त मानकर भरतसम से भरतमहिमा में गायनयोग्यता का दूसरा माप दण्ड दर्शाया है। जो अनन्वय या असमालंकाररूप में सामाजिकों के लिए आह्लादकर है।

जानि

'जानि' शब्द निरवधि निरुपम से अन्वित है उसका परिणाम सकुचानि है।

सुमेरु

सुमेरु के अन्तर्गत अवयवरूप में रहे सुवर्णपरमाणुओं की संख्या की कल्पना नहीं की जा सकती न तो उसके गुण ही मननाही है जो ब्रह्माजी के द्वारा अपनाए अधिष्ठान से ही स्पष्ट है ।

सेर

एक सेर के पाषाण के अन्तर्गत अवयवों की संख्या सीमित रूप में ज्ञेय है ।

सम

सेर की तुलना से सुमेरु की तुलना करना 'सम' है जो बुद्धि के संकोच का प्रकाशक है । उसका 'कहिअ' से अन्वय है । यह भी एक प्रकार से गायन की योग्यता के मापदण्ड है । ज्ञातव्य है कि इस वर्णन से भरत जी में रहे गुण जाति कर्म आदि सभी का ग्रहण हो गया ।

सकुचानि

भरतीयगुणादि में से एक एक गुणादि अनन्तपरमाणुसदृश हैं उन सभी गुणों का अवगाहन न हो पाना 'संकुचानी' का भाव है । अतः 'छलि छुअतिन छाहिं' करना उपपन्न है ।

संगति :—कविकुलमतिसंकुचाने को दृष्टान्तान्तर से समझा रहे हैं ।

अथवा कविकुलमत्यनवगाहिता बताकर भरतमहिमा में वर्णनाशक्यता समझा रहे हैं ।

चौ० :—अगम सबहि बरनत बरबरनी ! । जिमि जलहीन मीनगमु धरनी ॥१॥

भावार्थ :—हे वरवरणिनि ! भरतमहिमा कहना सबकी बुद्धि के बाहर है । जैसे जलहीन स्थल में मीनगति होना असम्भव है ।

अगम

ज्ञा० व्या० :—दो० २।२८८।५ में 'छलि छुअति' कहने से 'अगम' का तात्पर्य भरतमहिमा को वर्णित करने का संकल्प लेकर प्रवृत्त हुए विधि आदि ने अपनी बुद्धि में भरतगुणनिरूपितविषयिता का पूर्णस्पर्श न होने में समझा रहे हैं । क्योंकि उक्त विषयिता का स्पर्श होते ही विधिप्रभृति कवियों को बुद्धि में जलहीनतासदृश भक्तिहीनता प्रतिभात होती है उसका निष्कर्ष इतना ही कि जिसने जितना समझा उतने में ही कविगण अपने जीवन की पूर्णता मानते है ।

सबहि

पूर्वोदित विध्यादि विद्वानों के साथ अन्यान्य श्रीराम सीताजी भी सबसे संग्राह्य हैं । जैसा कि अगलीनी चौ० में स्पष्ट होगा ।

बरबरनी ।

'बरबरनी' से सात्विकों के अनुकूल गुणसंपत्ति ब्रह्मके प्रति प्रतिभाशीलता कुलीनता शुचिता आदि का सुनयना जी में होना ध्वनित है ।

जलहीन मीनगमु

जलके विना मछली का एक पैर आगे न बढ़ना प्रसिद्ध है उसी तरह भरत-महिमा में स्थितगुण की निरूपितविषयिता का बुद्धि में बढ़ाव रुकना समझा रहे हैं 'जलहीन थल मीनगमु' से । अर्थात् भरतीय गुणनिरूपितविषयिता या गुणवर्णनानुकूल शब्दावलि कविबुद्धि को ज्यों स्पर्श करती है त्योंही कविमति स्थल बनती है अर्थात् जिस भरतीयगुणको कविमत्ति लेती है वह बुद्धि उसीके अपार महिमा को अवगाहित करने में असमर्थ होती हैं इतना ही 'जलहीनथल मीनगमु' का तात्पर्य है ।

सङ्गति :—भरतमहिमा यदि कविमत्यवगाहिता स्यात् तर्हितस्यालीकत्वं संभाव्येत इस प्रश्न का उत्तर आगे सुना रहे हैं ।

चौ० :-भरत अमित महिमा सुनु रानी ! । जानहिं रामु न सकहिं बखानी ।।२।।

भावार्थ :—हे रानी ! सुनो भरतमहिमा का पार समझना श्रीराम ही के लिए संभव है पर वे भी वर्णन करने में संकुचाते हैं इसकी एक वाक्यता में भरतमहिमा की अपारता व्याख्यात है ।

भरत

शा० व्या० :—'भरत' २८८।७ में व्याख्यात है उसका अन्वय महिमा में है।

अमित

तौल या परिमाण से तुलित या परिमित न होना अमित है । बहु महिमा में अन्वित है । अर्थात् त्रयीसमन्वय के साथ राजनीति की प्रतिष्ठा में भक्ति का आस्वाद जो भरतजी को हो रहा है उसको और कोइ प्राप्त करना चाहे तो उसने भरत ही होना पड़ेगा यतः उस सुखास्वाद की अनुभूति विजातीय ब्रह्मसुखास्वाद लेने वाले ·नकरूप मे अवतीर्ण ब्रह्मविद्या को भी प्राप्त नहीं है । यही भरतमहिमा की अमितता है ।

सुनु रानी

'सावधान सुनु'[1] कहने पर भी 'सुनु रानी' कहने का प्रयोजन भरतमहिमा की संवेद्यता को अलीक न मानने में है ।

जानहि रामु

'आन उपाउ मोहि न सूझा । को जियकै रघुवरविनु बूझा'[2] से भरतजीने यह अभिव्यक्तकर रखा है कि उनके अभिलषित अभिप्राय को जानकर श्रीराम ही

१. २८८।३ २. २।१८३।१

समाधान (आत्मतोष) प्राप्त करा सकते हैं। 'एहि कुयोगकर औषधु नाहीं'[1] से भरतजी ने यह भी कहा है कि उनकी समस्या का समाधान किसी की प्राप्त नहीं है।

"तात ! करहु जनि सोचविसेषी। सबु दुखु मिटिहि रामपग देखी"[2]रूप आशीर्वचन से भरतजी को सान्त्वना भरद्वाजजी ने दी है उसी का स्मरण 'जानहिं राम' से चिन्त्य है।

राम :—सर्वज्ञ व समता की अन्तिमसीमा से संपन्न दाशरथि: 'राम'शब्द से ज्ञेय हैं।

जानहिं से अनुमानप्रणाली

'जानहिं' से परिज्ञातअनुमानप्रणाली यह होगी कि "श्रीराम: भरतसमस्तमहिम्नः पारिभाषिकापार [3]महिमषयंकज्ञानवान् सर्वज्ञत्वात् यन्नैवं तन्नैवम्" अर्थात् श्रीराम यदि जीव की दृष्टि से पारिभाषिक अपार भरतमहिमा का पार नहीं समझेंगे तो उनकी सर्वज्ञता स्वरूपासिद्ध होगी। जो शब्दप्रमाणविरुद्ध होने से इष्टापत्त्यनर्ह है।

न सकहि

'रामेण भरतमहिमवर्णनं वर्णयितुमशक्यं' 'न सकहि, 'का निष्कर्ष है।'

न बखानी

'न बखानी' का यथार्थरूप चित्रकूटस्थ जनकसभा में प्रभु की वक्ष्यमाण ('विद्यमान आपुनि मिथिलेसु। मोर कहब सब भांति सुपासु') उक्ति से प्रकाशित है।

ब्रह्मविद्या की सेवकता

ज्ञानी प्रभु के आत्मा हैं उनसे अविद्या दूर रहती है फिर भी वे प्रभु के अतिप्रिय निष्कपट सर्वविद्यासमन्वित भक्तिच्छयाश्रित प्रपन्नों की सेवा में रहते हैं भक्तसंकल्पों को न समझकर कार्य करने में ब्रह्मज्ञ प्रभु की अवहेलना समझते हैं उसी अवहेलना को अकार्यान्वित करते हुए 'न सकहि बखानी' कहकर जनकजी ने अपनी सेवकताप्रयोजकप्रेरणा प्रयोज्यता ही प्रगट की न कि स्वतन्त्रपुरुषार्थप्राप्तसुखप्रयुक्त अंगता।

इस प्रकार शिवजी ने अपनी सेवकता को प्रगट करने वाली ब्रह्मविद्या के प्रति वाचिक अनुभावों से सहायप्रतिषेधसंबन्धी दूसरा विवेकनिरूपण पूर्ण किया जो प्रसंगान्तर होते हुए भी महामनीषियों के लिए आस्वाद्य रहा इस प्रकार 'छलि छुअति' व्याख्या में उक्त आपाद्यापादकभाव व्यंजनया बताकर सहायप्रतिषेधसम्बन्धी विषय पूर्ण है।

संगति :—राजा विवेकप्रचुर सहायप्रतिषेधसबन्धी भाषण के सन्तुष्टा सुनयनाजी में भरतजी एवं श्रीराम के मध्य में रति गूढ़ प्रीति को यथार्थतया समझने की रुचि को परखकर उसके उपशमनार्थ बिना पूछे ही राजा के बोलने का प्रारंभ शिवजी सुना रहे हैं इस लिए कि प्रपत्ति का वास्तविक स्वरूप ब्रह्मविद्या प्रगट करना चाहती है।

---

१. २।२११।२ २. २।२११।८ ३. २।२८९।२

चौ० :–बरनि सप्रेम भरत अनुभाऊ । तियजिय की रुचि लखि कह राऊ ॥३॥

भावार्थ :—भरतजी के प्रीत्यनुभाव का वर्णन करने के अनन्तर सुनयनाजी की रुचि के अनुकूल स्पष्ट रूप में राजा ने कहा।

बरनि

शा० व्या० :—"बरनी" से दोहा २।२८८।३ से दोहा २।९०।२ तक का वर्णन समझना है जो भरतजी के नीत्यनुभावात्मक है।

सप्रेम

चित्रकूट में उपस्थित कौसल्याप्रभृति अनन्य प्रेमियों के हृदय में उभरी भक्तिरूपा महारानी के प्रति तदालंबनक प्रेम यहां "प्रेम से" विवक्षित है।

अनुभाऊ

अवध व चित्रकूट में प्रदर्शित सभी भरतीय चरित्र "अनुभाऊ" से विवक्षित हैं।

तियजियरुचि

प्रभु व भरतजी के बीच में परस्परविरोधी पितृवचनसमन्वय का समाधान अन्य विधाओं से न होना देखकर कौसल्याजी के हृदय में भक्ति का पोषण व भरत त्राणोपाय की कामना पूर्ति की रुचि व उसके प्रत्याख्यान (३७५।५) हृदय में रउरे अंग जोगु, में उक्त है उसकी पुष्टि से सन्तुष्टा सुनयनाजी 'भरत भक्ति की वास्तविकता को समझने की रुचि 'तियजियरुचि' से समझना है उसका अन्वय लखि से है।

लखि

वर्णाश्रम या उपनिषद् की सेवा में रहने वाली पतिव्रताओं की रुचि प्रत्यक्षानुमान से होने वाले समाधान में होती है तदनुसार भरतमहिमा सुनने पर भी सुनयनाजी में भरतभक्ति तथ्य को सुनने की रुचि देखना "लखि" से कहा है।

संगति :—जनकजी, कौसल्याजी व सुनयनाजी के अभिप्रेत का पूर्ण समर्थन करते हुए राजा पूर्वपक्ष अनूदित कर रहे हैं इसलिए कि वे कौसल्याजी व सुनयनाजी के कण्ठतः निरूपितः संहाय विषय का भक्ति तथ्य से बाधित करना है।

चौ० :—बहुरहि लखनु भरतु बन जाही। सबकर भल सब के मन माहीं ॥४॥

भावार्थ :—लक्ष्मणजी लौट आएं व भरतजी वन में जायें इसमें सब का भला है यही सबके मनस् में है।

बहुरहि लखनु

शा० व्या० :—"बहुरहि लखनु" कहने में किसी प्रकार का दोष नहीं है इसलिए कि लक्ष्मणजी राज्य के स्वामी न होकर सेवारूप में राज्यरक्षण करेंगे फलतः वनवास के बाद श्रीरामराज्योत्सव होगा।

भरतु बन जाहीं

भरतजीवन व श्रीरामराज्योत्सव घटित सभा में पूर्व में 'अरथजहिं' न्याय विवेचन में निरूपित है उसी को यहाँ "भरतु बन जाहीं" से गाया है।

सबकर भल

भरतजी को श्रीराम के साथ वन भेजने में सभी को श्रीरामराज्योत्सवरूप हित की साधनता बलवदनिष्टाननुबन्धिता एवं कृतिसाध्यता होना "सब कर भल" है।

मन माहीं

"सबकर भल सबके मनमाहीं" के समर्थन की प्रतिक्रिया में 'सबभइ मगन करुण रस रानी" आदि उक्तियाँ स्मरणीय हैं। इस प्रकार कौसल्यापक्ष अनूदित हुआ।

कौसल्योक्तपक्ष की सिद्धान्तरूपता

"भरतु बन जाहीं" से वक्ष्यमाण दोष को अवकाश प्राप्त है वह यह कि भरत-वनगमन विरोधी दशरथवचनों का समन्वय न होने की स्थिति में 'सर्वान्निनानुमतिः प्राणात्यये' (वेदान्तसूत्र) न्याय का समर्थनसूक्ष्मतया प्राप्त होने पर भी सर्वज्ञ श्रीराम को न पूछना अपराध होगा यतः वे एकमात्र भरताभिप्राय के वेत्ता हैं यह एक दोष है।

प्रत्यक्षानुमानवादी ने तत्काल में आपत्ति देखकर उक्त निर्णय किया है किन्तु यह नहीं सोचा है कि लक्ष्मणजी भी वनवास में होनेवाली सेवा से च्युत होकर अवध में नहीं लौटेंगे अतः उनके जीवन पर भी आंच आसकती है उस आपत्ति को न सोचना दूसरा दोष है। जिस प्रकार अवधसभा में समस्तराजपरिवारसमेत गुरु वसिष्ठजी के वचन सुन-कर उसके उत्तर में भरतनीति ने असन्तुष्टि प्रगट की उसी प्रकार कौसल्याभिमत में राजा अपनी सम्मति देते हैं तो उसपर भरतजी अपनी असन्तुष्टि व्यक्त करेंगे तो जनकजी के मत का बाध होना तीसरा दोष है इन दोषों के उत्तर में 'भल' शब्द के वाच्यार्थ से भरतजी के लिए नंदिग्रामवनवास ही समझना है इस प्रकार पूर्वपक्ष दुष्ट न होकर उसकी परिणति सिद्धान्तरूप में चिन्त्य है।

संगति :—जनकराजा आपाततः प्रतिभासित पूर्वपक्षोत्तर के पूर्व भरतजी निरूपण कर रहे हैं। इसलिए कि २६९ में कहा अन्तःस्थित गूढतात्पर्य सुनाने के पूर्व भरतजी की सेवाभक्ति में रही वास्तविक स्थिति के प्रति सुनयना में निश्शङ्कता हो। निर्णय-करूप में आए राजा को श्रीराम एवं भरतजी के मध्य में उभड़े मतभेद का समन्वय करने में अपेक्षित विवेक करने की असमर्थता रानी को समझ में आ सके जिसका परिणाम अभिमत अर्थ की सिद्धि होना देखकर रानी को उत्साह हो।

चौ० :—देवि ! परन्तु भरत रघुबर की। प्रीति प्रतीति जाइ नहि तरकी ॥५॥

भावार्थ —हे देवि ! यह ठीक समझा जा रहा है परन्तु श्रीराम व भरतजी की पारस्परिक प्रीति व विश्वास को तर्क से समझना संभव नहीं है।

देबि

शा० व्याख्या :—"देबि" संबोधन से उत्तर सुनने में सावधान रहना समझाया है।

परन्तु

आपाततः प्रतिभाषित कौसल्याभिमत को सभा में सहायक बनकर उपस्थापित करना जनकजी को इष्ट न ही है ऐसा "परन्तु" का भाव है।

भरत रघुबर की

रघुपति व भरतजी यद्यपि सेव्य-सेवक रूप में अलग हैं तथापि वे दोनों प्रीति-प्रतीति की व्याख्या में समान ही हैं। अतः 'भरतरघुबर' का अन्वय 'प्रीति प्रतीतिमें' है।

ज्ञातव्य है कि "रामहि बन्धु सोच दिन राती। अण्डन्ह कमठ हृदय जेहि भांती" से श्रीराम का गूढ़-स्नेह वर्णित है उसका दर्शन कवि ने यत्र-तत्र कराया है यथा—"भरतु प्रानप्रिय पावहि राजू"[1] न लक्ष्मण 'रामसंवाद'[2] का "अवसि जो कहहु चहऊँ सोइ कीन्हा[3] आदि है। इससे राजनीति के अनुसार श्रीराम का भरतजी के प्रति सुहृद होना स्पष्ट है वैसी ही प्रीति प्रतीति भी भरतजी में सद्यः वर्णित होने से निर्विवाद है।

प्रीति-प्रतीति

प्रीति :—हितसाधनताज्ञान की पूर्वावस्था जिसमें प्रत्यक्षानुमानतः अप्रामाण्य आदि शंकाओं को उदित होने का अवसर प्राप्त होता रहता है।

प्रतीति :—विश्वास ही प्रतीति है इसमें शास्त्रवचन की अधीनता में तर्क का उपयोग करना है। फलतः विश्वासवान् व्यक्ति के हृदय में असंभावनादि शंका को कोई स्थान नहीं है। जैसा कि बालकाण्ड के मंगलाचरण में व्यक्त है।

'बहुरहि' आदि कहने के अनन्तर सहायप्रतिषेध कण्ठतः कहना प्राप्त था पर उसके पूर्व सहायप्रसक्ति है कि नहीं समझनी होगी यही कि भरतजी को श्रीराम के बिना अवधवास करने में तोष समझना होगा उसका भी बीज श्रीराम के प्रति भरतीय-गूढ़स्नेह ज्ञातव्य होगा उसीको 'प्रीति प्रीतीति' सेस्फुट किया है।

जाइ नहिं तरकी

श्रीराम व भरतजी के पारस्परिक सख्य की परिमितता या तुलना युक्तियों के द्वारा नहीं की जा सकती क्योंकि उनकी अपारता वसिष्ठजी, राजा जनकजी, आदि की उक्ति से ही स्पष्ट है अतः "जाइ नहिं तरकी" कहा है। जबकि दोनों भाइयों की प्रीति प्रतीति तर्क्य नहीं है तब सहाय न होना अर्थ प्राप्त है।

संगति :—पुनः भरतभक्ति तथ्य निरूपित कर रहे हैं इसलिए कि समस्या का समाधान करने में राजा उपेक्षा नहीं कर रहे हैं अपितु वे असमर्थताहेतु पुरस्सर व्यक्त कर रहे हैं ऐसा समझना है उसकी उपपत्ति का आरम्भ आगे हो रहा है।

---

१. २।७।८   २. २।२२७ से २।२३२।७ तक   ३. २।२६४।०

चौ० :—भरतु अवधि सनेह-ममता की । जद्यपि रामु सीम समता की ।।६।।

भावार्थ :—भरतजी स्नेह और ममता की सीमा हैं । जबकि श्रीराम समता की सीमा हैं ।

भरतु

शा० व्या० :—भरतु :—सर्वथा स्वार्थसुन्य व स्वामिवैराभाव सहकृत प्रबोधयुक्त सेवाधर्मसंपन्न 'भरतु' प्रपन्न से बोध्य है जो अवधि के आश्रय है ।

अवधि

यद्यपि दोनों भाइयों की प्रीति-प्रतीति को अवधि से सीमित कहा गया है तथापि उस अवधि को केवल श्रीराम व भरतजी ही समझते हैं । दूसरों के लिए उनकी प्रीति-प्रतीति के बारे में "नहि तरकी" कहना ही ठीक है ।

सनेह ममता की

ज्ञातव्य है कि त्रैलोक्यवासीसमेत श्रीरामका प्रेम विशिष्ट उनकी ममता भरतजी ने प्राप्त की है । अतः राजा ने 'भरतु अवधि सनेह' ममता की कहा है । इसके अन्तर्गत स्नेह का स्वरूप भावप्रकाशन में इस प्रकार है—"मनसो यद् द्रवार्द्रत्वं विषयेषु ममत्वतः । भयशंकावसानात्मा स एव स्नेह उच्यते" अर्थात् सम्पूर्ण त्रैलोक्यवासियों को भरतहृदय चन्द्र से द्रुत चन्द्रकान्त के समान देखने में आ रहा है जहाँ ममता ने भी अपना स्थान बना लिया है उसी भाव में जगन्मात्र का मानस भरतजीवन को सुरक्षित रखने हेतु चिन्तित है ।

ज्ञातव्य है कि अभी तक भरतजी ने प्रगट किये आदर्श से यह भी स्पष्ट हो चुका है कि उनके बारे में त्रैलोक्यवासी समेत श्रीराम की जो ममता वृद्धिगत हो रही हैं उसमें भय व शंका का भरतजी के निमित्त से समूल उन्मूलन हुआ है जो कि लक्ष्मणजी ने अभिनय से प्रगट भई थीं ।

अथवा 'स्नेहममता' शब्द से स्नेह प्रयुक्त ममता बोध्य है उसमें घटक स्नेह श्रीराम के प्रति भरतजी का है जो सर्वथा स्वार्थ शून्य हो एक मात्र रामादेश पालन कर्म को अपनाते हुए सर्वाङ्गोपसहारात्मकसेवाधर्म रुचिरूप हैं वह प्रयत्न भरता तिरिक्ति कर्मकाण्ड (वसिष्ठ) उपनिषद् (जनक) उपासकों में नहीं है अतः भरतगत श्रीराम की वही ममता का प्रयोजक है उसकी पुष्टि में २।२५६।३-४, २।२५८।०, २।२६४।— वचन स्मर्तव्य है । अवधिसे श्रीरामकी स्नेह प्रयुक्त ममता का केन्द्र ही भरतजी के पक्षमें है ।

राम

सर्वतादात्म्यापन्न शक्तयात्मक आत्मतत्त्व 'राम' शब्द से बोध्य है ।

जद्यपि

स्नेहममता की भरतगत केन्द्रता के आश्चर्य का बोधक 'जद्यपि' शब्द है उसके बाद तथापि अध्याहार्य है वह स्नेह ममता से अन्वित होगा अन्वित यह कि समान रहते भी प्रभु की ममता भरतजी पर विशेष है जो आश्चर्यकारक है।

सीम

एकोहं 'बहु स्यां' वचन के अनुसार जगन्मात्र से तादात्म्यापन्न आत्मा की समता का प्रतिअंग के प्रति एकसमान रहना "सीम" से बोध्य है।

समता

"समता" का अर्थ पक्षपातशून्यता है। रागद्वेषशून्यतापूर्वक समता यदि कहीं है तो श्रीराम में ही है क्योंकि एक मात्र राम ही सर्वतादात्म्यापन्न हैं आशय यह कि लक्ष्मणजी को अवध में रखकर भरतजी को साथ ले जाना, कौसल्याजो को सोच में रखना, आन्वीक्षिकी त्रयी, राजनीति का पारस्परिक बलाबल न देखते उनका समन्वय करना पक्षपात (विणमना) होगा जो श्रीराम को मान्य नहीं है।

ममता व समतापर एक दृष्टि

समभाव से रहे जगत्तादात्म्यापन्न श्रीराम की भरतजी पर रही। ममता का अर्थ समताविघात नहीं अपितु रघुपति रखुआरा है। क्योंकि अक्षीणवासन जब अपने को राम भक्त समझते हैं तब उनको सावधान या विनीत कराने हेतु इन्द्र भ्रमादिमाथा से विरत करा देते हैं ऐसा प्रयोग प्रपन्नोपर चलेगा तो उन दण्डों से प्रपन्न त्राण कर्तृत्व रघुपति ने अपने ऊपर रखा है उसकी संभावना की परिचायकता देना ममताव समता की दृष्टि है।

संगति :— जिसकी पूर्णता से प्रपन्नको स्नेह व ममता प्राप्त होती है उसको बता रहे हैं। यतः उसी पूर्णता के अनुबन्ध में भरतजी की प्रपत्ति भी स्पष्ट करनी है।

अथवा सहायान्तरप्रतिषेधात्मक उत्तर विवेकविशेष से वक्तव्य है उसके उपपादन में प्रपन्नभरतभक्ति के प्रति अपेक्षित सामान्य विवेक स्पष्ट कर रहे है जो शिवादिसाधारणतया स्वीकृय हैं।

अथवा पूर्वघटित दोनों सभा में भए संवादश्रवण का निचोड़ सुना रहे हैं।

चौ० :—परमारथ-स्वारथ सुख सारे। भरत न सपनेहुं मनहुं निहारे ॥७॥
साधनसिद्धि रामपगनेहू। मोहि लखि परत भरतमत एहू ॥८॥

भावार्थ :—परमार्थ व स्वार्थ सुख आदि किसी की ओर भरतजी के मनस् ने नहीं देखा है। मेरी समझ में आता है कि भरतजी का यही मत है कि सब साधनों की सिद्धि या पूर्णता श्रीराम के चरणों में प्रीति होना ही है।

परमारथ

शा० व्या० :—"परमारथ" का अन्वय सुख से समझाना है। स्वधर्माचरण करते हुए विषयों से सर्वथा निवृत्त हो आत्मसुख में लीन रहना ही परमार्थ[१] है। जैसा कि "दीयमानं न गृण्हन्ति विना मत्सेवनं जनाः"[२] से पुष्ट है।

स्वारथ

स्वार्थ का अन्वय भी 'सुख' से है। यह लोक में वैषयिक, आभ्यासिक, मानोरथिक, आभिमानिक भेद से अनुभूत है। इसको भक्तगण पुरुषार्थ नहीं मानते यतः स्वार्थ सुख में ईर्ष्या व मान आदि दोषों की समृद्धि होती है। जैसा कि सुमित्राजी के उपदेश[३] से संकेतित है।

सुख सारे

"सुख" से अन्तिम साध्य 'फल' सुख से ज्ञातव्य है जिसमें "सुखं किमर्थं" इस प्रश्न को अवकाश नहीं है। 'सारे' से व्यक्तिशः अनेकविध सुख बोध्य है।

भरत न सपनेहु

उद्देश्यरूप स्वार्थ व परमार्थ सुख के प्रति घृणित पदार्थ की तरह सर्वथा अनुद्देश्यता "भरत न सपनेहुँ" से समझा रहे हैं। इससे भरतजी की प्रपत्ति सिद्ध है।

निहारे

भरतजी ने भक्तिसिद्धान्तानुगत स्वार्थ चित्रकूट के प्रति सभा में कहा। (मोरे नीति न धरम बिचारू ॥ कहहुँ वचन सबु स्वारथहेतू ॥ प्रभु प्रसन्नमन सकुच तजि जो मोहि आयसु देव। सो सिर धरि करिहि सबु मिटिहि अनट अबरेब ॥) है उसी को "निहारे" से संकेतित किया है।

साधन-सिद्धि (प्रपत्तिस्वरुप)

साधनसिद्धि ऐसा पृथक पथक अर्थ 'साधन सिद्धि से ज्ञातव्य है। दोनों का अन्वय 'रामपदनेहु' से है।

साधन :—शिशुपन से भरतजी रामपदस्नेह में मग्न हो धर्म नीति आदि अपनाते आ रहे हैं जो स्वामी-श्रीरामादेश के पालन से अभिन्न है वही 'साधन' है। उसके साथ ही विद्वत्सङ्गति (विद्या) अंकुशयुक्त हो मदाभाव का परिचय भी दे रहे हैं।

सिद्धि :—स्वामी श्री राम के पदस्नेह में रहते अनुष्ठित नीति से प्राप्तव्य भी वही स्वामिपरस्नेह है जो श्रीरामादेशपालन में व्यक्त है वही 'सिद्धि' (उद्देश्य) से बोध्य है। यही दो दिनों में घटित सभा में भए संवाद का सारांश व प्रपत्ति स्वरुप है।

---

१. विद्याशमनिमित्तं वैशेयेक भाष्य २. भागवत ३. २।२२८

आन्वीक्षिकी की महत्ता का स्मरण

ज्ञातव्य है कि न्यायभाष्योक्त्यनुसार[१] कवि महोदय ने अभी तक के पूर्वापरनिरूपण से आन्वीक्षिकी विद्या का प्रदीपत्व[२] श्रीरामलक्ष्मणसंवाद व इन्द्रबृहस्पतिसंवाद से आन्वीक्षिकी का सर्वकर्मोपायत्व[३] तथा प्रस्तुत संवाद से सर्वधर्माश्रमत्व[४] प्रख्यापित किया है।

रामपदनेहू

भक्तिसिद्धान्ताभिमत में साधन से भगवदाज्ञा का स्नेहपूर्वक परिपालन माना गया है उसकी सिद्धि भी श्रीरामपदस्नेह समझामा गया है उसमें इतिकर्तव्यतया छलाभाव स्मर्तव्य होगा जैसाकि वसिष्ठजी ने 'राम रजाई'[५] को साधनत्वेन माना है छलाभावरूप इतिकर्तव्यता का विचार बालकाण्डोक्त "निश्छल विश्वनाथ पद सनेहू" में द्रष्टव्य है।

मोहि

मोहि :—सत्तर्कपूर्वकपरामर्शकुशल होते हुए तत्काल में प्रयोगविधि का निर्णय करने में सक्षम उपरिबुद्धि जनक 'अस्म' च्छब्दार्थ है।

लखिपरत

राजा जनकजी ने मिथिला से आकर अवध से आरम्भ कर यहाँ तक की घटना को प्रत्यक्षत: अनुमानत: समझकर भरतजी के शिष्टाचार, सभा में हुए संवाद व उपनिषदादि शब्दो से भरतजी की साधनसिद्धि के प्रति व्यक्त रुचि को लखा है उसी को यहाँ 'लखिपरत' से ध्वनित किया है।

भरतमत एहू

मंत्रविकल्पोक्त सहायादिपंचांगोपबृंहित प्रमाणत्रय से प्रमित, शक्य, भव्य, कल्पव रुच्यात्मक साधन-सिद्धिरूप रामपगस्नेह ही 'भरतमत' से समझना है।

'एहु' से भरतजी, वसिष्ठजी, श्रीरामजी प्रभृति किन्हीं भी आचार्यों का विरोध न होते हुए सबको सन्तुष्टिकर व भरतमत में किसी की ओर से अप्रामाण्यादिशंका का अनुत्थापन समझाया है यही तथ्य सुनयनाजी के लिए रुच्य है।

संगति :—उक्त रुच्यनुरूप विवेक व भक्तिसिद्धान्ताभिमत भरतरुचि के अनुरूप विमर्श सुना रहे हैं। जिसमें रानी को समाधान प्राप्त होगा।

दोहा :—मोरेहुं भरत न पेलिहहि मनसहुं रामरजाइ।
करिअ न सोचु सनेहबस कहेउ भूप बिलखाइ॥२८९॥

---

१. प्रदोपः सर्वविद्यानां उपायः सर्वकर्मणाम् 'आश्रयः सर्वधर्माणां विद्योद्देशे प्रकीर्तिता

२. प्रदीपः सर्वविद्यानां भवति प्रकाशकत्वात् प्रदीपवत्

३. उपायः प्रज्ञावाक्यक्रियावैशारद्यं-प्रकाशितानां करणादुपायः यस्मात् प्रमाणादेव प्रकाशितमर्थमितरा विद्याःकुर्वन्ति-विषयतया विधेयतया निषेध्यतयावेति शेषः।

४. सर्वधर्माणां सर्वविद्याप्रतिपाद्यानां पुरुषप्रवर्तनानां सकलशास्त्रार्थानुष्ठानानामिति यावत् षष्ठ्यर्थः प्रयोजकत्वम् (अर्थशास्त्रजयमङ्गलाक्रोडपत्रम् १।२)

५. २।२८९।–

भावार्थ :—राजा जनकजी ने कौसल्योक्ति पर खिन्न होकर कहा कि भरतजी भूलकर भी मनस् में श्रीरामाज्ञोल्लंघन नहीं करेंगे। अतः प्रेम के वशीभूत हो सोच नहीं करना चाहिए न तो स्वतर्क से सहाय होने का निर्णय करना चाहिए।

भोरेहुँ

शा० व्या० :—राजा जनकजी ने भरतजी के स्वाभाविक स्वभाव का परिचय देकर 'यो यः स्वामिनो रामस्य अनन्यसेवास्वभाववान् तत्स्नेही ममतावांश्च स स स्वामिनः आत्मगुणसंपन्नस्य आदेशवशवर्ती यथा सीतालक्ष्मणौ' ऐसी अनुमान प्रणाली के रहते विपरीत शंका करना भक्त को अपमानित करना है जो अपने ही अधः-पतन का कारण हो सकता है। यही 'भोरेहुं' से समझाया है।

न पेलिहहिं

पूर्व में आदेश मानने की चर्चा है। यहाँ 'न पेलिहिं' कहने से आदेश न मानना व हठ करना असंभव है समझा कर पूर्वसंवाद के बारे में सोचने की दिशा दिखाना ध्वनित है। इससे यह भी समझाया है कि अमात्यादि सप्तप्रकृतिकराज्यकर्म के अन्तर्गत कहीं पर कार्यसंपत्ति पूर्ण करने में न्यूनता अथवा अशक्यता होती है तो उसको पूर्ण करने में राजा की अपनी उपयोगिता है इस सिद्धान्त को देखते हुए जनकजी कह रहे हैं कि अवध की अराजकतावस्था में भरतादि प्रकृति राज्यसंचालनशक्त रहते हुए भी उससे उदासीन हो चित्रकूट इसलिए आए हैं कि वे जबतक राज्यसंचालनाधिकृत यजमानस्थानापन्न स्वामी श्रीराम के द्वारा ऋत्विजरूप में वृत नहीं होंगे तबतक भरतजी राज्यसंचालन नहीं करेंगे फलतः स्वामीरूप में रहे श्रीराम की आज्ञा उन्हें राज्यसंचालनार्थ प्रेरक होगी।

मनसहुँ

भरतजी के व्यक्त संकल्प में औपचारिकता न होना 'मनसहुं' से समझाया है।

रजाइ

स्वतन्त्ररूप में वक्ता व प्रयोक्ता स्वामी श्रीराम के आदेशात्मक वचन स्वयं प्रमाण हैं जैसा कि वसिष्ठजी की उक्ति (धरमनीति गुन-ग्याननिधाना) से प्रमाणित है।

यहाँ श्रीराम पूर्णहितकारी होने से उनकी रजाई के पालन में 'मातु पिता गुरु प्रभु के बानी। बिनु विचारि करिअ सुभ जानी' की एकवाक्यता स्मरणीय है।

सनेहबस

कौसल्या माता व सुनयनाजी को जो चिन्ता हो रही है उसमें दोनों का भरतजी के प्रति रहा स्नेह कारण है उसी के वश में उन दोनों को भरतजी में जीविता-भावरूप आपाद्य सूझ रहा है जो वास्तविक नहीं है।

बिलखाइ

कौसल्यामाता के आकांक्षित फलसिद्धि हेतु सुझाए उपाय के कार्यान्वयन में 'जौं यह मत माने महीपमन' व 'तो भल जतनु करब सुबिचारी' को न मानने में जनकजी की बिवशता कवि ने 'बिलखाइ' से ध्वनित की है।

अथवा 'करिअ न सोचु कहकर भी २८९।४ में उक्त निर्णय के प्रति बिलखना 'बिलखाई, का निष्कर्ष है।

इस प्रकार 'छलि-छुअति' में ध्वनिन स्नेह से व्यक्त व कण्ठत: उक्त विवेक बताकर उत्तरपक्ष की पूर्णता स्यम्पन्न हुई। इस संवाद का विशेष प्रयोजन ग्रन्थकार ने दोहा २।३०९।७ में दर्शाया है।

संगति :—उपर्युक्त उत्तर सुनकर सुनयनाजी का मोहापसरण सुनाने के साथ शिवजी आगे का वृत्तान्त उमाजी को सुना रहे हैं।

चोपाई :—राम-भरतगुन गनत सप्रीती निसि दंपतिहि पलकसम बीती ।।१।।

भावार्थ :—श्रीराम और भरतजी के गुणों को प्रेमसहित गाते हुए राजा जनकजी और रानी सुनयनाजी का रात्रिसमय क्षण के समान बीत गया।

राम-भरत गुनगुनत

शा० व्या० :—राम :—समसीमावधित्ववत् दाशरथि 'राम' से बोध्य हैं।

भरत :—स्नेहममतासीमावधित्ववत् कैकेयीपुत्र 'भरत' से बोध्य हैं।

पूर्व में गाए चरित्र "गुन" से समझने हैं जिसमें प्रेम से आरम्भकर अनुरागान्तावस्था में आकर दम्पती (राजा-रानी) ने श्रीराम व भरतजी के परस्पर में रही नाट्यशास्त्रोक्त पंचसन्धि, उनकी स्वपरहितकारिता, श्रीराम-भरत की नायकता विदग्धता तदतिरिक्त चरितकरतूति शील धर्म आदि गुण गुनना 'गुनगुनत' का भाव है।

निसि

सच्चा भजन वही है जिसमें भगवान् व भक्तों के गुणों का प्रेमपूर्वकगान करते हुए समय का भान न होते भक्ति में तन्मय होता है वही मनोयोग का लक्षण है। गीतोक्ति ("या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी") के अनुसार उपासक के लिए रात्रि का समय मूल्यवान् है। निद्रा में प्रभु के चिन्तन का लोप होता है पर उसमें जागृत रहना संयम है। योगी रात्रि के शान्तवातावरण का लाभ अन्तर्नादश्रवण में लेते हैं। वे रात्रि में स्नानादि कार्य से निवृत्त हो समाहितमनस्कतासे भजन चिन्तन करते हैं जो भरद्वाज मुनि ने "निस सब तुम्हहि सराहत बीती" से प्रमाणित है।

पलक

"पलक" कहने का सार जागरणप्रयुक्तश्रम व तत्प्रयुक्त दोष का अभाव होने में है।

संगति :—दोनों समाज तृतीय दिवसीय कृत्य के समान अगले दिन के कृत्यका संक्षिप्त वर्णन कर रहे हैं। जिससे सभासंघटन की प्रक्रिया स्मरणीय होगी।

चौ० :—राजसमाज प्रातजुग जागे। न्हाइ न्हाइ सुरपूजन लागे ।।२।।

भावार्थ :—दोनों (अवध व मैथिल) समाज प्रातः काल जगा और नहा धोकर देवपूजन में लगा।

राजसमाज

शा० व्या० :—"यच्छीलों राजा तच्छीलास्तस्य प्रकृतयो भवन्ति" इस अर्थशास्त्रोक्ति का कार्यान्वयन "राजसमाज" से स्फुट है।

जुग

"जुग" से समाजगत द्वित्वसंख्या विवक्षित है।

न्हाइ न्हाइ

दोनों समाज के प्रत्येक व्यक्ति की स्नानादि क्रिया व भिन्न[1] देवपूजन समझाने हेतु 'न्हाइ' की द्विरुक्ति है। फलतः प्रतिव्यक्ति को यथासमय स्नान का अवकाश मिलना, कालातिक्रमण न होना आदि स्फुट है। इससे देवता का आभिमुख्य प्रत्येक को प्राप्त होने से "कार्यानुशासनेनं स्वधर्मस्थापनं विनयं विद्योपदेशेन" इस अर्थशास्त्रोक्ति की चरितार्थता स्पष्ट है।

संगति :—रात्रि में वापस आई सीताजी से "जनक राम गुर आयसु पाई" सुनकर वसिष्ठजी के साथ की हुई राजमंत्रणा की जिज्ञासा के उपशमनार्थ कौतूहल में श्रीरामका, गुरुवसिष्ठजी के पास जाना सुना रहे हैं।

अथवा जनकराजा का बिलखना देखकर उनको दमित करने हेतु श्री राम ने अपनाया उपाय शिवजी जा रहे है।

अथवा :—राजा को अपने आगमन का वैयर्थ्य दोहा २।२८९ के अनुसार मानस में प्रतिभात हुआ ऐसा सोचकर अन्तर्यामी प्रभु २७०।३ संकोच को त्याग कर गुरुजी के समीप जा रहें हैं।

चौपाई :—गे नहाइ गुरपहि रघुराई। बंदि चरन बोले रुख पाई॥३॥
नाथ! भरतु पुरजन महतारी। सोकबिकल बनवास दुखारी॥४॥
सहित समाज राउ मिथिलेसू। बहुत दिवस भए सहत कलेसू॥५॥
उचित होइ सोइ कीजिअ नाथा!। हित सबहीकररौरे हाथा॥६॥

भावार्थ :—स्नानोपरांत श्रीरघुनाथजी, वसिष्ठजी, के पास गए और चरणों में नमस्कार कर उनका इंगित पाते हुए बोले। हे नाथ! भरतीजी पुरवासी माताएँ शोकाकुल हैं वनमें रहने का दुःख उठा रहें हैं। राजा जनकजी भी समाज के साथ कष्ट सह रहे हैं। हे नाथ! अब जों उचित हो सो कीजिए। आपके ही हाथ में सबका हित है।

गे नहाइ

शा० व्या० :—कौसल्या-सुनयनासंवाद को सीताजी से सुनकर कौसल्या-सुनयना-सुमित्रा प्रभृति के दुःख की कल्पना श्रीराम को होना स्वाभाविक है तापसवेषदर्शन से प्राप्त मिथिलासमाजदुःख भी उनको अवगत हुआ है। आतिथ्यसत्कारीय दैनिक मर्यादा पूर्ण

१. २।२८०।३

हुई। पहिलो सभाएं बिना किसी निर्णय के विसर्जित हुई हैं। यदि आयोक्ष्यमण सभा आज भी अनिर्णीतावस्था में विसर्जित होती है तो कालहरण से श्रीराम की आसक्ति सिद्ध हो सकती है जैसे पुत्र के प्रति हरिश्चन्द्र की आसक्ति। इस दोष के परिहारार्थ श्रीराम स्वयं गुरुजी के पास जा रहे हैं उसका तात्पर्य आज का दिन न टालने में है।

गुर

राजा से सहाय होने की प्रार्थना माताजी ने की है। उनसे सहायता लेना तब इष्ट होगा जब सुर्यवंश के पुरोहित असमर्थ हैं वह स्थिति उपस्थित नहीं है। वस्तु स्थिति यह है कि अवधपर आइ घटना के शमनार्थ सहायक रूप में माता व मुनि गुरु वसिष्ठजी समर्थ हैं उनके अंकुश में दोनों भाई समासीन हैं सभा में उपस्थित होकर आर्तिको प्रगट करके मुनि ने उपक्रम किया है उपसंहार भी उन्हीं के द्वारा होने में औचित्य है सोचकर गुरुजी के पास श्रीराम पहुँचे हैं।

बंदि चरन

अपनी ओर से वचन सुनाने के पूर्व गुरुजी का अवधान अपनी ओर कराने हेतु उनकी प्रसन्नता के अनुकूल अनौद्धत्य बंदि दिखा रहे हैं जिससे श्रीराम 'सतां अभिगम्य' हो सकें।

रुख पाई

स्व का आशय प्रगट करने की अनुकूलताबोधार्थ अपेक्षित इंगिन 'रुख' से समझना है।

नाथ

भावप्रकाशन में नाथ की व्याख्या इस प्रकार है—

"सामदानार्थसम्भोगैःलालयन् प्रीणयन् सदा। भजते रहसि प्रीतःस नाथ इति उच्यते"[1]

भरत पुरजन महतारी

भरत :– स्वामी के रूप में रहे श्रीराम की आज्ञा के आकांक्षी श्रीराम से स्वत्व स्वीकृति कराने की चिन्ता में ग्रस्त कैकेयीपुत्र 'भरत' से बोध्य हैं।

पुरजन :—नैरन्तर्येण रामसंवाससाहचर्यप्राप्ति के अभिलाषु अवधवासी 'पुरजन' से समझने हैं।

महतारी :—भारी (भरतजी वनाभावाभाव) सोच में रही कौसल्याजी 'महतारी' से बोध्य है। इनका अन्वय 'सोकविकल तथा वनवासदुखारी' से है।

सोक विकल

अवध में अराजकता व भरतजी के अजीवन की संभावनाकल्पना से उद्भूत दुःख यहाँ "सोक" से ध्वनित है इसमें विकल होना "सोकविकल" हैं।

---

१. भावप्रकाशन ११७।१७

वनवास दुखारी

भरतादि सभी वन में रहते हुए भी सुखी नहीं हैं इसलिए कि श्रीराम को वनवास होना ही है वे स्वामी नहीं हो रहे हैं अतः राज्योत्सवदर्शनाभाव दुःख 'दुःखारी' से परिगृहीत है।

अथवा :—आर्यपथ के अनुसार घर के जीवन से विरति पूर्णतया प्राप्त न होने के परिणाम में रा॰राज्योत्सवदर्शनाभावोंपाधिक विकृतमनस्क ने किया वनवास भी दुःख है।

ज्ञातव्य है कि आपाततः पुरजनों को प्राप्त भया 'वनवाससुख' भी दुःख ही है जैसे बालावस्था में रहे शरीर में कामशून्यता स्वीकार्य नहीं होती। ऐसा सोचकर 'वनवास दुखारी' कहा है।

सहित समाज

ब्रह्मविद्यासंपन्न राजा व सर्वज्ञ (भावीघटना के ज्ञाता) वसिष्ठजी स्वरूपतः सुखी हैं फिर भी वे अभी भरतप्रभृति समाज से युक्त होने से दुखी कहे गए हैं अतः 'सहित समाज' कहा है।

समाज' से जनपदहि प्रकृति सभीका अनुगम समझना है।

मिथिलेसु

बिलखाई विशिष्ट राजा 'मिथिलेसु' से बोध्य है। उसका अन्वय 'कलेसु' से है।

चिन्त्य है कि भावी घटना होने में विधान के पूर्ण ज्ञाता होने से दुःखी के श्रेणी में गुरु का उल्लेख नहीं है।

बहुत

भरतागतदिवस से प्रारंभ कर वर्तमान दिवस पर्यन्त 'बहुत दिवस' से बोध्य है।

सहत कलेसु

यद्यपि सुनयना-जनक संवाद के अनुसार राजा का निर्णय पर पहुँचना व सर्वज्ञ होने सेभावी घटना (रावणवध विधान) समझकर गुरुजी ने निर्णय पर रहना प्रसिद्ध है फिर भी समाजसाहित्यविशिष्ट होकर जनकजी ने श्रम सहना 'कलेसु' है।

अथवा समधि से उत्पित हो अवध चिन्ता में रहने का श्रम सहना 'कलेसु' है।

अथवा समाधि की ओर मनस् का झुकाव कम होना 'कलेसु' है।

उचित

प्रजापालनानुकूल राजनीतिक निर्णय करने व वचनों का समन्वय सुनाने में वर्तमान कालिक औचित्य इस लिए कि सबको श्रम से बचाना है यदि ऐसा हो सका तो

गुरु, राजा देवता की प्रसन्नता सुलभ होगी उसके लिए अभीप्सित कार्यक्रम का निर्णय स्वकल्पित कल्पना के आधार पर करना संभव नहीं यतः उसमें निर्णीति अर्थ बाधित हो सकता है तदर्थ गुरुवचन ही नियामक है तभी राज्यपालन में बाधा नहीं होगी अतः उदासी श्रीराम 'उचित' कह रहे हैं।

अथवा प्रभुने पहिले (२४८।८) लोटकर जाने की मुनि से चर्चा की उस पर मुनि ने विश्रान्त्यर्थं चित्रकूट में रहने की अनुमति मांगी वह कार्य पूर्ण हुआ अभी मैथिलसमाज के द्वारा विश्रान्त्यर्थं उसी प्रकार की अनुमति प्राप्त करने की संभावना से उचित कहा है वैसे तो मिथिला समाज की विश्रान्ति प्राप्त हो चुकी।

अथवा भरतजीसमेत कौसल्याजी को चिन्तामुक्त करना है तदनुकूल अन्तिम कार्य पूर्ण करने का संकेत 'उचित' से हैं अर्थात् जिस निर्णय से श्रीराम भरतजी एवं कौसल्या माता राजा व देव प्रसन्न हों व समाज भी अपने घर की ओर जाने की चेष्टा 'उचित' का ध्वनितार्थ है।

सोई

उचितातिरिक्त की व्या क वृत्ति सोइ से वोध्य है।

कीजिअ

"कीजिअ" से निर्णय में देर न करना सूचित है।

ज्ञातव्य है कि 'किजिअ' कहकर प्रभु ने 'दीयता' के जैसे लोट लकार के प्रथम-पुरुष प्रयोग में अर्थशास्त्रीय शासनाधिकारस्थ प्रयोग का संकेत किया है।

नाथा !

'नाथा' ! की पुनरावृत्ति पूर्वसूचित 'कीजिअ' का भार श्रीराम पर न देने की सूचनार्थ है क्योंकि 'मतिठाढि' कहकर मुनिने स्वको भार से मुक्त होना सुनाया है।

हित

हितः-भविष्यत् में यहाँ समाज के आने की आवृत्ति न होना व चतुर्दशवर्षावधिक वनवास दोनो भाइयों के लिए मंगल होना 'हित' से ध्वनित कहा है।

ज्ञातव्य है कि अभीतक पुरोहित मंत्री, वसिष्ठजी सदा से रघुकुल का हित करते आए हैं अतःवे सुहृद हैं भविष्यत् में भी उनके द्वारा किया निर्णय 'हित' से समझाया है जो हितकरार्थक है।

सबही

भरतजी, पुरजन, माताएँ एवं समाजसहित राजा जनकजी आदि 'सबही' से ज्ञात हैं।

रौरे हाथा

राज्यसंरक्षण व तन्मन्त्र के माध्यम से मन्त्री एवं पुरोहित के अधीन रहने को कहा गया है जैसे श्रीकृष्ण ने सर्वज्ञ होकर भी मुग्धभाव से उद्धवजी को "त्वं हि नः परमं चक्षुः सुहृन्मंत्रार्थतत्त्ववित् अथात्र ब्रूह्यनुष्ठेयं श्रद्दध्मः करवाम तत्"[1] कहा है। वैसे ही प्रभु ने कौसल्याजी के सोच व राजक्लेश को समझकर "रौरे हाथा" से सारा भार गुरु वसिष्ठजी पर सौंपा है।

संगति :—एक ओर श्रीराम का संकुचित होना दूसरी ओर भक्तवश्य प्रभु की प्रार्थना सुनकर प्रभुकार्य में अपने को समर्पित करने वाले वसिष्ठजी के हृदय में अपनी मंत्रणा (अरध तजहि निगमनिचोरि) सफल हो रही है ऐसा समझकर हर्ष होना शिवजी सुना रहे हैं।

चौ० :-अस कहि अति सकुचे रघुराऊ। मुनि पुलके लखि सीलु सुभाऊ ॥७॥

भावार्थ :—श्रीराम ऐसा कहकर अतिसंकोच में आये व रामवचन सुनकर उनका शील स्वभाव देखकर मुनि गदगद हो गये।

अस

शा० व्या० :—४ से ६ तक की चौपाइयों में उक्त वचन 'अस' से बोध्य हैं।

अति सकुचे

अति संकोच की मुद्रा से पूर्वचोपाईयों में उक्त अर्थ के प्रति अनुपेक्षणीयता समझाई। आतिथ्य धर्म की दिवसत्रयात्मक मर्यादा बीतने से एक ही दिन सबको बिदा करने हेतु अवशिष्ट है अतः यथाशीघ्र पूर्वाण्ह में निर्णय कर सबको बिदा करना होगा अन्यथा 'उदासी' भंग होगी यही अनिष्टशंका अतिसंकोच का कारण है।

अथवा :—वसिष्ठजी, माताजी, जनकजी आदि के द्वारा समस्या का समाधान नहीं हो रहा है फिर भी गुरुजी के सामने पहुँचकर "उचित होइ सोइ कीजिअ" कहना अतिसंकोच का कारण है।

अथवा :—राजा दुष्ट नहीं है न तो वे सामाद्युपाय से कण्डय है फिर भी भक्ति रानी का प्रभाव दिखाने हेतु माया से राजा को यहाँ लाकर दातमि करना संकोच का कारण है।

पुलके

गुरुजी का पुलकित होना इसलिए कहा है कि श्रीराम ने अपनी भक्तवश्यता का शील स्वभाव यहाँ स्फुट किया है, अर्थात् एक तरफ श्रीराम की प्रभुता का स्मरण हो रहा है दूसरी ओर उनका शीलस्वभाव जो शिष्यानुरूप है उसे देखकर मुनि पुलकित हो गये।

---

१. भावत

विलखते राजा को बचाने की प्रक्रिया देखकर प्रभु के प्रति मुनि को भया हर्ष 'पुलके' स्फुट है।

अथवा :—'अरध तजहिं' न्यायरूप मन्त्रणा की कार्यान्वियनार्हता ध्यान में लाकर तनु में पुलकादि होना 'पुलके' का भाव है।

लखि सुभाऊ

बाल्यकाल से शील स्वभाव देखकर श्रीराम समता देखी उसी को यहां भी देखना 'लखि सीलसुभाउ' से ध्वनित है। शील स्वभाव व्याख्यात है।

संगतिः—"अरध तजहिं" को कार्यान्वित करने हेतु प्रभु ने बड़ी युक्ति से अपना अन्तर्यामित्व प्रगट कर अनुपम स्नेह प्रकट किया देखकर उनकी उपादेयता व श्रीराम के आदेश की अनुपेक्ष समझा रहे हैं इसलिए कि भक्तनुगत कर्मविद्या के और ब्रह्मविद्याधीन प्रजा एक मात्र प्रभु के आदेश का पालन करने की स्वीकृति दे चुकी है। उसका कारण सुना रहे हैं।

चौ० :—तुम्ह बिनु राम! सकलसुखसाजा। नरक-सरिस दुहु राजसमाजा ॥८॥

भावार्थ :—हे राम! तुम्हारे विना सुख का सब साज दोनों समाज के लिए नरक के समान हेय है।

तुम्ह बिनु

शा० व्या० :—मन्थराजी की प्रेरणा से कैकेयीजी ने माँगे वरदान को सुनते ही लोकानुरागवश में फंसकर राज्य लेने पर राजनीतिसहित त्रयी (पितृवचन प्रामाण्य) की प्रतिष्ठा का उच्छेदन देखकर श्रीराम ने अवध का स्वामित्व त्यागा जिससे लोगों को अवध में कामादिविकृतिरूप अशुचिता समझ में आई फलतः उनको सुखसाजके प्रति घृणा होना "तुम्ह बिनु राम" का भाव है। जिसका परिणाम है।

सुखसाजा

'सुखसाज' का अर्थ सुखत्वेन अभिमत सकलेन्द्रियमनोरमविषयसमूह 'सुख साज है।'

नरकसरिस

प्रभु के अभाव में संपर्ण अवधदेश अशुचि है ऐसी स्थिति में ब्रह्मोत्तरा प्रजा ने स्वदेशस्थित वर्तमान संपूर्ण विषयों से संपर्क न चाहना अर्थसिद्ध है यह जैसे नरक शौचाशौचव्यवस्था का परिणाम है जो योगसूत्रोक्ति (शौचास्स्वंगजुगुप्सा") के अनुसार विषयसुखविषयिणो जुगुप्सा व श्रीमद्भागवतोक्ति (यच्छौचेनामुतृप्यन्ति पितृः साग्नयः सुरः) के अनुसार पितृ अग्नि व देवताओं की तृप्ति है।

नरक से विशेष ज्ञातव्य

भरतसमाज ने ऋद्धि-सिद्धिप्रदत्त आतिथ्य सत्कार को स्वीकार न करने का कारण व्याख्यात है। प्रसंगात् यह भी स्मर्तव्य है कि "देवाःस्वार्थी न साधवः" उक्ति के

अनुसार प्रपत्तिदृष्टि भाग्यादिदत्त विषय से स्वार्थत्वरूप दोष देखकर भरतसमाज ने अवध स्थित विषयवृद को स्वीकार न करना 'नरकसरिस' से मननीय है।

दुहु राजसमाजा

"दुहु राज समाजा" से भक्तसमाज (अवध) व ज्ञानिसमाज (मिथिला) विवक्षित है।

ज्ञातव्य है कि जो दुःख श्रीरामराज्यत्याग से अवध में भक्तसमाज को हुआ है वही दुःख ज्ञानी राजा के समाज को भी हो रहा है। कारण वे भी श्रीराम के द्वारा किए राज्यत्याग से व्यथित होकर मिथिला को अशुचि समझ रहे हैं जो मित्रराष्ट्र की अभिन्नता के स्वभावानुरूप है जैसा कि श्रीमद्भागवत में कहे।

"निन्दां भगवतःश्रुत्वा तत्परस्य जनस्य वा। ततो नापैति यः कोपि सुकृताद्याव्यथश्च्युतः"[1] से स्पष्ट है।

संगति :—पूर्वसंगत्युक्ति के अनुसार अन्वयमुखेन उपादेयता सुनाने के साथ रामोऽयं आनन्दात्मा समझा रहे हैं इसलिए कि शिवजी ने उमाजी को रामोऽयं प्रभुः ऐसा ही अनुमान कराकर उनकी वास्तविकता का परिचय स्पष्ट न करने से ग्रन्थ में न्यूनता की प्रसक्ति भासित होती।

अथवा भरतजी के स्नेह का आलंवन स्वरूप समझा रहे हैं जो एक मात्र श्री राम ही हो सकते हैं।

दोहा :—प्रान-प्रान के जीव के जिव सुख के सुख राम।
तुम्ह तजि तात ! सोहात गृह जिन्हहि तिन्हहि बिधि बाम ॥२९०॥

भावार्थ :—हे राम ! आप प्राणों के भी प्राण हैं जीव का जीवन है और सुख के सुख हैं। आपको छोड़कर जिन्हें घर सुहाता है उनके लिए विधि विपरीत ही है।

प्रान प्रान के

शा० व्या० :—जीवित कौन नही रहना चाहता ? किन्तु वे प्राण भी प्रभु पर न्योछावर होते हैं, अर्थात् यदि प्रभु का कार्य प्राणदान से संपन्न होता है तो भक्त प्रभु से अधिक प्राण को प्रिय नहीं मानते क्योंकि वे (श्रीरामतत्त्व) ही पुरुषार्थ हैं प्राण तो साधनमात्र है। जैसे नारदपुराण के अन्तर्गत हेमांगद ने अपनी बलि देने में पिता के सामने सहर्ष स्वीकृति देना एकादशीमाहात्म्य में प्रसिद्ध है।

श्रीराम ने की मृगया में मृगरूप से भक्तों की प्राणाहुति व्याख्यात है।

जीव के जिव

श्रीमद्भागवत में "जीवः विवरप्रसूतिः" कथनानुसार मूलाधार में मातृ-पितृ संयोग से प्राप्त स्वतन्त्र उदर्याग्नि, भौतिकवाद में "जीव', से विवक्षित है अध्यात्मवाद में उक्त अग्नि का भी संचालक श्रीराम हैं वे जीवों के जीवन है।

१. श्रीमद्भागवत १०।७४।४०

स्मर्तव्य है कि विशिष्टाद्वैतदर्शनाभिमत से प्रथम जीवशब्द नियम्य का बोधक है उनको नियन्त्रित करने वाले श्रीरामरूप ब्रह्म हैं उन्हें ही 'जीव के जिव से' वसिष्ठजी ने समझाया है।

सुख के सुख

'सुख" से आनन्दरूप पर ब्रह्म का एक अंश है उसका अंशी आनन्द परब्रह्म "सुख का सुख" है।

राम

"राम" शब्दार्थ "सुखस्य सुखं, जीवस्य जीवः प्राणस्य प्राणः" है जो तत्तद्-वेदान्तसंप्रदाय के लिए अभिमत है। इस प्रकार अन्वयमुखे न श्रीराम के आनन्दत्व व अनुपेक्षणीयत्व का प्रकाशन पूर्ण है।

तुम्ह तजि

दोहा २।२८०।४ में कथित समाजोक्ति को अनूदित करते हुए वसिष्ठजी, प्राण के प्राण, सुख के सुख व जीवके जीव रूप ब्रह्म के वैमुख्य में पीड़ानुभव दर्शा रहे हैं 'तुम्ह तजि' से।

सोहात

"तुम्ह तजि" शीर्षकोक्त पीड़ा का अनुभव न होना "सोहात" है जिसका परिणाम यह कि गृहप्रियों का जीवन श्रीराम के प्रति की उपेक्षा में व्यर्थ ही है।

जिन्हहि तिन्हहि

श्रीराम जिस किसी वस्तु के स्वामित्व से दूर होते हैं उस त्यक्तस्वामिक वस्तु को अपनाने वाले व्यक्ति "जिन्हहि" से संबोधित है। यही भाव 'तिन्हहि" से भी लक्षित है।

बिधि बाम

'बिधि बाम' का निष्कर्ष यह कि श्रीराम ने त्यक्त स्वत्वक वस्तु को अपनाने वाले लोगों को देवों का संसर्ग न होकर भूतादि का संसर्ग प्राप्त होता है क्योंकि वे अशुचि स्थान पर रहते है यही भागवदुपदियता के बारे में उपेक्षा का परिणाम है जो 'विधिबाम' का प्रभाव है। इस प्रकार यहाँ "जो न छाड़ि छलु हरिजन होइ" और २८०।४ चौपाई की एकावाक्यता स्मरणीय है।

संगति :—"बिधिबाम" का निष्कर्ष बताते हुए सुख-धर्म आदि की नीरसता भक्तिसंस्काराद्बोधसहकृतवासना में गा रहे हैं। जैसे साहित्यानुमोदित रसास्वाद का गान एकमात्र सहृदय करते हैं।

अथवा :—सर्वात्मरूप श्रीराम की जिनसे उपलब्धि न होती हो वैसे संपूर्ण तत्त्वों की प्राप्ति का वैयर्थ्य बताकर श्रीरामभक्ति की पुरुषार्थता का गायन भक्तिरसास्वाद में मुनि कर रहे हैं।

चौ० :—सो सुखु, करमु धरमु जरि जाऊ। जहँ न रामपदपंकजभाऊ ॥१॥
जोगु कुजोगु ग्यानु अग्यानू। जहँ नहिं राम-पेमपरधानू ॥२॥

भावार्थ :—जहाँ श्रीरामचरणकमलो में प्रीति नहीं है वहाँ धर्म, कर्म, सुख दग्धप्राय हैं। जहाँ श्रीरामप्रीतिकी प्रधानता में योग व ज्ञान अंगभूत नहीं है वह योग कुयोग है तथा ज्ञान अज्ञान है।

सुखु

शा० व्या :—"सुखु" से यहाँ अर्थ एवं काम विवक्षित हैं जो श्रीरामप्रीति से असंपृक्त है।

करमु धरमु

"करमु" से लोकसंग्राहक नैतिकसदाचारादि सामान्यकर्म व "धरमु" से स्व-स्व के वर्णाश्रमविशेष आदि धर्म समझने हैं जो परलोकोद्देश्येन वेदोदित विधिमात्र से ज्ञात होते हुए भी रामाभक्ति से सर्वथा असंपृक्त हैं।

जरि जाऊ

"जरिजाऊ" का निष्कर्ष श्रममात्र में हैं जैसे मान्धातृतनय मुचुकुन्द राजाने अपने व्यतीत कालका वैयर्थ्य "ममैष कालोऽजित ! निष्फलो गतः राज्यश्रीयोन्नद्धमदस्य-भूपतेः" से स्फुट है क्योंकि सांसारिक सुख से पर्यवसित धर्मादि से निरतिशय दुःख-विरहित सुख (श्रीरामचरणप्रीति) कदापि प्राप्त नहीं होता।

जहँ

"जहँ" से रामभक्तिरहित सुख-कर्म-धर्मरुप अधिकरण समझना है। उसका अन्वय 'न' से है।

रामपेम पदपंकज

पदपंकजप्राप्ति में कुछ भी दुर्लभ न होने के साथ-साथ इच्छा का पिधानक होना विशेष है। यतः प्रभु के पदारविन्द, निरतिशय सुखरूप हैं उसकी प्राप्ति ही सुख, धर्म, कर्म का फल है।

जोगु कुजोगु ग्यानु अग्यानू

योगसूत्रोक्त अष्टांगयोग अथवा नीत्युक्त षडंगयोग, तथा मनस् की एकाग्रता ही "जोगु" है। इसे "कुजोगु" कहने का आशय यह कि सोच विचार कर धर्ममर्यादा में रहते मनस् को एक स्थान पर स्थिर किया जाय तथापि भक्तिशास्त्र की दृष्टि से

श्रमकर्ता योग का श्रीराम के आश्रय के बिना अशुचिता सेन शून्य न होना "कुजोगु" है यतः वैसे कुयोगी मनोवश होते हैं।

ग्यानु :—नैष्कर्म्ययुक्त आत्मज्ञान ही 'ज्ञान' है यदि वह श्रीरामपदपंकज-प्रीति से विरत होता है तो उसने अज्ञान ने आवृत होना ही है अतः 'ग्यानु' को 'अग्यानु' कहा है।

रामपेम परधानू

'जहं न' में कथित न का प्रतियोति योगी "रामपेम परधानू" है। उससे से श्रीरामप्रीति की अत्युच्चतम (पुरुषार्थ) अंगिता बताई है यतः उससे अन्य कोई प्राप्तव्य वस्तु नहीं रहती इसलिए कि भक्तों के लिए मोक्षसुख से बढ़कर रामपद प्रीति है।

संगति :—दोहा २६९ में कही भरतोक्ति को स्वामि-सेवकभाव के बिना सुखानुपपत्ति के द्वारा स्पष्ट करते हुए "उचित होइ सोइ कीजिअ नाथा" का उत्तर दे रहे हैं। जोसमें श्रीराम का साक्षित्व व नियामकत्व है।

चौ० :—तुम्ह बिनु दुखी सुखी तुम्ह तेही। तुम्ह जानहु जिय जो जेहि केही ॥३॥
राउर आयसु सिर सबहीं के बिदित कृपालहि गति सब नीके ॥४॥

भावार्थ :—हे राम! तुम्हारे विना सब दुःखी है। तुमसे ही सब सुखी हैं। अथवा जो सुखी हैं वे तुमसे ही हैं। जिस किसी के मनस् में जो कुछ है वह तुमसे छिपा नहीं है। सबको तुम्हारी आज्ञा का पालन करना है। आप जैसे कृपालु को सबकी गतिविधि का पता है।

तुम्ह बिनु (नियाककत्व)

शा० व्या० :—स्वामित्व से विलगकर व दण्डधारणकर्तृत्व त्यागकर श्रीराम का वन में निवास करना "तुम्ह बिनु" का स्पष्टीकरण है। फलतः अवध ही नहीं सभी प्रपन्न भक्त या ज्ञानी रक्षणविहीन हो गये हैं क्योंकि सब विद्याएँ भक्ति की छत्रछाया में अंगभाव में रहती अपना पृथगस्तित्व नहीं मानतीं।

दुखी

रक्षक का अभाव होने से भक्तों एवं ज्ञानियों को सप्तप्रकृतिकराज्य को परस्परोकारिता के अभाव में शिरश्छेद (स्वामिविच्छेद) जनित दुःख जैसा दुख का अनुभव होना "दुःख" है। जैसा कि "भा मिथिलेस हि हृदयं हरासू"[1] से स्पष्ट है।

सुखी तुम्ह

दुर्गवास करते हुए भी स्वामी ने ६ प्रकृतियों के साचिव्य में सुखी का अन्वय तेही से है। स्वामी तुम्ह से विवक्षित है।

---

1. २।२७१।२

तेही

तेही :—स्वामी श्रीराम के सान्निध्य से विशिष्ट भक्त प्रपन्न ज्ञानी वर्णाश्रम तच्छद्वार्थ है। आत्मगुण संपन्न स्वामी को पाकर अमात्यादि छओं प्रकृतियों ने सर्वथा चिन्ताप्रजागर से मुक्त हो त्रिवर्गसमृद्धि 'प्राप्त करना प्रकृतिसुख हैं वैसा हीं सुख पाने वाले जन तेही जन से व्यक्त है इस अन्वयव्यतिरेक को समझकर श्रीराम की चाह में "आवहि बहुरि रामुरजधानी" प्रस्ताव स्पष्ट है अतः 'बिनु सियराम फिरब भल नाहीं' की मनोवृत्ति में दोनों समाज "सखी तुम्ह तेही' की धारणा में बैठा हैं।

तुम्ह जानहु जिय (अन्तर्यामित्व)

तुम्ह :—भक्तों के साचिव्य से संपन्न अन्तर्यामी श्रीराम 'तुम्ह' शब्दार्थ है।

छओं प्रकृतियों की अभिलाषा की उत्तमता व अधमता समझकर अनुग्रह तथा निग्रह करने की शक्ति दुर्गवासी श्रीराम को कैसे होगी ? इस प्रश्न का उत्तर "तुम्ह जानहु जिय" से दे रहे हैं, अर्थात् स्वयं श्रीराम अन्तर्यामी हो सबके हृदय में निवास करते हुए सभी जीवों को नियम्य बनाते रहते हैं इससे श्रीरामकी निग्रहशक्ति निर्विवाद है।

प्रभु के नियामकत्व में जीवरक्षण

यदि नीति व धर्म को समझकर प्रभुसेवा में जीव तत्पर रहते हैं तो उनके अन्तः रहने वाले श्रीराम भी सुखी होते हैं यदि प्रभु के आदेश के विपरीत जीव कार्यरत होते हैं तो श्रीराम उदासीन हो रक्षण के भार से मुक्त होते हैं उसका परिणाम यही कि कामादिविकृतियों का आतंक बढ़ता रहता है फलतः जीव सदा दुःखी ही रहते हैं यही २९० से ३ चौपाई तक का भाव है।

जो जेहि केही

जो :—त्रैलोक्यवर्ती सभी व्यक्ति 'जो' से विवक्षित है। 'जेहि' से उनका आधारभूत शरीर समझना है।

रोउर आयसु

त्रैलोक्यवर्ती संपूर्ण जीवों ने नियम्य हो नियामकरूप में रहे श्रीराम का आदेश मानना 'राउर आयस सिर' से ज्ञातव्य है।

अथवा 'राउर आयस सिर' सिद्धान्त को कार्यान्वित करने की स्थिति को ध्यान रखते हुए मुनि का वर्तमान में यह कहना है कि हे श्रीराम ! आपके स्वामित्व के प्रति अनुरागी होते हुए प्रभु (स्वामी) के आदेश को मानने में दोनो समाज तत्पर है इस प्रकार सर्वलोकनमस्कृतत्वसमन्वित राजपदाधिष्ठातृत्व समझाया है।

अथवा :—'राउर आयसु' से गुरुजी ने 'गे नहाइ'[1] की व्याख्या में उक्त भेदनीति का समाधान किया है। आशय यह कि यद्यपि भेदनीति का प्रयोग आसन्न है जो कि वनवास में महान् विघ्न है तथापि सबका एकमत होना समझकर गुरुजी ने कहा कि

१. २।२९०।३

प्रतिव्यक्ति आपके आदेशपालन में ही अपना हित समझ रहा है अतः आप जो निर्णय सुनायेंगे वह सर्वमान्य होगा।

बिदित कृपालहिं

"बिदित कृपालहिं" से मुनि ने श्रीराम की सर्वज्ञता व्यक्त की है और यही कहा कि निश्छलभाव में रहे भक्त ज्ञानी एवं दोनो समाज की वश्यता को समझकर भी स्वामित्वस्वीकृति न देना भक्तिशास्त्र एवं राजनीतिसंविधान के विरुद्ध है। फलतः कृपालुता में अलीकत्व की आपत्ति होगी। प्रतिजीवों का भला कृपालु चाहते हैं तो उन्होंने प्रमाणों के सहारे कृतिसाध्य वलबदनिष्टाननुवन्धी हितसाधन तत्त्व ही समझाने होंगे तभी 'पुंसोत्यनुग्रहोह्येष भवद्भ्यायपुंज्यते'[1] उक्ति चरितार्थ होगी।

अथवा दोहा २।२६९ में उक्त मान्यता को राउर आयसु सिर सबहीं के' से अनुहित करके अनन्तर वसिष्ठजी श्रीराम के कहे 'उचित होइ सोइ कीजिअ' के उत्तर में अपनी ओर से स्वामित्वग्रहण की प्रेरणा देना उचित नहीं मानते क्योंकि सर्वज्ञ श्रीराम अन्तर्यामी प्रतिप्राणी की भलाइ को जानते है।

गति

प्राणिमात्र का हिताहित उनके सदसद्विचार उनकी चेष्टा या कुचेष्टा 'गति' से ज्ञातव्य है।

सब नीके

क्रियाकलायों की जानकारी में भ्रान्ति न होना 'सब नीके' का भाव है।

इस प्रकार भरतजी के गूढ स्नेह के आलंबन का स्वरूप निरूपण पूर्ण है। उसमें मुनि की परमभक्ति भी निर्विवाद रूप में ज्ञात हो रही है।

२६९ में उक्त "मिटि अवट अबरेब" वचन की एकरूपता में जन के प्रतिनिधि गुरुजी भक्ति में 'राउर आयसु' सुनाकर श्रीराम के प्रश्न का समाधान करना मननीय है।

दोहा २।२५७ के तात्पर्य को 'तुम्ह जानहु जिय जेहि केही' से निवेदन करने की सार्थकता यह है कि अभी अवधराज्य का राज्याग सुनकर सप्तमप्रकृति भूत मित्र रूप में मिथिलासमाज नरेश के साथ उपस्थित है उसमें प्रतारणा, दंभ, छल आदि के अभाव की स्थिति की जानकारी 'सबनी के' से स्पष्ट है।

संगति :—जो होना है उसको सुनाकर प्रभुको आश्रम की ओर जाने के लिए कह रहे हैं। अपनी मन्त्रणा प्रभुको मान्य है सोचकर मुनि हर्ष में आए।

चोपाई :—आपु आश्रमहि धारिअ पाऊ। भयउ सनेहसिथिल मुनिराऊ॥ ५॥

भावार्थ :—आप आश्रम की ओर पदार्पण कजिए ऐसा कहकर मुनिराज प्रेमविव्हलता में शिथिलगात्र हो गए।

---

१. भागवत १०।४१।४८

धारिअ पाउ

शा० व्या० :—'उचित होइ सोइ कीजिअ नाथ' के उत्तर में उपर्युक्त स्नेहानुभावात्मक गदगद वाणी सुनकर यह दर्शा दिया कि जैसे अवध के स्वामित्व को सहर्ष त्यागा वैसे ही भक्तवश्यता में स्वयं वत्सल होकर अवध स्वामित्व पर स्वीकृति (पादुकादान) देकर भक्ति विधान पूर्वक पितृवचनों का समन्वय करते आदेश देने हेतु लौटने की प्रार्थना "धारिअ पाऊ" से ध्वनित किया है। गुरुजी के समीप श्रीराम के आने का नीतिसम्मत विशेष प्रयोजन ६ वीं चौपाइ में 'तब रामु सिधाए' शीर्षक व्याख्या में 'द्रष्टव्य' है।

सिथिल सनेह मुनिराऊ

ज्ञातव्य है कि आरंभ में 'मुनि पुलके' कहकर शिवजी ने उपसंहार में सिथिल सनेह' से यह ध्वनित किया कि मुनि के सभी उक्त वचन स्नेह पूर्ण से हैं जिसकि भरतजी के बारे में उनके स्नेह में दर्शाया है। परिणाम यह कि मुनि, स्नेह रूप उपाधि में आकर अपनी ओर से कोई निर्णय करना इष्ट नहीं मानते अपितु दोनों भाइयों के चरित्र देखकर मुनि भरत भक्ति का स्वाद के बुभुक्षु हो सामाजिक रूप में देखना चाहते हैं।

अथवा प्रिय दर्शनप्रयुक्त आवेग में श्रीराम अपने औदासीन्य को छोड़कर प्रातःकाल में आए हैं देखकर दोहा २।२९०।७ में कहा स्नेह अभी राग को प्राप्त हो चुका है समझाने हेतु शिवजी 'सनेह सिथिल' कह रहे हैं।

संगति :—अग्रिम सभा में किये किये जानेवाले निर्णय के पूर्व जनकजी (नृपनय) समेत भरतजी का मन्तव्य मन्त्रियों ने सुनना होगा यतः रात में राजा ने मंत्रणा करते हुए अभी तक की स्थिति पर किसी न किसी निर्णय बिन्दुको पर अपने मनस् में स्थिर किया ही होगा परिणाम में मंत्रियों में मित्रवर्ग का अनेकमत्य प्रगट न हो सोचकर मुनि का राजा जनकजी कि समीप जाने के साथ श्रीराम की आज्ञा का कार्यान्वयन मुनिने करना शिवजी बता रहे हैं।

अथवा वसिष्ठ श्रीरामसंवाद से दो तथ्य समझ में आ रहे हैं। एक ससमाज को क्लेश से बचाना, २ परिवार सहित भरतजी से वनवासदुःखारिता को निरस्त करना उनमें ते जनकजी को सताने वाली पीड़ा (विलखाई) जब तक नहीं जाएगी व जनकजी अपना संकल्प (२८९।४) नहीं बदलेंगे तब तक श्रीराम उत्तर नहीं सुनायेंगे ऐसा सोचकर जनक पीड़ा को निरसमार्थ गुरुजी महाराज के समीप में जा रहे हैं।

चौपाई :—करि प्रनामु तब रामु सिधाए। रिषि धरि धीरि जनकपहिं आए ॥६॥

भावार्थ :—तब श्रीराम प्रणाम कर चले गए। धैर्य धारण कर वसिष्ठजी जनकजी के पास आए।

करि प्रनामु (उत्तरमन्त्रिसे राग)

शा० व्या० :—मुनि से अकेले में मंत्रणा कर साधुमत, लोकमत की यथार्थता समझना उनकी उत्तरमंत्रिभक्तिमत्ता का अनुमापक है उसके अनुगमन को "करि प्रनामु" से प्रगट करने के साथ गुरुजी से बिदा होने का शिष्टाचार, भी स्फुट किया है।

रामु सिधाए (नीतिसम्मम आल्हाद)

सर्वज्ञ होते हुए भी वसिष्ठजी से मंत्रणा कर श्रीराम के लौटने में उन्होंने राजनीतिसिद्धान्त स्थापित किया मालूम होता है यह कि स्वमण्डल में एकवाक्यतात्मक विश्वासरूप मैत्री रहती है तो वह न्यायपालक राजा पूर्णचन्द्र के समान आल्हादकारक होता है। आगे कहना यह है कि अभी स्वप्रकृतियों में एकवाक्यता न होने की स्थिति में वनवास करने की प्रतिज्ञा का हठ करते हैं तो श्रीराम का नीतिसम्मत आल्हादकत्व नहीं होगा इस हेतु से प्रभु ने गुरुजी से मंत्रणा की उनके द्वारा सबकी एकवाक्यता समझी तदनन्तर आश्रम की ओर श्रीराम ने प्रस्थान करना नीतिसारीय निम्नवचन का स्मारक है।

'विराजते साधुविशुद्धमण्डले शरच्छशीव प्रतिरंजयन् प्रजाः'[1]।

धरि धीर (समाधि हटने की चिकित्सा)

समय-समय पर अन्तःकरण में होनेवाली विपरीत या विरुद्धचित्तवृत्तियों का प्रसंख्यान करने में समर्थ होने पर भी मुनि भरतजी की अपार महिमा का स्वाद लेते 'मति ठाढ़ी' अवस्था में जैसे पहुँचे वैसे ही श्रीराम की वत्सलता पर उनके प्रति उभड़े स्नेह में विभोर हो समाधि की ओर मनोवृत्ति को ले जाने की स्थिति में आ पहुँचे तब मुनि ने स्वयं वर्तमान दिवसीय कर्तव्य पर ध्यान देकर चिकित्सा रूपमें धैर्य धारण किया है।

जनकपहिं (पृथक् विचार सिद्धान्त)

श्रीराम के आशय व पितृसंकोच को अवगत कराने के लिए मुनि राजा जनकजी के समीप पहुँचे हैं। पृथक् होकर निर्णय करने का यह प्रकार राजनीतिसम्मत मत में बताए पृथक्-पृथक् विचार का सूचक है।

आए (राजा का वमन)

ज्ञतव्य है कि २।२९६।८ में उक्त 'राउर राय' शीर्षक को सोचकर मुनि का राजसमीप में आना 'आए' मे बोद्ध हे।

अथवा 'बहुरहिं' (२।२८९।४) समझने वाले राजा को दमित करने हेतु श्रीरामने अपनाए उपाय को कार्यान्वित करने के लक्ष्य मे नीतिविद्या (वसिष्ठ) का ब्रह्मविद्या (जनक) के सान्निध्य मे आना आये हैं से चिन्त्य है

---

१. नीतिसार विग्रहविकल्प।

संगति :—प्रातःकाल के आन्हिक से निवृत होते ही स्वयं मुनि ने जनकजी के सभीप पहुँचने का कारण ग्रन्थकार सुना रहे हैं।

चौपाई :—**रामबचन गुर नृपहि सुनाए। सील सनेह सुभायं सुहाए ॥ ७ ॥**

भावार्थ :—गुरुजी ने श्रीराम का कथन जनकजी को सुनाया जिसमें श्रीराम का शील, स्नेह स्वभाव सुशोभित था।

रामबचन

शा० व्या० :—ज्ञातव्य है कि 'रामवचन' का आशय शास्त्र-नीति-भक्ति-सम्मत कर्तव्य का बोध कराने में हैं। फलतः उसमें सबकी एकवाक्यता रहना व भेद को अवकाश प्राप्त न होना निर्णीत है।

अथवा :—'रामवचन' से दोहा २।२९०।४ से दोहा २।९९०।६ तक के वचन स्मर्तव्य हैं।

सुनाए (दमनकारण)

रामवचन सुनाना मात्र ही राजा को दमित करने मैं सफल हो गया यह नीतिमानों के लिए मननीय हैं।

सील सनेह सुभायँ सुहाए

सील :—"सील" से श्रीराम का कृतक व स्वाभाविक विनय ज्ञातव्य है।

सनेह :—श्रीराम की भयशंकारहित वत्सलता 'सनेह' है।

सुभायं :—"सुभायं" से भक्तवत्सलता व सूर्यकुल में स्थापित परंपराप्राप्त गुणों की अनुस्यूतता स्मर्तव्य है।

सुहाए :—से लोकावर्जकता समझाई। शीलादिका अन्वय बचन से स्पष्ट है।

संगति :—प्रभु ने अपने ऊपर दिये भार को वसिष्ठजी ने निणयिकरूपमें अतिथि बनकर आए राजा जनकजी पर सौंपना बता रहे हैं।

चौपाई :—**महाराज ! अब कीजिअ सोई। सबकर धरमसहित हित होई ॥८॥**

भावार्थ :—हे महाराज ! अब आप वही कीजिए जिसमें सबका धर्म व हित समन्वित हो।

महाराज

शा० व्या० :—"महाराज" संबोधन से जनकजी की आप्तता, अनूचानता व मंत्रणा-योग्यता ध्वनित है।

कीजिअ

दोहा २।२९०।७ की व्याख्याके अनुसरण में 'कीजिअ' का भाव आदेश नहीं अपितु परिस्थिति को देखते हुए वसिष्ठजी ने 'कीजिअ' कहा है जो प्रार्थनापरक है इससे सेवकु राउ करम मन वानी' (२८५।४।७) में उक्त सहाय के प्रति वसिष्ठजी का अनुमोदन प्रगट हो रहा है।

सबकर

राजा रक्षक होने से उसके निर्णय व अनुशासन वैसे होने चाहिये जिनको सुनकर प्रति व्यक्ति को स्वधर्म के साथ अपना हित ज्ञात हो ऐसा समझाने के लिए 'सबकर' कहा है।

धरमसहित

भारतीय राजनीति ने वर्णाश्रम समाज में शांतिस्थापनार्थं प्रधानतया क्षात्र-धर्मरूप सामान्य धर्मों को अपनाते हुए संपूर्ण विशेष धर्मों की स्थापना पर बल दिया है क्योंकि उस पर आघात होगा तो त्रैलोक्य कभी निर्भय नहीं बनेगा इस तत्व को ध्यान में रखते हुए ऋषि वसिष्ठजी ने उद्देश्यरूपेण हित की चर्चा करते हुए तद्विशेषण-तया "धरम सहित" कहा है।

हित होई

"हित" शब्द उद्देश्यपरक है उसका अर्थ निर्बाध अत्युच्चतम त्रिवर्गसमृद्धि व परलोक है। यह इसलिए कहा है कि प्रस्तुत समस्या यदि असमाहित ही रहेगी तो चारों भाईसमेत सम्पूर्ण समाज का हित होना सम्भव नहीं अतः गुरुजी "हित होई" पर बल दे रहे हैं।

संगति—संम्पूर्ण समाज का हित करने की योग्यता वसिष्ठजी राजा जनक जी में व्यक्त कर रहे हैं।

दोहा:—**ग्याननिधान सुजान सुचि धरमधीर नरपाल।**
तुम्ह बिनु असमंजससमन को समरथ एहि काल ? ॥१९१॥

भावार्थ:—गुरुजी कह रहे हैं कि आप ज्ञान के भण्डार, सुजान, पवित्र, धर्म-धीर राजा हैं। आपके बिना इस समय असमंजस (क्या करें ? क्या न करें शंका ?) समस्या को शांत करने में कौन समर्थ हो सकता है ?

ग्याननिधान

शा० व्या०—समस्यासमाधानहेतु निर्णय करने का आधार नीतिशास्त्र व भक्ति आदि से उपबृहित अष्टादश या चतुर्दश विद्याएँ हैं यतः वे ही अन्धता दूर करने में सामर्थ हैं उनसे अर्थतः प्राप्त ज्ञान का भण्डार "ग्याननिधान" से समझना है।

अथवा :—ज्ञान व विराग दोनों राजशरीर में सदा विद्यमान होने से राजा को 'ग्याननिधान' कहा है।

सुजान

शक्ति देशकालसंयुक्तस्थिति देखकर किए जाने वाले अपूर्व प्रयोगविशेष का इदमित्थंरूप से प्रतिभान होना "सुजान" है।

सुचि

विषयों के सम्बन्ध में विरुद्ध प्रति पत्ति (अप्रतिबुद्धहमान) ज कामजक्रोध उभय-विध व्यसनों से सावधानता हेतु अपेक्षित गुण "सुचि" से समझना है।

धरमधीर नरपाल

"धरमधीर" से जनकजी का धर्मविजयित्व व्यक्त कर रहे हैं जो विश्वासाधायक व प्रजानुरागोत्पादक है। "नरपाल" से सम्यक्पालनपरत्व व परपुरंजयत्व व्यक्त कर रहे हैं।

तुम्ह बिनु

जनकजी "तुम्ह" से बोध्य हैं। राजा का उपस्थित्यभाव "बिनु" है जो अवध में घटित घटनाऽऽरंभ से लेकर चित्रकूट में घटित सभाद्वय तक स्थिर था अतएव श्रीराम-राज्योत्सवप्रतिबन्धक शब्द प्रमाणों में सामञ्जस्य न होना 'बिनु' से व्यक्त है।

असमंजससमन

आशय यह कि कौसल्याजी लक्ष्मणजी व भरतजी को सन्तुष्टि देने हेतु समर्थ निर्णय न होने में एक ओर संपूर्ण पितृवचनों का तात्विक असमन्वय खडा है दूसरी ओर भक्ति का संविधान व भक्त भरत तथा श्रीरामगृहीत मुनिव्रतसकल्प के साथ उनका राज्य न लेने के संवन्धी दृढ़निर्णय खड़ा हैं जो एक दूसरे का विरोधी हैं यही असमंजसता है उसका शमन 'असमंजस समन' से समझा रहे हैं।

को समरथ (जनकागमन की सार्थकता)

सामंजस्यशमन के लिए ब्रह्मविद्, नीतिमान्, धार्मिक, प्रतिभासम्पन्न की अपेक्षा समझाने हेतु "को समरथक" कहा है। इससे वसिष्ठजी, मीमांसाभिमत अपूर्व प्रयोगविधि (देश, काल, विधान वैचित्र्य) की ऊह्यता समझा रहे हैं इसलिए कि प्रस्तुत असामंजस्य सदृश असामंजस्यके शमनोपयो मे निर्णेतव्य अपूर्व प्रयोगविधि की अपेक्षा अभीतक सूर्यवंश में उपस्थित नहीं हुई थी।

अथवा :—व्यवहाराध्याय में विवाद के उपशमनार्थ नियामकरूप में उक्त निर्णाय-पद्धति के अनुसार ऋषियों के सामने धर्म, व्यवहार, या चरित्र नियामकतया यदि प्राप्त नहीं होते हैं (जिनके बल से समस्या समाधान हो सके) तो उस दशा में व्यवहाराध्याय में राजशासन को ही नियामक मानने का विधान है। अतः "को समरथ" ? कहकर जनकजी की उपादेयता बताई। परिणामतः वसिष्ठमुनि ने जनकागमन का अवैयर्थ्य समझाना मननीय है।

ज्ञातव्य है कि अपनी मंत्रणा से 'अरथ तजहिं' (२५६।२) सुनाकर गुरुजी ने भरतजी के सामने मंत्रित्व व्यक्त किया पर उसे सुनकर महारानियों को प्रमोद नहीं हुआ तदर्थ ही "को समरथ" ? कहा है।

एहि काल (स्वस्थता सूचकता)

यदि जनकजी विवेक में आकर बिलखना वन्द कर स्वस्थ हो जाएं तभी समस्या-प्रशमन हो सकता है अन्यथा 'बहुरहिं' (२।२८९।४) के रहते ऐन्द्रिमाया समाज का उच्चाटन नहीं करा सकती अतः जनक जी ने स्वस्थ होने का काल "एहि काल" से बोध्य है।

संगति :—"को समरथ" ? उत्तर दोहा २।२९२।६ में व्यक्त होगा उसकी मध्यावधि में गुरुजी के आकांक्षित प्रयोगविधिनिर्णय के प्रति जनकराजा ने सोची अपनी असमर्थता शिवजी सुना रहे हैं।

अथवा मुनिवचन से श्रीराम की ममता अपने (जनक जी) प्रति परखते ही ज़नक जी पर हुआ उसका परिणाम सुना रहे हैं जो 'भल नाही' में व्यक्त होगा।

चौ० :—सुनि मुनिवचन जनक अनुरागे। लखि गति ग्यानु विरागु बिरागे ॥१॥

भावार्थ—मुनिवचन सुनकर राजा को अनुराग में भरते देख ज्ञान व वैराग्य विराग में आये।

सुनि मुनिबचन

शा० व्या० :—महामंत्री ब्रह्मपुत्र वसिष्ठजी के महावाक्यतात्पर्य को समझना "सुनि" का भाव है।

"मुनिवचन" से दोहा २।२९१।८ से दोहा २।२९१ तक के वचन ज्ञातव्य हैं।

अनुरागे(एक दृष्टि)

भरतयाचितवर (२।२६९) की वश्यता (२।२६४) में रहते हुए भी श्रीराम ने तत्काल न लौटना, अवध को अमात्यादिषट्प्रकृतिसम्पन्न बनाना, वनस्थ प्रपन्नों व भक्तों को सेवावसर देना आदि जानकर जनकजी अनुरक्त हो गये जो राजा के अच्युतभावसहित नैष्कर्म्यज्ञान की परम शोभा है।

अथवा "विरागे" शीर्षकोक्त तीन अनुराग अनुरागे से विवक्षित हैं। अथवा वक्ष्यमाण "बिरागे" सहकृत "अनुरागे" से शिवजी का अभिप्राय जनकराजमृत्यु के आसन्नता की ओर है अर्थात् जिस प्रकार दशरथजी परलोक सिधार गए उसी प्रकार जनकजी भी अनुराग में देहत्याग कर सकने में हैं।

अथवा बिलखना समाप्त होते ही साथ कर्मकाण्डसमेत,श्री राम की ममता अपने पर है ऐसा सोचकर व उसके बहाने भरतजी की तरह अपने में विभूतिपात्रता प्रभु से प्राप्त होने का अनुमान कर राजा नें घोषित सीतापतिदिग्विजय व उसी दृष्टि से लक्ष्मणजी साथ जाना ऐसा राजा ने समझा इसलिए जनकजी का श्रीराम के प्रति अत्यधिक राग होना "अनुरागे" से ध्वनित है जो स्नेहार्दि की उत्तरावस्था में स्फुट होता है।

लखि गति

राजा के पूर्व चरित्रों से यह स्पष्ट हो चुका है कि विवाहादिसमय से ही उनका ज्ञान-वैराग्य आता जाता रहा है इस पौनःपुन्य से अभी यह समझना है कि ज्ञान व वैराग्य दोनों प्रभुप्रीतिप्राप्ति के प्रति न प्रतिबध्य हैं न प्रतिबन्धक है किंबहुना वे उक्त प्रीति के संवर्धक हैं। निष्कर्ष यह कि जनकजी के मनस् में श्रीरामप्रेम को उभरे रूप में ज्ञान व वैराग्य ने देखना ही "लखि गति" है।

ग्यानु बिरागु

ग्यानुः—निमिपरंपराप्राप्त औपनिषद् आत्मालंबनज्ञान 'ग्यानु' से व्यक्त है।

बिरागु :—मिथ्याज्ञानप्रयुक्ततृष्णा का अभाव 'बिरागु' से व्यक्त हैं

बिरागे (राग प्रवेश)

ज्ञातव्य है कि यहां बिरागे का कारण राज शरीरान्तर में तीन प्रकार के राग प्रविष्ट होना चाहते हैं जैसे श्रीराम एवं उनके भक्तों के प्रति सम्मिलित दूसरा श्रीराम (मूर्तिमान्) मात्र के प्रति व तीसरा भक्तों के प्रति अनुराग ऐसे तीन अतिथि राजशरीर में प्रवेश करना चाहते हैं देखकर उनको प्रतिबन्ध न हो इसलिए औपनिषद आत्मालंबन ज्ञान एवं तृष्णाभावात्मक वैराग्य का स्वयं ही शरीर से कुछ समय के लिए तिरोहित होना "बिरागे" का भाव है।

संगति :—ज्ञानविरागासंसक्त रागो के अनुभाव व विवेकारभ कह रहे हैं यतः उन उपाधि की वशता में आकर भी राजा जनकजी का मृत्यु से बचना समझाना है।

चौ० :—सिथिलसनेह गुनत मनमाही। आए इहाँ कीन्ह भल नाही ॥२॥

भावार्थ :—तब राजा शिथिलमात्र हो यह विचार करने लगे कि यहाँ (चित्र-चूम्भे) आकर ठीक नहीं किया।

सिथिल सनेहँ

शा० व्या० :—रागे का परिणाम सिथिल है।

राजाजनकजी का स्नेह उनके व सुनयनाजी के संवादों में व्यक्त हो चुका है।

"सनेहँ" की पुनरुक्ति से परिवारसमेत श्रीराम और भरतजी में रही अभिन्न मैत्रीस्मृति होना समझना है।

गुनत

जनकजी ने चित्रकूट में अभी तक के प्रवास में जो कुछ सुना व देखा है वही "गुनत" का विषय है।

कीन्ह भल नाही (राजविवेक)

ज्ञातव्य है कि समस्या पहिले से ही हल हो चुकी है उसको न समझकर अतिचिन्त

में व्याकुलताविशिष्ट हो आने का वैयर्थ्य "कीन्ह भल जाहीं" है न कि श्रीरामसेवा में सेवक हो आए जनकजी के आगमन का वैयर्थ्य है।

अथवा राग समझने हेतु तद्योग्य सुख-दुःखात्मक दोनों स्थिति समझनी होती है इसलिए कि दोनों स्थिति में रागी को सुख हीं होता रहता है। अभी तक जनकजी की सुखमयस्थिति भरतचरित्रवर्णन से स्फुट है अभी दुःखमयास्थिति ग्रंथकार ने "भल नाहीं" से गाई है, अर्थात् चित्रकूट में राजा ने खागमन अनुचितं है ऐसा समझना ही उनके लिए दुःख मय स्थिति है यह दुःख पूर्वनिरूपित क्लेश (२।२९०।५) की भाति है किन्तु राजाजनकजी उसको सुख समझ रहे हैं क्यों कि अभी राजशरिर में प्रविष्ट राग में भी राजा विवेक कर रहे हैं जो अग्रिम चौपाइयों में व्यक्त होगा फलतः दशरथरागतुल्य राग में आने पर भी जनकजी को सुखभान हो रहा है जो मृत्यु की अवस्था से बचाने में सहायक है यही राग का फल है। यह प्रथम विवेक है।

संगति :—कुछ क्षणों के लिए लुप्तप्राय होने पर भी पुनः जगे हुए ज्ञान वैराग्य ने जनकजी को देहत्याग से बचाने के लिए उनके हृदय में विवेक का उद्भव कराया उसके सहारे राजा ने मानसिक चिन्तन आरम्भ कराना शिवजी सुना रहे हैं।

चौ०—रामहि राय कहेउ बन जाना। कीन्ह आपु प्रिय प्रेमप्रवाना ॥३॥

भावार्थः—राजा दशरथजी ने श्रीराम को वन में जाने के लिए कहा व तत्काल प्रिय प्राण को सर्मपित कर श्रीरामप्रेम की वास्तविकता स्फुट की।

रामहि

शा० व्या० :—नीतिमान्, त्रयीवचनप्रमाणपरतन्त्र दाशरथी 'रामहि' से बोध्य है।

रायँ

पूर्वप्रतिज्ञातार्थानुबन्धी कैकेयीयाचितवरदानशील श्रीरामानुरक्त दशरथजी "रायँ" से बोध्य हैं।

कहेउ

श्रीरामवनवासविरोधिवंचनानुच्चारणं 'कहेउ' का भाव है जिसकी पुष्टि में दोहा २।२४५।१३ ज्ञातव्य है।

बन जाना

कैकेयीजी की उक्ति ('देनकहेहि मोहि दुइ बरदाना') सुनकर राजा दशरथजी ने रागप्रयुक्तमृत्यु से वचाव करने की योग्यता होने पर भी धैर्य धरते हुए सत्य नहीं त्यागा यहीं 'बनजाना' का भाव है।

कीन्ह आपु

वन में श्रीरामगमन के बाद राजा ने अपना कर्तव्य प्रगट करना 'कीन्ह आपु' है उसका अन्वय 'प्रिय प्रेम प्रवाना' से है।

प्रिय प्रेम प्रवाणा (प्रेम की वास्तविकता)

'प्रिय' से श्रीसीताराम, व लक्ष्मणजी समझने हैं क्योंकि तीनों ने आजीवन पित्राज्ञा का उल्लंन नहीं किया है जिससे तीनों की निष्कपट कठिनतम सेवावृत्ति प्रगट है। उनका प्रेम प्रियप्रेम है उसकी यथार्थता रखना 'प्रियप्रेमप्रवाणा' है।

ज्ञातव्य है कि कैकेयीजी को वर देने के बाद राजा यदि जीवित रहते तो लोग आशंकित हो सकते थे कि राजा ने धर्म की आड़ में अपनी महत्ता को सुरक्षित रखने का प्रयास किया है तथा महर्षि विश्वामित्रजी के सामने श्रीराम के प्रति अनुराग दिखाना उनका प्रदर्शनमात्र था उस शंका का निरसन 'प्रेम प्रवाना' से हुआ है जिसका अर्थ प्रेमकी वास्तविकता है जो विप्रलम्भ से परिज्ञात हो रही है।

चिन्त्य है कि उस समय दशरथजी को ज्ञान वैराग्य ने न त्यागा होता तो संभव है कि राज का देहत्याग न होता वैसा न होकर दशरथ जी राग की पूर्णावस्था में समासीन हो गए इसके पृष्ठबल में ज्ञान वैराग्य की उपेक्षा नहीं अपितु फमाता दैव (मृत्यु) प्रावल्य समझना है यह दूसरा विवेक है। ;

संगति :—मंगति के निर्देशानुसार विरागे के अनन्तरक्षण में जगे ज्ञान वैराग्य के प्रभाव से संपन्न जनक राजा ने श्रीरामवनवासप्रयुक्तविरहप्रयोज्य मृत्युविरहसमानाधिकरण व चरमसीमा पर स्थित अनुरागे शीर्षकोक्त राग से वश होते हुए तृतीय विवेक प्राप्त किया है उस को कवि गा रहे हैं इसलिए कि विवेक की सहायता से राजा का जीवित सुरक्षित है।

चौ० :—हम अब बनते वनहि पठाई। प्रमुदित फिरब विवेक बड़ाई ॥४॥

भावार्थ :—हमलोग श्रीराम को वन से दूसरे वन में भेजकर अपने विवेक की बड़ाई लेकर प्रसन्नता से लौटेंगे।

हम

शा० व्या० :—समाज के साथ क्लेश सहते यथासमय श्रीराम से दमित राग-विवेकसंपन्न राजा 'हम' से वोध्य हैं।

अब

विवेकप्राप्तिसमय 'अब' का अर्थ है।

बनते बनइ

'बनते बनइ' से चित्रकूट वन से पंचवटी वन तक के वन ज्ञातव्य हैं उन पनों में रहकर राजवचन को श्रीरामचरित्र ने यथार्थ किया है। इस प्रकार 'बनते बनइ' वचन में रामभक्ति का अनुमापक है।

पठाई

२:२८५।६ से ८ तक कही उक्ति की एकवाक्यता 'पठाई' में स्मर्तव्य है।

प्रमुदित (अनुमेय तथ्य से राजा की दूरदर्शिता)

श्रीरामने कर्तव्यतया स्वीकृत वनवास के बारे में वक्ष्यमाण-श्रीरामादेश के प्रति सम्मति प्राप्त होना 'प्रमुदित' से ध्वनित है।

ज्ञातव्य है कि उक्त सम्मति के प्रभाव से २।२८९।४ में कहे 'सबकर भल सबके मनमाही' का परिवर्तन, २।२८०।२ तथा २।२७७ की उक्ति का आनुगुण्य, समाज पर इन्द्रजी ने चलाई माया की सार्थकता, भरतजी को लौटने में मनस्तोष व कौसल्याजी ने किए भारी सोच का परिहार आदि तथ्य होना जनक राजा का जीवित रहना प्रमुदित से अनुमेय है इससे राजा की दूरदर्शिता स्फुट है।

विवेक बड़ाई (उपयोगविशेष)

पूर्वजन्म में प्रभु से प्राप्त बर की पूर्णता व दैव की प्रबलता के कारण राजा दशरथ ने शरीरत्याग किया वैसी समस्या जनकजी के सामने उपस्थित नहीं है उस अवस्था में राजा जनक जी प्राणत्याग करते हैं तो उनमें ज्ञानवैराग्य व विवेक का अभाव मानना होगा ऐसा न होकर ज्ञान वैराग्य ने स्वयं प्रवेश कर विवेक के माध्यम से राजा को सुरक्षित रखना 'विवेकबड़ाई' है। इसके साथ यह भी समझना होगा कि भक्ति की दृष्टि में आई राजगत अशुचिविशेष के निरसनार्थ श्रीरामने उनको सामात्मक दण्ड से दमिन (२।२९०।३) फिरनि का परिणाम अनुराग सहित विवेक की बड़ाई है।

सङ्गति—भक्तिसमन्वित आन्वीक्षिक्युपष्टब्धब्रह्मविद्या (जनक) को प्राप्त सीता-स्नेहरूपवटस्थ रामप्रेमशिशु के कृपाप्रसाद से उपलब्ध विवेकयुक्त अनुराग में जनकजी के विचार समझकर राजा के वास्तविक राग से प्रभावित हो परीक्षक तापस मुनियों ने रामस्नेहवान् होना सुना रहे हैं जो राजसान्निध्य का प्रभाव हैं।

चौपाई :—**तापस मुनि महिसुर सुनि देखी। भए प्रेमबस बिकलबिसेषी ॥५॥**

भावार्थ :—तपस्वी मुनि भूदेव यह सुन देखकर प्रेमवश विकल विशेष में आ गये।

तापस मुनि महिसुर (रामस्नेहप्राप्ति में पर्यवसान)

शा० व्या० :—तापस :—लक्ष्यज्ञ 'तापस' से बोध्य है।

मुनि :—लक्ष्यलक्षणोभयज्ञ 'मुनि' से ग्राह्य है।

महिसुर :—लक्षणज्ञ 'महिसुर' से समझने हैं। ये सभी रागानुराग के परीक्षक है।

सुनि देखिः

कौसल्या—सुनयनासंवाद का उत्तर राजमुख से सुनना 'सुनि' है।

देखि :—पुरोवर्तिराजा के कायिक अनुभावों को देखना 'देखि' है।

प्रेमबस

'प्रेमवस' का अन्वय बिकलविसेषी से है। तापसादि में स्थायिप्रीति का भाव-होना 'प्रेमवस' से दर्शाया है। अर्थात् 'सुनि देखी' का फल प्रेमवश है उसका पर्यवसान २।२९१।२ में चर्चित पूर्ण फल की तथ्यता है।

विकलविसेषी (स्पष्टीकरण)

जनक राजा ने सेवायुक्त भक्ति के रागप्रभावमें सदेह होना व रामराग में ओतप्रोत हो द्रुत होना तथा श्रीराम के मनन से राजा की शुद्धि होना देखकर तापसादि में विकलता बढ़ी इस लिए कि वे अपने को तथाविधप्रीतिशून्य समझ रहे हैं उसका परिणाम दुःख नहीं किन्तु चित्त का द्रवीभाव है जिससे तापसों के हृदय में प्रेम के द्वार से सीतारामर्मूति प्रवेश कर सकी। यही विकलविसेषी का स्पष्टीकरण है।

संगति :—प्रस्तुत समस्या के समाधान में अपनी ओर से सहायका प्रतिषेध बताकर श्रीराम में रही संपूर्णदशरथवचनसमन्वयपूर्वक भरतप्रीति कीउत्कटदिदृक्षा के उपशमनार्थ जनकजी वक्ता प्रयोक्ता पुरस्कर्ता स्नेही भृत्य भरतजी के समीप में जा रहे हैं।

अथवा स्वामी ने अपनी प्रवृत्ति के बारे में भरतीयप्रेरणा को सुनने की इच्छा व्यक्त करने के अनन्तर भृत्यों का कर्तव्य समझमे की इच्छा में जा रहे हैं।

अथवा भरतजी युवराज या सेनापति होने की योग्यता अपने में रखते हैं इसलिए कि नीतिशास्त्राभिमतसे वे स्वामिप्रकृतिगुणसम्पन्न हैं अतः उनके समीप में राजा सबके साथ जा रहे हैं।

चौ०—**समउ समुझि धरि धीरजु राजा। चले भरतपहि सहित समाजा ॥६॥**

भावार्थ :-समय समझकर राजा ने धैर्य धारण किया। समाज को साथ में लेकर भरतजी के समीप में वे आए।

समउ समुझि

शा० व्या० :—भावप्रकाशन में 'अनन्यवांछितावाप्तिः समयो दुःखनिर्गमः कहकर समय व्याख्यात है उसको राजा ने समझा है अर्थात् श्रीराम व भरतजी के अनुकूल रह कर ही निर्णय किया जाय तो दोनों की संतुष्टि में सभी तोषको प्राप्त करेंगे देवकार्य पूर्ण होगा यही राजा की 'समउ समुझि' है।

अथवा 'समउ' से यहाँ आज का एक ही दिन समझना है अतः शीघ्राशीघ्र आज ही निर्णय करना है व सबको बिदा होना है इसलिए कि अतिथिसत्कारकार्य की समय-मर्यादा पूर्ण हो चुकी है। जैसा कि 'गे नहाइ' में वर्णित है।

अथवा:—ब्रम्हविद्या के लिए भी अतर्क्य भरतभक्ति प्रतीति की अपार महिमा को देखने का समय "समउ" से बोध्य है क्योंकि भावी सभा में समस्या समाहित होने पर भरतभक्तिमहिमा की अपारता देखने को नहीं मिलेगी।

धरि धीरजु (अपराधमुक्ति)

अपने आनेका वैयर्थ्य सोकर राजा को भरतजी के पास जाने का धैर्य नही हो रहा है यतः वे अपने को अपराधी मान रहे हैं फलतः राजा के हृदय में अपराधप्रयुक्त शंका जग रही है उसके पश्चात् धैर्य धारण किया इसलिए कि वे अपनी सेवकता के आनुगुण्य में भरतजी को श्रीराम के समीप ले जाकर अपनी सेवा को पूर्ण करके भरतजी की साध्यभक्ति को देखना चाहते हैं यही 'धरि धीरजु' का निष्कर्ष है।

साध्य व साधनभक्ति (साधनसिधि रामेपगसेहु) में अधिकृत भरतजी से सेवाधर्मस्वरूप की जिज्ञासाशान्ति 'चलि भरत पहि' का लक्ष्य है क्योंकि सुनने कहने व आचरने में भक्ति सुलभ होते हुए भी वह अतिविरल या दुर्लभ है इसलिए कि अंगभूत ब्रह्मविद्या एवं कर्मविद्या में युक्त भक्ति के प्रतिकूल्य में किसी प्रकार से अपने में आचरण करने की शक्ति का न रहना श्री राम ने कहा होने से निर्विवाद है। (देखे २।२३२ की चौपाइयाँ)।

चले भरत पहि

भरत :—जनकादिपार्ष्णिकिवल व गुरु जी के बल से समन्वित तथा रघुपतिरखुवारा से पूर्ण कठिनसेवाधर्मरत कैकेयीपुत्र 'भरत' से विवक्षित हैं।

पहि :—भरतजी का वह स्थान 'पहि' से बोध्य है जहां चिन्ताग्रस्तता में भरतजी ने रात्रिकाल व्यतीत किया है।

समाजा

'समाजा' से गुरु तापस मुनि विप्र गण्य मान्य मन्त्री जनप्रतिनिधि व जानपद विवक्षित हैं जो आज की सभा में प्रविष्ट होने वाले हैं।

संगति :—ज्ञान-वैराग्यसंपन्न राजा का विना सूचना के अचानक आना देखकर भरतजी प्रियदर्शन आवेग में उनका आदर कर रहे हैं।

चौ०—भरत आइ आगे भइ लीन्हे। अवसरसरिस सुआसन दीन्हे ॥७॥

भावार्थ :—भरतजी ने आगे बढ़कर जनकजी का स्वागत किया। अवसर के अनुरूप बैठने को आसन दिया।

भरत

शा० व्या०—उक्त गुणविशिष्ट सावधान भरतजी 'भरत' पदार्थ हैं।

आगे भई

राजा के प्रति भरतजी की अनुपेक्षा व संभ्रम 'आगे भइ' से स्फुट हैं जो नीति सम्मत है।

लीन्हें

'लीन्हे' से ससमाज राजा के आभिमुख्य में आना समझाया है जैसे श्रीराम ने किए जनकराजस्वागत में कहा गया है।

अवसर

प्रातःकालीन संध्या पार्थिवपूजनादि से निवृत्त होने का समय था समस्या का विचारसमय 'अवसर' है।

अथवा चित्रकूट का रामाश्रयदेश व प्रातःकाल के संयोग के अतिरिक्त पूज्य पूजकसंबंध अवसर से गृहीत है। अथवा स्वागत में राजा के अनुकूल सामग्री प्राप्त न होना अवसर है।

सरिस

मुनिव्रतानुकूल स्वागतौचित्य 'सरिस' है जो देशकालानुरूप है।

सुआसन दीन्हे

अभ्यागतों की मुखमुद्रा से उनकी चिन्ता व जिज्ञासा का होना परखकर उन से संवाद होना है ऐसा सोचकर भरतजी ने सभी को आसन देना 'आसन दीन्हे' का अर्थ है।

सु :—'सु' से राजप्रभृतिसमाज की विश्रान्ति स्फुट है।

संगति :—पूर्वसंवादों से भरतप्रीति प्रगट होने पर भी श्रीराम उत्तर देने में संकोच कर गये ऐसा सुनकर राजा ने सोचा कि श्री प्रभु भरतप्रतीति को भी प्रगट कराना चाहते हैं उसके अनुवन्ध में विवेक का आश्रयण करना होगा जो रामस्वभावानुगुण हो इस हेतु से राजा भरतजी से उपस्थापनीय विषय पूछ रहे हैं।

अथवा पूर्वघटितद्वितीय सभा में उपस्थित रहकर गुरु के कहने से प्रसन्न हो प्रभु ने भावी कार्यान्वियन के प्रति की जानेवाली स्वप्रवृत्ति में अपनी इच्छा को हेतु न मानकर भृत्यभरतवृत्ति प्रेरणा को हेतुत्वे न प्रगट कर भृत्यवश्यता असन्दिग्ध की उसके उत्तर में भरतजी ने 'अवटरे' कहकर स्ववृत्तिप्रेरणाप्रयोज्यत्व को श्री रामकी प्रवृत्ति में बाधित किया फलतः प्रभु संकोच में आए तत्परिहारार्थ भरत जी ने अपनी प्रेरणा प्रगट करनी ही होगी अतः राजा निर्णय पूछ रहे हैं।

अथवा श्रीराम के पास न जाकर भरतजी के पास आने का प्रयोजन सुना रहे हैं।

अथवा पौरुषेयवाणी के असमन्वय की दशा में वक्ता का अभिप्राय विना स-समझे मन्त्रिमण्डल श्री राम के सामने विषयोपस्थापन करता है तो उसका कोई मूल्य नहीं है अतः श्रीराम के समीप में जाने के पूर्व भरतजी से अभिप्राय समझने हेतु उन से बोलने की प्रार्थना कर रहे हैं जिसमें सर्वमत से एकवाक्यता सरलतया प्रगट हो सके।

अथवा—सेवक स्वामी को संकोच या संकट में रखना कभी इष्ट नहीं मानते इस सिद्धांत के विपरीत यहाँ कार्य दिख रहा है वह यह कि भूतपूर्व दोनों सभाओं में

.. संभ्रमैबन्धिवान्।

व्रह्मविद्या के स्वामी (प्रभु) भरतजी द्वारा स्वमनोरथ प्रकाशक उत्तर सुनकर भी संकोच एवं संकट में समासीन हैं। यह सम्भव है कि भरतमनोरथपूर्ति करने में प्रभु अपने सत्यव्रत की वाधा देखते हों अतः भरतजी के सामने राजा स्वामी के व्रत का स्पष्टीकरण करते हुए तदनुवन्धितया मनोरथ की शुश्रूषा प्रगट कर रहे हैं।

चौ० :—तात ! भरत कह तेरहुति राऊ। तुम्हहि विदित रघुवीरसुभाऊ ॥८॥

दो० :—राम सत्यव्रत धरमरत सबकर सीलु-सनेहु।
संकट सहत संकोचबस कहिअ जो आयसु देहु ॥ २९२॥

भावार्थ :—मिथिलानरेश ने कहा तात भरत ! आपको श्रीराम का स्वभाव ज्ञात है श्रीराम सत्यव्रत धर्मरत होते सवके शील स्नेह के अनुसरण में संकोचवश बोल नहीं रहे हैं। अब आप जो आज्ञा दें उसी को प्रभु के सामने रखा जाए।

तात भरत !

शा० व्या० :—'तात' संवोधन अतिप्रीतिका बोधक है।

भरत :—रामस्नेहममतावधित्वविशिष्ट भरतजी 'भरत' शब्दार्थ है।

तेरहुतिराऊ (गुरु की व्यावृत्ति)

'तेरहुतिराजु' से यह संकेत किया कि प्रस्तुत समस्या अव धार्मिक मात्र न होकर नैतिक भी है अतः उसका समाधान सभा के सामने होना अपेक्षित है।

अथवा मुनि का वचन अवध की सभा में सुनकर उसके प्रति भरतजी ने असन्तुष्टि प्रगट की है अतः मुनि को आगे न कर उपस्थापनीय विषय जानने की इच्छा से राजा का आगे होना 'तेरहुतिराजु' से संकेतित है।

तुम्हहि विदित (भृत्यने प्रेरणा देने के पूर्व ज्ञातव्य तत्त्व)

'तुम्हहि' का वाच्यार्थ श्रीराम के सामने समाधानप्रचुरपक्षोपस्थापक भरतजी है।

'विदित' का अन्वय 'सहत सकोच' तक है उसका विषय श्रीराम का स्वभाव सत्यव्रत धर्मरत संकटसहत आदि है। उनमें से विदितस्वभाव होने का निर्णय भरतजी ने २६० की चौपाई में सुनाया है। अथवा संगत्युक्ति के अनुसार यह कहना होगा कि भृत्यों ने स्वामिस्वभावविशेष को सोचकर अपनी प्रेरणा सुनानी है अतः उसने प्रथमतः स्वामी के स्वभाव को समझकर अपनी प्रेरणा व्यक्त करनी होती है यतः अल्पज्ञ भक्त की प्रेरणा स्वामी के किसी भी शब्द या अर्थ को अपने वल से अप्रमाणित नहीं कर सकती इसलिए राजा ने प्रथमतः 'तुम्हहि विदित' कहा है।

अथवा श्रीराम के समीप प्रथमतः न जाने का कारण उनका संकोच है उसका उपक्रम 'तुम्हहि विदित' है। तुम्हहि विदित का मुख्य प्रयोजन 'सहत' शीर्षक में द्रष्टव्य है।

रघुबीर

रघुवीर :—अनन्य निश्छल सेवाव्रतस्थ रामपदस्नेही के प्रति प्रीतिमान् श्रीराम 'रघुवीर' से बोध्य हैं।

अथवा रघुवीर से श्रीराम में रघुप्राप्त धर्मविजदित्व से संवद्ध स्थायी उत्साह स्फुट है।

सुभाऊ (आत्मगुणपरिचय)

'सुभाउ' शब्द सहज प्राप्त धर्म का बोधक है। निष्कर्ष यह कि स्वामिप्रवृत्ति-प्रयोजकतया भृत्य को अपनी प्रेरणा देनी है तो उसने तत्प्रवृत्तिप्रयोजक के रूप में स्वामी के स्वभावप्राप्त नैतिक आभिगामिक गुण के प्रति ध्यान देने हेतु सुभाउ कहा है।

ज्ञातव्य है कि भृत्य सदा स्वामी के स्वभाव को समझकर उनकी रुचि में अपनी रुचि को नियन्त्रित करता है तो वह प्रपन्न भक्त होता है अतः भरतजी ने भी श्री रघुवीर के उस स्वभाव को पहचानना होगा जो प्रभु के वड संकोच में व्यक्त हो गया है। अर्थात् भक्तों की कृति को देखकर कोई भी विद्या अप्रसन्ना होती है तो प्रभु भक्तपक्ष से उदासीन हो जाते हैं अब कहना यह है कि विवाह होने के पूर्व धनुर्भंगकर्ता के त्रैलोक्यविजेता होने की घोषणा राजा ने कर रखी है यदि 'अबहु रजधानी' की प्रतिज्ञा पर भरतजी अटल रहते हैं तो ब्रह्मविद्या के असन्तोष में श्रीराम भरतजी के प्रस्ताव पर अपना संकोच त्यागेंगे नहीं अतः 'सुभाउ' से 'अवहु राम रजधानी' हठ त्यागने का संकेत स्पष्ट है।

सत्यव्रत (रामव्रत में निर्वाधता)

स्वभाव का व्याख्यान सत्यव्रतादि हैं प्रतिज्ञा पूर्ण करना एक स्वभाव है जो नीति में अभ्यर्हित सदाचार हैं। "व्रत" से 'रामो द्विर्नाभिभाषते' तथा 'अभयं सर्वभूतेभ्यों ददाम्येतद्व्रतं मम' इन दोनों व्रतों में त्रिकालाबाध्यता होना ही श्रीरामव्रत की सत्यता है। अर्थात् भक्तमण्डली प्रभुके सामने किसी प्रकार से हठ करें तो वे अपने व्रत को त्यागेंगे ऐसा नहीं कहा जा सकता। यदि व्रत का त्याग होगा तो श्रीरामवचन में अप्रामाण्य की प्रसक्ति होगी उस का परिणाम प्रभुके सम्पूर्ण वचनों में अप्रामाण्य आशंकित हो सकता है वैसी आशंका को अवकाश न देने पर भक्तों ने ध्यान देना 'सत्यव्रत' से संकेतित है।

न्यायतः पालन करने का संकेत भी सत्यव्रत में बोद्धव्य है।

धरमरत

सुभाउके अन्तर्गत "धरमरत" कहकर दूसरा स्वभाव समझा रहे हैं।

यहाँ "धरम" से क्षात्रधर्म (राजवृत्त) व "रत" से क्षात्रधर्मपालन में श्रीरामकी निरतिशय पूर्ण सुखानुभूति समझा रहे हैं।

चिन्त्य है कि प्रभु ने मित्रप्रकृतिसमेत अमात्यादि छओं प्रकृतियों को अपने क्षात्रधर्म के प्रभाव से सत्य स्नेह में रहने का संकेत कर सबको एकसूत्र में बाधा है यदि वे सत्य को ही त्यागते हैं तो सामान्य धर्म के विनाश में उनका धर्मरतत्व बाधित होता है फलतः राज्यांग सप्तप्रकृतियों की एकसूत्रसंवद्धता टूटेगी व छओं प्रकृतियाँ विशीर्ण हो श्रीराम की अपकीर्ति को वनाने में सहायक होंगी इस प्रकार राजा ने धर्मरतता समझाई। फलतः धर्मविजयित्व धर्मरतविशेषण से स्पष्ट है।

सबकर सील सनेहु (उभयतः पाशारज्जु)

तीसरा स्वभाव वता रहे हैं 'सबकर सील सनेहु' 'संकट सहत' से।
"सील" से स्वस्व प्रकृतियों के सम्पूर्ण गुण ज्ञातव्य हैं। शीलानुगुण्य में ममता होना व पहिचानना 'सील सनेहु' है।

ज्ञातव्य है कि चित्रकूट के रामाश्रम में आए गुरु राजा देव रानियाँ व प्रजा सचिव आदि के शील स्वभाव (२।२५६।१ से २।२५।६ तक) तथा प्रातःकालीन स्नान के अनन्तर की हुई देवप्रार्थना, रानि कैकयीजी की ग्लानि व देवसोच से सबका शील स्वभाव प्रगट हो चुका हैं फलतः सभी वर्गो में एकवाक्यता आपन्न नहीं है (जैसे २।२७०।२-३ में व २।२६५ में उक्त है) न तो किसी को त्यागते बनता है ऐसी उभयतः पाशारज्जुजैसी स्थिति सील सनेह से ध्वनित है।

संकट (सत्प्रतिपक्ष)

'संकट' से सत्प्रतिपक्ष समझना है एक ओर कौसल्याजी ने सुनायनाजी को भरत रुचि सुनाना व उनका संकल्प दूसरी ओर कैकेयीजी की वरयाचनासफलताप्रयोजक सत्यसन्धता व देवों का स्वार्थ इस प्रकार भक्तों की परस्पर विरोधी चेष्टाएँ सत्प्रतिपक्ष के समान समझना हैं।

सहत (किंकर्तव्यमूढ या भृत्यवश्यता)

परस्पर विरोध में खड़ा रहा सत्प्रतिपक्ष ऐसा संकट है कि सर्वसाधारण को वह किंकर्तव्यमूढ बनाता है श्रीराम के लिए वैसा संकट नहीं है तथापि आपाततः विरोधी भक्तसंकल्पों को देखकर राजा ने श्रीराम के बारे में 'सहत' कहा जो भृत्यवश्यतासूचक है।

अथवा सहत से अभी भरत जी के समीप में आने का प्रयोजन राजा ने सुनाना स्पष्ट हो रहा है। अथवा संगत्युक्त प्रथमपक्ष की ओर से कहना यह है कि उक्त सत्प्रतिपक्ष का संकट सहन करते प्रभु अपनी स्वतन्त्र प्रवृत्ति से उदासीन हो सर्वाभ्युपेतप्रामाण्यक भृत्यभरतीय प्रेरणा को हेतुनया प्रगट करने की अपेक्षा रखते हैं यही 'संकटसहत' से समझना है

संकोच (स्थिति की अवधि)

सबने एक स्वर से 'भरत के हाथा' कहकर समस्यासमाधान का उपाय बताया है उसका आशय सत्प्रतिपक्षसंकट को टालने की शक्ति एकमात्र भरतजी

की प्रेरणा में समझाने हेतु है वह तभी प्रगट होगी जब साधन व तत्सिद्धिरूप स्नेह से भरी आदेशपालनस्वरूप भक्ति के अनुरूप निरभिमानिता सुनायी जाएगी अन्यथा श्रीराम के संकोच का दुरपनेयत्व ध्वनित है।

कहिअ

ज्ञातव्य है कि प्रभु के संकोच को दूर कराना उद्देश्य है उसमें प्रतिबन्ध न हो इसलिए गुरुजी 'मति ठाढ़ि कह चुके हैं राजा जनकजी ने भी 'भल नाहीं' कहा है अब भरताभिप्रेत समझकर ही विषयोपस्थापन होना अवशिष्ठ है तभी प्रभु संकोच को त्यागेंगे ऐसा सोचकर 'कहिअ' कहा है। उसका अन्वय 'आयसु देहु' में कर्मतया ज्ञातव्य है।

आयसु देहु

आयसु :—सत्तर्कयुक्त परामर्शपूर्ण उपदेश से समन्वित अभिप्रायबोधक शब्दानुपूर्वी 'आयसु' से ज्ञातव्य है। कि प्रभु के सत्यव्रत एवं क्षात्रधर्म (राजवृत्त) रति को जानते हैं तथा उसकी प्रबलता से भी परिचित होने उसके अनानुगुण्य में 'आवहि बहुरि रामु रजधानी' के कार्यान्वियनार्थ चित्रकूटस्थ रामाश्रम में भरतजी आ पहुँचे हैं। वे यदि पूर्वघोषित अपनी प्रतिज्ञा से आपाततः व्यक्त आत्मतुष्टि को अप्रमाण मानते हैं तो श्रीराम संकोच दूर कर सकते हैं यदि ऐसा है तो जनकजी भावी सभा में विषयोपस्थापन करेंगे अतः उन्होंने 'आयसु देहु' कहा है। जो राजा (ब्रह्मविद्या) के सेवकत्व का परिचायक है।

अथवा भक्ति अंगी है उसको प्रपन्नों ने पूर्णतयाआत्मसात् करना हैं भक्ति का वर्तमान में रुख स्पष्ट न होने से तदनुगामिनी विद्यायें सन्तुष्टा नहीं हो रही है न तो आन्वीक्षिकी अपना मत व्यक्त कर रही है क्योंकि वह अपने को असमर्थ समझ रही है उस दशा में अंगित्वात् भक्ति ने ही अपना अभिप्राय प्रगट करना होगा उसका आधार भरतजी एक मात्र हैं जिन्होंने सबको रामशरण में लाया है इसलिए राजा 'आयसु देहु' कह रहे हैं उसका परिणाम भरतोक्त मार्ग ही संघटित रूप में सर्वमान्य होना है।

संगति :—साधन व तत्सिद्धिरूप रामपदस्नेहोपबृंहित सेवा में सदा रुचि रखने वाले जनकराजा से सेवा की प्रतिष्ठा का निर्बाध अवसर पाने व रामगुणश्रवण से उदित भरतीय हर्ष के अनुभाव गाने के साथ भरतोत्तर सुनाने की प्रतिज्ञा कर रहे हैं।

चौ० :—**सुनि तन पुलकि नयनभरिवारी। बोले भरतु धीर धरि भारी॥१॥**

भावार्थ :—ऐसा सुनकर शरीर में रोमांच व आंखों में आंसु भर गये फिर विशाल धैर्य धारण कर बोले।

पुलकि नयनभरि

शा० व्या० :— श्रीराम के सत्यव्रत आदि सभी गुण सुनते ही भरतजी प्रीति में विह्वल हो गये जिसके अत्युद्रेक में राजा (ब्रह्मविद्या) का सेवकत्व सहायक हुआ है।

फलतः भरतजी प्रीति को छिपा न सके उसका परिणाम तनु में रोमांच व नयन में आनन्दाश्रु हैं। इसकी प्रतिध्वनि २।२२४।६-७ में स्मर्तव्य है।

वारी :—आनन्दाश्रु 'बारी' से बोध्य है।

नयन भरि

भरतजी प्रीति में अत्यधिक तल्लीन इसलिए कि उनको श्रीरामादेशपालन के प्रति का सन्धि का सर्वतन्त्रस्वतन्त्रा ब्रह्मविद्या ने अवसर देकर अपना सेवकत्व प्रकाशित किया न कि स्वतन्त्रतया अंगत्व। फल यह हुआ कि भरतीयशरीरान्तर्वर्ती जलतत्व दूध की तरह स्वयं ही स्पन्दित हो नयनों से अश्रुरूप में बहने लगा उसको शिवजी ने परखा यही न्याय रोमांच के सम्बन्ध में ज्ञातव्य है।

हर्ष में नयनभरि वारी की दूसरी उपपत्ति

२।२६९ में वसिष्ठ मुनि से 'सकुच तजि' सुनने के पश्चात् भरतजी ने आदेशयाचना की उस पर भी श्रीरामने संकोच नहीं त्यागा उसका कारण राजा का निर्णायकरूप में आगमन हुआ है अभी उन्होंने स्वयं होकर आने का वैयर्थ्य अन्तः सोचकर अपनी कारणता निरस्त की है उस को परख कर अन्तर्यामी प्रभुने गुरुसमीप में पहुँचने के बहाने संकोच त्यागा है उसके अनुसार अग्रिम सभा में रामसंकोचासमानकालीन भगवदादेशयाचनापूर्ति में निर्बाधता होना देखकर प्रीति से भरतहृदय में हर्ष का उदय होना नयनभरि-रोमाञ्चानुमित हर्ष की दूसरी उपपत्ति है।

बोले

बोले :—'बोले' शब्द से भरतीय वक्ष्यमाण वचन बोध्य हैं जिसमें सेवाधर्म सुनाने के साथ भरतजी अपना मानोन्मूलनविशिष्टापराधस्वीकृति व स्वामी का लक्षण बतायेंगे।

अथवा धर्मरत सत्यव्रत आदि सुनाकर शिवजी ने पार्वतीजी से उस प्रश्न (पुरोवर्त्ययं राजपुत्रः प्रभुर्नवा व योगिध्येयोरामः दाशरथिर्नवा) पर ध्यान देने का संकेत किया है जो श्रीराम की प्रभुता से सम्बन्धित था।

'अयं पुरोवर्ती राजपुत्रः प्रभुः' 'सत्यव्रतधर्मरतस्वभाववत्वेन राज्ञा (ब्रह्मविद्यया) वर्णितत्वात्' अनुमान करने हेतु श्री शिवजी पार्वतीजी से समझा रहे हैं। फलतः सदा के लिए प्रगट श्रीराम में अखण्ड सगुण ब्रह्म का तादात्म्य स्पष्ट है। इस प्रसङ्ग से बसिष्ठ जी की उक्ति भी स्मर्तव्य है जैसा कि 'करत साधुमत लोकमत नृपनय निगमनिचोर' से स्पष्ट है। उसी अनुमित्युदय में भरतजी को हर्ष होना 'नयनभरि' से स्मृत हुआ था।

भरतु

प्रीति में अति उल्लसित सन्तुष्ट व सेवाधर्म के प्रतिष्ठापक भरतजी 'भरतु' शब्दार्थ हैं।

धीर धरि भारी

स्नेह के प्रभाव से भये कण्ठावरोध का निरसन 'धीर धरि' से सूचित है। फलतः सेवाधर्मसिद्धि के प्रकाशन में भरतजी उचितकारी निर्विकार अत्यर्थ सत्वगुणसंपन्न हो गए जिस में उनकी छलशून्यता निर्दंभता स्फुट होगी।

अथवा प्रीतिसमाधि से विलगने का उपाय 'धीर धरि' से वर्णित है उसका फल भरतजी ने विवेकी होना भी ध्वनित हैं।

भारी :—'भारी' शब्द धैर्य की अत्यर्थता का द्योतक है अन्यथा भरतजी के हृदय में रहे कार्यव्यसनात्मक मानरूप अभ्युन्नतमनरकता का उन्मुलन स्पष्ट न हीं होगा जो-'वामविधाता' शीर्षक में आगे व्याख्यात है।

अथवा पूर्वदिवसीय सभाद्वय में भरतजों ने सेवायाचना के साथ अपना विजय व 'सुखलोभबिहाई, गाया है उससे विजयात्मक अचिन्त्येष्टार्थसंपत्तिजमानोन्मूलन व निर्दोषता होने का संकेत धीरधरि भारि से प्राप्त है।

संगति :—धीर-धरि भारी का परिणाम भरतीय वचनों में ही स्पष्ट कर रहे हैं।

अथवा राजा जनकजी वसिष्ठजी व विश्वामित्र प्रभृति मुनिकी उपस्थिति में 'आयसुदेहु' की अधिकारिता विचारणीय है अर्थात् आयसु देहु के भार का औचित्य किधर हो सकता है: यही विचार भरतजी प्रस्तुत कर रहे हैं।

अथवा राजा व गुरुजी ने विषयोपस्यापन की कठिनता अनुभूत करना असंभव को संभव करने के समान है ऐसा सोचकर अपने ऊपर आए भार को वापस कराने हेतु युक्ति सुना रहे हैं।

अथवा स्वलक्षणपूर्णस्वामी (श्रीराम) से मानोन्मूलनोत्तर अपराधस्वीकृति-युक्त सेवाधर्म की सिद्धिरूप में याचना प्रार्थनीय है तदन्तर्गतया रहे प्रीतितत्त्व की यथार्थता संवन्धी परीक्षणयोग्यता राजादि में स्फुट करने हेतु अपेक्षित गुणप्रकाशन के साथ भरतजी उत्तर सुना रहे हैं।

चौपाई :—**प्रभु ! प्रियपूज्यपितासम आपू । कुलगुरुसम हित माय न बापू ॥२॥**
कौसिकादिमुनि सचिव समाजू । ग्यानअंबुनिधि आपुनु आजू ॥३॥
सिसु सेवकु आयसुअनुगामी । जानि मोहि सिख देइअ स्वामी ! ॥४॥

भावार्थ :—हे प्रभो ! आप पिताजी के समान प्रियपूज्य हैं। माता पिता से अधिक हितकारी गुरु वसिष्ठजी हैं। विश्वामित्र आदि मुनि व मन्त्रिगण तथा समाज यहाँ विराजमान है। आप स्वयं ब्रह्मविद्या के समुद्र हैं। हे स्वामिन् ! मुझे शिशु आदेश-पालक समझकर आप ही शिक्षित करें।

प्रभु ! प्रिय पूज्य (नीतिसम्मत अर्थ)

शा० व्या० :—प्रभु :—यथार्हदण्डप्रणयनकर्ता 'प्रभु' से बोध्य हैं।

प्रिय :—वर्तमान समय में सुखानुभूतिकारक व्यक्ति 'प्रिय' शब्दार्थ है।

अथवा प्राप्तव्यरामप्रीत्यनुकूलसेवा की पूर्णता वर्तमान में राजा ने प्राप्त करानाप्रिय है।

अथवा अनानन्दतापादक आवरणभंग 'प्रिय' से परिभाषित है।

पूज्य :—राजप्रकृतिकर्म के अन्तर्गत कही "पूज्यानां अनुपूजनं" उक्ति की चरितार्थयता 'पूज्य' से स्मर्तव्य है।

अथवा विवाहोपरान्त जनकजी के प्रति रहा अपना आन्तरिक भाव भरत जी ने प्रगट करना पूज्य से बोध्य है।

अथवा विष्णुशक्तिमान् व संपूर्ण देवों की मात्रा से निर्मित राजा 'पूज्य' से बोध्य है।

ज्ञातव्य है कि जनकजी की ब्रह्मज्ञता त्रयीनिष्ठा व राज्यप्रकृति की पूर्ण संपत्ति विदग्धता शिष्यहिताधानार्थद्रष्टृत्व आदि तथ्यों को व्यंजित करने हेतु 'प्रियपूज्य' आदि विशेषण सार्थक हैं।

पितासम

पिता :—'पिता' शब्द दशरथवाचक है जो समशब्दबोध्यसदृशप्रतियोगी है।

सम :—'सम' शब्द उपमानोपमेय (दशरथ जनकोभय) साधारण धर्म–(प्रियत्वपूज्यत्वोभय) बोधक है ! या तुलनामात्रबोधक है अर्थात्—

स्नेह की तुलना में 'पितासम' का भाव यह कि जैसे पिता दशरथजी का भरतजी के प्रति 'मोरे भरतु राम दुइ आंखी' से भाव व्यक्त है वैसा ही भाव जनकजी का है जो 'पितासम' से स्फुट किया है। उसका परिचय विवाह के समय प्राप्त है—जैसे

"जसि रघुवीरव्याहविधि वरनी सकल कुआंर व्याहे तेहि करनी"।

तथा बिदाइ के समय-'सादर पुनि भेंटे जामाता। रूप सील गुननिधि सब भ्राता' से व्यक्त हो चुका है। चिन्त्य है कि श्वशुर ने प्रिय व पितासम होना मणिकांचन संयोग है।

पितासम हित न कहने की उपपत्ति

सरस्वती जी या रामसंकल्प के प्रभाव से भरत जी को राम सेवा से वांचित करने में सहायतया पिताजी प्रसिद्ध हैं अतः धर्मश्रेणी में हित उल्लिखित नही है।

पितासम का तात्पर्य नीतिमत से

राजनीत्यनुसार यह समझना होगा कि पिता के प्रति आदर रखते हुए पुत्र ने प्रीति में पिता की आज्ञा माननी होती है तथा स्वको समर्पीत करने का भाव भी रखना होना है वणाश्रमसमाजपरम्परा में दामाद ने श्वशुर के प्रति भी वही भाव रखना

'पितासम' का तात्पर्य है जो 'पितरं पुत्रः अनुवर्तेत' से अर्थशास्त्र में प्रमाणित है। आशय यह कि जिस प्रकार सूर्यवंश पित्राज्ञा की अपरिहरणीयता मानता आ रहा है उसी प्रकार चारों भाई जनकाज्ञा को शिरोधार्य करते हैं।

अथवा पितृसमता श्वशुरजी में प्रगट कर उनमें सेवक भरतजी ने अपने प्रति आभिमानिक सुख उदित कराया है इस रीति से श्वशुरजी के हृदय में प्रीति की स्थिर स्थापना कराना भरतकौशल है जो कल्याण को वश करने में सामप्रयोगात्मक[1] उपाय कहा जा सकता है।

अथवा पिता दशरथ ने कैकेयी जी को वर देने के अनन्तर भी अन्त में भाइयों के लिए रामसेवा में रहने की व्यवस्था 'सब सेवकाई' सुनाकर निर्णीत की है वैसी ही व्यवस्था बनाये रखने का संकेत देने में 'पितासम' का तात्पर्य है।

सम का व्याख्यान

'सम' शीर्षकोक्त प्रथम व्याख्या से ज्ञातव्य है कि उपमान की अपेक्षया उपमेय में न्यूनता रहती है तदनुसार कहना यह है कि जन्मतः पिता से दुलारप्राप्ति की संख्या अधिक होने से पिता की उपमानता स्पष्ट है।

'सम' शीर्षकोक्त द्वितीय व्याख्या से यह वक्तव्य है कि प्रियत्व व पूज्यत्व दोनों ही पिता एवं श्वशुर में न्यूनाधिकभाव में न होकर समस्यासमाधानप्रयोजकतया सम है। जैसे एक बार (पिता) ने वरदान के समय समता व्यक्त की है वैसी ही समता भावी सभा में साक्षीरूप में राजा व्यक्त करेंगे।

माता का अनुल्लेख

माता में प्रियता सर्वातिशायिनी है उससे तुलना करने का अनौचित्य माता के अनुल्लेख से स्पष्ट है।

कुलगुरु सम

'कुलगुरुसम' का तात्पर्य शुचिता समझने में है जैसे अवधसभा में गुरु वसिष्ठजी के उपदेश (सोचनीय सब विधि सोई। जो न छाड़ि छल हरिजन होई) के साथ उन्होंने कहे वचन ('कहहु तात' 'केहि भांति कोउ करिहि बड़ाई ? तासु रामलखन तुम्ह सत्रुघनसरिस सुअन सुचि जासु') एवं पिता के वचन ('चहत न भरत भूपति हि भोरे') व ('करिहहि भाइ सकल सेवकाई') से भरतजी की शुचिता का संकेत चिन्तित है फलतः वैसे शुचि पुत्रकी अनुकूलता में माता पिता का हितकारित्व प्राप्त होना असन्दिग्ध है तदपेक्षया अधिक हितकारित्व गुरुजी में प्रगट है क्योंकि उन्होंने चारों भाइयों को विवेकी महाधीर बनाया है इसका उदाहरण वहाँ प्राप्त है जब विश्वामित्र मुनि श्रीराम की याचना हेतु दशरथसमीप में आए थे जो "तब वसिष्ठ बहु-

1. नीतिसार १४।४७

विधि समुझावा नृप-सन्देहनास कर पावा," एवं पुत्रप्राप्ति के बाद राजा दशरथजी की प्रार्थना सुनकर कहे वचन (निजसुख दुःख सबहि गुर सुनायउ कहि वसिष्ठ बहुविधि राम आयउ) से गाया गया है। गुरु कहकर उनके द्वारा प्राप्त विवेकशालिता का भरतजी में अभी भी आधान बने रहना व्यंजित किया है।

माय न बापू (रामसंकोचसमाप्तिप्रयोजक विवेकोदय)

कुलगुरु से वसिष्ठजी (कर्मविद्या) विवक्षित है। उन्होंने परोक्षरूपेण शिक्षा देकर भरतजी के हृदय में तर्क जगाया जो 'सोचनीय सब विध' से स्फुट है। उसका परिणाम स्वामी (श्रीराम) के सामने शरणागत होने में मार्गारोहण है। वैसी शिक्षा मात पिता से प्राप्त न होना 'माय न बापू' से स्पष्ट है। अथवा गुरु की साक्षिता संगत्युक्ति के अनुसार भरतीय वक्ष्यमाण वचन की यथार्थता के निर्णयार्थ समझाने हेतु 'कुलगुरु सम माय न बापू' कहा है।

कौसल्या माता व गुरुजी ने अपरोक्ष में भरतजी को अवध में रहने प्रति उपाय किए उससे प्राप्तव्य हित परलोक से सम्बद्ध समझाया परन्तु वामविधाता को अनुकूल करने में हेतुतया अपेक्षित मानोन्मूलन कराने में सहायता उन्होंने देना 'माय न बापू' का निष्कर्ष है उसका परिणाम श्रीराम के संकोच की समाप्ति कही जायगी।

कौसिक

अहल्योद्धारप्रेरणाप्रतिपादक विश्वामित्र मुनि का आगमन भरतजी की हितकारिताहेतु हुआ है जैसा कि चारों भाइयों की विवाहसंपत्ति में स्फुट हो चुका है जो सभी को अज्ञात थी। वर्तमान समय में भी सूर्यकुलहित कैसे होगा ? इस आशंका को समझ कर अपेक्षानुसार तन्निरासार्थ विश्वामित्र जी की उपस्थिति मालूम पड़ती है उसका परिचय २।२७८।४ से ६ तक प्राप्त हो चुका है। उनकी उपस्थिति से भावी निर्णय में प्राप्त साधुमत प्राप्त करना सुलभ होगा।

मुनि

मुनि :—भरद्वाजआदि मुनि 'मुनि' से स्मर्तव्य हैं। भरद्वाज जी ने यात्रा के समय आए भरतजी को तर्क का उद्‌बोध कराकर उनको सुदृढ़ किया है।

सचिव व समाज व्याख्यात हैं।

ग्यान अंबुनिधि (समस्तविद्याप्रसन्नता की आसन्न स्थिति)

राजा की उपस्थिति के अनन्तर किसी भी भांति भ्रम या अधीरता का न होना 'ग्यान अंबुनिधि' से स्पष्ट है क्योंकि ज्ञानसागर के समीप में ज्ञान में कमी होती नहीं है न तो अन्धकार (आवरण) ही आता है। अतएव कहना होगा कि ज्ञानसागर के समीप में रहे कौशिकादि छोटी बड़ी नदियों के समान हैं एवंच प्रस्तुत सभा में उत्तरमन्त्रिपरिषद् की पूर्णता व उसका यज्ञसदृशीत्व स्पष्ट हो रहा है। फलतः सभा में राजा दश-

रथ जी की अनुपस्थिति से भासित कमी का अभाव 'ग्यानअंवुनिधि' से दर्शाया है। मन्त्रिपरिषद् की पूर्णता का यह प्रभाव होगा कि भविष्यत् में सूर्यवंश के सामने समस्योपस्थितिसामान्याभाव ध्वनित किया है जिससे भक्ति महारानी की छत्रछाया में रही सम्पूर्ण विद्याओं की यथावत् प्रसन्नता होना निर्णीत है।

अथवा ग्यान से अभानापादक और असत्वापादक आवरण भंग समझना है। जैसे भक्त भरत जी व प्रभु के मध्य में सेंव्यसेंवक भावस्थैर्य के सम्बन्ध में असमाधेय समस्या ने विघ्न पहुँचाया है यह एक महान् आवरण है उसका भंग न होना देख कर श्रीराम संकोच में समासीन हैं उससे यह स्पष्ट है कि ध्यात्मविद्या के द्वारा ही आवरणभंग कराना होगा परन्तु यदि वह विद्या (जनकराजा) पूछती रहेंगी तो आवरण भंग न होने से समस्या हल नहीं हो सकती अतः तन्निकारण की प्रार्थना 'ग्यान-अबुनिधि' से ध्वनित है। अथवा भरतजी की अपारभक्ति की उत्कटदिदृक्षापूर्त्यर्थं, आए जनकराजा के संकल्प ने अवने प्रभाव ने मुनियों की चिन्तन वृत्ति को अभिभूत किया मालूम पड़ता है अतः मुनियों के रहते 'ग्यान अंवुनिधि' कहा है यह भी भरत जी का शरणागतिविशेष है जो भरतजी के वक्ष्यमाणपूर्वपक्षोत्तर पक्ष से स्पष्ट होगी। एवंच भक्ति की सेवा में रत भक्तों के द्वारा ब्रह्मविद्या की सम्मति प्राप्त होना यहाँ संकेतित है।

आपुनु आजू

आपुनु :—उपनिषद्विघारूप राजा जनकजी की ममता 'आपुनु' से वोध्य है जो श्रीराम की आत्मा है।

'आजू' से शिक्षाप्राप्त्यर्थ वर्तमान दिवस की मुहूर्तता वोध्य है जैसा २।२६४ में 'आजू' से व्याख्यात है।

सिसु

पूर्वनिरूपित प्रार्थना में असफलना देखकर 'सिसु' कहा अर्थात् सिसु से अज्ञ कहकर अपनी पूर्ण परतन्त्रता दिखाते हुए भरतजी ने आचार्यों पूज्यों व श्वशुर जी की उपस्थिति की अभ्यर्हितता दिखाई। इससे 'ज्ञान अयुनिधि' की उपयोगिता भी व्यक्त है।

सेवकु

सेवकु :—स्वामिधर्मरूप स्वार्थविरोध रहने पर भी अन्धत्वाभाव व अवोधाभाव को अपनाने वाले स्वामिप्रीत्यनुकूलव्यापारवान् 'सेवकु' से यहाँ बोध्य है।

अथवा सेवकु से प्रयोजकवृद्धसमवेतप्रेरणाप्रयोज्यप्रवृत्तिमत्व भरतजी में ध्वनित है इस उपपत्ति में 'आयुस अनुगामी' कहेंगे। सिसु सेवकु का अन्वय 'आयसु अनुगामी' से है।

चिन्त्य है कि—सेवकत्व शिशुत्व का ज्ञापक है। भाव यह कि "नवं हि द्रव्यं येन येनार्थजातेनोपदिह्यते तत्तदाचूषति एवमयं नवबुद्धिर्यद्यदुच्यते तत्तच्छास्त्रोपदेशमिवाभिजानति" उक्ति को चरितार्थ करने का स्वभाव अपने में भरतजी ने दर्शाया।

आयसु

सेवकु की व्याख्या के आनुगुण्य में रहे भरतजी अपनी ओर से राजा को प्रयोज्यवृद्ध होने का सर्वथा प्रतिषेध कर रहे हैं। परिणामतः राजा जनकजी पर ही आयसु (२९२) के अनुकूल प्रेरणा देने का भार सौंप रहे हैं। फलत :—

"तृणादपि सुनीचेन तरोरपि सहिष्णुना अमानिना मानदेन स्मर्तव्यः सततं हरि" वचन की चरितार्थता व्यक्त है जो श्रीराम के लिए अतिप्रिय है।

अनुगामी

उपर्युक्त भरतसमवेतप्रवृत्तिप्रयोजकप्रेरणाकर्तृत्व को राजा ने स्वमें समझकर सेवकत्वविशिष्टशिशुत्व भरत जी में समझना 'अनुगामी' का आशय है।

मोहि

मोहि :—शिशु सेवक आयसअनुगामी भरत जी अस्मच्छब्दार्थ हैं।

सिख :—अग्रिमसभा में उपस्थापनीय विषयबोधानुकूल व्यापार' व वाचिक चेष्टा अन्यतर 'सिख' पदार्थ है। 'मोहि सिख' से भरतजी ने अपने में आज्ञापालकता दिखाकर स्व में अज्ञातज्ञापनयोग्यत्वाभाव के साथ भावी कर्तव्य के प्रति कृतिसाध्यता बलवद-निष्टाननुबन्धिता के निर्णायकत्व की असमर्थता व्यक्त की है।

भरतभक्ति की अपारता के दर्शन का आरम्भ

'आयसु देहु' सुनने के अनन्तर भरतजी ने उसके प्रति अपनी असमर्थता समझी है यतः उनकी प्रार्थना पर श्रीराम का संकोच दृष्टिगोचर हो रहा है उससे ब्रह्म-विद्या में असन्तुष्टि अनुमित है उस दशा में 'आयसु देहु' उपदेशपालन में अनुष्ठा-नतः अप्रामाण्य है। यदि वह प्रमाण है तो प्रथमतः शिक्षा देने का अनुग्रह करे उसके पश्चात् 'आयसु देहु' उपदेश का कार्यान्वयन हो सकता है जैसा कि गुरुजी ने हित सोचकर 'अरध तजहिन्याय सुना कर' तुम्ह कानेन गवनहु कहा पश्चात् 'करहु परवानां' रूप आयस उनको भरतजी ने सुनाया है वही प्रसक्ति यहा भी है। इस प्रकार भक्ति की अपार महिमा का आरंभ है, जिसके पिपासु जनक हैं।

स्वामी

नीत्यभिमत स्वामी श्रीराम ही 'स्वामी' से बोध्य है यतः उनमें ही प्रपन्नानुमो-दित वक्ष्यमाण स्वामी लक्षण (२९८।१-३) संपूर्ण है। राजा के लिए स्वामि शब्द लक्षणिक है।

अथवा "निवारयन्नकृत्येभ्यः कर्तव्येभ्यः प्ररोचयन्। स्वभावे स्थापयति य : स स्वामीति निगद्यते"[1] उक्ति के अनुसार जनकजी भी स्वामी कहे जा सकते हैं। अर्थात्

---

१. भावप्रकाशन

सेवात्मक भक्तिच्युतिरूप दोष से रक्षिन कराते हुए बालकालप्राप्तपूर्वानुस्यूत सेवारूप भक्ति में प्ररोचनानुकूलव्यापारात्मक आदेश देने की योग्यता को व्यक्त करने का अनुरोध करना 'स्वामी' से स्फुट है।

उसका अन्वय प्रथम पक्ष में अनुगामी से है इस पक्ष में प्रभुत्वेन रहे श्रीराम-सेवा की व्यावृत्ति अभी बोध्य है। द्वितीय पक्ष में स्वामी संबोधन है वह 'सिख देइअ' हेतु से उक्त है।

संगति :- अपने में सदा सेवकत्वानुगुणप्रवृत्ति रखनेवाले भरतजी 'सिख देइअ' (२।२९३-४) सुनाकर उसके अभाव में चुप रहने या उपरिनिरूपित उक्ति से अधिक कहने में अनौचित्य समझकर भी स्वामी के सामने बोलने का साहस कर रहे हैं इसलिए कि दोनो पक्षों में वामविधाताप्रयोजक स्वगत अभ्युन्नतमनस्कतारूप आपत्ति को व्यक्त करना है जो भूत पूर्व सभाओं में भरतीय उक्ति में प्रगट हो गई है।

अथवा 'आयस देहु' के उत्तर में प्रथमतमा भरतजी अन्तः गूढ़तया स्थित अभ्युन्न-तमनस्कताप्रयोजक असूया का प्रकाशन पूर्वपक्षमुखेन कर रहे हैं।

चौ० :—एहि समाजथल बूझब राउर। मौन मलिन मैं बोलब बाउर ॥५॥
छोटे बदन कहउं बडि बाता। छमब तात ! लखि बामविधाता ॥६॥

भावार्थ :- ऐसे समाज और ऐसे स्थल में आपके पूछने पर मेरा मौन रहना मतिशून्यता के समान है। कुछ कहता हूँ तो पागल या छोटे मु बडीबाता का द्योतक है। हे तात ! विधाता को विपरीत समझकर आप मुझे क्षमा करें।

पूर्वपक्षारंभ

शा० व्या० :—यहां प्रथमतः पूर्वपक्ष का आशय चिन्त्य है। अभी तक प्रपन्न भरतजी में निर्मानमोहता उनके चरित्र से लोक में विदित है परन्तु उनके अन्तः अभ्युन्नत मनसकतारूप मानकी वासना का उन्मूलन सभा में स्पष्ट नहीं हो रहा है यतः वह वासना भरतजी की ही उक्ति से स्पष्ट है क्योंकि भरतजी ने स्वविजय की चर्चा जो इष्टसंपत्तिप्राप्ति की सूचक है। अतः अभ्युन्नतमनस्कता के रहते भरतजी में उन्मूलितमानवासनाकसिद्धिरूप रामपदस्नेह स्फुट नहीं है ऐसा सोचकर भरतजी पूर्व-पक्षका आरम्भ कर रहे हैं। उसकी अनुमानप्रणाली अधोलिखित है।

'राजादेशं श्रुत्वापि भरतः उत्तरदाने असमर्थः अभ्युन्नतमनस्कतावत्वे सनि तूष्णीभावे वचनोच्चारणे वा अज्ञतावाचालताभय दोषसाधक वाम विधातृ (दुर्भाग्य) विशिष्टत्वात्"।

एहि समाज थल

एहि :-२ व ३ चौपाई में उक्त विशेषणविशिष्ट समाज 'एहि' शब्दार्थ है।

समाज :—पूर्वोक्त सभी मुनि आदि विद्वद्वर्ग 'समाज' से विवक्षित हैं।

थल :—विवेकराजा से उपबृंहित चित्रकूट देश 'थल' है।

'एहि समाज थल' उक्ति का आशय विवेकसाम्राज्य में विद्याओं की संगति के प्रभाव से प्रपन्नोंश अप्रपन्नों ने हृदय में रहे दोष व तत्कारण का परिचय प्राप्त कर स्व को उससे बचाना व निर्वेदज प्रबोध से निर्मानमोहब ना लेना समझाने के लिए है।

बूझब :—अपने में अज्ञत्व अथवा अज्ञताप्रयोज्यप्रतिभाभाव को आरोपित कर राजा ने विषयोपस्थापनसम्बन्धी प्रश्न पूछना 'बूझबू' है। इसका निष्कर्ष सेवाच्युतिरूप प्रातिकूल्य के पक्षधर विधाता के रहते राजा ने पूछना भरत जी की दृष्टि में विस्मयकारक होने में ज्ञातव्य है।

मौन मलिन (१ला प्रतिबन्धक)

राजप्रश्नोत्तर के रूप में कहने या न कहने उभयपक्ष में दोष व्यक्त करना है उसमें से उत्तर न सुनाना प्रथमपक्ष है। जो 'मौन' से विदित है उसमें दोष 'मलिनता' है। यद्यपि राजप्रश्न सुनकर भरतजी ने नीतिमत से निम्नवचन—

(विज्ञःस्वं मन्यते चाज्ञः तज्ज्ञो वर्तेत मूर्खवत्।
मूकीभावं भजन् प्राज्ञः पुरुषेषूत्तमोत्तमः)॥

के अनुसार मौन धारण करना उचित था तथापि राजोक्त 'आयसु देहु' वचन-मात्र के प्रति "मौन" होना 'मौन' से विवक्षित है उसमें 'मलिनता' दर्शाकर भरतजी ने दोष स्फुट किया है।

मलिनः—अप्रतिभा या जड़ता का बोधक 'मलिन' शब्द है।

बोलत (२रा प्रतिबन्धक)

प्रथम दोष के निरसनार्थ उपाय के रूप में 'बोलत' पक्ष है उसका अर्थ वक्ष्यमाण 'आगम निगमादि' (७ व ८) वचन बोध्य है। अथवा असमाधेय अतिचिन्ताविष प्राप्त होने से शून्यभाव में आई गति रहते बोलना 'बोलब' है। अथवा कर्तव्यताबोधकविधि-रूप में गृहीत 'लिङ' 'लोट' 'तव्य' अन्यतम 'बोलत' है।

बाउर

द्वितीय पक्ष 'बोलब' में दोष 'बाउर' से कीर्तित है। वह दोष इसलिए कि मति-शून्यता में बोलना 'अप्रतिपित्सितमर्थं प्रतिपादयन् प्रतिपादयिता उन्मत्तवदुपेक्षणीय होता है। अथवा परस्पर में असंबद्धबोधक वचन होना 'बाउर' है जो विद्वत्समाज की दृष्टि में अक्षम्य है।

छोटे बदन (प्रतिबन्धको का परिहार)

बोलने व न बोलने में दोनों ओर से दोष प्रसक्त होने पर सत्प्रतिपक्षितस्थिति को देखकर उसको दूर करने में युक्ति यह कि उक्त कोटिद्वय (न बोलना, बोलना) में से

उत्तरकोटि (बोलना) को भरतजी स्वीकारते हैं जो उत्तरार्ध में आगे स्पष्ट होगी उसका संक्षेप यह कि 'आयसुदेहु' का बोझ अपने ऊपर से भरतजी उतारकर स्व की निरभिमानिता व्यक्त करना चाहते हैं।

छोटे वदन :—सेवाधर्म की कठिनता जानते हुए भी बोलने हेतु व्यापार करना 'छोटे बदन' है।

बडि वाता

वडि :—सत्तर्कसंवलित अर्थ का सम्बन्ध वाणी में प्रकाशित होना 'बडि' है। उसमें दोष होने का बीज वक्ता का सेवकत्व या शिशुत्वात्र है उसी को 'वाता' से व्यक्त किया हैं।

अथवा अल्पज्ञ ने उच्चरित वाणी सार्थक होने पर भी उसमें 'बडि बाता' दोष आपाद्य होता ही है इसलिए कि अल्पज्ञ की वाणी 'घुणाक्षर' होने से अप्रमाण है।

अथवा दैववैपरीत्य के रहने पर सेवक की सत्तर्कसंवलित अर्थ की प्रकाशक वाणी को 'घुणाक्षर' समझकर वह दुष्ट या उपेक्षणीय होती है अतः 'बडि वाता' कहा है। फिर भी भरतजी ने 'वोलत' पक्ष स्वीकृत कर सत्प्रतिपक्षितस्थिति को निरस्त किया है।

ज्ञातव्य है कि यह दोष वाम विधातावधिक है अर्थात् वामविधाता जब तक हैं तब तक ही भरतजी का बोलना 'घुणाक्षर' होने से दोष है अन्यथा नहीं।

छमब (पूर्वपक्षस्थापना)

बोलने के पक्ष में संभावित 'बडि बाता' दोष का निरसन 'छमब' से ज्ञातव्य है।

अथवा शिशुत्वसंबन्धरूप दोष बडि वाता में यद्यपि है तथापि उधर ध्यान न देने की प्रार्थना 'छमब' से कर रहे हैं। फलतः भरत जी ने उपेक्षणीयतारूप दण्ड का भागी न होना ध्वनित है।

अथवा उत्तरपक्ष सुनकर भी राजा सन्तुष्ट नहीं हो सकते क्योंकि सिध्घात्मक रामपदस्नेहसंपृक्तसेवाभक्तिप्रयोग को पूर्णतया दिखाने में भरतजी अपनी असमर्थता व्यक्त होगी अतः 'छमब' कहा है।

उत्तरारंभ में वामविधाता की स्थिति न रहने पर 'बडि वाता' गुण हो सबको आल्हादकर होगी इस आशय से अभी के लिए 'छमब' कहा है।

तात !

भजन न करने वाले पुत्र के प्रति भी माता पिता का सौहृद होता रहता ही है तो राजा (पूज्य पिता तुल्य) क्षमा करेंगे ही इस आशय से 'तात' संबोधन है।

लखि

क्षमाप्रार्थना का कारण 'लखि वामविधाता' है अर्थात् राज सेवाच्युतिरूप कार्य के प्रति कारणतया 'वामविधाता' को लखना 'लखि' है।

वामविधाता

न बोलने को अपनाया गया तो सेवाधर्म को अपनाते हुए सेवक ने अपने में अभ्युन्नतमनस्कता को अवकाश न देने पर ध्यान सदा रखना होगा अन्यथा सेवा की धर्मता होने में विधाता की वामता होकर रहेगी जिसके अनुमापक सरस्वती जी या इन्द्र जी के द्वारा किया जाने वाला मायाप्रयोग प्रगट होकर रहेगा।

ज्ञातव्य है कि बालकाल से ही भरतजी से सेवाधर्म निर्बाधरूप में अनुष्ठित है उसकी सर्वत्र प्रसिद्धि हो चुकी है प्रभु भी भरतस्वीकृतपक्ष को गिरने नहीं देते किंबहुना भरतजी को विजेता बनाकर अपने को विजित होने में सुख व्यक्त करते हैं इस प्रकार रघुपतिरखुवारा का पृष्ठबल भरतजी को प्राप्त है स्वयं प्रभु ने भरत जी में मदाभाव बताकर लक्ष्मणजी ने गाए पूर्वपक्ष का प्रतिषेध करना २।२२६ से २।३२।३ तक के संवाद में प्रसिद्ध है ऐसी भक्ति के रहते भी विधाता ने भरतजी को सेवाधर्मच्युत करने का साहस करना 'वामविधाता' से सूचित किया उसकी उपपत्ति में यही कहना है कि सिद्धिरूप (रामपदस्नेहसंयुक्त रामादेशपालनरूप) कार्य पर अंकुश लगाने वाले काम आदि कार्यव्यसन नीतिसार में गाएं हैं उनके अन्तर्गत अभ्युन्नतमनस्कतात्मक अभिमान भी है। यदि अभ्युन्नतमनस्कता के संस्कार अति सूक्ष्म भी सेवकों में छिपे रहते हैं तो भी सेवा की पूर्णता नहीं मानी जाती जैसे गोपियों के अन्तः काम के संस्कारों का रहना प्रसिद्ध हैं। दोनों में अन्तर इतनाही कि गोपियों को रासमें बुलाकर उनके छिपे संस्कारों को प्रभु ने उन्मूलित किया है। प्रपन्न सेवक के मानसंस्कारों को उन्मूलित करना अपनी ओर से श्रीराम इष्ट नहीं मानते इससे यह समझना है कि मान के सूक्ष्मसंस्कारों के कारण विधाता ने यह साहस किया है अतः 'वामविधाता' कहा है। उसी को पूर्वपक्षाभिप्राय शीर्षक में दिखाया है।

इस प्रकार से सेवाच्युतिकारक वामविधाता के रहते न बोलना लोकदृष्टि में मलिनतादोषापादक होकर रहेगा।

यदि बोलने का पक्ष अपनाते हैं तो वामविधाता के रहते बोलना प्रमत्ततादोषापादक होकर रहेगा ऐसा कहकर पूर्वपक्ष की पूर्णता हो गई।

संगति : पूर्वपक्षनिरूपण पूर्ण कर भरतजी 'एहि समाज थल' में समासीन हो वैराग्यजन्यनिर्वेद से प्रतबोध पाकर उत्तरारंभ कर रहे हैं। जिसमें 'बड़ि बाता गुणरूप में प्रगट होगी। अभ्युन्नमनस्कताऽऽसमानकालीन अपराधस्वीकृति से सिद्धि भरतजी को प्राप्त होगी विधाता की वामता दक्षिणता में स्फुट होगी। उसका अनुमापक सरस्वती जी का छिपना व इन्द्रमाया की असफलता कही जाएगी। अथवा अदोषात्मक 'बड़िबाता' का भाग्य कर रहे हैं उसके फलस्वरूप में २९७।७ में शारदाजी को प्रणाम, स्वविजय की चर्चा भरतजी ने न करना, न 'सुखलीभ विहाई' न कहना स्मर्तव्य है। अथवा बृहस्पतिनिर्देश व राजप्रार्थित 'आयसदेहु' से निर्णीत सेवकसेवकाई का प्रतिषेध वैराग्यसहकृतनिर्वेदप्राप्त प्रबोध में कर रहे हैं जिससे विधाता का प्रातिकूल्य विनश्यदवस्थता को प्राप्त होगा।

अथवा पूर्व चौपाई में उक्त सेवकत्व में प्रमाद होने पर सेवा के स्वरूप का विलोप ही बता रहे हैं।

अथवा बालकाण्डोक्त वचन के अनुगमन में रहकर भरतजी सेवाकाठिन्य-व्याजेन प्रीति-का स्वरूप समझा रहे हैं जो जनक राजा की भारतीय अपारभक्तिदिदृक्षा का पूरक है।

चौ०—आगम, निगम, प्रसिद्ध पुराना। सेवाधरमु कठिन जगु जाना ।।७।।
स्वामिधरम स्वारथविरोधू। बैरु अंधु प्रेमहि न प्रबोधू ।।८।।

भावार्थ—वेद तन्त्र पुराणों में प्रसिद्ध है व सब जग जानता है कि सेवाधर्म कठिन है। स्वामी का धर्म सेवक के स्वार्थ का विरोध है। यदि वैर हो तो वह अन्धा है। प्रेम ही तो अबोध है।

उत्तर पक्ष का आशय (उत्तरपक्ष)

शा० व्या० :—ईश के द्वारा जिसके संकल्प का विरोध करना अस्वीकृत है वैसे भरतजी के हृदय में अभ्युन्नतमनस्कतात्मक मान की संभावना जागृत है क्या? ऐसी संभावना प्रश्न राजा को हो रहा है क्योंकि वह मान इतना सूक्ष्म है कि उसको सहज में भक्ति कर्म एवं ब्रह्मविद्या या जगत् तीनों समझने में असमर्थ हो रहे हैं।

मानसंभावना प्रश्न इसलिए कि भरतजी सुमन्त्र जी के माध्यम से प्रेषित रामादेश का उल्लंघन कर चित्रकूट आ पहुँचे हैं, पितृवचन को भी ठुकरा रहे हैं तथा 'अबहुं रामु रजधानी' संकल्प को चरितार्थ करना चाहते हैं। चित्रकूट पहुँचकर रामादेश की याचना भी कर रहे हैं अतः जनक राजा भरतोऽमानी भक्तः ऐसा निर्णय नहीं कर पा रहे हैं : न तो भरतः अभक्तः ऐसा ही समझ रहे हैं।

संभावना प्रश्न में कहे 'भरतः अमानी भक्तः' में उत्कटतर एककोटिकत्व सोचते हैं तो उसमें विधाता की वामता व श्रीराम का उत्तर देने में संकोच बाधक हो रहे हैं। यदि भरतः अभक्तः कोटि में उत्कटतरत्व सोचते है तो उसमें बाधक रूप से वृहस्पति-इन्द्रसंवाद रामलक्ष्मणसंवाद और श्रीराम ने अपने चिन्तन से भरतजी के बारे में आए कुसमय को सोचकर उससे त्राण करना आदि स्पष्ट है, उसके समाधान में राजा को भरतजी ने "भरतः अमानी अभक्तः" इस अनुमान के साधक हेतु (रामादेशोल्लंघन कर्तृत्व) में अन्धत्व समानाधिकरणवैर एवं अबोधसमानाधिकरण स्नेह अन्यतर को उपाधिरूपमें दर्शाया है। अर्थात् इन दोनों में से एक भी उपाधि जहाँ है वैसे व्यक्ति में आदेशोल्लंघनकर्तृत्व हेतु से भक्तः मानी, ऐसा अनुमान यथार्थ माना जा सकता है। अन्यत्र नहीं। एवंच भरतजी में दोनों उपाधि न होने से भरतजी ने आदेशोल्लंघन करना अभक्ति या मान के अनुमिति का साधक नहीं कहा जा सकता। भरतजी की इस विवेकप्रचुर-भक्ति की अपारमहिमा देखकर राजा की प्रसन्नता व्यक्त होते ही विधाता की इसी रहस्य को शिवजी सरस्वतीजी का छिपना वामता इन्द्रमाया की असफलता गाकर आगे व्यक्त करेंगे। यही उत्तरपक्ष का आशयहै।

निगमागम

निगम :—'निगम' से वेदचतुष्टयात्मक अपौरुषेयग्रन्थ विवक्षित है जो सर्वत उपरि प्रमाण है।

आगम :—श्रुतितुल्य दोषबहुलपुरुषासंस्पृष्ट शिवादिप्रोक्ततत्तत्सम्प्रदायाभिमत संहिता आदि ग्रन्थ 'आगम' से ज्ञातव्य हैं।

प्रसिद्ध

निगम आगम से परिज्ञात विषय 'प्रसिद्ध'शब्दबोध्य है। उसका तादात्म्येन अन्वय 'सेवाधर्म कठिन' से है। उसी में पुराना व जगप्रसिद्धि साहित्य कविने गाया है।

निगमागमप्रमाण में समन्वय

वर्णाश्रम शब्द से विख्यात समाज श्रुति का अनुयायी होता चला आ रहा है अतः उसने जो भी धर्म के नाम पर कार्य करने होंगे उस प्रतिकर्म में श्रुतिप्रमाण-प्रमितत्व समझना निगमानुयादित्व है।

जो परपरा आगमको प्रमाण मानकर धर्म को अपनाती चली आ रही है उसने आगम को सर्वत उपरि प्रमाण मानना आगमानुयायित्व है।

जहाँ निगम आगमारोधी आयस स्वीकृत हैं उनके लिए निगमागम दोनों का समन्वय सोचकर तदविरोधी कर्तव्य अनुष्ठेय है इस प्रकार समन्वय मननीय है।

निगमागग में अन्तर

निगम सादि नहीं है यतः वह किसी के कण्ठ से इदंप्रथमतया श्रुत नहीं है। आगम सादि है क्योंकि वह प्रभु के आदेश से शिवादिमहनीय आचार्यों के कण्ठतः इदंप्रथमत या प्रगट भए हैं यही निजमागम में अन्तर है। इसमें अपेक्षित प्रमाण देवी भागवत (९।१२।६५) में प्राप्त है जो 'नानापुराण' पद्य में स्फुट है।

पुराना

'पुराना' का भी अन्वय 'प्रसिद्ध' से है।

ज्ञातव्य है कि सेवाधर्म की कठिनता में निगम आगम व पुराणों की प्रसिद्धि दिखाकर भरतो न भक्तः मानी इस अनुमान हेत्वाभसप्रसक्ति प्रसिद्धि से नहीं होगी ऐसा समझाकर आन्वीक्षित की अनन्योपयोगिता भक्ति के प्रति व्यक्त की है। यदि उपाधिको रखते सेवा का स्पष्ट उदाहरण देखना है तो हनुमानजी जैसे विरल ही स्मर्तव्य हैं। अन्यत्र निगम में प्रसिद्ध मुनि विश्वामित्र हरिश्चन्द्र प्रभृति सेवक और आगम से प्रसिद्ध असुर आदि के चरित्र देखे जाएँ तो उनके चरित्र से सेवा में कठिनता ही प्रतीत होती है जो उन सेवकों के प्रति गुजरे चरित्र के उतार चढ़ाव से स्पष्ट है।

'पुराण' इतिहास का उपलक्ष का है इसमें जय विजय सनत्कुमारादि भाई जालन्धर प्रतापभानु के चरित्र स्मर्तव्य है।

सेवा धरमु

सेवा—सेवक ने अपनाई स्वामी की परिचर्या आदेशपालनात्मिका 'सेवा' से बोध्य है। वही सेवकत्व है इसका गूढ 'अर्थ सिसु सेवक' शीर्षक में द्रष्टव्य है।

धरम :—अदृष्ट का सम्बन्ध भी 'धरम' से ध्वनित है जहाँ ईश्वरप्रसाद चिन्त्य है। लोक में धर्म से स्वामिसेवा परिगृहीत है उसका अतिदेश राजसेवा धनिकसेवा गुरुसेवा पतिसेवा ईशसेवा विप्रसेवा में बोध्य है सेवा का लक्ष्य स्वामी को प्रसन्न करना है।

कठिन

सेवक अल्पज्ञ स्वार्थी होते ही हैं शिवजी के समान विवेकी धर्मनयसम्पन्न कनिष्ठिकाधिष्ठित ही हैं उनको छोड़ कर सोचा जाये तो कोई सेवक अन्धे (रागमानमदान्यतमान्ध) स्वार्थी या शिशु के समान अबोध होते हैं। उन्होंने की हुई बहुल सेवा में विघ्नतित्व उद्वेग अरहो भ्रम भीति मोह होना देखा जाता है या कारण है कि सेवा में कृत्यसाध्यता अनिष्टहेतुता अथवा अशक्यता ही दृग्गोचर होती है तब वे सेवा को कृत्यसाध्य समझकर उसको त्यागते हैं या द्रोही वनते हैं यही सेवाधर्म की कठिनता है।

जगु

'जगु' से सभी प्रत्यक्षानुमानसे साक्षीरूप में ज्ञातव्य हैं। अर्थात् उपर्युक्त (उत्तर पक्षाभिप्रायोक्त) उपाधि को विना समझे सेवा की कठिनता में निर्विवादिता की अकाट्यता 'जगु जाना' से स्पष्ट है।

स्वामिधरम (साहित्याभिमतदृष्टि)

प्रथमतः स्वामिसेवकसम्बन्ध की उपपत्ति व उसमें उदित होनेवाले दोष साहित्य मत की दृष्टि से चिन्तनीय है स्वामी व सेवक निराकांक्षता से उठकर जब हित साधने की आकांक्षा में आते हैं तब वे संबद्ध होते हैं उनमें सेवक स्वामी को संपन्न देखकर प्रीति में सेवारत होना है उस दशामें दो तथ्य उपलब्ध होते हैं (एक) स्वामी को निरुपाधिक-रूप में सेवक हित समझता है या स्वार्थसिद्धि उपाधि में स्वामी को सेवक हित समझता है इसीप्रकार अपना हित देखकर स्वामी भी सेवक को हित समझते हैं यह प्रेम की प्रथमावस्था है।

इसीको 'सुखात्मिका मनोवृत्ति रति (भक्ति) रित्यभिधीयते'।

उक्ति से भावप्रकाशनकार समझाते हैं। तदनन्तर यदि वे दीनों हितैषी परस्परायत्त होते हैं तो उनमें 'भावबन्धन' होता है जहाँ कि 'यह या वह' का प्रयोग समाप्त होता है।

इदं तदिति संकल्पो ययोर्नक्वापि दृश्यते

इस उक्ति से वहीं पर स्फुट किया है।

उसके पश्चात् स्वामी और स्व में अदाक्षिण्य रहा ही उनकी प्रीति कौटिल्य में परिणत है यतः उस दशा में दोनों स्वतन्त्र हैं स्वतन्त्रता की प्राप्ति का अर्थ है कि एक दूसरे का मनोरथनिरोध रोते रहना यदि यह होता रहा तो उन दोनों प्रेमी का प्रेम मानावस्था को प्राप्त करता है। गतः स्वामी के द्वारा सेवक के स्वातन्त्र्य का निरोध होना ही है।

जैसा कि 'स एव मान इत्युक्तो मनोरथनिरोधनम्' से उसी ग्रन्थ में व्यक्त है। उसी सेवकस्वार्थनिरोध की यहाँ स्वामिधर्म से स्फुट किया है। आशय यह कि जीवन में प्रीति ने यह संकेत किया है कि प्रीतिमान् सेवक ने प्रकृतितः कभी न कभी स्व स्वार्थ (मनोरथ) निरोध स्वामी के द्वारा होते देखना ही है इसका उदाहरण स्वयं भरतजी ही हैं। जैसे अवधस्वामिभाव में रहे श्रीराम की सेवारूप साधन सिद्धि प्राप्त होते होते प्रभु ने भरतजी को राज्यस्वामी बनाकर उनका मनोरथनिरोध किया है यही 'स्वामिधर्म' है।

स्वारथविरोधु

'स्वामिधर्म' 'स्वारथ विरोधु' से व्याख्यात है।

स्वारथ—सेवक के ईप्सित अर्थ स्वार्थ से प्रसिद्ध है। स्वामी स्वतन्त्र इतरकारकचक्रप्रयोक्ता व ज्ञाता होने से भृत्य सेवक के मनोरथ को निरुद्ध करते ही हैं। वह विरोध 'स्वार्थविरोध' की व्याख्या है।

भृत्य के मनोरथ ही स्वार्थ हैं उसका विरोध स्वामी के द्वाराहोने की उपपत्ति इसप्रकार है कि सेवक और स्वामी आरंभ में प्रीति में आबद्ध हो सन्निकट में आकर एक दूसरे की प्रीति के प्रकाशक होते हैं। जो पोष्य-पोषकभाव को व्यक्त करते हुए अनुगामी होने का आधार है। उसका उदाहरण श्रीराम और भरतजी हैं। जैसे अति प्रसन्न हो श्रीराम भरत जी को ऐश्वर्य सम्पन्न देखने के ओत्सुकय में अवध के स्वामित्व को त्यागने में हृष्ट हैं जो भरत जी की दृष्टि में स्वार्थ का निरोध है। क्योंकि भरत जी श्रीराम की सम्पत्ति के अपहर्ता होकर स्वयं स्वामी बनना उचित नहीं मानते। किंहुना भरतजी श्रीराम को स्वामी अभिषिक्त रूप में देखने का मनोरथ करते आ रहे हैं वह मनोरथ सदा के लिए समाप्त हुआ देखकर अति पीडित हैं यही आज्ञोलंघन का बीज होता हुआ कदाचित् स्वामी के कोप का भाजन होने में कारण हो सकता है। इसप्रकार स्वार्थविरोध ने प्रीतिसम्पन्न स्वामी का धर्म होना स्पष्ट है। जो भरतभक्ति की अपारता का द्योतक होता जनकराजा के लिए अति आस्वाद्य है। परन्तु उक्त प्रकार से मानावस्था में पहुँची प्रीति भक्तभृत्यमनोरथ पूर्त्यर्थ हठवादिता की ओर प्रवृत्त करती है जैसे भरतजी का चित्रकूट में पहुँचना उस समय लोक में "भरतोऽयं अभक्तो मानी रामादेशोल्लंघनकर्तृत्वात्" इस प्रकार की अनुमान प्रणाली को जन्म देती है व स्वामी सेवक दोनों को विघटन की ओर मोड़ देती है अतः स्वार्थ का विरोध स्वामी के द्वारा होने की उपपत्ति में 'स्वामिधरम स्वारथ विरोधु,' कहा है।

बैरु अन्धु

उत्तरारंभ में व्यक्त उपाधियों में से प्रथम उपाधि का निरूपण 'बैरु अन्धु' से कर रहे हैं। बैरु से शत्रुता विवक्षित है जो स्वामी के द्वारा किए नएं मनोरथ-निरोध से सेवक के हृदय में उदित अक्षमात्मक क्रोध है जिसके मूल में सेवक की मानिता है। बैरु से अन्धु उपाधिकी प्रसक्ति होने की स्थिति समझनी है।

अन्धु :—रागमानयदान्यतम से प्राप्त मोह 'अन्धु' से बोध्य है। उसका निष्कर्ष न्यापसम्मति में निम्नलिखित है।

सेवकेन स्वामिनः कृता सेवा दिद्यानामसन्तुष्टिकरी रामसंकोचजनयित्री रागान्यतमान्धेन कृतत्वात्' शतुत्वाधायकत्वाच्च।

एवं च उपर्युक्त अन्धत्वाभाव भरतजी में समझकर उनमें बैरित्वाभाव समझ कर तदाश्रयवृत्तित्व रामादेशोल्लंघनकर्तृत्व में अवगत होगा तत्पश्चात् उसमें मानित्व-व्यभिचार अनुमित होने से 'भरतोऽयं मानी' यह अनुमानप्रणाली दुष्ट ठहरती है। यही युक्ति 'अबोधु' में ज्ञातव्य है उसमें रहा अन्तर 'अन्धु' शीर्षक में द्रष्टव्य है

अन्धत्व कैकेयी जी में दशरथ राजा से मांगेवरयाचना से स्पष्ट है।

पेमहि

'पूर्वपक्षाभिप्राय' शीर्षकोक्त द्वितीय अनुमानप्रणाली (अयं भरतः अबैरी सन् रामं प्रत्यावर्तयितुमागतः स्नेहवत्वात्) में कहा प्रेम हेतुत्वेन यदां 'प्रेमहि' से स्मृत है।

न प्रबोधु

व प्रबोधु से बोधाभावरूप उपाधि दर्शा रहे हैं यतः वेदों आगमों व जगत् में स्वार्थ विरोध होते हुए भी प्रेमी ने स्नेह में ईश्वर चरणों में पहुँचकर ईप्सित की पूर्णता हेतु की हुई चेष्टा सफल होगी ऐसा न कहा जा सकता न तो सेवा भी धर्म है ऐसा कहा जासकता। यदि उसके प्रति कोई निर्णय करना है तो प्रथम अबोध को उपाधत्वेन समझना होगा। इन्हीं दो उपाधि का अभाव भरतजी में समझकर लक्ष्मण जी को अनुमान कराने के पूर्व स्वार्थानुमान करते हुए उनके बारे में 'साधु सयाने' कहकर अपनी ओर से भरत जी की सेवा धर्म को पहिचाना है व उनको आश्रम में प्रवेश कराने में सम्मति दी है जो प्रस्तुत दोनों उपाधि की पोषक हैं। इस प्रकार उत्तर पूर्ण हुआ विधाता की प्रतिकूलता भी निरस्त हुई। अबोधू को उपाधित्य की उपयोगिता हें बैरअन्धु' में स्फुट है।

अबोधप्रसक्ति व उसका अभाव

भरतजी ने धिग्दण्ड देते कैकेयीजी कहा कि 'आखु ओट बैठहि जाइ' (२।१६२।८) तत्पश्चात् श्रीराम का सन्देश (सेअहुँ मातुसकल समजानी २।२५२।४) सुनकर माता की सेवा भरतजी ने की न होती तो उनमें अबोध की प्रसक्ति होती।

ऐसा न कर रामसंदेश को प्रमाण मानकर अपने वचन को (२।१६२।७) ही अप्रमाण माना यही भरत में अबोधप्रसक्ति व उसका अभाव व स्मर्त्तव्य है।

संगति :—भरतजी के द्वारा अपनाई शरणागति में उपाधि के अभाव को समझकर भरतजी के संकल्प को समझना होगा तत्पश्चात् श्रीराम के सत्यव्रत आदि को ध्यान में रखते हुए उनको रामपराधीन समझना है तत्पश्चात् जनकराजा जो निर्णय करेंगे वह हमको (भरत) मान्य है इस आशय से भरतजी सुना रहे है जिससे भरतजी की अपार भक्ति राजा के सामने स्पष्ट होगी।

अथवा भरतजी अपने में अबोध भाव एवं अन्धत्वाभाव व्यंजित कर सेवाधर्म का व्याख्यान कर रहे हैं तथा राजा ने दिया भार लौटा रहे हैं।

अथवा—दो बार अपनी ओर से विषयोपस्थापन करने पर प्रभु ने उत्तर देने में संकोच किया है उस अवस्था में भरतजी अपने आन्तरिक नाद से बोलने में असमर्थता का अनुभव कर राजा पर ही विषयोपस्थापन की युक्ति का भार देते इस प्रकार से सौंप रहे हैं जिसमें सेवा आदि का विरोध न हो अन्यथा वह युक्ति अनुमत नहीं होगी।

दो०—**राखि रामरुख धरमु व्रतु ! पराधीन मोहि जानि।**
सबके सम्मत सर्वहित कहिअ पेमु पहिचानि ।। २९२ ।।

भावार्थ:—श्रीराम के मनोगत रुख की समझते हुए मैंने (भरतजी ने) अपनाए धर्मरतत्व (सेवा) तथा सत्यव्रत को व पराधीनता को जानकर मेरे प्रेमको पहिचान कर वही कीजिए जिसमें सबकी सम्मति और सबका हित हो।

रामरुख

शा० व्या०—सब के शील स्नेह को समझते हुए संकट सहते संकोचवश स्वामी श्रीराम 'राम' से समझना है।

रुखः—अभिप्राय' 'रुख' शब्द का वाधार्थ है उसका अन्वय 'राखि' से है। अर्थात् जो भी कार्य करना ही उसमें रामाभिप्रायविषयता नहीं ऐसा नहीं होना चाहिये। इस भरतोक्ति में ग्रन्थकार ने दो० २।२२७।३ में ध्वनित कराया पितृवचन या स्व ने अपनाया सेवाधर्म एवं सत्यव्रत का संकेत छिपा है।

धरमु

धरमुः—यहाँ 'धरमु' से भरत जी का क्षात्रधर्म समझना है जैसे श्रीराम को वन में उदासी होने पर भी धनुर्धारत्व स्वीकृत है वैसे भरतजी ने भी उसी का अपनाने का संकेत किया है। जैसा कि नन्दिग्रामवनवास एवं धनुर्धरत्व से स्पष्ट है।

धर्म की प्रमितता

इदंप्रथमतया धर्म को समझने हेतु प्रमाणाकांक्षा होती है तो उसका प्रशमन

एक मात्र शब्द से होता है यतः शब्दप्रमाणप्रमित अर्थ सदा अनाधिगत अबाधित है। जनकजी ने भी उक्त तथ्यको २।२९२ में गाया है।

ब्रतु

ब्रतुः—'ब्रतु' से सत्यव्रत विवक्षित है जो भक्ति की निर्दंभता का सूचक है। भरतजी ने उसको रामरुख से पहिचान कर अपनाते हुए अपनी सेवकता स्फुट की हैं।

अतः धर्म एवं व्रतका अन्वय 'राखि' एवं 'जानि' से ज्ञातव्य है। जो जनक-राजानुमत है।

दोनों भाई के व्रत में अन्तर

श्रीराम के जो भी व्रत और धर्म हैं वे सभी परप्रेरणाप्रमोज्वप्रवृत्तिविधेय नहीं है। भरतजी ने अपनाये वे ही धर्म व व्रत श्रीरामवृत्तिप्रेरणाप्रयोज्यप्रवृत्तिविधेय हैं इस प्रकार दोनों भाइयों के व्रत में अन्तर माननीय हैं।

पराधीन

पराधीन का निष्कर्ष सेवक की संपूर्णधर्मसंबन्धी प्रवृत्तियों के प्रति स्वामि-प्रेरणाप्रयोज्यता में है वहाँ अन्धत्व व अप्रबोधका असामानाधिकरण्य भी स्मर्तव्य है।

मोंहि

२।२९३।८ में उक्तदोषासंस्पृष्ट भरतजी मच्छब्दार्थ है।

भरतव्रत पर एक दृष्टि

भरतजी का सत्यव्रत या क्षात्रधर्म ऐसा नहीं है जो रामरुखको अप्रमाणित करे किन्तु भरतीय सत्य आदि सभी नियम रामाभिप्राय के अनुगामी हैं। एवं च 'अवहु बहुरि राम रजधानी, कहना रामादेशको अप्रमाण करनेवाला नहीं है किन्तु रामरुख पर आधारित है अर्थात् श्रीराम ने भरतजी को राज्य देकर अपनी निर्लोभता स्पष्ट की इसलिए कि भरतजी का साधु—सयाने पन प्रगट कराकर उनके माध्यम से भक्ति की छत्रछाया में रही सभी विद्याओं की आन्वीक्षिकीसम्मत पूर्ण संतुष्टि समझ में आवे व तत्र यी आदि की प्रतिष्ठा के साथ भक्ति भी प्रतिष्ठिता हो।

जानि :—प्रभुपराधीनत्वप्रकारक भरतविशेष्यक ज्ञान "जानि" है, इससे 'आवहि बहुरि रामु रजधानी' इत्यादि वचनों का आपातत भासमान अर्थ होकर न भरततात्पर्य विषय न होकर अधतजहिं है ऐसा समझना होगा।

उक्त विशेषणविशिष्ट भरतजी के धर्मव्रतरतत्व को समझना 'जानि' का भाव है। इससे 'आवहि बहुरि रामु रजधानी' इत्यादि वचनों का आपाततः भासमान अर्थ भरतोयतात्पर्यविषय न होकर 'अरध तजहि, चौपाइ में व्याख्यात अर्थ के प्रति ध्वनित है। इत्यादि पूर्ववत समन्वय है।

सबके सम्मत

सबके लिए रुच्य होना ही "सबके सम्मत" है। जैसा कि २५४ व २५५।१ में कथित है।

'सम्मत' से राजतन्त्र में लोकतन्त्र की अवहेलना का अभाव दर्शाया है।

सर्वहित (प्रपत्तिस्वरूपप्रकाशन)

कदाचित् तत्काल में रागद्वेषवशात् अरुच्य होने पर भी भविष्यत् में समस्त-विद्याससेत राजनीति में विप्लव न हो उस प्रकार से सबके लिए कल्याणकर कर्म (स्नेहमय रामस्नेहात्मक सिद्धि) होना 'सर्वहित' से समझना है। वह हित ही प्रेम है जो 'पेम पहचानि' में व्यक्त होगा।

करिअ

राजा व गुरुजी अन्ध नहीं हैं न तो अबोध हैं अर्थात् वे साधु सयाने पराधीन हैं अतः उन्होंने विषयोपस्थापन करना 'करिअ' से समझना है।

पेमु

प्रेम से निर्गुणब्रह्मानुभूत्यनुकूल कर्म की व्यावृत्ति व भक्तिसिद्धान्ताभिमत रुच्य बोध्य है जिसको देखने सुनने के लिए ब्रह्मविद्या आकृष्ट भई है।

पहिचानि

श्रीरामव्रत, स्वपराधीनता व सर्वसम्मत अर्थ को कृतिसाध्य बनाने व सर्वामोद-कर राज्याभिषेकरुचि को समझने में कसर न करना "पहिचानि" है।

संगति : भरतजी के वचन सुनकर उत्तरमंत्रिपरिषद् के हृदय पर हुए स्नेह का परिणाम ग्रन्थकार सुना रहे हैं।

चौ० :—भरतबचन सुनि देखि सुभाऊ। सहितसमाज सराहत राऊ ॥१॥

भावार्थ :—भरतजी की वाणी सुन कर उनका स्वभाव देखकर संपूर्ण समाज के साथ राजा जनकजी प्रशंसा कर रहे हैं।

सुनि

शा० व्या०—भरततात्पर्यविषय (दोहा २।२९३।५-८) एवं (२।२९३ तक के) व्यंग्यार्थ समझना "सुनि" है।

देखि सुभाऊ

लक्ष्मणजी के कहे वचन ("भरतु नीतिरत साधु सुजाना। प्रभु पद प्रेम सकल जगु जाना") में उक्त निश्शंक सत्यता की स्थापना 'देखि सुभाउ' से ग्रन्थकार बता रहे हैं।

सहित समाज

मुनि से विद्वान् व सम्पूर्ण प्रजा समाज से बोध्य है। समस्त वर्गों की अंगताभाव का सदा निर्णय के प्रति अटूट बने रहना 'सहित' से स्फुट है।

सराहत राऊ

"सराहत" हर्ष का वाचिक अनुभाव है। सेवाधर्म की अत्यन्त कठिनता समझकर भी उसी में रही अति अनुरागपूर्वक भरतप्रवृत्ति की सराहना "सराहत" है।

संगति :–'सराहत' का व्याख्यान राजा जनकजी के मुख से शिवजी करा रहे हैं जिसमें ब्रह्मविद्या की प्रसन्नता स्फुट होगी।

चौ० :—**सुगम अगम मृदु मंजु कठोरे। अरथु अमित अति आखर थोरे ॥२॥**

भावार्थ :—भरतजी के वचन का अर्थ सुगम भी हे, अगम भी है, मृदु भी है, कठोर भी है उसमें यद्यपि अक्षर अत्यन्त थोड़े सीमित हैं पर अर्थ असीम है।

सुगम अगम

शा० व्या० :—सुगम :—राजनैतिक त्रय्यादिविद्यासम्मतभक्तिपरिपूत होते हुए सबके लिए ऊपर ऊपर से वाच्यार्थभाव का यथावत् प्रकाशन "सुगम" है।

आगम :—सर्वांगोपसंहारपूर्वक सेवाधर्मरूपप्रयोग अगम है जैसे सेवाधर्म की कठिनता विशेष के यथार्थ तत्व का साधारण अल्पज्ञों के लिए अज्ञेय होना व उपाधि स्वरूप के साथ उसका भरतजी में अभाव आदि तथ्य "अगम" है।

मृदु

मृदु :—रीति-प्रवृत्ति-प्रसाद आदि से सम्पूर्ण सेवकों के हृदय में द्रव होना 'मृदु' का निष्कर्ष है।

मंजु

मंजु :—मृदुता होते हुए सेवाधर्म का परिचय, आत्मदर्शन, कर्मकाण्ड व उपासनाकाण्ड में अधिकृत व्यक्तियों के मनस् का आकर्षण होना "मंजु" है।

अरथु अमित

कामधेनु के समान यह भरतोक्ति ऐसी है कि उसे प्रत्येक संप्रदायवादी अपने-अपने मतों के उद्दिष्ट अर्थ से समन्वित करने में समर्थ हो सकते हैं अतः "अरथु अमित" कहा है।

आखर थोरे

भरतोक्ति का अर्थ अमित होते हुए भी शब्दों का संक्षेप होना "आखर थोरे" है इस प्रकार भरतजी का वाग्मितागुण स्फुट है जो स्पष्टललितपदाभिधायितात्मक है।

संगति :—भरतजी की प्रतीति प्रीति पहिचानकर उनका तात्पर्य निर्णीत करना सम्भव नहीं है ऐसा राजा समझ रहे हैं।

चौ० :—ज्यों मुखुमुकुरु मुकुरु निज पानी। गहि न जाइ अद्भुत बानी ॥३॥

भावार्थ :—जैसे दर्पण में मुख दिखता है दर्पण हाथ में है परन्तु प्रतिबिम्ब पकड़ा नहीं जाता उसी प्रकार भरतजी की अद्भुत वाणी से प्रकाशित प्रतिबिम्ब अर्थ पकड़ में नहीं आता।

मुखु मुकुर

शा० व्या०—बिम्बस्थानापन्नभरततात्पर्यविषय मनोमय अर्थ "मुखु" शब्द से संकेतित है।

उपर्युक्त वाणी में भरततात्पर्यविषयीभूत अर्थ की प्रतिछाया "मुकुर" से व्यंजित हैं।

निज पानी

उपर्युक्त प्रतिछाया को दिखानेवाली आधारभूत वाणी का श्रवण "निजपानी" है। ज्ञातव्य है कि तत्कालीन अध्यात्म विद्या, धर्म, विद्या, व नीतिप्रधान व्यक्तियों के हृदय में भरततात्पर्य विषय की निखरी छटा निजकर्णरूप हाथों में स्पष्ट है।

गहि न जाइ

श्रोताओं की मति में महावाक्य के तात्पर्यविषय का अवगाहन न होना "गहि न जाइ" है इसलिए कि भरतवचन में विरोध स्पष्ट है जैसे आत्मा के सम्बन्ध में गाए उपनिषद् के विरोधी वचन।

अद्भुत

लोक में भरतवाणीसदृशवाणी ने दृष्ट न होना ही भरतवाणी की अद्भुतता है। क्योंकि विरोध भासित होने पर लोक में वाणी उपेक्ष्य होती है वैसी स्थिति भरतवाणी की नहीं है।

संगति :—अंगभूत विद्याएँ निर्णय करने में असमर्थ हुई अतः वे स्वयं निर्णय सुनने की आकांक्षा में संपूर्ण विद्याओं का (जनकजी, भरतजी, वसिष्ठजी, विश्वामित्र मुनि आदि) श्रीराम के पास जाना सुना रहे हैं।

चौ० :—भूप भरतु मुनिसहितसमाजू। गे जहँ बिबुधकुमुद द्विजराजू ॥४॥

भावार्थ :—मुनि, भरत जी, समाजसहित जनकजी वहाँ गए जहाँ देवरूपी मुकुद को विकसित करने वाले श्रीरामचन्द्र जी आसीन थे।

भूप भरत मुनि सहितसमाजू

शा० व्या० :—भूप से राजा जनकजी, मुनि से वसिष्ठजी आदि के पृथक्-पृथक् उल्लेख का कारण उनकी तीव्र आकांक्षा है यतः वे सभी अधिक चिन्ताग्रस्त हैं! समाज

से अवधमिथिलेमय नागरिक विवक्षित हैं जो जनक-भरतसंवाद के समय उपस्थित, नहीं थे। अभी राजा का प्रभु के समीप जाना सुनकर समाज का उनके साथ मिलकर जाना ज्ञातव्य है।

गे

गे :—'गे' से गमन विवक्षित है उसको प्रधानकर्तृता राजा आदि में है। इसलिए कि उन्होंने ही विषयोपस्थापनसम्बन्धी 'आयसु देहु' कहा है।

जहँ

'जहँ' से वेदी विवक्षित है जहां पर एकत्रित होकर प्रस्तुत सभा में निर्णय होना है व भरताकांक्षा व देवाकांक्षा पूर्ण होनी है।

विबुधकुमुद द्विजराजू

"विबुध कुमुद" कहने का कारण स्वमण्डल के अन्तर्गत विबुधमण्डल को रिझाना है इस लिए कि वे ही अधिक चिन्ताग्रस्त हैं। चिन्त्य है कि शिवजी ने नीति की दिशा "कुमुद द्विजराजू" से बताई है जैसा कि 'नयनानन्दजननः शशांक इव तीयधेः'[1] से स्पष्ट है। इस प्रकार भरतसमीप में राजा के पहुँचने का परिणाम स्मर्तव्य है।

संगति :—'गे जहँ' कहने के अनन्तर सभा का आरम्भ कहना छोड़कर शिवजी २९३।७-८ में उक्त 'प्रेमहि न प्रबोधू' का परिणाम बता रहे हैं यतः उसमें अधिकृत समाज और देव है उनमें से समाज के स्नेहयुक्त अप्रबोध का परिणाम ३०२।४ में कहा जाएगा। अभी भरतोक्त श्रवण से साधुसमाज पर भयातात्कालिक परिणाम सुना रहे हैं।

चौ० :—सुनि सुधि सोचबिकल सब लोगा। मनहुं मीनगन नवजलजोगा ॥५॥

भावार्थ :—यह समाचार सुनकर सब सोच में व्याकुल हो गये। जैसे नया जल आने से मछलियाँ व्याकुल होती हैं।

सुनि सुधि (नैराश्य)

शा० व्या० :—"सुनि सुधि" से यह कहना है कि तत्तत्स्थानों में बिखरे अवध व मिथिला के वासी समाज को आशा थी कि आज समस्या का समाधान अवश्य होगा परन्तु वह न हुआ अतः "सुनि सुधि" कहा है।

सोचबिकल

समाधान न होने का समाचार सुनकर पर्यवसान यह हुआ कि श्री राम, मुनि से, मुनि राजा से, राजा जनकजी भरतजी से पुनः भरतजी, जनकजी से ही प्रश्न पूछने में व्यस्त हैं, पर किसी को उत्तर प्राप्त नहीं हुआ परिणाम यह कि उभय समाज में व्याकुलता फैल गई जो अतित्रासदायी हो रही है अतः "बिकल" कहा है।

---

१. नीतिसार।

सब लोग (चिन्ता का प्रयोजन)

साधु कहे जाने वाले समाज की चिन्ता का प्रयोजन २९३।७-८ में स्पष्ट होगा जैसा कि अबोध साधुओं की मति का परिवर्त्तन करने में विघ्न पहुँचाने हेतु इन्द्रमाया का सफल होना प्रसिद्ध है।

मीनगन

चित्रकूटस्थित समाज की वेदना नूतनजल स्पष्टमीन की वेदना से तुलित की है अर्थात् समाज की वेदना को देखकर शिवजी, नवजलप्रवाहयुक्त मीनकी वेदनारूप उपमान को परिज्ञात करा रहे हैं इस उपमानोपमेयभाव से समाज की अन्तिम घड़ी बताई जा रहीं है जो विफल होने पर निर्णीत है।

संगति :— सात्विक कहे जाने वाले विकल से देवों ने स्वार्थान्धता में की हुई कुचाल सुनावेगें। जिस सेवाधर्म की कठिनता के साथ मुनि राजा व भरतजी की सेवातत्परता अनुमित करानी है। उसका आरंभ देना चिन्ता से कर रहे हैं। जो साध्य भक्ति प्राप्त करने में महान् विघ्न है।

अथवा भरतजी की निर्भयता दिखाने हेतु उनमें अन्धत्वाभाव व अबोधाभाव कहना है। तदर्थ सरस्वती जी का छिपना व इन्द्रमाया का वैयर्थ्य समझाना है उसका उपक्रम देवचिन्ता से कर रहे हैं।

अथवा 'अमात्यसंपदोयेताः सर्वाध्यक्षाः शक्तितः कर्मसु नियोज्याः। कर्मसु चैषां नित्यं परीक्षांकारयंत् अश्वसधर्माणों हि मनुष्य कर्मसु नियुक्ता विकुर्वंति इस अर्थशास्त्र के चबनानुसार भरतजी में चित्तानित्यता न होने से परीक्षणोर्थापयोगिता का प्रतिषेध समझाना है तदुपयोगितया इन्द्रमायावैयर्थ्य बताने का उपक्रम देवचिन्ता से कर रहे है।

चो० :—देव प्रथम कुलगुरगति देखी। निरखि बिदेहसनेहबिसेषी ॥६॥
रामभगतिमय भरतु निहारे। सुर स्वारथी हहरि हियँ हारे ॥७॥

भावार्थ :—देवों ने प्रथमतः गुरु जो की गति देखी फिर राजा जनकजी के स्नेह विशेष को देखा। बाद में श्रीरामभक्तियुक्त भरतजी को देखा तो उन्हें स्वार्थपूर्णता में निराशा अनुभूत हुई।

कुलगुरगति देखी

शा० व्या० :—कुलगुरुजी ने अपना बोझ उतार कर पूर्वनिरूपित उदासीनता को स्वीकारना "कुलगुरगति" है। जैसा कि पूर्व में 'भरतसनेह बिचारु न राखा'[1] से कहा है। पूर्णनेतृत्व होना प्रथम से ध्वनित है।

देखी" से नैराश्य की सूचक स्थिति स्फुट है।

बिदेहसनेह

विदेह :—प्रपन्न भरतस्नेह से संक्रमित प्रेमसमाधिस्थ राजा जनक जी "बिदेह" से बोध्य हैं।

---

१. २।२५।९

सनेह :—जनकजी का सीताप्रेम में चित्रकूट आना देखकर देवों को आशा की किरणें प्रतीत होने लगी थीं, अभी तो उनका (जनकजी) भरत जी के प्रति झुकाव (अनुराग) स्पष्ट हो रहा है जैसा कि जनक-सुनयना संवाद[1] में स्फुट हो चुका है।

बिसेषी

"बिसेषी" का निष्कर्ष दोहा २८९ के अन्तर्गत चौ० में वर्णित प्रेम को स्पष्ट करने में है।

राम भगतिमय

भरतजी के बारे में देवों ने श्रीराम-भरत संवाद में, 'सुसाहिब सेवा' कहते समय की स्थिति यहां भी देखी इसलिए कि उनका भक्तिमय सेवाधर्म सिद्धिरूप में सफल हो रहा है यदि ऐसा हुआ तो श्रीराम का आगे बढ़ना असम्भव सा लग रहा है।

स्वारथी

"स्वारथी" का तात्पर्य देवों के लिए प्रभुप्रदत्त जीविका में हैं वह राक्षसों के द्वारा अपहृत है उसको वापस लेने की इच्छा रखनेवाले स्वार्थी हैं।

ज्ञातव्य है कि स्वार्थ राग इतना तीव्र होता है कि तदधीन प्राणी विवेक को सर्वथा भूल जाता है उसका यही परिणाम है कि गुरु एवं जनकजी का अंकुश समाप्त होने से निरंकुश भरतजी श्रीराम को लौटाकर स्वस्थ होंगे ऐसा निर्णय इन्द्रजी ले रहे हैं।

हहरि हियँ हारे

निराशापूर्ण स्थिति होना "हहरि हियँ हारे" है।

भरतजी के सेवा धर्म के पुण्यप्रभाव से श्रीराम ने भक्तवश्यता में "आयसु देहु" के सम्बन्ध के प्रति तूष्णींभाव में रहना तथा सबकी स्निग्ध चित्तवृत्ति का भरतजी के प्रति आकृष्ट होना स्फुट हो गया हैं। फलतः स्वार्थ निरपेक्षभक्तिसेवा में तन्मय भरतजी केसंकल्प (आवहि बहुरि रामु रजधानी) की अतितीक्ष्ण प्रबलता को ध्यान में ले आने वाले देवों के हृदय में "हहरि हियँ हारे" होना कहा है।

संगति :—सेवाधर्म व सत्यसन्धता का बलाबल विचार कराते हुए 'हहरि हियँ हारे' का अनुभाव स्पष्ट कर रहे हैं।

चौ० : - सब कोउ रामपेममय पेखा। भए अलेख सोचबस लेखा।।८।।

भावार्थ :—सबका श्रीराम के प्रेम में ओत-प्रोत होना देखा तो देव इतने सोचवश हुए कि उसका वर्णन नहीं किया जा सकता।

रामपेममय

शा० व्या०—'गति[2] सनेह[3] तथा' 'भगतिमय[4] रूप अननुगत भाषा को

शक १. २।२८९ २. २।२९३।६ ३. २।२९४।० ४. २।२९४।७

अनुगत रूप से समझाने के लिए "रामपेममय" कहा है। संपूर्ण समाज ने रामादेश को मानने में रुचि रखना ही "रामपेम" से ध्वनित कर है।

अलेख

"अलेख" से सर्वत्र श्रीरामप्रेम देखकर देवों के हृदय में उदित चिन्ता की अपरिमितता परिलक्षित है।

सोचबस

स्वसंकल्प (आवहि बहुरि रामु रजधानी) के विरोध में भरतजी ने 'जो जेहि आयसु देव कहा इसपरस्पर विरोधी स्थिति में इन्द्रजी ने श्रीराम का संकोच देखा जिससे उन्हें प्रतिभात हुआ कि श्रीराम चाहते हैं कि भरतजी अपना संकल्प त्याग दें। इस अभिप्रायरूप बल को प्राप्त कर भरतजी के सिद्धिरूप (सख्य) स्नेह में बाधा पहुँचाने हेतु सरस्वतीजी से प्रार्थना करना सोच रहे थे इतने में ब्रह्मविद्या (जनकजी) का आगमन देखकर उन्हें आशा हुई कि वे अपना निर्णय सुनायेंगे पर वह कार्य हुआ नहीं वरन् समस्त विद्यासमेत ब्रह्मविद्या का भरतजी के साथ मिलन हो जाने से उनका (भरतजी) पक्ष प्रबल ही हुआ ऐसा देखकर इन्द्रजी को सोच हुआ है जिसे शिवजी "सोचबस" कह रहे हैं। सोचबस के परिणाम में सुरराज से वृहस्पति मत्रणा का वैयर्ध्य भी शिवजी "सोच बस" से कह रहे हैं। ज्ञातव्य है कि कर्मविद्या, ब्रह्मविद्या व भक्ति ने प्रभु का अभिप्राय समझकर उनके चरणों में अपने को समर्पित करने से उन्होने 'रघुपति रखुआरा' की योग्यता प्राप्त की है यदि उसे प्राप्त न किया जाता तो तीनों विद्याओं में निष्णात साधु व्यक्तियों के रामस्नेह रूप सिद्धि (संख्य) कार्य में बाधा पहुँचाने वाले तत्व कार्यान्वित होते पर वैसा नहीं हुआ जो अग्रिम ग्रन्थ से ध्वंनित होगा।

संगति :—भरतीयकार्यपूर्ति में बाधक व्यक्तियों में अधिकृत इन्द्रजी हैं अतः उनकी कृति शिवजी निरूपित कर रहे हैं जिससे कर्मविद्या व भक्तिविद्या में परस्पर भेद उपस्थित हो जाय।

अथवा निर्भय भरतजी को अबोध दांभिक मानो समझकर उसके परीक्षणार्थं स्वार्थी सुरराज भयभीत हो भरतजी को गिराने की भूमिका पूर्वपक्ष में बता रहे हैं।

दो०—**रामु सनेहसकोचबस कह ससोच सुरराजु।**
रचहु प्रपंचहि पंच मिलि नाहित भयउ अकाजु ॥ २९४ ॥

भावार्थ :—देवपति इन्द्रजी सोचवश हो कहने लगे कि श्रीराम तो संकोचवश है। अतः हे पंचो ! सब मिलकर कोई प्रपंच रचो नहीं तो अपना स्वार्थ बिगड़ेगा।

रामुसनेह (पूर्वपक्षविषय)

शा० व्या०—"सनेह" का अन्वय 'बस' के साथ है। समस्तविद्यासमन्वित भरतजी प्रभृति की सेवा देखकर स्वामिधर्म को अपनाने वाले श्रीराम का समस्त विद्याधिष्ठित भक्त के प्रति स्निग्ध होना व तदधीन होना 'स्नेहवश' होना है।

संकोचवस

समस्तविद्या समन्वित राजनीत्यधिष्ठित भक्तों के विरुद्ध कार्य करने में प्रभुको संकोच होना "संकोच बस" है।

श्रीराम देवों के कार्य में अग्रसर होते हैं तो भक्तिविरोध होगा भक्तिपक्ष की ओर झुकते हैं तो स्त्रावतार कारणभूत संकल्प का विरोध होगा इस प्रकार श्रीराम के लिए उभयतः पाशारज्जु होना 'संकोचबस' से ध्वनित किया है।

कह ससोच

"सोच" का स्वरूप इसी दोहे के ८वीं चौपाई में उक्त 'सोचबस' की व्याख्या से ज्ञातव्य है।

सुरराजु

भारतीय राजनीत्यनुसार राजा, राज (क्षात्र) धर्म का अनुयायी व प्रजापालन धर्म में अधिकृत हैं तदनुसार 'सोच' (दोहा २९४।८) में निर्दिष्टससोच व श्रीराम के अभिप्राय के वल पर क्षात्रधर्म की स्थापना हेतु समस्त विद्यासमेत भक्तिको दुर्बल किया जाय तो उसमें कोई अनुपपत्ति नहीं आवेगी जैसा कि श्रीरामराज्योत्सव पर प्रसिद्ध है इस सूक्ष्मतत्व को परिज्ञात करना "सुरराजु" से ध्वनित है।

अतएव बृहस्पति जी के द्वारा रामभक्त 'सेवक सेवकाइ' से संकेत भरतजी पर फूल वरसाने वाले इन्द्रजी ने पुनः भरतविरोध में उपाय सोचना उपपन्न है।

इन्द्र में परिज्ञातव्य तथ्या

स्मर्तव्य है कि भरतजी के पूर्वापरवचनार्थ को न समझकर अप्रबोध में रहे देवो ने श्रीरामको संकोचबस देखकर इसका दूसरा अभिप्राय सकझना देवों में परिज्ञातव्य तथ्य है।

प्रपंचहि

"प्रपंचहि" से छलप्रयोग विवक्षित है जो प्रबलतर शत्रु के प्रति कूटयुद्ध के प्रयोग के ज्ञापनार्थ हैं यतः भरतजी के सेवाधर्म को समस्त विद्यासमेत संपूर्ण समाज के आश्रय में बलप्राप्ति हो गई है।

पंचु

"पंचु" से देवसभा समझनी है। अर्थात् सभी ने मिलकर सामूहिक रूप में छलप्रयोग करना 'पंचु' का निष्कर्ष है। इस प्रकार पूर्वपक्ष का विषय स्फुट है।

नाहित भयउ अकाजु

"नाहित भयउ अकाजु" से प्रपंच रचनाऽभाव में जगद्विनाश (वर्णाश्रम विनाश) आपाद्यरूप में स्पष्ट किया है। यहाँ राजनीतिसिद्धान्त स्मर्तव्य है कि राजा के

लिए मंत्रियों के साथ मंत्रणा करने पर भी स्वयं ने स्वतंत्र मंत्रणा का विधान नीतिसार में प्राप्त है इसी को इन्द्रजी के अनुष्ठान से दर्शाया है।

सुरगुर्वाज्ञा का विरोध व उसका परिहार

यद्यपि वृहस्पतिजी ने इन्द्रजी को छल न करने की मन्त्रणा सुनाई है तथापि वह साधनभक्ति परक थी। अभी का प्रयोग सख्यरूप सिद्धात्मक रामस्नेह में बाधा पहुचाने हेतु सोचा जा रहा है। अतः सुरगुर्वाज्ञा का विरोध नहीं है। अथवा बृहस्पति जी की मन्त्रणा में भक्तिमिलना भाव सोचा था अभी सिद्धि में प्रतिबन्धक तथ्व सोचा जा रहा है इस प्रकार विरोध व उसका परिहार मननीय है।

संगतिः—देव, भरतजी को सिद्धि रूप सेवाधर्म से मोड़कर अवध को ओर लौटा कर सम्पूर्णविद्यानुमोदित पक्षको दुर्बल बनाने के प्रयत्न में सरस्वतीजी से प्रार्थना कर रहे हैं जो चुप्रपं पंच मिलि का कायन्वियन हैं। जो भरतजी को मानान्धत्व प्रसक्ति में ही साधक होगा।

चौपाई :—**सुरन्ह सुमिरि सारदा सराही। देबि ! सरनागत पाहीं ॥ १ ॥**

भावार्थः—देवगण, शारदामाता का स्मरण कर उनकी स्तुति करने लगे कि आप हम शरणागतों की रक्षिका हों।

सुमिरि शारदा (पूर्वपक्ष का कार्यान्वयन)

शा० व्या० स्मरणमात्रेण सरस्वतीजी का मूर्तिरूप में प्रगट होना देवों के लिए सहज होने से उन्होंने शारदाजी का स्मरण किया है।

सारदाः—'सारदा' से विवेकवती, मत्यधिष्ठात्री देवता बोध्य है ?

सराही (सरस्वती की प्रार्थना)

नीतिसमन्चित भक्ति की सेवा में रहते सर्वत्र रामसेवा की प्रतिष्ठा करने में सयाने साधुओं को साध्य सख्यरूप सेवा से च्युत कराने में सरस्वती जी ही अधिकृता है जो कैकेयीमतिपरिवर्तन में प्रसिद्ध है अतः सरस्वती जी की सराहना की है।

सरनागत पाहीं

"सरनागत" से देवों ने समझी आपत्ति ध्वनित है। सेवाभक्ति रूप प्रबलप्रमाण के सामने अपनी वनवासप्रतिज्ञाभंग करने में श्रीराम को संकोच नहीं होगा। जैसा कि श्रीकृष्णजी ने युद्ध में भीष्मजी की प्रतिज्ञा के विरुद्ध शस्त्रउठाकर अपने अप्रमाण वचन को प्रमाणित किया जो गूढ़तया अप्रमाण हो या, 'पाही' कहकर देवों ने अपनी दीनता व्यक्त की है।

संगति :—समस्तविद्यासमन्वित भक्ति के द्वारा श्रीरामको वनवासानुमति देने के लिए देवगण उपायतया माया का प्रयोग करने का संकेत कर रहे हैं।

चौपाई :—**फेरि भरतमति करि निजमाया। पालु बिबुध कुलकरि छलु-छाया ॥२॥**

भावार्थ :—हे देवि ! अपनी माया से भरतमति को बदल दें व कपट की छाया कर देवों का पालन करें।

फेरि

शा० व्या० :—दोहा २।२८९।८०७-८ में भक्ति व उसकी इतिकर्तव्यता निरूपित है उसमें वैपरीत्य पैदा करना 'फेरि' का अर्थ है। उसका भाव भरतजी की मति को गृहासक्ति की ओर झुकाने में हैं। जैसा कि घर की ओर समाज के झुकाव से स्फुट होगा।

भरतमति

'भरत' से राजनीत्यधिष्ठित भरतजी बोध्य हैं। ज्ञातव्य है कि समस्त विद्याओं के ओर एक अर्थ का संबल होने पर भी भरतजी का नाम लेने का कारण भक्ति की प्रधानता है। 'जो भरत के हाथा' (२।२६५।६) से समन्वित है।

निजमाया

गृहासक्ति रूप विपरीत कार्य में सरस्वतीजी का स्वतंत्र संकल्प होना "निजमाया" का तात्पर्य है जैसा कि भावप्रकाशनोक्ति से स्पष्ट है।

सद्रूपोद्भावना माया स्वत एव सतः पुरा। अथवाऽन्यपदार्थानामन्यथाकृतिरेव वा।

इन्द्र की भूल

ज्ञातव्य है बुद्धि की देवी सरस्वतीजी भरतजी को अबोध व अन्ध समझती नहीं है फिर भी भरतजी के प्रति उनसे प्रार्थना करना इन्द्रजी की भूल है।

बिबुधकुल

रावण के द्वारा अपहृत जीविकावाले देवसमूह 'बिबुधकुल' हैं।

छलु छाया

'छलु' की व्याख्या २।२८८।५ में ज्ञातव्य है। कैकेयीजी व मन्थराजी के मति-वैपरीत्य में सरस्वतीजी की इच्छा नियामक हुई उसकी आड में देवगण को बचने का मार्ग प्रशस्त हुआ वैसी ही इच्छामात्र वहाँ अभिलषित है। अतएव छाया कहना उपपन्न है।

छाया

भरतजी अन्तर्नाद से सुनकर कार्य करते हैं वे सरस्वती जी के अधीन हैं उसी को देवकार्यानुकूलता में संपन्न कराना "छाया" का भाव है। परिणाम में सरस्वती जी को प्रगट नहीं होना है।

संगति :—सरस्वतीजी ने भरतीय मति में विपरीत कराने का प्रतिषेध सोचना ग्रन्थकार कह रहे हैं।

चौपाई :—**बिबुधबिनय सुनि देबि सयानी। बोली सुर स्वारथ जड़ जानी ॥३॥**

भावार्थ :—देवों को प्रार्थना सुनकर तर्ककुशलादेवी देवों को स्वार्थी व मूर्ख समझकर बोल रही हैं।

देबि सयानी

शा० व्या० :—श्रीरामराज्योत्सव के अवसर पर बाधा पहुँचाने के पूर्व जैसे देवी ने सद्विचार किया था उसी प्रकार से यहाँ भी उनका सत्परामर्शपूर्वक विचार करना 'देबि' से समझाया है।

सयानी :—सुरगणों के अपेक्षया सरस्वतीजी में वैधर्म्य 'सयानी' से समझाया है जिसमें उनकी निस्वार्थवत्ता व प्रतिभावत्ता स्पष्ट हैं।

बोली

देवकुलप्रार्थना के अनौचित्य को ध्यान में लाकर तदनुगुण नादका उच्छलन होना ही बोली, का आशय है उसका प्रत्यक्ष सरस्वती कर रही है। "बोली" का अन्वय ७वीं चौपाई पर्यन्त ज्ञातव्य है।

सुर स्वारथ

सुर :—श्रीरामाभिप्राय के प्रति तर्ककुशल देव 'सुर' से बोध्य है 'स्वारथ' से 'बैरु अन्धु प्रेमहि न प्रबोधु' में उक्त उपाधि विशिष्ट देवो के द्वारा जगत्कल्याण विचार व ईश्वरप्रदत्त स्वाधिकारप्राप्ति की इच्छा का उच्छलिन होना बता रहे हैं। जो बोली शीर्षकोक्त अनौचित्य का व्याख्यान है।

जड़

शिशुपन से उछले सेवाधर्म को सहजवासनया अपनाने वाले भरतजी जनकजी आदि सभी भक्ति से रघुपति शरण के पूर्ण अधिकारी हैं। वैसे भरतजी प्रभृति के साध्य भक्ति के प्रतिबन्ध में देवों ने विचार करना उनकी जड़ता है। वह जानी से संबद्ध है।

संगति :—इन्द्रजी ने प्रभु के अभिप्राय बल को लेकर आपत्ति बहाने अपना पक्ष उपस्थापित किया है उसका उत्तर दो प्रकार से विचारणीय है एक स्वोक्त अर्थ का बाध होना और दूसरा अनुष्ठानतः। उनमें देवोक्त अर्थ का अप्रामाण्य प्रथमतया सुना रही है।

चौपाई :—**मोसन कहहु भरतमतिफेरू। लोचनसहस न सूझ सुमेरू ॥४॥**

भावार्थ :—मुझसे भरतमति फेरने के लिए कह रहे हैं। उनका यह कहना हजारों नेत्रों से सुमेरु को न देखने के समान है।

मोसन कहहु

शा० व्या० :—मोसनः—श्रीरामभरतोभयाभिप्रायज्ञा देवी मच्छब्दार्थ है। आरम्भ में रामराज्यविघ्न कर्तृत्व व कैकयी मति फेरी कर्तृत्व सामानाधिकरण्य मात्र सरस्वती जी में देखकर इन्द्रजी ने सरस्वतीजी को 'फेरि भरतमति रूपकार्यसंपत्ति के प्रति नियुक्त करना 'कहहु' से समझना है।

भरतमति फेरू

स्वापत्तिनिवारणोपाय कहकर 'सेवाधर्म' में विघ्न पहुँचाने हेतु घर की ओर झुकाव होने के अनुकूल भरत मति होना मतिफेरू है।

लोचन सहस न सूझ

सहसा मंत्रियों की संपत्ति इन्द्रजी को प्राप्त होना सहस्त्रलोचन है।
मति फेरने की बात सोचना न सूझ है।

सुमेरू

वृहस्पतिजी ने सुनाये पूर्ववचन सुमेरु के समान अत्यन्त स्थूल रूप में स्पष्ट हैं वैसे स्थूल का प्रत्यक्ष होने में मनोयोगमात्र की अपेक्षा होना "सुमेरू" से ध्वनित है।

संगति :—'पालु विबुध' कहकर चौ० २ में इन्द्रजीने सरस्वतीजीको प्रेरणा दी है उससे अनुमीयमान प्रवृत्तिसाध्यता का अभाव सरस्वतीजी तर्कपूर्वक बोल रही हैं।

चौपाई :–**बिधि हरिहरमाया बड़ि भारी। सोउ न भरतमति सकइ निहारी ॥५॥**
सोमतिमोहि कहत करु भोरी। चंदिनि कर कि चंडकरचोरी ॥६॥

भावार्थ :—ब्रम्हा, विष्णु, महेश्वर जी की माया भरतजी की मति को फेरने में समर्थ नहीं है। उस भरतमति को फेरने के लिए हमसे कहा जा रहा है क्या चाँदनी प्रचण्ड किरण युक्त सूर्य को चुरा सकती है?

विधि हरि हर माया

शा० व्या—'बिधि' आदि का क्रमोल्लेख सृष्टि स्थिति संहारानुरोधेन किया है। निष्कर्ष यह कि सृष्ट्यादिभेद प्रयोजककालानुगमन में तत्तत्समय से बिधि हरिहरों की माया (इच्छा या बल) का प्राबल्य चिन्तित है।

सोउ

"सोउ" से त्रिदेवों की माया विवक्षित है।

न सकइ

त्रिदेवों की माया में भरतमति परिवर्तनानुकूल व्यापाराश्रयत्वाभाव 'न सकइ' से स्पष्ट है। यहः भरत प्रभु के ही कार्य को पूर्ण कर रहे हैं।

सो मति मोहि

'सो' से ब्रह्मादि से परिवर्तनीयत्व विशिष्ट विवक्षित है वह मति का विशेषण है।

मतिफेरी के अनुकूल व्यापाराश्रयत्वाभाव में स्वमायानिष्ठत्व की कैमुतिकता को 'मतिमोहि' से व्यक्त कर रहे हैं।

अथवा मतिः—भरत बुद्धि वाचक है जो रघुपतिरक्षित है। अभी तो भरतजी को सिद्धि हो चुकी है अव वह किसी की माया से परिवर्तित होनी ही नहीं है इसलिए 'सोमति मोहि' कहा है।

भोरी

'भोर' भोरी से मति अन्वित है उसकी व्याख्या मतिपरिवर्तनपरक है। उसका भाव गृहासक्ति की ओर है।

चान्दनी से ध्वननीय

जिस प्रकार चान्दनी ने सर्वत्र नयनानन्द लहर से तृप्त कराते हुए प्रसन्नता में ताराओं को अभिभूत करना प्रसिद्ध है उसी प्रकार श्री की ससंकोच राम प्रसन्नता का अभाव रूप रात्रि में विषय सुख में जीवों को तृप्त करनेवाली सरस्वती जी ने कर्मनिष्ठ उपासक व ज्ञानियों की मति को अभिभूत करना ध्वनित किया है।

चण्डकर

"चण्डकर" से 'रघुपति रखुवारा' से अनुप्राणित भरतमति में अपरिवर्तनीत्त्व रूप अतितैक्ष्ण्य होना समझाया है उसका अभिभव करना असंभव है।

संगति :—सूर्यकिरणों को चुराना असंभव है ऐसा समझकर भी आवरण रूपसे भरतजी के हृदय में अन्धकार लगाना क्या संभव नहीं? इसका समाधान सरस्वतीजी प्रस्तुत कर रही हैं।

चौपाई :—**भरतहृदय सियरामनिवासू। तहँ कि तिमि र? जहँ तरनिप्रकासू ।।७।।**

भावर्थ :—भरतजी के हृदय में श्रीसीताराम स्वयं निवास कर रहे हैं वहाँ अन्धकार की क्या प्रसक्ति हो सकती है?

भरत हृदय

शा० व्या०—साधुसभा के अंकुश में स्थित साधुसयाने विवेकी प्रपन्न श्रुति निचोरानुष्ठान में तत्पर भरत जी भरत पदार्थ है।

उनका मा भटनसद्ध शंका हृदय हृदय में विवाक्षित है जो संपूर्ण सामान्य धर्म से ओत प्रोत निर्मल है। यही सीता राम निवास स्थल है।

सियराम (औदासिका भाव)

सियराम :—संकोचासमानाधिकरणप्रसन्नताविशिष्ट शक्तिमान् (नीतिमान्) सगुण शरीरी यहाँ राम से बोध्य है। यदि समस्त विद्यासमन्वित भक्तों के हृदय में

श्रीराम ही दृष्टिगोचर नहीं होते हैं तो वे उदासीन श्रीराम समासीन कहे जाते हैं जैसा कि अध्यात्म रामायण में 'रामो न शोचति न तिष्ठति' आदि से वर्णित है। औदासीन्य सीता-विशेषण से निरस्त है यही 'सियराम' का तात्पर्य है। एवं च स्वयं श्रीसीतारामजी का कमठ की भाँति भरतजी के हृदय में ध्यानद्वारेण निवास की प्रयोजन अन्धत्व व अबोध को अवकाश न देने में है इसी हेतु से शिवजी ने स्वहृदय में श्रीसीताराम का ध्यान करना बाल काण्ड में बताना स्मर्तव्य है।

निवास

श्रद्धाविश्वासविशिष्ट ने अन्तः सियराम का दर्शन करना निवासपदार्थ है।

तरनि

'तरनि' से श्रीसीताराम विवक्षित हैं उनके प्रकाश से देदीप्यमान भरतमति चारों ओर से सत्वपरिपूर्ण है उस अवस्था में अन्धकार को फैलानेवाली माया या तत्सदृश विशेषादर्शनादि उनपर आवरण नहीं कर सकते फलतः भरतजी पर प्रपंच रचना श्रीरामविरोध के समान हैं। यहाँ तक सरस्वती जी का वोल समाप्त है तथा अर्थतः देवीका वाध बताया गया।

संगति :—चौथी चौपाइ की संगति की उक्त्यनुसार इन्द्रोक्तार्थ अर्थ के अनुष्ठानका अप्रामाण्य समझाने हेतु भरतजी के लिए कुचाल करने के प्रति क्षोभ प्रकट कर सरस्वती जी की भारतीय मूलाधारस्थ विधि के लीक में जाना कवि सुना रहे है।

चौ० :—अस कहि सारद गइ विधिलोका। बिबुध बिकल निसि मानहुं कोका ॥८॥

भावार्थ :—ऐसा कहकर शारदाजी भरतीय मूलाधारस्थ ब्रह्मलोक में गई। सत्र देवगण अति घत्ररा गए। जैसे रात्रि में चकवा।

अस कहि

शा० व्या० :—दोहा २।२९५।४-७ तक कीं उक्तियाँ "अस कहि" का विषय है।

विधिलोका (मूलाधार)

ब्रह्मपत्नी होने से उन भरत मूलाधारस्थ विधिलोक में जाना "गइ विधि लोका" से गाना उचित है। इस प्रकार सरस्वतीजी का तत्क्षण वहाँ से चले जाना—

निन्दां भगवत श्रुत्वा तत्परस्य जनस्य वा। ततो नापैतियः कोपि सुकृताद यात्यधश्गयुतः—को चरितार्थ कर रहा है।

सरस्वती जी विघ्नपराधमा प्रार्थना का अवसर सोच रही थीं उतने में इन्द्र से आपत्ति व प्रपंच सुनाइ बात सुनते ही मौका देखकर भरतशरीर में घूस गई। श्रीराम-राज्य में विघात करना अपराध है।

भा. १०।७४।३९

भारतीय मूलाधार में सरस्वती प्रवेश की उपपत्ति

भरतजी के मूलाधार में सरस्वतीजी ने प्रवेश इसलिए किया कि २।२९६। से २।३००।८ तक में वक्ष्यमाण विषय उदर्याग्नि ज्वाला के माध्यम से नाद के रूप से भरतजी को सुनाई दे रहा था जो पूर्व सभाओं में प्रगट नहीं हो सका। फलतः भरतजी के द्वारा विवेकधात प्रपत्ति की स्थापना होगी सरस्वती जी करेगी व सम्पूर्ण विसक्ताओं व श्रीराम को पूर्ण सन्तोष होगा उसके अनन्तर उत्तर सुनाने में श्रीराभ भी संकोच नहीं करेंगें। यही भरतीय मूलाधारात्मक विधि लोक में सरस्वती जी ने जाने की उपपत्ति है।

सरस्वतीमाया का कर्तृत्व

मृत्यु को जीतकर जीय अपना अधिकार त्रिलोक में स्थापित करने की चेष्टा कर ब्रह्माजी से वर पाता है उस समय उसी जीव ने कहीं न कहीं मृत्यु की योजना वनाए रखना सरस्वती माया के कर्तृत्व का प्रभाव है।

अथवा :—जगन्मंल के प्रति वनाए ईश्वर-विधान में विरीध रूप में भक्त वचन नान्तरी यकतया अभीष्ट होते हैं उस अवस्था में भक्तमति में परिवर्तन का कर्तृत्व सरस्बती माया में है। अन्यत्र इन्द्रमाया का कर्तृत्व ज्ञातव्य है।

संगति :—सरस्वतीजी ने चौपाई ५-६ में कहे द्विविध अप्रामाण्य को ग्रन्थकार प्रमाणित कर रहे हैं। जो अशक्येषु प्रबर्तसानस्व अंगवैकल्पं को व्यक्त करने वाले हैं।

दोहा :—**सुर स्वारथी मलीनमन कीन्ह कुमंत्रु कुठाटु।**
रचि प्रपंच माया प्रबलु भय, भ्रम, अरति उचाटु।।२९५।।

भावार्थ :—देव, स्वार्थी, मलिनमनस्क, कुमन्त्रनिपुण कुचाल करने वाले हैं। उन्होंने माया का प्रपंच रचते हुए भय, भ्रम, अरति, उच्चाटन का फैलाव भरतजी जनकजी, वसिष्ठजी प्रभृति समाज पर चला दिया।

स्वारथी

शा० व्या० :—"स्वारथी" से मिथ्याज्ञानप्रयुक्तरागदोषवान् बोध्य है।

अथवा इन्द्रजी ने रावणवधमात्र सोचना उनका स्वार्थ है इसलिए कि भरतजी यदि इन्द्रमाया के वश हो अवध में आसक्त कराये जायें तो श्रीराम का अयोध्यास्वामित्व व उनका राज्योत्सव संभव न होने से प्रपत्तिभक्ति सदा के लिए विलुप्त होगी।

मलीन मन

कर्म विद्या समैत ब्रह्मविद्या, व भक्ति का अंगांगिभाव टिके रहने से "रघुपति रखुवारा" भरतजी को प्राप्त ही हैं उस तथ्य को न समझना "मलीन मन" है। अथबा अतिपरिमितप्रमातृत्व होना 'मलीनमन' है।

कुमन्त्रु

"कुमन्त्रु" का व्याख्यान दुर्विचार है उसमें मूलशैथिल्य होने से न शुद्ध तर्क है न व्याप्तिपक्षधर्मता है न कार्यसमृद्धि ही है। अथवा चपलता कुमन्त्र से बोध्य है जिसका व्याख्यान 'अहमेव ज्ञानवान्' ऐसा अभिमान है।

अथवा निर्दुष्ट (भरतप्रपन्न) व्यक्ति पर प्रतिलोमात्मक मायादण्ड का प्रयोग सोचना कुमन्त्रु है या दुर्विचन कुमन्त्र से बोध्य है।

मलिनादि से सिद्धान्त का स्मरण

स्वर्ग की कामना से जन्मान्तर में इन्द्रजी ने शत अश्वमेध यज्ञ पूर्ण किए परन्तु वे कर्म इन्द्रमनोगत विषयवासना का उन्मूलन न कर सकें परिणाम में पुरन्दर जी को स्वर्ण सिंघासन उपलब्ध होने पर भी वे सुजान अभक्त ही रह गये अपने स्वार्थ की उत्कट राग में उन्होंने प्रभु को साधन माना है प्रभु ने भी तदनुबन्धो कार्य का आरम्भ किया उस क्रम में श्रीराम को अवध स्वामित्व त्यागना पड़ा, प्रपन्नों के मनोरथ धूमिल हो गये उसके निरासार्थ भरतजी ने प्रभु को स्वामी वने रहने का उपक्रम किया हैं। उस विवेक पर इन्द्र की विषयवासना ने अन्धियारा छा दिया इसलिए कि उन्होंने धर्मकृत्य को भक्ति का अंग नहीं माना है। इस प्रकार अक्षीण वासनों को 'मलीनमन' आदि कहकर भक्ति एवं धर्म का अंगागिभावसिद्धान्त स्थापित हुआ है।

माया

माया पूर्व में व्याख्यात है ज्ञातव्य है। कि जैसे जादूगर, मंत्रप्रयोग से माया फैलाता है वैसा ही मन्त्र इन्द्रजी ने ब्रह्मण्य पर चलाया है। अभी इस माया प्रयोग का उद्देश्य भरतजी मुनि व राजा हैं न कि सम्पूर्ण समाज यतः इन्द्रजी समाज पर माया का प्रयोग आगे करेंगे।

भय भ्रम अरति उचाटु

भय —प्रीतिमान् होते हुए भी प्रिय से अपने प्रति भविष्य में अहित की शंका करते रहना "भय" है। भयशब्द त्रासका उपलक्षक है जो वर्तमान में अहित की शंका का बोधक है।

भ्रम :—बाधित अर्थ में वस्तुतथ्य का दर्शन होना "भ्रम" है।

अरति :—प्रीतिमान् से अलग होना अथवा उदासीन होना "अरति" है।

उचाटु :—अपने परिवार को त्यागकर स्वामी की सेवा में आए व्यक्तियों को परिमितप्रमातृभाववशता में अपने परिवार के प्रति मनस् का आकर्षण होना "उचाटु" है।

यह माया तब स्फुट होगी जब समाज अपने-अपने घर जाने के सोच में अवध के लिए उतावला होगा।

संगति :—माया वल प्रयोगवैयर्थ्य इन्द्रसोच से सुना कर सरस्वत्युक्त अप्रामाण्य विषय को पूर्ण कर रहे हैं।

चौ० :—**करि कुचालि सोचत सुरराजू। भरतहाथ सबु काजु आकाजू ॥१॥**

भावार्थ :—कुचाल करके निष्फलता में इन्द्र सोचने लगे कि अब तो सब कार्य-अकार्य भरतजी के ही हाथ में है।

कुचालि

शा० व्या० :—निष्फल प्रतिलोम उपायात्मक माया से ब्रह्मण्य को दण्डित करना "कुचालि" है।

सोचत

"सोचत" से इन्द्र ने किया 'भरतहाथ' शीर्षक निर्दिष्ट अनुमान ज्ञातव्य है। अपनी असफलता पर इन्द्रजी का सोचना वैसा ही है जैसा कि वसिष्ठजी, जनकजी प्रभृतियों ने स्वनिर्णायिकत्व के वारे में सोचा है।

सुरराजू

सुर :—'सुरशब्द मलिनमनस्कता आदि गुण विशिष्ट का उपलक्षक है।

सुरराजू :—ब्रह्मण्य के प्रति छलप्रयोगकर्ता अनीतिज्ञ 'सुरराजू' से बोध्य है।

भरतहाथ सबु काजु अकाजू

"भरत हाथ सबु काजु अकाजू' से न्यायाभिमत अनुमानप्रणाली स्मर्तव्य है—

"वनवासादिरावणवधान्तकार्यप्रसक्त्यप्रसक्त्यन्यतरत् भरतेतरानधीनं सत् भरताधीनं, श्रीरामवसिष्ठजनकैकवाक्यार्थत्वात्।

ध्यातव्य है कि भरत जी जैसे उक्तगुणसंपन्न पर इन्द्र जी का प्रयोग चल नहीं सका ऐसा कह कर रामायण ने भभक्तों को अभय होने का राजमार्ग प्रस्तुत करते हुए भरतजी में अन्धत्वाभाव व अबोधाभाव प्रमाणित किया है।

अंगभूत और अनंगभूत विद्या में अन्तर

जनकोक्त"भलनाहीं" (२९२।२) की एकवाक्यता में अपना भला होना सोचकर अंगभूतविद्या (सरस्वतीजी) भक्तों से टकराव नहीं लेतीं है। अनंगभूत विद्या इन्द्रजी के माध्यम से माया का सहारा लेकर प्रपन्नमति को परिवर्तित करना सोचती है। यह उसकी स्वार्थलिप्सा का प्रभाव है तथा सफलता प्राप्त करने में रुकावट का अनुभव करतीं हैं यही अंगभूत एवं अनंगभूत विद्या में अन्तर है।

संगति :—इन्द्रजी ने जिस समय भरतजी को दण्डित करना चाहा उसी क्षण भरतसमेत जनकजी का रामदुर्ग में पहुँचना सुना रहे हैं उसका परिणाम मायावैयर्थ्य के साथ 'गे जहं' (२।२९४।४) से कड़ी जुटना है।

चौ०—गए जनकु रघुनाथसमीपा। सनमाने सब रबिकुलदीपा ॥१॥

भावार्थ :—इधर राजा जनकजी, श्रीराम के पास आए। तब रघुकुल के दीपक ने उनका सम्मान किया।

गए जनकु

शा० व्या० :—मुनि आदि में गमनकर्तृत्व न दिखाकर यहाँ केवल जनकजी में गमनतृत्व बताने का कारण प्रस्तुत मन्त्रणा में उन्हीं की प्रधानता को स्पष्ट करना है।

रघुनाथसमीपा

रघुनाथ रूप दुर्ग म आश्रितत्व 'समीप' से स्फुट किया है उसका परिणाम सब समाज का माया से त्राण है।

सनमाने सब

"सनमाने सब" से तीसरी सभा के रूप में सब समाज का एकत्रित होना ज्ञातव्य है।

रबिकुलदीपा

सूर्यवंश के द्वारा पुनःसर्वत्र धर्मनीति प्रतिष्ठा को संपूर्ण वर्णाश्रम में स्थिर होने का अवसर आना "रबिकुलदीपा" से स्फुट है।

संगति :—दोहा २।२६९ में भरतवचन सुनकर श्रीराम विद्याओं की अप्रसन्नता-संभावनात्मक संकोच में आए ही थे कि इतने में जनकजी का आगमन हुआ फलतः सभा विसर्जित हुई उसी को ध्यान में लाकर तृतीय सभा में सबके आनुगुण्य में वसिष्ठजी अपने पूर्वोक्त वचन (२।२५८) का स्मरण करते हुए समस्यासमाप्ति की ओर अग्रसर हो रहे हैं उसी का आरम्भ ग्रन्थकार कर रहे हैं।

चौ०—समय समाज धरमअबिरोधा। बोले तब रघुबंसपुरोधा ॥२॥

भावार्थ :—तब रघुकुल के पुरोहित वसिष्ठजी, समय समाज व धर्म के अविरोध में बोले।

समय

शा० व्या० :—"समय" शब्द न्यायसंविद या कविसमयपरक है अथ वाद की मर्यादा को देखकर मध्यस्थवृत्ति से कहने का संकेत "समय" से प्राप्त है।

समाज

"समाज" से विप्रसमाज, अवधसमाज व मिथिलासमाज विवक्षित है।

धरम

"धरम" से सेवात्मक भक्ति व उसकी छत्रछाया में सुरक्षित राजनीति से संवलित धर्म ज्ञातव्य है। समयादि तीनों का अन्वय 'अविरोधा' से है फलतः पुरोधा का वचन प्रभु के संकोच को दूर कराने में सहायक होगा।

अविरोधा

"अविरोधा" कहने का आशय यह कि प्रस्तुत घटना के समाधान में निर्णेतव्य प्रयोगविशेष शास्त्रों में कण्ठतः उक्त न होने से ऊह्य है। इस ऊह में लोक, धर्म, समय संविद् का अतिक्रमण न होना तथा भक्ति की छत्र-छाया में अधिष्ठित राजनीति संवलित त्रयी ब्रह्मविद्या आदि विद्याओं का कथंचिदपि विरोध न होना "अविरोधा" है।

बोले तब

वसिष्ठजी ने १२।२९१।५ में 'धारिअपाऊ' सुनाया है उसीको याद कर 'बोले' कहा गया है।

'तब' से सन्मानानन्तर्य ज्ञातव्य है।

पुरोधा

'पुरो धीयते नियुज्यते दृष्टादृष्टेष्विति पुरोहितः' व्याख्या के अनुगन्ता वसिष्ठजी रघुवंश की उन्नति व अभ्युदय में सदा तत्पर हैं अतः "पुरोधा" उक्त हैं।

संगतिः—यहाँ अध्यात्मविद् जनकराजा का मत भी उत्तर देने के पूर्व श्रीरामने ज्ञातव्य होगा जिससे उनको निर्णय सुनाने में सुकरता प्राप्त होगी ऐसा सोचकर वसिष्ठजी के द्वारा सुनाए जनक-भरतसंवाद का दिग्दर्शनमात्र ग्रन्थकार करा रहे हैं। जो पूर्व में निरूपित है।

चौपाई—जनकभरतसंवादु सुनाई। भरतकहाउति कही सुहाई ॥४॥

भावार्थ—वसिष्ठजी ने भरतजनक-संवाद सुनाते हुए भरतजी के वचन सुनाए।

जनक-भरतसंवादु

शा० व्या०—"जनक-भरत" से वसिष्ठजी ने उन दोनों का परस्पर में भया संवाद सुनाना अर्थप्राप्त है।

"संवादु" :—भरत जनक कथा में गौतम सूत्र के अनुसार छल-जल्प-वितण्डा से शून्य तत्वनिर्णायककथा (संवाद) होना स्पष्ट है। यह वसिष्ठजनकसंवाद का भी उपलक्षक है जिसमें जनकाभिमत स्फुट है।

भरतकहाउति

भरतजी का सुन्दर वचन (२) २।२९३।१ से २।२९३। तक "भरतकहाउति" से समझना है जो निर्द्वन्द्वरूप में सबको भरतजी की व्याप्यवृत्ति साहित्वसेवाप्रीति सुद्दावनिकारक हो चुकी है।

सुहाई

"सुहाई" से भरतस्वार्थ विरोधात्मक स्वामिधर्म की सर्वथा समाप्ति व अन्धत्वाभावसमानाधिकरण अबोधाभाव भरतजी में स्मर्तव्य है। इससे वसिष्ठजी ने भरतजी का 'साधु सयाने' पन स्पष्ट किया है।

संगतिः—सेवाधर्मात्मक आचरण की व्याप्यवृत्तिता भरयजी में है ऐसा सुनाकर वसिष्ठजी अपना अभिमत सुना रहे हैं।

चौपाई—**तात ! राम ! जस आयसु देहू । सो सबु करै मोर मत एहू ॥५॥**

भावार्थः—हे तात ! राम ! मेरा ऐसा मत है कि आप जैसी आज्ञा देंगे वैसा ही सब करेंगे।

जस आयसु

शा० व्या०—वर्णाश्रमगतजातिभेदेन उनके गुणानुबन्धी कर्तव्यभेदों को ध्यान में लाकर "जस आयसु" कहा है। यद्यपि आदेश शास्त्र या पूर्वप्राप्त परम्परा से ही प्राप्त हुआ है तथापि राज्योत्सवभंग होने से रामसेवा में रत दोनों समाज में राग इतना तीव्र है कि वह पूर्वपरंपराप्राप्त कर्तव्यों के कार्यान्वियन में प्रतिबन्धक हो रहा है। फलतः धर्मशास्त्र की मर्यादा का छिन्न-भिन्न होना स्पष्ट है। इस प्रकार अभी कर्मकाण्ड की दयनीय स्थिति दृष्टिगोचर हो रही है जिस पर नियन्त्रण करना कठिन है। अतः धर्मत्याग के बारे में अनुमति या अस्वीकृतिप्रदान करना प्रभु के अधीन है ऐसा सोचकर वसिष्ठजी ने "जस आयसु" कहा है।

सो सबु करै

भक्ति की छत्रछाया में सेवाधर्म अपनाने वाला समाज यदि पूर्वप्राप्त आदेश में नहीं रहता तो वह कर्मच्युतिप्रयुक्त दण्ड का भागी हो सकता है, यदि प्रभु ने वह च्युति अपनी आयसु से अनुमत की तो (अवध या मिथिला) समाज दण्डय नही हो सकता। अथवा प्रभु ने अस्वीकृति दी तो दोनो समाज को दण्ड से बचाने हेतु स्वाभिमत इतिकर्तव्यता के रूप में जिस धर्म के प्रति अंगत्व स्वीकृत हो उस धर्म की मर्यादा पालनी होगी ऐसा सोचकर मुनि ने "सो सबु करै" निर्देश से स्पष्ट जानने की सूचना दी है।

अथवा उपर्युक्त दोषनिर्हरणार्थ जो प्रायश्चित्त हो उसका निर्देश जिज्ञासित है यतः उसके पालन से समाज शुचिता में पुनः समासीन हो सके।

अथवा उपर्युक्त अर्थ रामभक्ति से अपृथक् है तो वही धर्मच्युतिप्रयुक्त अशुचिता का उत्तेजक होने से धर्मविमान की प्रसक्ति न होने पर भी प्रपत्ति की छत्रछाया में अधिष्ठितत्रयी व नीति का संरक्षण जैसे होगा वैसा निर्देश सब के द्वारा पालित होने की प्रतिज्ञा 'सो सबु करै' में सूचित है।

मोरमत

दोनों भाइयों (श्रीराम व भरतजी) के द्वारा किए राजा-प्रजा उभयसंबंधी कर्तव्य-निर्णयों की स्वीकृति के बारे में वसिष्ठजी ने पुष्टि करना 'मोर मत' से समझाया है।

संगतिः—मुनि वसिष्ठजी के वचन की प्रतिक्रिया में श्रीराम ने जो मननीय उत्तर दिया है उसकी गंभीरता समझकर अपनी ओर से कवि अग्रिम उस वक्तव्य को सुनाने की प्रतिज्ञा सुना रहे हैं जिसमें सत्य आदि गुण पूर्ण हैं।

चौपाई :—**सुनि रघुनाथ जोरि जुग पानी। बोले सत्य सरल मृदु बानी ॥६॥**

भावार्थ—ऐसा सुनकर रघुनाथजी दोनों हाथ जोड़कर सत्य, व कोमलवाणी से बोले।

सुनि

शा० व्या० :—गुरुजी ने समाजसमेत भरतजी का मनोरथ सुनाकर प्रधान कर्म के रूप में रामादेशपालन का संकेत किया उस पर सकल समाज की स्वीकृति प्राप्त है उसी को श्रीरामने समझना 'सुनि' का भाव है उसका निष्कर्ष वसिष्ठोक्त अर्थ के प्रति अनुपेक्षणीयता में है।

रघुनाथ

रघुवंश में अभीतक ऐसे कोई सम्राट नहीं हुए जिन्होने स्वतन्त्र होकर व्यवस्थापक के नाम पर प्रजाको स्व की प्रेरणा से प्रजाको कर्तव्य की ओर प्रेरित किया है उस वंश में अवतीर्ण श्रीराम रघु के नाथ तभी माने जा सकते हैं जब कि वे पितृ-कुलानुष्ठित कार्य को अनुष्ठानतः अनुमोदित करते स्वीयपूर्वापरवंश की कृच्छ्र पतन (सङ्कट) बचावेंगे।

जोरि जुग

मुनि के वचन इसलिए मननीय हैं कि भरतजी की प्रीति की यथार्थता पूर्णतया व्यक्त है। उनकी बात सुनकर श्रीराम अतिप्रीतिमान् हुए हैं तथापि वे अविमृश्यकारिता को सर्वथा अवकाश न देते हुए करांजलिपूर्वक प्रणाम से विनय व्यक्त कर रहे हैं इसलिए कि अपने में अनुद्धतवेषधारिताप्रयुक्त अभिगम्यता मुनि को दिखाना चाहते हैं।

सत्य

प्रभु उदासीन हैं उन्होंने जगद्धितार्थ श्रुति के माध्यम से जो-जो विधान मनोनीत किए हैं उनके कार्यान्वय का भार अध्यात्मविद्या व कर्मविद्या पर सौंपा है यत उन्हीं के द्वारा वर्णाश्रम समाज की स्थापना होती रहती हैं उसकी यथार्थता स्फुट

करती है इसलिए शिवजी 'सत्य' कह रहे हैं जो व्यवहार में त्रिकालाबाध्यता बोधक है।

सरल मृदु

"सरल" से निर्दंभता तथा कायिक वाचिक मानसिक एकरूपता स्पष्ट है। "मृदु शब्द" दोहा २।२९४।२ में व्याख्यात है। उन दोनों का अन्वय वाणी से है।

बानी

'बानी' के साथ सत्य सरल मृदु अन्वित है बानी का अर्थ वक्ष्यमाण रामवचन है निष्कर्ष यह है कि भक्त ने स्वीकृत प्रपत्ति के प्रति समस्त विद्याओं का अनुमोदन नीति के रूप में प्रकट नहीं होता व ऐन्द्रीमाया असफल नहीं होती या सरस्वती जी प्रपन्न-मतिका परिवर्तन करने की असमर्थता व्यक्त नहीं होती। ज्ञातव्य है कि इन तीनों का प्रतिषेध निरूपित हो चुका है उस दशा में विक्ष्यमाण सैद्धान्तिक वाणी की अक्षुण्णता का ज्यों-कि-त्यों बने रहना समझावा है।

संगति :—'आयसु देहु' की प्रतिक्रिया में प्रभु सिद्धान्त सुना रहे हैं जो वानी" शीर्षक में उक्त है।

चौ० :—विद्यमान आपुनि मिथिलेसू। मोर कहब सब भाँति भदेसू ॥७॥

भावार्थ :—आपके व मिथिलापति के रहते मेरा कुछ भी कहना हास का आलंबन है।

विद्यमान आपुनि मिथिलेसू

शा० व्या० :—गुरुजी शिष्यहितधान के द्रष्टा कर्म के प्रकाशक यहाँ विराज-मान है तथा श्रुतिरहस्यवेत्ता व प्रयोक्ता मिथिलेश अपनिबंद अर्थ के साथ त्रयी के प्रतिष्ठापक अनूचान समासी हे उन दोनों की उपस्थिति होना महान् सुयोग है इस प्रकार समस्या समाधान के प्रति गुरु व मिथिलेश के रहने की सार्थकता स्पष्ट है।

मोर कहब

मोर का उल्लेख 'वानी' शीर्षकोक्ति (चौ० ६) के अनुरूपन में है क्योंकि सर्वभार-विमुक्त उदासी अर्थ के ध्वननार्थ है। प्रकृत समस्या के समाधान (गुर्वादि) प्रेरणा प्रेयोज्य प्रवृत्तिमान् न होकर बोलना 'मोर कहब' है।

सब भाँति

कैकेयीजी की वरयाचना, ब्रह्मविद्यासमन्वित कर्मविधा की उपस्थिति 'बैरुअन्धु 'प्रेमहि न प्रबोधू' की संभावित आपत्ति, राजा पिताजी के अनेक परस्परविरोधी वचन, अपने में (श्रीराम) लोभादि की आशंका, इन्द्रमाया मनिफेर कराने में सामर्थ्यवती सरस्वतीजी की उपस्थिति आदि से श्रृंखलित होना 'सबभाँति' है।

भदेसू

'भदेसू' से अपने (श्रीराम) भक्त व सरस्वतीजी आदि के बिचार को न समझ कर शीघ्रता में अपनाई चेष्टा व्यक्त होने पर हास्य की आलंबनता अपने में ध्वनित कराई है।

भदेसू की सत्यता

अन्य विद्वानों पर सौंपे भारको श्रीराम स्वतन्त्रतया अपने ऊपर लेते हैं तो स्वकृत मर्यादा के अनुरूप न होना ही 'भदेसू' की सत्यता है। उसमें अपवाद रूप से प्रभु तभी हो सकेंगे जब चारों ओर से सभा में इतर के द्वारा अपनी असमर्थता स्वीकृत होने के के साथ विकृत चेष्टा प्रयुक्त लंबन होनी इन्द्रमाया का वैयर्थ्य सरस्वती जी का मौन व उपासक की अनन्य शरणागति की उच्चतम अवस्था नीति में प्रगट होगी।

संगति :—'भदेसू' को अवकाश न देने के हेतु से प्रभु मुनि व राजा से ही उपदेश सुनाने के बारे में प्रार्थना कर रहे हैं अन्यथा तत्काल में 'भदेसू' होना अनिवार्य होगा।

चौपाई :—**राउर राय रजायसु होई। राउरि सपथ सही सिर सोई ॥८॥**

भावार्थ :—राजाजनकजी व वसिष्ठजी मिलकर एकवाक्यता में जो उपदेश देंगे वही शपथपूर्वक शिरोधार्य होना है।

राउर राय

शा० व्या० :—राउर से वसिष्ठजी व 'राय' से जनकजी विवक्षित हैं इन दोनों में आयसुदान-कर्तृत्व की पर्याप्ति समझनी है।

रजायसु

अध्यात्म विद्या एवं कर्मविद्या दोनों मिलकर प्रस्तुत समस्या के समाधान में निर्णय जो करें उसी के अनुसार प्राप्त आदेश 'आयसु' से विवक्षित है।

राउरि सपथ

'राउरि सपथ' से सत्य सरल मदु वाणी व्याख्यात हो रही है। अर्थात् भक्ति महारानी हैं उनका सान्निध्य भरतजी को पूर्णतया प्राप्त हैं तथा प्रभुत्व रक्षित भी निर्णीत है तथा छत्रछाया में संपूर्ण विद्याएँ अपने को समर्पित कर रही हैं फिर भी श्रीराम शपथ ले रहे हैं इस लिए कि रघुपति रक्षक होने पर भी मुनिने उक्त आदेश के कार्यान्वियन पर गुरुजी शंका न करे। इसकी उपत्ति में यह कहना है कि भरतजी साधु व सयाने है वे अध्यात्मविघा एवं कर्मविद्या के उपदेश का अतिक्रमण कर उनको दुर्बल नहीं बनायेंगे अतः शपथ का उल्लेख है। शपथ का प्रयोजन कालत्रय में भक्ति के द्वारा अध्यात्मविद्या एवं कर्मविद्या का अनुशासनभंग न होना है।

---

१. २।२९५।८

सही सिर सोई

सभी वर्णाश्रम समाज की सभी प्रवृत्तियां वेदोक्तविध्यधीन इष्ट साधनत्वानुमिति प्रयोज्य है तो सही मानी गई हैं। इन प्रवृत्तियों के पीछे प्रभु भी अपनी प्रेरणा पर वल नही देते इसलिए कि इनको शब्द की स्वतन्त्र प्रमाणता स्थापित करनी है। यह कार्य करने की शक्ति प्रभुने मुनि एवं ब्रह्मविबेकी को दे रखी है फलतः मुनि कर्म के प्रति व ब्रह्मनिर्णय के प्रति जो निर्णय करते हैं वह सबके लिए शिरोधार्य है। उसी को सही सिर सोई, से स्फुट किया है।

संगति :— श्रीराम के द्वारा निर्दिष्ट सत्य सरल मृदुवाणी से अपना बड़प्पन सुनते ही संकोच में आकर स्व शासनाधिकार को ध्यान में लाकर ब्रह्म विद्या व कर्म विद्या का भक्ति के शरण में जाना ग्रन्थकार सुना रहे हैं।

दोहा :—**रामसपथ सुनि मुनि जनकु सकुचे सभा समेत।**
सकल बिलोकत भरत मुखु बनइ न ऊतरु देत ।। २९६ ।।

भावार्थ :— रामशपथ सुनकर सभासमेत जनकराजा व मुनि संकुचा गए। समाधान का भार लेने में अनौचित्य समझकर कर्मविद्या व ब्रह्मविद्या को उत्तर देते नहीं बनता। सब भरतजी की ओर देख रहे हैं।

रामसपथ

शा० व्या० :— ८ वीं चौपाई में कहा 'राउरि सपथ' 'राम सपथ' से स्मर्तव्य है।

शपथ का महत्त्व

वर्णाश्रम समाज में शपथ का अत्यधिक मूल्य है यतः वह परलोकबिश्वास पर आधारित होते हुए वेदप्रमाण से प्रमित होने से अन्धविश्वासशून्य है।

संकुचे

भक्ति की छत्रछाया में रहते हुए भी अध्यात्मविद्या व कर्मविद्या ने सेवकरूप[1] में साथ देना स्वीकारा है न कि अंगभाव में जैसा कि दो० २८५ चौ० ५ में व्यक्त है उसके वैपरीत्य में श्रीरामजी की ओर से आदेश प्राप्त करने की वाणी का श्रवण संकोच का कारण है।

सभा

'सभा' से मुनि कौशिक, सचिंव तथा विप्रसमाज ज्ञातव्य है।

सकल

'सकल' से महर्षि कौशिकजी, गुरु वशिष्ठजी, राजा जनकजी विप्र, साधु, सचिव समझने हैं उनकी उपयोगिता ऐन्द्री माया के चेपट में न आने से है उसका अन्वय विलोकन से समझना है।

१. २।२८५।४-५ में सेवजत्व ञंगत्व व्याख्यात है।

बिलोकत भरत

भरतजी की ओर देखना ही भक्तिचरणों में शरणागति है जो संकुचे की चिकित्सा है। 'मुनिमतिठाढ़ितीरअवलासी (२।७।२) से वशिष्ठजी व जनकजी २८९।५ की एकवाक्यता में विलोकत भरत कहा है।

न उतरु देत

अतर्क्य प्रीति प्रतीति रहते भरतजी से उत्तर देने का संकेत 'न उतरुदेत 'से ज्ञातव्य' है।

संगति :—सभा में भक्त्यनुगत विवेकसाम्राज्य का अभाव बना रहा तो विवेक-संपृक्त भक्ति का महारानीत्व व्यर्थ होगा इसलिए सर्वत्र फैली संकोच की स्थिति देखकर तदापसरणार्थ भरतजी के रूप में विवेकवती भक्ति स्वयं खड़ी हो रही है।

चौ० :—सभा सकुच बस भरत निहारी। रामबन्धु धरि धीरजु भारी ॥१॥
कुसमउ देखि सनेहु संभारा। बढ़त विंधि जिमि घटज निवारा ॥२॥
सोककनकलोचन मतिछोनी। हरी बिमलगुन-गनजगजोनी ॥३॥
भरतविवेकबराहं बिसाला। अनायास उधरी तेहि काला ॥४॥
करि प्रनामु सब कहँ कर जोरे। रामु राउ गुर साधु निहोरे ॥५॥

भावार्थ :—भरतजी ने सभा को संकोचवश देखा तब श्रीरामबन्धु ने धैर्य धारण करते हुए कुसमय देखकर अपने प्रेम को संभाला जैसे अगस्त्यजी ने विन्ध्याचल पर्वत को बढ़ने से रोका था। शोकरूपी हिरण्याक्ष ने सभा की बुद्धिरूपी पृथ्वी को हर लिया जो विमलगुणसमूह रूपी जगत् को उत्पन्न करानेवाली थी परन्तु भरतजी के विवेक रूपी विशाल वराह ने बिना परिश्रम ही उसका उद्धार कर दिया। भरतजी ने प्रणाम पूर्वक सबको हाथ जोड़ा व श्रीरामचन्द्रजी, जनकजी, और साधु-सन्त सबसे विनती कर; कहने लगे।

सकुच

शा० व्याख्या :—विवेक साम्राज्य में अन्तिम निर्णयार्थ संघटित सभा के सदस्य वसिष्ठजी व जनकजी, के रूप में अवतीर्ण कर्मविद्या व ब्रह्मविद्या भगवान्भक्त के मध्य में खड़ी समस्या के समाधान में अपने को सदैव अनधिकृत मानती है उस दशा में श्रीराम ने भार सौपने पर वसिष्ठादि के द्वारा प्रभुदत्त भार का वहन करने में आदेशोंल्लंघन होना 'संकोच' का कारण हैं।

निहारी

सम्पूर्ण सभा का संकोच व उसका कारण उपस्थित होने से "निहारी" का विषय एकमात्र भरतजी है।

रामबन्धु

अभी तक चिन्ताग्रस्त होने से भरतजी ने विश्राम नहीं पाया अभी भी वही स्थिति परिलक्षित हो रही है इसलिए भरत जी घबराए से दीख रहे हैं किन्तु श्रीराम प्रतिबिम्व उनमें प्राप्त होने से श्रीरामसमवेत ज्ञान प्रभा व क्रियाप्रभा का उच्छलन होना "रामबन्धु" से ध्वनित है।

धरि धीरजु

भरतजी को रामशपथ सुनकर गुरुओं के सामने बोलने में भय हो रहा था उसका निरसन "धरि धीरजु" से सूचित है क्योंकि उसी समय अन्तर्नाद भरतजी सुन रहे थे।

कुसमउ

निर्णय स्थिति आने के पूर्व चपलता में इन्द्रजी ने किया माया प्रयोग सबके लिए कुसमय है।

अथवा विवेक संपृक्त प्रपत्ति की स्थापना में विलम्ब होना कुसमय है। अथवा स्व के आदेशातिक्रमण से भक्ति का यथार्थरूप प्रकट न होना कुसमय है।

सनेहु संभारा

विवेक के ऊपर आवरण करने वाला स्नेह "सनेहु" से विवक्षित हैं। अतिमहत् धैर्यधारण का कारण समृद्ध स्नेह को नियन्त्रित करना है। अन्यथा आज्ञ ने किया हुआ रामपदस्नेह विवेकी सयानों के अनेतृत्व में विद्याओं का नाशक होकर विवेक मंपृक्त-भक्ति व लोक यात्रा का उच्छेद कर सकता है।

बिन्धि

विन्ध्य ने अपनी अत्युच्चता प्रगट कर सूर्योदय गतिपर जैसे प्रविबन्ध किया तव उसे अगस्त्यजी ने झुकाकर सूर्य के परिभ्रमणगति निर्वाध की उसी प्रकार यहाँ स्नेह समृद्धि रूप विन्ध्य ने प्रबोध रूप सूर्य के उदय को रोका है जैसा कि २।२९३।८ में स्फुट है उसकों विवेकमय भरत रूपी अगस्त्यमुनि ने रोककर विवेक (सयाने) संपृक्त भक्ति सम्बन्धी प्रबोधरूपी सूर्य के उदय का मार्ग प्रशस्त किया है।

सोक

"प्रतियोगिनिप्रीत्या तन्नाश सहिष्णुत्वलक्षणद्वेषवासना शोकः"[१] इस व्याख्या के अन्तर्गत प्रतियोगिनि प्रीति से सीतालक्ष्मणसमेत स्वामी श्रीराम सेवा विवक्षित है उस का अभाव "सोक" है जिसने भरतजी, वसिष्ठजी, जनकजी आदि विवेकी को छोड़कर सभी को घेर लिया है उसमें हिरण्याक्ष का तादात्म्य निरूपित है।

१. काव्यप्रकाश-उल्लासः४

कनकलोचन

'कनकलोचन' से हिरण्याक्ष लक्षित है "कनकलोचन" से "हिरण्मयेन पात्रेण सत्यसंस्यस्थापिहितं मुखं" स्थिति कनक लोचन को प्राप्त होती है वैसी ही स्थिति शोक को प्राप्त है अतः कनकलोचन कहा है।

मति

मति में पृथ्वी का तादात्म्य लक्षित है। "भयस्खलितेषु संविधान करना मति कार्य है जैसाकि भयादिनिमित्त आने पर निर्णीत करनेवाली बुद्धि को राजनीति में 'मति' कहा गया हैं। साहित्यशास्त्र के अन्तर्गत "नानाशास्त्रार्थनिष्पन्ना मति स्यात्" के अनुसार नानाशास्त्रार्थों के विचार से उदित श्रुतिधारिणी बुद्धि 'मति' से ध्वनित है उसमें पृथ्वीतादत्म्य निरूपित है।

हरी

निष्कर्ष यह कि दोनों भाइयों (राम-भरतजी) के विरह प्रयुक्त वेदना को शोक ने दोनों राजसमाज की मति का हरण कर लिया है। फलतः वह समाज विमलगुण हीन मतिमान हो चुका है अतः हरि (हरण) से निर्मलगुणादि शिष्टमति-हरणकर्ता शोक से सावधान रहना कवि ने समझाया है।

बिमल गुन

बिमल का आशय रागद्वेषादियुक्त प्रबोधाभाव व अन्धत्व नं होने में है।

अथवा :—संगीत रत्नाकर में उक्त मति के अनुसार विवेक, श्रुतिसम्पत्ति गुरु-भक्ति तपस्विता का निवास होना मति का 'बिमल गुन' है। उसका अन्वय मनि जग से है।

जगजोनी

'जग' से विमलगुणसमूह विवक्षित है। उसके लिए आधार सत्वगुणसंपन्न धीर मति की अपेक्षा है। अतः "जगजोनी" कहा है जो मति का विशेषण है। वही हरि का कर्म है।

हरी बिमल गुन जग जोनी का निष्कर्ष

जब कि समाज की संख्या बहुत है सभी एक स्वर से श्रीरामको लौटाने के पक्ष में सहमत है। फिर भी वे सयाने नहीं हैं अन्यथा अवध में लोभादि का समावेश होना दुरपनेय होगा। परिणाम में "रसारसातल जाई" वचन चरितार्थ होगा। यही "हरी-विमलगुन जग जोनी का निष्कर्ष है।

बिबेक

विद्याओं के बलाबल में उनकी तत्कालिक ग्राह्याग्राह्यता तथा पर्यन्त में सबका समन्वय करना प्रमाणगत विवेक है, उन्हीं के अनुरूप में यथावत् प्रमेय के तत्वों

को समझकर गुण-दोषों के बलाबल को ध्यान में लाना व प्रमेय के त्यज्यात्यज्यता को निर्णीत कर उसको अपनाना प्रमेयगत द्वितीय विवेक है। वह भरतजी को जन्म से ही प्राप्त है अतः भरत विवेक कहा है।

जो श्रुत्यभिमत होता हुआ श्रुति निचोड़ का पोषक है उसके अभाव में निर्मल वृन्द के लिए आधार भूत मति का अपहरण कर सम्पूर्ण समाज को शोक ने ग्रासा है। अतः विधाओं में एक वाक्यता नहीं हो रही है।

बराहँ

भरतजी के विवेक को वराह कहने का कारण धरि धीरजु भारी"[1] है। वह भरतजी को प्रभु कृपा से प्राप्त है इसलिए कि भरतजी सदैव प्रभु के हृदय में ध्यानस्थ है जैसा कि पूर्व में "कमठ कि नाईं"[2] से व्यक्त है। अभी साधु सन्तों को समस्या समाधान प्राप्त न होने से प्रजा का यथावत् स्वस्व कार्य में तत्पर होना कठिन हुआ देखकर भरतजी के विवेक ने समाजों के हृदय में लोकतन्त्रानुरूपमतिरूपा पृथ्वी की स्थापना कराना "वराह" रूपक से दर्शाया है।

बिसाला

दोनों समाजों के हृदय में उभड़े अप्रतिद्वन्द्व शोक के प्रतिपक्ष में योद्धा के रूप से भरतजी के विवेक का उदित होना "बिसाला" का भाव है।

अनायास

अथवा—मति के उद्धरण में लगे विवेक में कहीं से शंका ने स्थान नहीं पाना विवेक की विशालता है।

"अनायास" से भरतजी की विशाल विवेक में श्रमाभाव या जन्मसिद्धता ध्वनित है।

उघरी

कौशिकादि मुनि राजा आदि के हृदय में भरतजी के वक्ष्यमाण वचन सुनकर पूर्ण आत्मसंपत्तियुत मति का जगना संतुष्टि होना तथा रामवनवास की कर्तव्यता में पुष्टि करना इत्यादि सभी तत्व जिस विवेक से समाविष्ट हुए उससे शोक का सिद्धान्ततः उच्छिन्नं होना "उघरी" से ध्वनित है।

तेहि काला

कार्य कारण भाव की दृष्टि से यद्यपि प्रथमतः विवेक का उदय व बाद में शोक निरसन, कार्य विवेचित होना चाहिए। परन्तु यहाँ उक्त कारण एवं कार्य का आनन्तर्य इतना सूक्ष्म है कि लोगों की दृष्टि से उसका ओझल होना "तेहि काला" से समझाया है।

---

१. २।२

२. २।२

अन्तिम सभा की महत्ता

अभी तक कर्म विद्या, ब्रह्मविद्या नीति विद्या के चिन्तन में प्रभु ने किये विधान के अनुरूप राजवचन को समन्वित करने का प्रकार व त्रैलोक्य विजय आदि का समाधान प्रकाशित नहीं हुआ क्योंकि श्रीराम-भरतप्रीति प्रतीति सबके लिए अतर्क्य है ऐसी स्थिति में तृतीय सभा का आयोजन हुआ है ।उसमें भी प्रभु ने विवेक कराने हेतु अपने ऊपर से भारहटा कर राजापर हीं वह सौंपा है उस पर कर्म व ब्रह्मविद्या चुप हैं एक मात्र भरत जी ही एक ऐसें है जो विवेक से मति को दृढ़ बना सकते हैं अतः सभी उनकी ओर आकृष्ट हैं। ऐमा देखकर शिवजी ने आरम्भ में ही अगस्त्यतादात्म्यापन्न भरतजी समाज में फैली विन्ध्यतादात्म्यापन्न स्नेहसमृद्धि तथा विकट अवसर पर कनकलोचनतादात्म्यापन्न शोक, 'छोनी' तादात्म्यापन्न मति, व सहायक रूप से यज्ञरूप वराहतादात्म्यापन्न विवेक, इन पाँच रूपकों का वर्णन किया है।

करिं प्रनाम्

सेवाधर्मव्रत में स्थित भरतजी, विवेकसहित प्रबोधयुक्त होनें से निरहंकारी हैं समझाने हेतु प्रणाम उसका अन्वय सबु से कहा हैं।

राम राउ गुर

भरतजी के द्वारा प्रणम्य क्रम में प्रथमतः "राम" के उल्लेख से उनमें प्रधान उपास्यत्व समझाया है यतः उन्होंने ज्ञानानन्द का भान भरतजी को करायां है।

अतिथि सम्मान के अन्तर्गत मुख्यतादर्शनिहेतु राम के अनन्तर "राजाजनकजी" का उल्लेख हैं।

गुरु वशिष्ठजी विद्याप्रदाता, रामजन बनने की शिक्षा देने वाले हैं जो अतिथि या प्रभु नहीं है अतः उनका उल्लेख राजा के अनन्तर है।

संगति :—भरतजी यहाँ प्रथमतः क्षमा प्रार्थनात्मक वचन बोल रहें हैं इसलिए कि महाजनों के रहतें उनके सामने बोलने में अनौचित्य संभावित है।

चौ० :—छमब आजु अति अनुचित मोरा। कहउँ बदन मृदु बचन कठोरा ॥६॥

भावार्थ :—आज मेरे अत्यन्त अनुचित बर्ताव पर क्षमा कीजियेगा। मैं कोमल मुख से कठोर वचन कह रहा है।

छमब आजु

शा० व्या० :—जहां गुरु एवं जनकजी श्रीरामदत्त भार उठाने में असमर्थता समझ रहे हैं उस भार को भरतजी ने स्वीकारना अपराध कहा जासकता है जो अनुचित मोरा आदि में स्फुट होगा अतः अपराध शोधनार्थ (अक्रोधार्थ) छनब कहा है।

आजू :—प्रस्तुत तृतीय सभा में ही समस्या का समाधान होना 'आजु' से विवक्षित है। उस निर्णय में आन्वीक्षिकी का उपयोग, दशरथवचनसमन्वय के

माध्यम से आदिष्ट अर्थ (भरतहि टीका) स्वीकारने में सन्तुष्टि, श्रीरामराज्योत्सव होने के साथ ही साथ शब्द की स्वतन्त्र प्रमाणता स्थापित करनी है।

अति अनुचित

भरतजी दोहा २।२९३।५ की उक्ति याद कर अपने कथन को "अनुचित" कह रहे हैं।

अथवा :—अथवा से विद्यावृद्ध वसिष्ठजी रूप में कर्मविद्या व ब्रह्मविद्या के सामने बालावस्था में साध्यपद रामदृगसनेहसंपन्न सेवाधर्म की स्थापना करने में अग्रसर होने से उपहासपात्रता अनुचित से ध्वनित कर रहे हैं।

अथवा :—सेवा धर्म कठिनतात्मक कृत्यसाध्यता सूचित करने के अनन्तर उसी में कृतिसाध्यता स्थापित करना अनुचित है।

यहाँ अति कहकर यह समझा रहे हैं कि बालवचन की उपेक्षाणीयता ध्यान में आने पर विद्याएं तत्काल यदि अप्रसन्नता होगी तो अनौचित्य की दुरपनयेता होगी।

अति का व्याख्यान वदनमृदुवचन कठोरा है।

मोरा :—गृहीतभारवान कठोरवचनोच्चारयिता भरतजी मच्छद्धार्थ हैं।

कहउँ

सरस्वतीजी ने जिस मति के परिवर्तन का प्रत्याख्यान किया है। उस मति का प्रकाशन "कहउँ" से सूचित है।

मृदु

मृदु इसलिए कि छोटे मुबड़ि बाता के अनुसार कर्मआदिविद्या से प्रपन्न राजा की उपस्थिति में बालवदन कोमल है यतः उसको बोलने की अक्षमता सिद्ध है।

कर्मविद्या एवं ब्रह्मविद्या भी 'येनेन्द्रियार्थान्ध्यायेत मृषा स्वप्नवदुत्थितः तन्निरुन्ध्यादिन्द्रियाणि विनिद्रः प्रत्यपद्यत। एतदन्तः समान्नायः योगः सांख्यं मनीषिणाम् त्यागस्तपो दमः सत्यं समुद्रान्ता इवापगाः'[1] कहकर कर्म व ब्रह्मविद्या का शासक भाव समाप्त किया। अभी भरतजी ने सदा के लिए स्व ने शास्य भाव में ही रहना इष्ट मानकर स्वतन्त्रता को समाप्त करना "कठोरा" का ध्वनितार्थ है।

संगति :—भरतजी वक्ष्यमाण वचन में धर्म, नीति, व विवेकयुक्त साध्यरूप सेवा भक्ति की स्थापना करते हुए बोलेंगे परन्तु उन वचनों में करणापाटव आदि शब्द दोष न हो अतः प्रथमतः मूलाधारस्थ ब्रह्मलोकस्थ ध्येय शारदा जी की प्रार्थना कर रहे हैं। अथवा अनौचित्यदोषपरिहार कर रहे हैं।

अथवा :—एकाग्र भूमिका में स्थित भरत जी को सरस्वती प्रेरणा प्रयुक्त अन्तर्नाद सुनाइ दे रहा है। उसको बाहर प्रगट करने में करणापटिव न हो इस हेतु से भरतजी शारदाजी का स्मरण कर रहे हैं। इसके फल रूप में जिह्वा में सरस्वती जी का विराजमान होना कहा जा रहा हैं।

चो० :–हिय सुमिरी सारदा सुहाई। मानस तें मुख पंकज आई।।७।।

भावार्थ :—फिर उन्होंने हृदय में सुहावनी सरस्वतीजी का स्मरण किया वे उनके मनस् से मुख पर आ पहुँची।

हिय सुमिरी (शब्द की स्वतन्त्रप्रमाणता)

शा० व्या० :—वक्ता के हार्दिक तात्पर्य के अनुरूप शब्द न उच्चरित हुआ तो भी वह शब्द अपनी प्रमाणता के बल पर बोध कराकर विराम लेता है फलतः श्रोताओं की प्रवृत्ति कर्ण को श्रुत शब्दों के अनुरूप होती रहती है जैसा कि ब्रह्मदेवजी ने कुम्भ-कर्ण को वर देने से स्पष्ट है। अतः शब्द की स्वतन्त्र प्रमाणता हो तदर्थ भरतजी आरम्भ में शारदाजी का स्मरण कर रहे हैं।

सारदा

मूलाधारस्थ ब्रह्मलोक से उच्छलित होकर परावाणी, सुषुम्ना मार्ग से ऊपर बढ़ती हुई बैखरी में परिणत "सारदा" है।

अति अनुचित दोष का परिहार

आपाततः भरतवचन में अनौचित्य दोष प्रतिभासित है उसके परिहारार्थ भरतजी ने शारदा जी का स्मरण किया जिसका परिणाम वाणी की कठोरता समाप्ति के साथ अनौचित्य नहीं होगा क्योंकि वक्ष्यमाण वचनों में विवेक धर्म नीति शालित्व स्फुट होना है। फलतः भरतीय वदन मृत्यु (बाल) होने पर भी उसमें अनौचित्य होते हुए भी उसमें दोषत्व का न रहना स्मर्तव्य है।

सुहाई (शारदामति की उपादेयता)

"सुहाई" से अभी शारदाजी की श्रीरामसमवेतप्रवृत्तिप्रयोजकप्रमाणता भरतीय वक्ष्यमाण वचन में सूचित है। फलतः यह सभा पूर्व सभा की तरह निर्णय के बिना विसर्जित नहीं होगी। अतएव शारदास्मरण की उपादेयता निर्विवाद है।

मानस तें (शारदाजी की अस्तिता)

भरतजी की पवित्रता इतनी विलक्षण है कि उसके प्रभाव से जैसे ही भरतजी ने शारदा जी का स्मरण किया उसी क्षण वे मूलाधारस्थ ब्रह्मलोक से उच्छलित होकर मनस् में मध्यमा रूप में प्रकट हो गयीं। व नादरूप में व्यक्त होकर भरतजी को अनु-भूति हो गयी इसलिए "मानस तें" कहा है।

मुख पंकज

वैखरी के रूप में रहकर शारदाजी ने करणापाटवादि दोषों से भरतीय वचन की असंस्पृष्टकतात्पर्य सफल रूप में परिणत किया।

संगति :—जिह्वा पर शारदाजी का स्वतन्त्रतया आगमन वाणी की विशेषता कवि समझा रहे हैं इसलिए कि भरतीयवचन में औचित्य समझाकर उसके श्रवण में असावधानता को अवकाश देना नहीं है।

चौ० :—**विमल बिबेक, धरम नयसाली। भरत-भारती मंजु मराली ॥८॥**

भावार्थ :– विमल, विवेक, धर्म, नीतियुक्त भरतजी की बाणी सुन्दर हंसिनी है जो २८९।५ दो. के भाष्यरूप में ज्ञातव्य है।

विमल बिबेक

ध्यातव्य है कि 'साधन सिद्धिराम पग नेहू' सिद्धान्ताभिमत से पदार्थों के भाव-स्वभाव को देखकर तदनुरूपतया अपनी मनोरथासिद्धि को पवित्रात्मा प्रमाणानुगामियों ने पाना ही "विमल विवेक" का फल है।

एवंच विवेक से पूर्वपरंपराप्राप्त कार्य-कारणभाव विवक्षित हैं जो प्रमेय व प्रमाण सम्बन्धिवास्तविकता का सूचक है।

धरम नय

धरम :—त्रयीप्रोक्तकर्तव्य 'धरम' शब्दार्थ हैं वे तभी सुरक्षित होते हैं जब वे युक्तियों से समन्वित रूप में परिणत होते हैं।

"धरम" से श्रीरामादेश पालनात्मक धर्म विवक्षित है। अभी यह धर्म पितृवचन की कार्यान्विति में तभी परिणत होगा जब भरतजी प्रभुस्वभाव को प्रगट करेंगे यही उनके वक्ष्यमाण वचन की विशेषता होगी।

नय :—प्रत्यक्षतः वह साधनासिद्धिरत धर्म अनुष्ठित होकर अपने व प्रजा को वर्तमान में ही सुखदायी करता है तो 'नय' से संकेतित होता है।

साली (जनावर्जक प्रतिष्ठा)

प्रश्न है कि प्रभु श्रीराम सेवकों के प्रति कैसे प्रसन्न हों, इसके उत्तर में कवि ने 'साली' कहकर जनावर्जक प्रतिष्ठा बताई है। आशय यह कि निष्कंटक जनावर्जक वचन प्रमाण रूप में वही माना जाता है जिसमें धर्म नय तथा विवेक पूर्णतया रहें।

अभी तक भरतजी के प्रस्ताव में ऐसे वचन साधन धर्म के प्रकाशक थे अभी वे श्रीरामादेशपालनरूप सिद्धि के साधक हैं अतः भरतवचन की आवृत्ति जनावर्जक हो गई है।

भरत भारती

यह सौभाग्य पवित्रात्मा भरतजी को ही राम सेवा से प्राप्त है। जो २८९।५ का भाष्य है।

मंजु मराली

कवि ने यहाँ भरत-भारती को "मंजु मराली" से संकेतित कर उसमें सुन्दरतम विवेकशालिता स्फुट की अर्थात् नीरक्षीरविवेकन्यायेन भरतजी ने अपना सेवाव्रत अपनाया है व जिस भाव में श्रीरामजी को देखा है वह भाव वे प्रगट करेंगे फलतः प्रभु को अभिमत साधनसिद्धि राम पग नेहू सिद्धान्त स्थापित करने में मनुमरालीत्व स्फुट होगा।

संगति :—दोहा २।२९७।२ की एकवाक्यता में समाजगतस्नेहसमृद्धिरूप विन्ध्य की वृद्धि को रोकने हेतु भरतजी बोलने के पूर्व श्रीसीतारामजी का स्मरण कर रहे हैं।

दोहा :—**निरखि बिबेक बिलोचनन्हि सिथिल सनेहँ समाजु।**
करि प्रनामु बोले भरतु सुमिरि सीय रघुराजु ॥२९७॥

भावार्थ :—विवेक के नेत्रों से समाज को स्नेह से शिथिल देखकर सबको प्रणाम कर श्रीरघुनाथजी का स्मरण करते हुए बोले।

निरखि

शा० व्या० :—स्नेहातितीव्रता में समाज का अन्तःकरण, शरीर व वाणी का संकुचित होना "सिथिल सनेहँ" है इसलिए प्रभुसान्निध्यप्राप्ति से अतिरिक्त कोई भी विषय समाज को मान्य न होना 'निरखि' से स्पष्ट है।

विवेक बिलोचनन्हि

चित्रकूट में श्रीरामसमागम होने के बाद जो भी संवाद व स्वागत क्रम हुआ उससे समाज में श्रीरामपगस्नेह, सिद्धिरूप में इतना तीव्र हुआ कि उसके रहते श्रीराम के द्वारा दिया जाने वाला प्रबोध रूप सूर्य उदित नहीं हो सकता इस सूक्ष्मतत्व को समझने की दृष्टि भरतजी को होना "बिबेक बिलोचनन्हि" से ध्वनित है।

विवेक की महत्ता

प्रबोधचन्द्रोदय नाटक में विवेक व मोह की प्रतिद्वन्द्विता दिखाई है फिर भी प्रभु सेवा से प्राप्त विवेक रूप दिव्य दृष्टि अति सूक्ष्मतम वस्तु स्वभाव का यथार्थ विवेचन कर लेती है जैसा कि भूमि के भीतर छिपे खानों का पता लगाने में अंजनयुक्त दृष्टि का उपयोग बताया है। यही विवेक लोचन का महत्त्व है।

सिथिल सनेह समाजु

'सिथिल सनेह समाजु' लखि का विषय मूलक कर्म है। उसका निष्कर्ष 'निरखि' शीर्षक में व्याख्यात है। उसका तात्पर्य इतना ही कि स्नेह निमितक शैथिल्य के प्रभाव से समाज के ज्ञान तन्तु में ढीलापन इस प्रकार हुआ कि उसमें विवेक को अपेक्षित तनाव नहीं रहा।

विवेक का दूसरा भाव यह कि मंत्रिमण्डल की जिह्वा पर उनके मूलाधारस्थ अग्नि-ज्वाला के नाद को बैखरी के रूप में परिणत न होने का कारण उनकी शका है जो भरत प्रीति से संबद्ध है। उसी को लखना विवेक से समझाया है एवं शैथिल्य है इसलिए वे लोग बोल नहीं पा रहे हैं।

"समाजु" से जनकजी, वशिष्ठजी, कौसल्याजी आदि से अतिरिक्त लोग समझने हैं।

प्रनामु

वर्तमान सभा में भरतोपस्थापित विषय के उत्तर में प्रभु के द्वारा वक्ष्यमाण वचन से प्रबोध सूर्य का प्रभाव समाज पर निर्विघ्न हो यही "प्रनामु" का प्रयोजन है।

प्रनामु का भाव भरतजी के वचनों में विनय को दर्शाने में है यह विशेष प्रयोजन 'सुमिरि' शीर्षक में द्रष्टव्य है।

बोले भरतु

अक्ष्यमाण वचन (२।२९८ से ३०१ छन्द) 'बोले' से समझने हैं।

भरतु :—विवेकविलोचन स्नेहशिथिल समाज द्रष्टा मुखपंकज आइ शारदावान् 'भरत' शब्दार्थ है।

सुमिरि

जवकि श्रीरामजी प्रत्यक्ष उपस्थित हैं तब 'सुमिरि' का प्रयोजन चिन्तनीय है। आशय यह कि शिशुपन से ही भरतजी प्रतिक्षण, अवध में रहते श्रीरामको स्वामी के रूप में देखते हुए उनके आदेश का पालन करते चले आ रहे हैं यही उनका साधन-रूप सेवाधर्म है। जब से प्रभु ने स्वामित्वत्यागा तब से भरतजी के हृदय में रघुपति बसे हैं परन्तु स्वामीरूप में नहीं अभी भरतजी प्रभु को स्वामी के रूप में याद कर रहे हैं अतः 'सुमिरि' कहा है।

अथवा ज्ञातव्य है कि स्वामीरूप में रामस्मरण से अपनी खोई सम्पत्ति को पुनः याद करते हैं तथा वहीमूर्ति मानसवत्चाक्षुष में देखना चाहते हैं इसी उत्कट इच्छा का परिपाक है कि भरतजी के हृदय में स्वामी, के रूप में श्रीसीतारामतत्व स्मृतिपटल का विषय हुआ। उसी तथ्य को समझाने के लिए ग्रन्थकार ने 'सुमिरि' का उपयोग किया है।

सीयरघुराजु

शक्तिमान् के रूप में श्रीसीतारामजी का स्मरण है।

संगति :— जिसरूप में श्रीराम का स्मरण हो रहा है उस स्वामी के गुणधर्म का व्याख्यान कर रहे हैं जिससे उनको स्वामी होने की प्रार्थना उपपन्न करनी होगी।

अथवा २९३।७-८ में उक्त 'सेवाधरमु कठिन' व 'स्वामिधरमस्वारथहि बिरोधू' है उसका अभाव प्रथमतः स्वामी श्रीराम और अपने में (भरत) सुना रहे हैं जिससे धर्म विनय एवं नय स्फुट होगा।

चौ० :—प्रभु ! पितु मातु सुहृद गुर स्वामी। पूज्य परमहित अंतरजामी ॥१॥
सरल सुसाहिबु सीलनिधानू। प्रनतपाल - सबंग्य - सुजानू ॥२॥
समरथ सरनागत - हितकारी। गुनगाहकु-अवगुन-अघ-हारी ॥३॥

भावार्थ :—हे प्रभो ! आप पिता, सुहृद, गुरु, स्वामी, पूज्य, कल्याणकारी और अन्तर्यामी हैं। सरल हृदय, स्वामियों में श्रेष्ठ, शील की खान, दीनोपगतरक्षा करने वाले, सर्वज्ञ, सुजान, समर्थ, शरणागतहित करने वाले, गुणानुसार आदर करने वाले, दोषों व पापो को हरने वाले हैं।

स्वामिगुणकीर्त्तन का प्रयोजन

शा० व्या० :—आरम्भ में धर्म से बोध्य सेवाधर्म न कहकर विनय सुना रहे हैं यतः उसी के द्वारा भरतजी ने स्वामी को वश किया है। स्वामिसेवकभाव की सफलता लोकतः दृष्ट नही है। उसी उदाहरण में प्रभुसेवा पर आक्षेप करना उचित नहीं है क्योंकि प्रभु ऐसे स्वामी हैं जो सेवा धर्मविरोध करते हुए उसको रक्षित करते हैं व प्रसन्न हो पूर्ण आनन्द में विलीन कराते हैं। इस अलौकिक गुण को यादकर सरस्वतीजी ने प्रथमतः स्वामी प्रभु के गुण गाए हैं। जो उनकी परमप्रीति के स्वाद के साथ प्रभुत्व के अनुमापक हैं, जो पार्वतीजी एवं भरद्वाजजी के प्रश्न के उत्तरदार्ढ्य में सहायक है। यही स्वामिगुण कीर्त्तन का प्रयोजन है।

पितु मातु

हितकार्य की ओर प्रेरणा देना 'पितु' का भाव है। माता के समान रक्षण करना 'मातु'[1] है। वस्तुतथ्य का वास्तविक परिचय देना 'सुहृद' का भाव है। अंधे को ज्ञानरूपी चक्षुष् देना 'गुरु' का भाव है। संपूर्ण रक्षा का भार अपने ऊपर लेना 'स्वामी' का भाव है। फलतः इससे स्पष्ट हो रहा है कि भरतजी प्रभु की सेवा करने में उनको माता, पिता, गुरु, सुहृद, स्वामो, समझते हैं। इस प्रकार "आचार्यः शिष्यं पितरं पुत्रः भृत्यः स्वामिनमिवचानुवर्तेत" उक्ति की कार्यान्वयिता भरतजी व सरस्वतीजी ने स्फुट की है।

पूज्य

"पूज्य" से पूज्याः विद्यावृद्धाः ज्ञातव्य हैं।

परमहित

"परमहित" से दया सूचित है।

---

१. मातेव रक्षिति पितेव हिते नियुक्ते (सुभाषित रत्नभांडार)

अथवा :—'परमहित' कहकर श्रीराम को ही परमपुरुषार्थ के रूप में गाया है जो सुखमयतत्व है।

अथवा :—पित्रादिवत् हितकारिता प्रभु में बताकर 'बिनु बिचारकरिअ सुभ जानी' उक्ति स्मर्तव्य है।

अथवा १।७७।३-४ की उक्ति का व्याख्यान "परमहित' से ज्ञात है।

अन्तरजामी

"अन्तरजामी" से प्रभु का सर्वसाक्षित्व बताया है फलतः प्रभु किसी दांभिक व्यक्ति के जाल में नहीं फँस सकते। इससे स्पष्ट है कि प्रभु, भरतजी के सेवकत्व से परिचित हैं। जैसा कि पूर्व में वसिष्ठजी ने कहे "अन्तरजामी रामुसिय तुम्ह सर्वज्ञ सुजान" कहा है।

सरल

कायेन, मनसा, वाचा अनुष्ठान में अन्तर न आना "सरल" का भाव है जैसा कि "मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकम् महात्मनाम्' से स्पष्ट है।

सुसाहिबु

सारल्यादि गुणों से युक्त मन्वादि जैसे अनेकों हो सकते हैं परन्तु उनमें समस्त गुण होना संभव नहीं जैसे अन्तर्यामित्व आदि। प्रभु ऐसे स्वामी हैं जिनमें दोषों का स्पर्श भी नहीं है। अतः वे एकमात्र स्वामी सेव्य है।

सीलनिधानू

प्रभु का सुस्वभाव ऐसा है जो सभी युगों में भागवतप्रधान प्रह्लादजी, नारदजी, महेशजी नवयोगीश्वर आदि के प्रशंसा का कारण हुआ है।

'निधान' का निष्कर्ष शील की सदातनता में है।

प्रनतपाल (भक्ति की विशेषता)

प्रायश्चित्तानपनोद्य महापातक आदि पापो से परिपूर्ण व्यक्ति भी प्रभु के सामने अपने पूर्व कर्मों के प्रति पश्चात्ताप करते हुए प्रणत होते हैं तो उनका रक्षण करना प्रभु का स्वभाव है, अर्थात् जिसकी शुद्धि के बारे में वेदशास्त्रपुराणोक्त कर्म, अपने में असमर्थता व्यक्त कर चुके हैं वैसी स्थिति प्रभु में न होना ज्ञातव्य है। इसमें 'अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः' गीता वाक्य प्रमाणतया स्मर्तव्य है। यही भक्ति की विशेषता व प्रभु की स्वतन्त्रता है।

सर्बग्य

कार्य करने में भय या स्खलित होने के अनेकविध प्रसंग आते हैं जिनकी कल्पना नहीं की जा सकती उस समय अन्य स्वामियों में किंकर्तव्यविमूढ़ता प्रतीत होती है उसका अभाव प्रभु में होना उनकी सर्वज्ञता है।

सुजानू

"सर्वज्ञ" से परोक्षज्ञानवत्ता समझाई "सुजानू" से अपरोक्षज्ञानवत्ता समझा रहे हैं जिसका विषय संपूर्ण उपादानभूत समस्त परमाणु हैं इस प्रकार कालत्रय की घटना देखना "सुजानू" है।

समरथ

"समरथ" से कैसा भी उपादेय हो उसके प्राप्ति कृत्यसाध्यत्वाभाव समझा रहे हैं जिसके मूल में 'क्रियासिद्धिः सत्वे वसति महतां नोपकरणे' वचन भी स्मरणीय है।

सरनागतहितकारी

"सरनागत हितकारी" से दीनोपगतरक्षण समझाया है उसको राजनीति आनृशंस्य के रूप में गाती है। उसके अन्तर्गत विपत्ति व शत्रु आदि से शरण को बचाना ज्ञातव्य है। मूल में न कश्चिन्मत्परंलोके तेजसा यशसाश्रिया। विभूतिभिर्वाभिभवेत् देवोपि किमु पार्थिवः वचन प्रमाणरूप में शरणागत हित का पोषक है। हितकारी की पुनरुक्ति हितकर्तृत्व में विलंबाभावसूचनार्थ है।

गुन गाहकु

प्रभु सबको समानदृष्टि से देखते हैं तो गुणवानों में क्षोभ उत्पन्न होना स्वाभाविक है वैसा नहो इसलिए प्रभु सभी के गुणा में कमी अधिकता देखते हुए तदनुरूपतया सम्मान करते हैं यही उनकी गुणग्राहकता है।

अवगुन अघहारी

"अवगुन" से गुणप्रातिलौम्यं प्रदोषाभावः पीड़ा संप्रयोग तथा "अघ" से तज्जनकपाप या तज्जन्य दुःख समझना है।

प्रभु के पास पहुँचने पर सेवक के दोषों व रागादि मद से निर्मुक्त कर उन्हें गुणवान् बनाना "अवगुनअघहारी" से कहा है। इस प्रकार प्रभु में स्वनिरूपित स्वामिता स्वीकार कराने का कारण स्फुट हुआ।

संगति—प्रभु की साधारण स्वामिता के साथ स्वार्थविरोधात्मक संकोच की प्रसक्ति का अभाव समझने के पूर्व वह प्रसक्ति स्वामिधर्म स्वामी में है समझाने हेतु शारदाजी भरतजी के माध्यम से स्वार्थ सुना रही है जो दोष होता हुआ भरतविनय का प्रकाशक है।

चौ० :—स्वामि गोसाइहि सरिस गोसाई। मोहि समान मैं साइ दोहाई ॥४॥

भावार्थः—हे स्वामिन्! आप सरीखे गोसाईं आप ही हैं और स्वामिद्रोह करने में मेरे समान में ही हूँ।

स्वामि

शा० व्या० :—"स्वामि" से दोहा २९८।१-३ तक में उक्त गुणों से युक्त स्वामी एक मात्र प्रभु ही होते हैं जो सेव्यत्वेन प्रपन्न या भक्तों कों सदा स्वीकृत करते है। उसमें भक्ति की सन्मति भी प्राप्त है।

सरिस

जिस प्रकार पतिव्रता अपने पत्यतिरिक्त के बारे में हीनता का भाव देखती हुई अपने पति पर अधिक मान्यता रखती है। उसी प्रकार में गूढ़ स्नेह से भरी शारदाजी (भरत) का अपने स्वामी श्रीराम के प्रति वही भाव रखना "सरिस" से स्पष्ट है।

अथवा :—परमहित अन्तर्यामी, सर्वज्ञ, सुजान गुणों का अभाव अन्यत्र होने से तथाविध सर्व स्वामियों की व्यावृत्ति "सरिस" से ज्ञातव्य है।

मोहि समान मैं

मोहि :—स्वामि के लिए संकोचाधायक द्रोह हठ आदि वक्ष्यमाणगुणविशिष्ट भरतजी मच्छब्दार्थ है।

"मोहि समान मैं" से यहाँ असम अलंकार स्पष्ट है। जिसका भाष्य आगे होगा।

साइ दोहाई

साइ—साइ शब्द स्वामिवाचक हैं उसका अन्वय 'दोहाई' से है।

"दोहाई" से स्वाम्यादेशापात्रनात्मक स्वामिजीधांसा समझनी है जो कायेन, मनसा, वाचा तीन प्रकार से होती है।

अथवा :—"दोहाई" से भरतजी ने ईश्वरोदित धर्म विरोध स्पष्ट किया है इसे अग्रिम चौपाई में स्पष्ट करेंगे। जितने भी पातक हैं उनमें से महापातक स्वामिद्रोह माना गया है। जैसा कि—"ब्रह्मद्रुहां च ये लोकाः गुरुपुत्रद्रुहां च ये पतिद्रुहं च ये स्त्रीणां ते समस्ता नृपद्रुहाम्[1] से स्पष्ट है।

संगति :—उपर्युक्त आपाततः प्रतिभात ईश्वरोदित आदेश के विरोध का भाष्य कह रहे हैं।

चौ०—प्रभु। **पितुवचन मोह बस पेली। आयउं यहाँ समाजु सकेली ॥५॥**

भावार्थ :—प्रभु व पिता की आज्ञा का उल्लंघन कर मोह की पराधीनता में संपूर्ण समाज को संघटित कर यहाँ मेरा आना हुआ है।

प्रभु पितु बचन मोहबश

शा० व्या० : - अथवा पक्षते गंगातीर पर हुए प्रभु सुमंत्रसंवाद तथा कैकेयी दशरथजी का संवाद (दोहा २।४२) में स्पष्ट है। पिताजी का सांपरायिक कार्य पूर्ण

१. अर्थशास्त्र जयमंगला अ. १०

होने के वाद गुरुजी ने राजपद स्वीकारने में किसी प्रकार से अधर्म की प्रसक्ति का न होना समझाया है फिर भी भरतजी ने उस पर असन्तुष्टि प्रगट करना 'मोह वस' से विवक्षित है।

मोह की अदोषता में आन्वीक्षिक्यनुमोदिति गूढाभिसन्धि

यद्यपि यह मोह स्वरूपतः दोषरूप में गाया है तथापि सेवात्मक भक्ति के विरोध की प्रसक्ति राजपदस्वीकृति में होने के कारण भरतजी ने किए आज्ञोल्लंघन में मोह को कारणतया बताना गुण है। आशय यह कि यदि भरतजी ने धर्म के नाम पर राज्य लिया होता तो भरतजी की यह राज्य स्वीकृति मोह कही जाती जो प्रपत्ति के लिए विनाशक होती।

पेली

आज्ञोल्लंघन वाचक 'पेली' शब्द है।

आयउ इहाँ

आगमनकर्तृत्व भरतजी ने अपने ऊपर वताकर समाज को अद्रोही बताया है क्योकि उनका आगमन भरतवृत्ति प्रेरणानन्तरवृत्ति है। अतएव 'मोहि सम' आदि (चौ० ४) में कहना उपन्न है।

इहां : विवेकराज्यस्थ चित्रकूट प्रदेश एतच्छब्दार्थ है।

समाजु सकेली

'समाजुसकेली' का अन्वय भी पूर्ववत् 'मोहवस' से है उसका परिणाम स्वामि-विद्रोहजपाप से भरतजी का कभी उद्धार होना नहीं है।

सकेलो से गूढाभिसन्धि

यदि भरतजी एकाकी हो सेवकरूप में उपस्थित होकर श्रीराम को स्वामी होने की प्रार्थना करते व श्रीराम स्वामित्व स्वीकारते तो दोनों का यह कार्य राजनीति-सम्मत न होता किं वहुना उनका स्वार्थ ही कहा जाता। अतः समाज को साथ में लाना सार्थक है। इस प्रकार आन्वीक्षिक्युक्तगूढ़भिसन्धि ज्ञातव्य है।

संगति :—स्वामी की आज्ञा में अनुल्लंघनीयता समझकर भी स्वामिद्रोही होने का करण आगे समझायेंगे। उसके पूर्व भगवदाज्ञा की अनुल्लंघनीयता विश्ववर्ती जड़-चेतन के उदाहरण से भरतजी समझा रहे हैं जिसके पीछे 'यद्भयात् वाति वातोऽयं' आदि श्रुतियाँ स्मर्तव्य हैं।

चौ० :—जग भल पोंच ऊँच अरु नीचू। अमिअ अमरपद माहुरु मीचू ॥६॥
राम रजाइ मेट मन माहीं। देखा-सुना कतहुं कोउ नाहीं ॥७॥

भावार्थ :—जबकि भले-बुरे, ऊँचे-नीचे, अमृत, अमर पद, विष एवं मृत्यु श्रीरामाज्ञा को मिटाने में कभी समर्थ हुए ऐसा इतिहास में कहीं देखा-सुना नहीं गया है।

जग भल पोच

शा० व्या० :—"जग" से वर्णाश्रम समझना है।

"भल" से कल्याणकृत् अर्थात् बिसंवाद का प्रयोग न करने वाले समझने हैं।

"पोच" से शठ अर्थात् पैशुन्य के सहारे दो पक्षों में कलह कराने वाले समझने हैं।

ऊँच अरु नीचू

"ऊंच" से शास्त्रसंकेतित द्विजादि वर्ण, एवं "नीचू" से शास्त्रसंकेतित शूद्रादि विवक्षित है।

अमिअ अमरपद माहुरु मीचू

"अमिअ" से अमृत बोध्य है।

"अमरपद" से स्वर्गादि ब्रह्मलोकान्त पद बोध्य है।

"माहुरु" से विष समझना है।

"मीचू" से मृत्यु लक्षित है।

उक्त भल आदि सभी के जो भी कर्म शास्त्रो में गाये हैं उसके अनुसार उनके शब्द भी संकेतित हैं ये सभी परिभाषाएँ सृष्टि से लेकर प्रलयपर्यन्त अपरिवर्त्तनीय हैं जो भगवान् का वैशिष्टय है उसका उल्लंघन करना या प्रकृति ने अपने कार्य का परिवर्तन करना प्राणिमात्र के लिए मोह के साथ विध्वंसक है।

उपर्युक्त उदाहरणों का तात्पर्य

"भल-पोचू" आदि शब्दों के सम्बन्ध में शास्त्रसिद्धान्त मननीय है। वह यह कि जड़ या चेतन में स्थित तत्तत्पदार्थों की उच्च-नीच आदि संकेत के द्वारा निंदा या स्तुति लक्षित नहीं है अपितु प्रभु ने जिनको जैसा कार्य करने का आदेश दे रखा है उसके कार्यान्वियन की अनुरूपता समझाने हेतु उसे केवल "भल पोचू" आदि शब्दों से संकेतित कर रखा है। निष्कर्ष यह कि चेतन कोटि में आने वाले वसिष्ठादि महर्षि व गुहादि सभी प्रभु शासन में स्थिर हैं वे सभी प्रभुशासन में अपनी हितसाधनता बलवदनिष्टाननुबन्धिता व कृतिसाध्यता के साथ शासनातिक्रमण में अनिष्ट भी समझ रहे हैं। अचेतन कोटि में रहे अमृतादि तत्व भी प्रभू के द्वारा निर्णीत स्वभावानुगामी देखे जा रहे हैं। जैसे नीचों को भी अमृत प्राप्त होता है तो उनका अमर होना तथा उच्चों को विष प्राप्त होता संहार होना देखा गया है।

स्मर्तव्य है कि सर्वाङ्गोपसंहारात्मक प्रकृतिरूप प्रपत्ति की प्रसक्ति न होने से सभी में उक्त प्रसक्ति अभाव दिखाने की अपेक्षा नहीं है। फलतः सभी जगह भगवदाज्ञानुल्लंघनीयता क्लृप्त है। प्रपन्नों में शासनादेश की उल्लंघनीयता परक जो मोह है जैसा कि पूर्व चौपाई में व्याख्यात है। उसका अभाव समझाकर सर्वत्र भगवदनुशासन की स्थिरता समझाइ ही है।

रजाइ

"रजाइ" से यहाँ प्रभु का शासन विवक्षित है।

मेट मन माहीं

शास्त्रादेश को माननेवाली संपूर्ण अवध व मिथिला की प्रजा अपने साधुत्व में आरुढ़ है फलतः मनसा. वाचा; कर्मणा एक रूप से वह चल रही है समझाने के लिए "मेट मन माहीं" कहा है; अतः यह प्रजा अन्तःकरण में भी प्रभुशासनातिक्रमण नहीं सोचती तो वाचा और कर्मणा बात ही क्या है? इस प्रकार प्रजा में त्रयीप्रतिष्ठाप्रयुक्त धर्मशासन समझाया है।

देखा-सुना

'देखा सुना' का अन्वय 'कतहुँ नाहीं' से है। जहाँ शासनातिक्रमण देखा सुना जाता है वही अहित या दण्ड होना निर्णीत है। वह भी अनुशासन के अन्तर्ग्रंत है अतः 'देखा सुना कतहु कोउ नाहीं' का कहना उपपन्न है।

कतहुँ

"कतहुँ" से वर्णाश्रमदेशव्यापित्व स्फुटकर अनय का अभाव प्रदर्शित किया है।

कोउ

'कोउ' से उच्चनीच आदि सभी बोध्य है।

संगति :—स्वामिद्रोहिताभाव का अपवाद समझाते हुए स्वामी में स्वार्थविरोधाभाव सुना रहे हैं जो एक मात्र प्रभु में ही है।

चौ० :—**सो मैं सब विधि कीन्हि ढिठाई। प्रभु मानी सनेह सेवकाई॥८॥**

भावार्थ :—वहीं मैं सब प्रकार से मोह को इष्ट समझकर बड़ी ढिठाई के साथ आया हूँ परन्तु हमारे प्रभु ने उसे सेवारूप में मानकर मुझ पर अनुग्रह किया है।

सो मैं

शा० व्या०—"सो मैं" पूर्वचौपाई में उक्त 'मोहबस पेली' से विशिष्ट 'सो मैं' से विमर्शनीय है।

मैं—उक्त सोऽदार्थविशिष्ट भरतजी मत्पदार्थ है।

सब बिधि

त्यक्त अवधस्वत्वक स्वामी के पास अवधस्वामित्व स्वीकारार्थ की गयी प्रवृत्ति में जो प्रतिबन्धक या नाशक तत्व उपस्थित हुए उनके प्रतीकार में माने गए वे सभी प्रकार 'सब बिधि' से विवक्षित है।

ढिठाई

शास्त्रप्राप्त प्रभुआज्ञा का ज्ञानतः उल्लंघन करना "ढिठाई" है।

प्रभु मानी (स्वार्थविरोधाभाव)

प्रभु :—सर्वांगोपसंहारपूर्वक प्रीतिरूपा प्रपत्ति का सर्वथा उच्छेद देखकर प्रपत्ति की स्थापना में संयत भरतजी के प्रति प्रसन्न श्रीराम "प्रभु" से बोध्य है।

"मानी" से उपर्युक्त दोषादि के रहते भी प्रभु ने आश्रम में आने की अनुमति देना प्रियदर्शनप्रयुक्त आवेग में आलिंगन करना, अपने विषय को सभा मे उपस्थापित करने की आज्ञा देना व अपनी ओर से 'कहहु' करौं सोइ आजु' की प्रतिज्ञा करना इत्यादि चरित्र बोध्य हैं। इसमें स्वार्थविरोधाभाव स्पष्ट है।

सनेह सेवकाई (मोह दोष की उत्तेजकता)

उपर्युक्त अनुमति (माना) के लिए अपेक्षित हेतुवाक्य "सनेह सेवकाई" है।

'सनेह' आगे (२।३०१) में व्याख्यात होगा।

"सेवकाई" से दोहा २।२९३।८ में उक्त अन्धत्व और प्रबोधाभावरूप दोषों के अभाव से विशिष्ट सेवाधर्म ध्वनित है। आशय यह कि प्रभु, आज्ञात्मक पितृवचन के कार्यान्वियन में प्रभुपरिजनत्व का विच्छेद प्रसक्त था फलतः स्वामिधर्म व सेवाधर्म सदा के लिए लुप्त होता इसलिए तत्काल में उद्भूत पितृवचनाज्ञोल्लंघनरूप मोह को उचित समझकर भक्तिरसप्रवाह में प्रवाहित भरतजी की सेवा यहाँ "सेवकाई" से विवक्षित है।

मानि सनेह सेवकाई में धर्म विनय नयशालिता

स्वामिप्रीतिप्रयोजक सेवा (भक्ति) धर्म है। सेवकाई सेवाभाव का विपय है।

वही जनों में विश्वासाधायमकर्म होता है।

यश :—यशस् की व्याख्या भावप्रकाशन में इस प्रकार की गई है—यतो विश्वस्य शमिति तस्माद्यश इतीरितम्"।

संगतिः—सेवक सेवकाई को प्रभु ने स्वीकारने का फल समझाते हुए सेवा में हिताधायकता स्पष्ठ उसका तात्पर्य भक्तगणों ने सनेह सेवकाई के प्राप्ति की ओर ही ध्यान देना है।

दोहा :—कृपा भलाई आपनी, नाथ ! कीन्ह भल मोर।
दूषन भे भूषन सरिस सुजसु चारु चहुँ ओर॥ २९८॥

भावार्थ :—हे नाथ ! आपके स्नेह एवं स्वीकृति से मुझे सर्वरीति से चिन्ता समाधानसंस्कृत सुख ही प्राप्त हुआ और मोहरूप दूषण भूषण तथा चारों ओर कीर्ति छा गयी।

कृपा (भक्ति का तात्कालिक फल)

शा० व्या०—दीन पर आये महान् संकट का निरसन करते हुए उनको प्रश्रय देना ही कृपा है।

भलाई

"अयं भक्तः सुमंगलवान् तथा बलवदनिष्टेन असंस्पृष्टो भवतु" ऐसी इच्छा स्वामी ने रखना ही "भलाई" है। जैसा कि "अन्डन्ह कमठ हृदय जेहिं भाँति" से स्पष्ट है।

नाथ

"नाथ" की व्याख्या दोहा २।२९०।४ में उक्त है।

कीन्ह भल मोर (भक्ति सिद्धान्त का हृदय)

भरतजी का भविष्यत् में साध्य एवं साधनोभय रूप में स्वच्छ सेवात्मक रुच्य "भलमोर" से स्पष्ट है जो भरद्वाज महर्षि द्वारा अनुमोदित हो चुका है। निष्कर्ष यह कि सेवक अपनी इच्छा से स्व की कृति के साफल्यानुबन्ध में सेवा करता हुआ अपने को भक्ति सेवक समझताहै परन्तु यह सेवकत्व कर्मकाण्ड के अनुरूप माना जा सकता है, भक्ति सिद्धान्त के अनुरूप नहीं क्योंकि प्रपन्नों के मन में अपना रुच्य कहकर प्रभुसेवा-निसिक्त कुछ भी नहीं है। भरतजी की सेवा उक्तभक्तिसिद्धान्तानुरूप ही है वे सदा स्वामी श्रीरामकी प्रसन्नता जिस प्रकार होगी तदुपधायकतया कार्य (सेवा)करते आ रहे हैं व उसी में रहना चाहते हैं। यही 'कीन्ह भल मोर' का स्पष्टीकरण है।

दूषन

"दूषन" से उपर्युक्त मोह, व गुरुजी व माताजी की आज्ञा का उल्लंघन और अपने संकल्प को पूर्ण करने के लिए हठवादिता विवक्षित है। भक्तिनाशक यथार्थज्ञान विषय जो होंगे वे ही दूषन है। उनमें कोई नाशक अथवा प्रतिबन्धक रूप में परिगणित है।

भूषन

सर्वसाधारण्येन मोह, भक्ति के बाधक या नाशक और क्वचित् भक्तिप्रतिवन्धक ज्ञान विषय होते हुए, भी (भरतजी के चरित्र में उस मोह का नाशक न होते

हुए, 'भूषण' से सेवकचरित्र वैरान्धक और अबोध इन दोनों का अभाव स्फुट कर रहे हैं।

सुजसु

यशस् की व्याख्या इस प्रकार है—'यतो विश्वस्य शमिति तस्माद्यश इतीरितम्' उसमें दिगतव्यापिता प्राप्त है।

संगति :—मोहविशेष की निर्दुष्टता बताकर शिशुभावस्थित सेवक के 'प्रभुमानी सनेह सेवकाई' चरित्र के प्रति प्रभु की कृपा बताने हेतु प्रत्यक्षादि प्रमाणत्रय प्रमितत्व भरतजी समझा रहे हैं।

चौ० :—राउरि रीति सुबानि बड़ाई। जगत-बिदित निगमागम गाई।

भावार्थ :—हे प्रभो! आपके ये चरित्र तथा चेष्टाओं की महत्ता जगत् एवं निगमागम में सर्वमान्य है।

रीति

शा० व्या० :—"रीति" से नय विवक्षित है। "प्रभु मानी सनेह सेवकाई" तथा "कृपा भलाई आपनी नाथ कीन्ह भल मोर" से प्रभु की रीति गायी है।

"तत्तद्देशीय रचना रीतिस्तद्देश नामभाक्" से भाव प्रकाशन में रीति की व्याख्या स्पष्ट है।

सुबानी

"सुबानी" से चरित्रात्मक भाषा विवक्षित है जो स्वभाव के रूप में गाई जाती है।

बड़ाई जगत

उपायान्तरानपनोद्यपातक की शुद्धि करते हुए शरणागत की पूर्ण सुरक्षा करना "बड़ाई" है।

जगत :—से प्रत्यक्षानुमानप्रमाणपरतन्त्र वर्णाश्रम समझना है।

निगमागम

जगत् निगम आगम तीन प्रमाणों का उल्लेख कर प्रभु के सर्वातिशायी अन्य-चरित्रों के बारे में किसी का भी विरोध न होना स्फुट है।

"निगम" से सर्वाङ्ग संपन्ना त्रयी व "आगम" से पांचरात्रादि भक्तिशास्त्र विवक्षित है।

संगति :—प्रभु समवेत जगत निगमागम संगीत चरित्र सुना रहे हैं, जिसमें उपर्युक्त दोहे में कहा 'मोर' शब्दार्थ स्पष्ट होगा।

चौपाई :—**कूर कुटिल खल कुमति कलंकी। नीच निसील निरीस निसंकी॥**
तेइ सुनि सरन समुहें आए। सकृत प्रनामु किहें अपनाए॥३॥

भावार्थ :—क्रूर, शठ,खल 'कुमति, कलंकी, नीच, शील रहित, नास्तिक व्यक्तियों का अपने साम्मुख्य में प्रणाम करना देखकर प्रभु उनको अपना लेते हैं।

क्रूर कुटिल खल कुमति कलंकी

कूर :—सत्संग्रहणाशील क्रूर है।

कुटिल :— कर्मण्यन्यत् स्वभाव वाले कुटिल होते हैं।

खल :—अपरिवर्तनीय दुष्ट (हिंस्र) स्वभावसंपन्न खलः होते हैं।

कुमति :— शास्त्रप्रमाण को बहिष्कृत कर प्रत्यक्षानुमानमात्र प्रमणिवादी 'कुमति' होते हैं।

कलंकी :—परदार परद्रोह परद्रव्य त्रयाभिनिविष्ट 'कलंकी' होते हैं।

नीच नि ील निरीस निसंकी

नीच :—पूर्वजन्मकृत पापो से नीचत्वेत शास्त्र में घोषित पद प्राप्त करने वाले कुलानुरुपकर्मकर्ता हैं।

निःसील :—पूर्णतमोगुणी। निन्दित कर्म में ही प्रीतिमान होने वाले।

निरीस :—निरीश्वरवादी नास्तिक 'निरीस' होते हैं।

निसंकी :—निर्लज्ज जो कुलीनता के नाशक होते हैं।

उक्त सभी तत्व वर्णाश्रम समाज के लिए कण्टक रूपेण परिगणित है।

सुनि

क्रूर आदि नवविधो में से किसी ने पूर्वजन्मकृतपुण्यप्रभाव से प्राप्त सत्संग से भगवन्महिमासुनना 'सुनि' से ज्ञातव्य है कि उसे स्वकृत कर्म से विरति हुई तो उनके लिए निगमाम ने भगवच्छरणागति को ही एकमात्र प्रायश्चित माना है क्योंकि उनके शुद्ध करने के लिए वेदों ने अन्य प्रायश्चित्तो के द्वारा वर्णाश्रम में स्वीकृति मानी है।

सामुहे

भगवदादेश को निश्छल रूप में मानना ही ईश्वर साम्मुख्य है जो 'सामुहे' से बोध्य है।

प्रनामु

इतरानपनोद्य पापप्रक्षालनार्थ कर्तव्यतया निर्दिष्ट प्रणाम ही "प्रनामु" से समझा रहे हैं। ज्ञातव्य है कि विद्याएँ भक्ति के प्रति अंगभूता है तथापि वे जब

(१) भावप्रकाशन पृष्ठ-७० पंक्ति-३-४

(२) २।२९।८।८

(३) भावप्रकाशन ११।१७

अशक्यत्वात् अनुष्ठित नहीं हो सकतीं तो उनका लोप होना उन व्यक्तियों के लिए भक्ति में बाधक नहीं है।

जैसे विकृतिकर्म में विहित सुवर्णकलाय आतिदेशिकप्राप्त व्रीही वितुषीकरण आदि का लोप इष्ट है उसी प्रकार वर्णाश्रम के लिए मीमांसा परिभाषित प्रकृतिरूप कृष्णभक्ति तभी सफल हो सकती है जब उसमें वर्णाश्रमानुरूप वेदोदित धर्म का समन्वय भी होता रहेगा। वर्णाश्रमेतर ने अपनाए कृष्णप्रणाम में प्रकृतिप्राप्त तत्तद्धर्म का लोप अधिकाराभावात् होने पर भी उन व्यक्तियों ने अपनाई ईश्वरशरणागति क्रूरादि नवविधों के लिए पूर्ण है।

अपनाए

"अपनाए" का भाव यह कि प्रणाममाध्यम से शरणागत की यथार्थता प्रमाणित नहीं होगी तो प्रणाम या अपनाए नहीं कहा जा सकता। इसमें 'कारणतो दृष्ट' अनुमान प्रणाली स्मर्तव्य है—मक्षिका पंखभक्षणरूपकारण से छर्दिः अनुमित होती है वैसे प्रणाम यदि प्रमाणित है तो प्रभु ने अपनाना व क्रूरत्वादि दोषों से मुक्त होना अवश्य है। यदि प्रणाम अप्रमाणित है तो उसके द्वारा किये प्रणाम को प्रभु द्वारा अपनाना सिद्ध नहीं है।

संगति : —प्रीति का वास्तविक स्वरूप बताने हेतु अपनाए का भाष्य हो रहा है।

अथवा : स्वामि कार्य में धर्म नय विनय सानी सुना रहे हैं।

चौ० :—देखि दोष कबहुँ न उर आने। सुनि गुन साधु समाज बखाने ॥४॥

भावार्थ : —प्रभु सेवक के दोषों को देखते हुए भी उनको हृदय में स्थान नहीं देते किंबहुना वे सेवकों के गुणों को ही समाज के सामने प्रगट करते हैं।

दोष

शा० व्या० : —"दोष" से उक्त क्रौर्यादि नौ दोष विवक्षित हैं जो भक्ति के प्रतिबन्धक है। उसका अन्वय 'देखि' से है।

कबहुँ न उर आने

'कबहूँ' से कालत्रय विवक्षित है स्वरूपतः सेवक के दोष देखते हुए भी उस ओर उन्होंने ध्यान न देना "न उर आने" से स्पष्ट है।

सुनिगुन

चिन्त्य है कि प्रभु अपने सेवकों का कीर्तन तब तक नहीं करते जब तक साधु सयाने विद्वानों के द्वारा सेवकों का गुण-गान नहीं होता। तदनन्तर प्रभु उन गुणों को साधु समाज के सामने प्रगट करते हैं। जैसे वसिष्ठजी से भरतगुण-गान सुनने के बाद प्रभु ने भरतजी को 'कहहु करौं सोई आजु' कहा। यही "सुनिगुन" का भाव है।

बखाने

"बखाने" का कर्तृत्व साधुसमाज में न समझकर प्रभु में समझना हैं।

संगति :—भरतजी प्रभु का और एक अद्वितीय गुण बता रहे हैं।

चौ० :—को साहिब सेवकहि नेवाजी ? आपु समाजसाज सब साजी ।।५।।
निज करतूति न समुझिअ सपने । सेवक सकुच सोचु उर अपने ।।६।।

भावार्थः—आपको छोड़कर कौन ऐसा स्वामी होगा ? जो सेवक पर दया करते हुए उसके संपूर्ण साज सामान को स्वयं ही पूर्ण करे व उस करतूत को स्वयं कभी ध्यान में लेता हो बल्कि सेवक को अपनी करतूत याद आयेगी तो उन्हें संकोच होगा ऐसा भाव अपने हृदय में रखें।

को साहिब

शा० व्या० :—को प्रश्न से श्रीरामान्तर में स्वामित्वलक्षणाभाव सूचित है। जिससे श्रीरामान्तर की अलक्ष्यता समझकर "विवेक बराह बिसाला" स्फुट किए है।

साज सब साजी

'साज' से केवल श्रीराम के लिए सर्वस्वत्याग करने वाले सेवकों की सेवायें अपेक्षित सामग्री विवक्षित है।

"सब साजी" का आशय यह कि क्वचित् कार्योत्पत्ति में अपेक्षित सामग्री को एकत्रित करना प्रभु के अतिरिक्त किसी के लिए सम्भव नहीं ऐसी स्थिति में प्रभु स्वयं साज के रूप में अवतीर्ण होकर कार्यसंपत्ति में विलम्ब नहीं होने देते जिस प्रकार द्रौपदीचीरहरण में श्रीकृष्ण स्वयं साड़ी हो गये थे ॥

करतूति

संपूर्ण सामग्री को एकत्रित करने का कार्यभार अपने ऊपर होते हुए भी उसको हृदय में न लाना प्रभु की नीतिमत्ता का द्योतक है।

सेवक सकुच

"अहं (प्रभुः) सामग्री संयोजकः अथवा अहमेव (प्रभुः) कार्यसामग्री संयोजकः" भाव को सेवक के हृदय में न लाने देने का कारण "सेवक सकुच" है अर्थात् सेवक, स्वामी को किसी भी कार्य के प्रति श्रम देना इष्ट नहीं मानते यदि उन्हें प्रभु को कष्ट हुआ ऐसा मालूम हो जायेगा तो सेवकों को संकोच होगा यही "सेवक सकुच" है।

इस प्रकार "विवेक बराह विसाला' के अन्तर्गत स्वामी का लक्ष्य लक्षण विवेक पूर्ण हुआ।

संगति :—साधन (संकोचसमानाधिकरण रामप्रसन्नताकालीन भरतीय श्रीरामपगस्नेह) व सिद्धि (संकोचासमानाधिकरण रामप्रसन्नताकालीन भरतीय

श्रीरामपगस्नेह) रूप प्रभु सेवा का आजीवन व्रत लेने की उपपत्ति में इतर को स्वामी न मानने में शपथ को उपयुक्त बताते हुए भरतजी रामेतर की अलक्ष्यता स्थिर कर रहे हैं।

चौ० :-सो गोसाईं नहिं दूसर कोपी। भुजा उठाइ कहउँ पन रोपी ॥७॥

भावार्थ :—आप गोसाईं जैसा संसार में दूसरा कोई नहीं हैं यह मैं भुजा उठाकर प्रतिज्ञा कर रहा हूँ

नहिं दूसर

शा० व्या० :—"नहिं" से सेव्यत्वेन रूपेण इतर राज भक्ति की व्यवृत्ति समझनी है जनकादि धर्मविजयी राजसमेत माता-पिता आदि सभी "दूसर" से विवक्षित हैं। अतएव मानसाभिमत प्रपत्ति के लिये सेव्य नहीं है।

भुजा उठाइ

"भुजा उठाइ" से वास्तविकता के विवेकपूर्वक प्रदर्शन से रामेतर में अलक्ष्यत्व स्फुट है। ध्यातव्य है कि भुजा उठाना पूर्वोक्त निश्चय बोधक मुद्रा का सूचक है।

पन रोपी

"पन रोपी" से प्रतिज्ञा सूचित है। इन दोनों (भुजा उठाइ, पन रोपी) के उल्लेख से सगुणधर्मविग्रहवान् ब्रह्म से अतिरिक्त की असेव्यता कहकर भक्तिसिद्धान्त स्थापित करने के साथ सेवाधर्म की सिद्धि में रही कठिनता का अभाव सूचित है।

ध्यातव्य है कि अप्रगट ब्रह्म में तत्पर अध्यात्मविद् जनकराजा श्रीरामजी को देखते ही समाधि से विरत हो गए, वसिष्ठमुनि भी प्रभुदर्शन की अभिलाषा में सूर्यवंश का पौरोहित्य करने हेतु प्रवृत हुए इस प्रकार कर्मकाण्ड के साथ अंगभूत बलाबल अद्भुत विद्यान्तर के व्यवस्था को सुरक्षित रखते हुए श्रीराम के प्रति विवेकयुक्त प्रबोधप्रचुरस्नेहात्मक (अंगी) प्रपत्ति व भक्ति की प्रतिष्ठा मननीय है।

संगति :—स्वामिप्रेर्यताधीन प्रपन्न सेवकाचरणात्मक भक्ति सिद्धान्त का व्यावहारिक रूप दृष्टान्त में समझा रहे हैं जो विवेक दिशा का पूर्णरूप है।

चौ० :—पसु नाचत सुक पाठप्रवीना। गुनः गति नट पाठकअधीना ॥८॥

भावार्थ :—स्वामी जैसे नचाता है वैसे पशु नाचता है शुक को जैसा पढ़ाया जाता है वह वैसा ही बोलता है, पशु का नाचना और शुक का बोलना तथा नट की गति सूत्रधार के अधीन होती है।

पसु नाचत

शा० व्या०—"पसु" से लोकव्यवहारानभिज्ञ समझने हैं। "नाचत" से पशुओं के द्वारा की जाने वाली शिक्षकाधीन आंगिक क्रिया समझनी है।

सुक पाठ

"सुक" से पक्षिविशेष विवक्षित है। "पाठ" से शुकादि के कंठताल्वाद्यभिघात-संयोगजनक वाचिक व्यापार समझने है।

गुन गति नट

पशु पक्षियों ने प्राप्त किए गुण एवं साधारणीकरण व्यापारबोधक नटकर्म "गति" से विवक्षित है।

पाठक आधीना

"पाठक आधीना" से पाठकाधीन पशुक्रिया, शुकक्रिया तथा नटक्रिया समझनी हैं। इन तीन क्रियाओं के उल्लेख का तात्पर्य तीन प्रकार के उपदेशों से है अर्थात् जिस प्रकार से वेदों ने वैदिक यज्ञयागादि क्रियायें सिखाई हैं उसी प्रकार की आचरणक्रिया, पशुक्रिया से बोध्य है जो कर्मकाण्डियों में प्रसिद्ध है। शुकपाठ से गुर्वध्यापनपूर्वकअध्ययनक्रिया समझनी है जैसा कि वेद के अध्ययन में प्रसिद्ध है। नटगति से नूतन[२] प्रयोगनिमित्त की प्रसक्ति के विशेषावसर पर ऊह से अनुष्ठित की जाने वाली क्रिया समझनी है जैसा कि प्रकृत में भरतजी द्वारा चलायी भक्तिक्रिया से स्पष्ट है। इस प्रकार स्वामिप्रेर्यताधीन सेवकाचरणात्मक भक्तिसिद्धान्त का भाव यह कि जो भी क्रिया कर्तव्यतया भक्तो ने स्वीकृत करनी होती है उसके पीछे आधार कहकर वही शिक्षा मननीय होगी जो प्रभु के द्वारा कण्ठतः या वेदों के माध्यम से अथवा प्रभु के अभिनय से प्राप्त है उसी में भक्ति प्रपत्ति की उन्नति है। यह एक प्रपत्ति काअपूर्व विवेक वराह है।

ध्यातव्य है कि यह विवेक जो स्वकृत क्रियामात्र स्वतन्त्रंता न मानकर सदा स्व को सुख-दुख से शून्य रहने का उपदेश देता है।

संगति :—दोहा २९८ के साथ संबंध जोड़ते हुए भरतजी अपने चरित्र को भलाई के रूप में परिणत करने वाले श्रीराम ने उक्त वचन (दोहा १६३) याद करते हुए उनकी दया दुहरा रहे हैं।

दोहा :—**यों सुधारि सनमानि जन किए साधु सिरमोर।**
को कृपाल विनु पालिहै बिरदावलि बरजोर ? ॥ २९९ ॥

भावार्थ : - सेवकों की विगड़ी बात सुधारकर सम्मान देते हुए आपने उन्हें भक्तशिरोमणि बना दिया। हे कृपालो ! आपके बिना अपनी बिरदावली का नैरन्तर्येण पालन कौन कर सकता है ?

यों सुधारि

शा० व्या०---"यों" से क्रूरादि नवविध दुष्टों को सुधारने की प्रक्रिया याद में लानी होगी जो २।२९९।२ में गाई है। वर्णाश्रम भ्रष्ट क्रूरादि को अपनाना "सुधारि" से समझना है।

अथवा "सुधारि" से "स्वामिधरम स्वारथहि विरोधू" का प्रत्याख्यान किया है अर्थात् क्रूरादि को स्व-स्व कौर्यादि धर्म में आबद्ध करना व स्वजन बनाना "सुधारि" है।

जन किए

"जन" से वेदविरोधक दोष मुक्त भक्त समझने हैं। "किए" से अपने सेवकों को सन्मान के रूप में साधुशिरोमणि बनाना समझना है अर्थात् वेदविरोधक दोषों का समापन व गुणों का आधान भक्तजन में प्रभु इस प्रकार करते हैं कि वे सर्वत्र स्तुत्य हों जैसे आटविक गुहादि के चरित्रों में उनके दोषों का सुधार तथा सम्मान स्पष्ट है।

साधु सिरमोर

जनकजी एवं वसिष्ठजी साधुओं के द्वारा गुहादि ने प्रशंसनीय होना "साधु सिरमोर" है।

कृपाल

"कृपाल" से उत्कृष्ट व अनुत्कृष्टरूप आनृशंस्य दर्शाया गया है।

पालिहैं

प्रतिज्ञा का अबाधित रक्षणानुकूलव्यापाराभाव अन्यत्र दिखाने हेतु "पालिहैं" कहा है।

बिरिदावली :

"बिरिदावली" दोहा २।२९८।१-८ में निरूपित है। अर्थात् व्युपबृंहित नीतिसम्मत भक्तिमहारानी के संबंध में भरतजी ने बताया "विवेक बराह बिसाला" से निरूपित है।

संगति :—२।२३४।१-२ में भरतजी ने श्रीरामाश्रम में आते हुए जो चिन्तन किया था उस ध्यान के पूर्णता की आसन्नता देखकर अत्यानन्द में विभोर होते हुए भरतजी कह रहे हैं। उसके अन्तर्गत प्रथमतः "जौं सनमानहि सेवकु मानी" व "यो सुरि सनमनि" समझारहे हैं।

चौ० :—सोक सनेहँ कि बालसुभाएँ। आयउँ लाइ रजायसु बाएँ ॥१॥
तबहु कृपाल हेरि निज ओरा। सबहि भाँति भल मानेउ मोरा ॥२॥

भावार्थ :—मैं शोक स्नेह या बाल स्वभाव से आज्ञा को बाएँ रखकर चला आया फिर भी स्वामी (आप) ने मेरी ओर देखकर सभी प्रकार से मेरा भला माना।

सोक सनेह

शा० व्या० :—भरतजी स्वामित्वेन स्थित श्रीराम के चरणों में इन्द्रियवृत्तियों को स्वभावतः समर्पित कर चुके हैं उन्होंने स्वामित्व शून्यश्रीरामादेश को नहीं माना है जो सुमन्त्रजी के द्वारा भरतजी को गंगापार करते सुनाया था उसका कारण स्नेह शोक बालस्वभावअन्यतम या समुच्च्य हैं। शोक व स्नेह २९७।२-३ में व्याख्यात है।

बालसुभाएँ

बालस्वभाव इसलिए कि शिशुपन से ही भरतजी को राजा होने की लालसा न होकर श्रीरामराज्योत्सव दर्शनरूप स्वभाव ने घेरा है उसके विपरीत स्थिति में भरतजी को पीड़ा हो रही है। इस प्रकार उन्होंने अपनी स्वाभाविकी अनिमित्ता भागवती भक्ति ध्वनित की है।

रजायसु बाएँ

सेवक का सेवाधर्म स्वामिआज्ञा पालन ही है उसका अतिक्रमण करना "रजायसु बाएँ" से विवक्षित है। एवंच श्रीरामाज्ञा को वाम रखकर चित्रकूट में आने का कारण एक न होकर शोक, बालस्वभाव व स्नेह को बताया है। इसके पूर्व भरतजी ने "आयउ इहाँ समाजु सकेली"[1] से विशिष्ट स्व के आगमन का कारण मोह को ही माना है। इससे वैमत्य प्रतीत हो रहा है। इसके परिहार में ज्ञातव्य है कि भरतजी ने २।२९८ में "भल मोर" कहकर राजनैतिक हितसाधनता समझाई है इसका आधार "समाजु सकेली" है अभी भरतजी ने केवल अपनी ही आत्मसंतुष्टि व "साधन सिद्धि राम पग नेहू"[2] को व्यक्त करने हेतु "रजायसु बाएँ" कहकर अपने आने का कारण स्पष्ट किया है। इससे कार्यकारण भाव की स्थिरता भी ज्ञातव्य है।

बड़ी चूक

आज्ञोल्लंघनात्मक दोष का होना सेवकों के लिए 'बड़ी चूक' है जो स्वामिगतप्रभुत्व के विनाश की बोधक हो सकती है।

हेरि निजओरा सबहिं भाँति भल मानेउ मोरा

"हेरि निज-ओरा" से सेवाधर्मपूर्णता वताई यतः भरतजी ने किए त्रयां (श्रीराम गुरु पिता) के वचनोल्लंघन में सामयिक (सेवाधर्म लोपनिमितक) औचित्य देखकर प्रभु की प्रसन्नता "हेरिनिज ओरा" से स्पष्ट है "सबहि" से विमल विवेक धर्म नय समझना है 'भल' से विवेकादि तीनों रीति से भरतकार्य को प्रभु ने भल से उचित मानना समझना है।

ज्ञातव्य है कि आज्ञोल्लंघन कर चित्रकूट आने का औचित्य "विमल विवेक धर्म नय शालिता" से है वह भी यहाँ चिन्तनीय है उसके अन्तर्गत विमल विवेक का स्वरूप यह है—कैकेयीजी के द्वारा राज्यापहरण होना व श्रीरामजी की अनुमति प्राप्त होना भरतजी की सेवाधर्म के परीक्षा का समय था क्योंकि 'सेवाव्रत में रहने वालों के लिए शास्त्रतः एवं न्यायतः प्राप्त विषयों से विमुख रहना ही उस दशा में पथ्य माना गया है' जबकि सेवक के ऊपर प्रभुसेवा से वंचित होने की प्रसक्ति होती है, यही विवेक है। नीतिसिद्धान्त मत से भी उक्त वैमुख्य उस दशा में पथ्य है जबकि पिता पुत्र, भाई आदिकों में रागप्रसक्ति होकर प्रजा में लोभादिदोषसंवर्धन प्रसक्त होगा जैसा कि

१. २।२९८।५ २. २।२८९।८

"विकारं याति पुत्रोपि राज्यालीढ़स्तथापिता" से स्पष्ट है। यह राजनीतिक दोष राज्यस्वीकृति होने की स्थिति में आसन्न है यही दोष श्रीराम के तरफ भी प्रसक्त होता है अतएव दोनो भाईयों ने राज्यस्वामित्व का प्रत्याख्यान कर परस्पर मिलना नय है। इस प्रकार प्रत्याख्यान का कारण श्रीराम के प्रति भरतजी का बाल्यकाल से प्राप्त असाधारणस्नेह तथा श्रीराम का भी भरतजी के प्रति रहा स्नेह समझना परिणाम में इस मिलन से विवेक व नय के समान सेवा व स्वामिधर्म भी निर्बाध है फलतः दोनों भाइयों के स्नेह पूर्वक भलेपन को दर्शाने में दोनों समाज की योगक्षेमनिष्पत्ति, संगठन भेद का समूल उन्मूलन पूर्णरूपेण क्लृप्त है। 'भल मानेउ' से रामप्रीतिरूप व्यापार जन्यता भरत भल में कही है। एवं च फल व अदृष्ट के स्थान पर भक्तिसिद्धान्ताभिमत रामप्रसादरूप व्यापार की सिद्धि के साथ कारणगता 'विवेकवराह विसाल' स्फुट है।

संगतिः—बाल स्वभाव से अभिव्यक्त उत्कृष्ट भक्ति का आलंबन तत्व समझा रहे हैं जिसके बल से ऐन्द्रीमाया का आक्रमणासंभव के साथ सरस्वतीप्रीति का होना समझ में आयेगा।

चौ०—देखेउं पाय सुमंगलमूला। जानेउँ स्वामि सहजअनुकूला ॥३॥
बड़े समाज बिलोकेउँ भागू। बड़ी चूक साहिबअनुरागू ॥४॥

भावार्थः—मैंने सुन्दर, सुमंगल के मूल प्रभुचरणों को देखा तो उनकी सहज अनुकूलता समझ में आयी। इस बड़े समाज में मैं अपना भाग्य देख रहा हूँ। इतनी बड़ी चूक होने पर भी स्वामी का मुझ पर बड़ा अनुराग है।

देखेउँ पाय

शा० व्या०—भक्तों के हक में चरणदर्शनोपधायक सेवा ही प्रधान है क्योंकि उससे भगवत्प्रसादप्राप्ति निर्णीत है जैसा कि श्रीमद्भागवत में स्पष्ट है[१]। वह देखि का कर्मकारक है। "पाय" से तेजोविशिष्टपादुका भी विवक्षित है जो श्रीराम की अनुपस्थिति में भी संभावित है।

सुमंगल

श्रीरामजी ने अवधस्वामित्य पर स्वीकृति देना ही यहाँ सुमंगल है।

मूला

उक्त सुमंगलसाधनता श्रीरामचरणदर्शन में बनाने का भाव व्यतिरेक में है।

अर्थात् रामपादुकादर्शन न होता तो राज्यस्वत्य की स्वीकृति श्रीराम के द्वारा नहीं होती फलतः सेवाधर्म से सदा भरतजी में बंचित होने की आपत्ति रहती।

जानेउँ

'श्रीरामः मां (भरतं) प्रति स्वामित्वेन अनुकूलः मम स्वपादुकादर्शनं प्रति अनुमतिदातृत्वात्' इस प्रकार की अनुमानप्रणाली 'जानेउँ' से स्मर्तव्य है।

१. ३।१६।४

सहज

"सहज" से भाइयों में जन्मप्रयुक्त सहजशत्रुताभाव स्फुट किया है यतः भरत-जन्म ही रामराज्य के प्रति प्रतिबंधक होने से श्रीरामजी के प्रति भरतजी ने सहज शत्रुत्व संभावित है अतएव भरतजी ने जन्म लेना श्रीराम के प्रति अपराध है वह यहाँ निरस्त है समझाने हेतु सहज कहा है।

भागू

'भागू से विधाता का आनुकूल्य बताकर उसकी वामता की समाप्ति बताई।

अनुकूला

सहज अनुकूलता जन्मतः ही श्रीरामने दर्शायी है पुनः उसके उच्चारण का निष्कर्ष सर्वस्वनाशरूप विपदा के अवसर पर अनुराग की स्थायिता के प्रदर्शन में है।

बड़े समाज

सहज आनुकूल्य कहने का कारण 'बड़े समाज बिलोकउ भागू' से बता रहे हैं :

'बड़े समाज' का अर्थ भरतातिरिक्त महान् समुदाय है उनके भाग्य से श्रीराम की राज्यच्युति में कोइ संबध नहीं है क्योंकि वह रामराज्यस्वामित्य का प्रति-वन्धक नही है।

अनुरागू

स्वामिगत राज्य के विनाश की प्रसक्ति होने पर भी श्रीराम की भरतजी पर वैसी ही प्रीति रहना अनुराग है जो प्रीति की अन्तिम अवस्था का बोधक है। 'अनुकूला' कहने के अनन्तर अनुरागु उक्ति का अर्थ यहीं है कि यह अनुराग आज्ञोल्लंघन के 'औचित्य का साधक हो गया है।

संगतिः—"समरथ सरनागत हितकारी" की सर्वातिशायिता कह रहे हैं। अथवा अनुरागू का व्याख्यान कार्यविधया कर रहे हैं।

चौ०—कृपा अनुग्रह अंगु अघाई। कीन्हि कृपानिधि सब अधिकाई।।५।।

भावार्थः—प्रणतपाल ने जो कृपा और अनुग्रह देशकाल का आनुकूल्य बनाते हुए किया हैं वह सर्वातिशायी ही है।

कृपा अनुग्रह

शा० व्या०—दोनों की रक्षा करना उत्कृष्ट कृपा है। अर्थात् दीनों का दुःखा-पहरण करने का स्वभाव यहाँ बताया है उसे राजनीति ने उत्कृष्ट रूप में गाया है।

अनुग्रह :—आत्मीत्वेन स्वीकार करना अनुग्रह है।

ज्ञातव्य है कि प्रभु सेवकों पर साधारणतया एक ओर कृपा व अनुग्रह रखते हैं तो दूसरी ओर से उन पर दण्डभयरूप उपाधि भी बनाये रखते हैं क्योंकि दण्डभय न रहने पर सेवकों का प्रमादी होना इतिहास में प्रसिद्ध है जैसे इन्द्रजी को गोवर्धनधारण से

व बलिजी को सर्वापहरण से दण्डित करना प्रसिद्ध है किन्तु भरतजी पर की हुई प्रभु की कृपा दण्डभयरूप उपाधि से सर्वथा निर्मुक्त है।

अंगु

सभी कार्यों के प्रति अपेक्षित देश काल 'अंगु' से बोध्य हैं फलतः तत्तद् देश व तत्तत्काल से सभी कार्य परिच्छिन्न हैं पर भरतजी पर की जानेवाली चरणदर्शनकृपा सर्वदेशकालव्यापी (निरवच्छिन्न) है। फलतः कृपा में व्याप्यवृत्तित्व (निरवच्छित्व) अंगु" से समझाना कवि को इष्ट है।

अघाई

भरतजी के कार्यक्रम में कुसमय ने बाधाओं का उपस्थापन किया था जिसका परिणाम नीति, धर्म सम्मत सत्कार्योपाय का बुद्धि में प्रकाश न होना संभावित था किन्तु वैसा न होना भरतजी के प्रति कमठवत् नैरन्तर्येण श्रीरामजी के सतत ध्यान का प्रभाव है वही 'अघाई' है अर्थात् एक क्षण ऐसा नहीं हुआ कि भरतजी प्रभु के लिये उपेक्षा के विषय बने हों।

अधिकाई

"अधिकाई" का अन्वय कृपा अनुग्रह से समझना है। "शोभतेऽस्य मुखं" वेदोक्ति के अनुसरण में प्रभु ने सेवक भरतजी के सामने सदा स्वयं की पराजय स्वीकारना, उनके तरफ साकांक्षरूप से देखते हुएं अपनी पराधीनता स्वीकारना, जनकजी जैसे अध्यात्मवेत्ता तथा वशिष्ठजी जैसे कर्मवेत्ताओं ने भरतजीभक्तिमहिमादर्शन की आकांक्षापूर्ति की भरत चरित्र आशा करना आदि कृपा अनुग्रह की 'अधिकाई' का स्वरूप है।

संगति :—'अनुरागू' का स्पष्टीकरण करते हुए 'सरल सुसाहिबसीलनिधानू' का परिणाम आगे कह रहे हैं जो सबके लिए प्रत्यक्षवेद्य है।

चौ०—राखा मोर दुलार गोसाईं ! । अपने सील सुभायं भलाई ।।६।।

भावार्थः—हे गोसाईजी ! अपने शील स्वभाव में रही हितोपधायकता से आपने मेरा प्यार ही किया है।

मोर

शा० व्या०—मोर :—दोहा २।२९३।७८ में उक्त कठिन सेवाधर्म से पूर्ण व कृपा-अनुग्रह अंगु अघाई' आदि से विशिष्ट भरतजी 'मोर' शब्दार्थ हैं।

दुलार

प्रायः स्वामिधर्म सेवक मनोरथों का विरोध[1] ही है किन्तु उसको पूर्णरूपेण निरस्त कर सेवक के मनोरथ पूर्ण करना "दुलार" है। उसके मनोरथ का स्वरूप एक-मात्र स्वामिरूप में स्थित श्रीराम की सेवा है जो धर्म नय व विवेक का परिपाक है।

---

१. २९३।८

सील सुभायँ

सील—"सील" से लोकसंग्राहक, वाक्सूनृता, तच्चित्तानुविधायित्वादि गुण[1] समझने होंगे। उनमें कृपा की प्रधानता है उसका फल कार्यार्थी, आश्रयार्थी व आश्रितों का सर्वंशः अपरित्याग व ईश्वर (श्रीराम) के प्रति विश्वास्यता स्फुट है।

सुभायँ :—'सुभायँ शब्द जन्मतः प्राप्त स्वभावरूप धर्म की अपरिहार्यता का बोधक है जो भरतजी ने पूर्व में गाया है।

अथवा—"सुभायँ" से प्रभु के शील में कृत्रिमत्वाभाव स्फुट हो रहा है।

भलाई

वर्तमान व भविष्यत् में हित प्राप्त होने में सेवक ने प्रतिभट होना भलाई है। जैसे भरतजी के सामने उपस्थित बाधाओं का निरास व रामपादुकादर्शनरूप इष्ट-प्राति से सिद्ध है।

संगतिः—विवेक, धर्म, नीति से भरी भारती उक्त वचन सुनाने के बाद कोई वक्तव्य शेष नहीं है ऐसा सोचकर विद्यावित् स्वामी के सामने बोलने में जो ढिठाई आदि दोष हुए हैं उनकी उपपत्ति बताते हुए क्षमायाचना सरस्वतीजी कर रही हैं।

चौ०—नाथ ! निपट मैं कीन्हि ढिठाई। स्वामि-समाज संकोच बिहाई ॥७॥
अबिनय बिनय जथारुचि बानी। छमिहि देउ ! अति अ·रति जानी ॥८॥

भावार्थः—हे नाथ ! स्वामी व समाज के संकोच को छोड़कर स्पष्ट रूप में ढ़िठाई करते हुए अविनय या विनयपूर्वक रुचि के अनुरूप जो वाणी सुनाई है उसके बारे में आप क्षमा करें तथा जो कुछ वाणी प्रगट हुई है उससे आप मेरी पीड़ा पर ध्यान दें।

नाथ !

शा० व्या०—नाथ की व्याख्या भावप्रकाशन में इस प्रकार है—

सामदानार्थ सम्भोगै: लालयन् प्रीणयन् सदा।
भजते रहसि प्रीतः स नाथ इति कीर्त्ते।[2]

निपट

"निपट" से मूर्ख समझना है जो तृष्णालु अति होता हुआ स्वामी के द्वारा मनोरथ-पूर्ति की आकांक्षा रखता है।

मैं ढिठाई

मैं :—अन्तर्नादकर्ती सरस्वतीजी मच्छदार्थ हैं।
बड़ों के वचनों का अतिक्रमण करना "ढिठाई" है।

---

१. नीतिसार—३-३७ २. भावप्रकाशन पृष्ठ-१०७ पंक्ति—१६-१७

स्वामि समाज

स्वामि :—प्रमाणप्रमित अर्थाविकलनं कर्त्ता स्वामी 'स्वामि' शब्दार्थ है।

समाज :—राजादेशपालनरत प्रजा 'समाज शब्दार्थ' है।

संकोच बिहाई

स्वामी व समाज की असमर्थता को ध्यान में न लाकर सर्वथा लज्जा खोना "सकोच बिहाई" है।

अथवा—जहाँ कि संपूर्ण समाज उत्तर देने में असमर्थ हो रहा है उस दशा में अपनी बुद्धिमत्ता को प्रगट करने में लज्जा का अनुभव न करना "सकोच बिहाई" है।

अविनय विनय

तूष्णीभाव में गुर्वादि के रहते बोलना व उसमें उन्नत भाव रखना 'अविनय' है क्षमायाचना करना 'विनय' है।

जथारुचि बानी (अन्तर्वाणी)

बानी सरस्वतीप्रसादोपवृंहित विवेकधर्मनयसंपृक्त वाणी 'बानी' से बोध्य है।

रुचि की तीव्रता में अविनय विनय का विचार न होना "अविनय-विनय" से स्पष्ट हो चुका है" उसका अन्वय 'बानी' से है।

अन्तर्नादानुबन्ध में अपना आतर्नाद वाणी से सूचित है जो सरस्वती रूपा है। उसी को बैखरी रूप में भरतजी ने प्रगट करना "जथारुचि बानी" का ध्वनितार्थ है। अथवा वाणी का स्वरुचि के अनुकूल नाद होना "जथारुचि बानी" है।

छमिहि

अविनय-विनय युक्त देखरी का प्राकट्य होने से क्षमायाचना सरस्वतीजी छमिहि से कर रही हैं।

ज्ञातव्य है कि सेवावंचनात्मक पीड़ानुभव में रहते भरतजी को आर्तनाद सुनाई पड़ा वह नाद मूलाधारस्थ अग्निज्वाला के उच्छलन में रहे सरस्वतीनाद से अभिन्न है। जैसा कि दोहा २।२९७।७-८ में उक्त है। उसको सुनाने का कारण श्रीरामजी का चिकित्सक होना है, अर्थात् वे ही अपनी बाणी से भरतजी को पीड़ामुक्त करेंगे।

आरति जानी

सेवकत्वलोप का शोक "आरति" है।

अथवा—बालपन से अनुस्यूत चला आया सहजधर्म विलुप्त होने से उद्भूत अति पीड़ा ही "आरति" है।

जनि :—चिन्त्य है कि क्षमारूप सामप्रयोग से प्रभु को वश करने का उपाय वताया है उसका अनुभव सत्व प्रकृति श्रीराम ने करना 'जानी' है।

इस प्रकार "विमल विवेक-धरम-नयसाली। भरत-भारती मंजु मराली" को पूर्णता हुई है।

संगतिः—सरस्वतीवचन पूर्ण होने के बाद दोहा २९७/५-६ से शृखला जोड़ते हुए भरतजी साधन रूप श्रीरामपदस्नेह साधनसेवा से प्राप्तव्य सिद्धिरूप (श्रीरामपद स्नेह) सेवा का संकल्प अपने नाद से कर रहें हैं। इसलिए कि भरतजी को स्वरुचिपूर्ण होने प्रतीत हो रहा है।

दोहा—सुहृद सुजान सुसाहिबहि, बहुत कहब बड़ि खोरि।
आयसु देइअ देव! अब सबइ सुधारी मोरि॥३००॥

भावार्थः—सुहृद् सुज्ञ स्वामी के सामने बहुत कहना अपराध है। इसलिए हे देव! मुझे आज्ञा दें क्योंकि आपने मेरे मनोरथ (रामने स्वामित्वस्वीकृति) को पूर्ण किया है।

सुहृद सुजान

शा० व्या० :—सुहृद :—सुहृद को व्याख्या भावप्रकाशन मे इस प्रकार है—

समानि खानि येन स्युः सुखदुःखानुभूतिषु तत् सख्यमिति सः स्नेहः।
तेन यत् त्रायते परम् तस्मिन् तत्सुहृत्वं च हृदयं यत्र शोभनम्॥

अर्थात् स्वयं अभिलाषा न रखते पोष्य का हित चाहने वाले 'सुहृद' हैं।

सुजान :—अपूर्वप्रयोगविशेष प्रतिभात होना "सुजान" है। अथवा आन्वीक्षिकीकुशल राजनीति प्रभृति धर्मविद्या व ब्रह्मविद्या के लिए असमाधेय समस्या का समाधानकरने की योग्यता रखना "सुजान" है।

सुसाहिबहि

सेव्यतावच्छेदक रूप में स्वामित्व "सुसाहिबहि" से स्फुट कर रहे हैं।

बहुत कहब

"बहुत कहब" से बहुत बोलना विवक्षित हैं जिसका भाव नीतिमत में "अर्थलिप्सोः सोपन्यासं" को चरितार्थ करना है। सुहृद् ज्ञाता स्वामी के सामने" बहुत कहब" इसलिए कहा कि भरतजी के वचनों में आज्ञातज्ञापकतारूप विशेषता कहीं दृष्टिगोचर नहीं हुई है।

खोरि

"खोरि" अपराधसूचक है। ज्ञातव्य है कि "बहुत कहब बड़ि खोरि" का आशय यह कि अभी तक भरतजी की वाणी सरस्वतीजी के नाद से अभिन्न थी अब सरस्वतीजी का नाद भरतजी के श्रुतिपथ में नहीं आ रहा है ऐसी स्थिति में भरतजी स्वतंत्र हो अधिक बोलते हैं तो अपराध होगा अतः "खोरि" कहा है।

अथवा स्वायत्तसिद्धिक स्वामी के सामने कुछ कहा जाय तो अज्ञातज्ञापनरूप विधेयत्व का न रहना "खोरि" है।

आयसु देइअ

स्वामी की प्रीति का पात्र होने के लिए आदेश को शिरसा धारण करना सेवकत्व है उसी की याचना 'आयसु देइअ' से स्फुट की है जो प्रार्थनात्मक है न कि आदेशात्मक।

अब सबइ सुधारी

अब :—जिन रास्तों से आर्ति आ पहुंची उसका निराकरण कर आपने मेरा सुधार कर दिया अब उसका उद्देश्य प्राप्त करना है उसके अनुकूल समय होना "अब" से स्फुट है।

सुधारी :—अवध पर आयी अशुचिता, श्रीरामराज्योत्वभंग, तथा स्वामिद्रोहादि लौकिकालौकिक दुखों को सुधारना "सबइ सुधारी" है।

मोरी

उपर्युक्त अपराधविशिष्ट भरतजी अस्मच्छब्दार्द है।

संगतिः—आज्ञापालनात्मक सेवा में भक्तित्व प्रगट करते हुए अपनी रुच्यता दिखाना है उसके उपक्रम में प्रथमतः भरतजी शपथ ले रहे हैं इसलिए कि भरतरुचि-पूर्ति के अन्नतर ही श्रीराम ने किए अनुमिति (वनवासः सफलः पितृवचन (त्रयी प्रमितत्वात्) में यथार्थता होनी है।

चौ०—प्रभुपदपदुमपरागदोहाई। सत्य सुकृत सुख सींवं सुहाई ॥१॥
सो करि कहउं हिए अपने की। रुचि जागत सोवत सपने की ॥२॥

भावार्थः—भगवच्चरणारविन्द की रजस् ही सत्य, पुण्य, सुहावनेपन की अन्तिम सीमा है उसी की शपथ लेकर मैं जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति में रहनेवाली अपनी रुचि इच्छा सुना रहा हूँ।

प्रभु पद

शा० व्या०:—सत्यशील भरतजी आदेश पालन में स्वका अस्तित्व व रुच्यत्व समझाने के लिए प्रथमतः आन्तरिक भाव व्यक्त करते हुए श्रीरामजी के चरणरजस् की शपथ ले रहे हैं यदि इसमें प्रतारणा का अंश भी होगा तो प्रगट ब्रह्म भी भरतजी के सामने अप्रगट ही रहेंगे। एतावता स्वल्पापराध रहते भी प्रभुपदरजस् की दुर्लभता ज्ञातव्य है।

पदुम पराग

भरतजी ने स्वयं के मोहनिससार्थं "पदुमपराग कहा है"। जैसा कि बालकाण्ड में गुरुपदपदमुपरागा में उक्त है।

दोहाई

"दोहाई" शब्द शपथबोधक हैं जिससे भरतजी के शुद्ध आन्तरिक भाव प्रगट है।

सत्य सुकृत

सत्यः—परलोकविश्वास पर आधारित यथार्थं तत्व "सत्य" है।

---

१. भावप्रकाशन पृष्ठ-३० पंक्ति-पाद-१४-१६

सुकृत :—'सत्य' शोर्षकोक्त यथार्थ तत्व के आचरण से जनित पुण्य "सुकृत्त" है।

सुख सीवँ

सुख :—परेच्छानधींनव्छाविषय "सुख" से समझना है।

चिन्त्य है कि प्रभुचरणधूलि के द्वारा प्राप्त ईश्वरसेवा समस्त इच्छा का पिधानक है वही अन्तिम निरतिशय आनन्द है भक्तों के लिए वही रुचिकर है क्योंकि वे इच्छापिधान हैं जैसा कि मंगलाचरण में 'सुरुचि सुवास सरस अनुरागा' आदि कहा है। इसलिए सीमार्थक 'सीव' शब्द यहाँ प्रयुक्त है जो 'सत्य सुकृत' से भी अन्वित है।

कहउँ

"कहउँ" से रुच्य पदार्थ का बखान सूचित है।

"हिए अपने की" का अन्वय रुचि से ज्ञातव्य है। रुचि के निरूपण से सेवा में भक्तित्व व दुखानुभूति का अप्रसंग होना समझाया है।

ज्ञातव्य है कि धर्मशास्त्र में सेवा धर्मतया जो विहित है वही सेवा सर्वतोभावेन रुचि विषय होने पर निरतिशय प्रपत्ति में पर्यवसित होती है।

जागत सोवत सपने की

ज्ञातव्य है कि आरम्भ से प्रभुसेवा में रहे सेवक धर्मोपधा, अर्थोपधा, कामोपधा, भयोपधा से परीक्षित होते हैं तो उनकी सेवा नीति से परिभाषित होती हुई दोहा २।२९३।७-८ मेंउक्त इतिकर्तव्यता से पुष्ट होती है तदनन्तर वही सेवा जब सर्वार्थत्याग-सहित पूर्णानन्दकारिणी होती हुई साध्य होती है तो वह भक्ति महारानी का पद लेती है जो "जागत सोवत सपने की" से स्पष्ट है। अन्यथा वह सेवा धर्मरूप से ही परिभाषित हो सेवक के अभीप्सित अर्थ को प्राप्त कराकर समाप्त हो जाती है जैसे असुरों ने अपनायी सेवा की धर्मता इतिहास पुराणो में प्रसिद्ध है।

संगति :—पूर्व खेम संगति में किए निर्देशानुसार भरतजी सिद्धिरूप में परिणत अपना आन्तरिक रूच्य पदार्थ सुना रहे हैं।

चौपाई :—**सहजसनेहँ स्वामिसेवकाई। स्वारथ छल फल चारि बिहाई ॥३॥**
अग्यासम न सुसाहिबसेवा। सो प्रसादु जन पावै देवा ॥४॥

भावार्थ :—स्वार्थ, कापट्य, व चतुर्वर्ग फल को सर्वथा त्यागकर सहज स्नेह-युक्त स्वमिसेवा स्वामी के आज्ञापालन से बढ़कर दूसरी नहीं है वही सेवा करने का अवसर आप मुझे दें।

सहज सनेहँ

शा० व्या० :—"सहजसनेहँ" शब्द अपरिवर्तनीय रुचिबोधक है जो यहाँ हरिजन होने का संकेत कर रहा है जैसा कि वसिष्ठ मुनि ने भरतजी को अवध में

शोच्यक्रम के अन्तर्गत सुनाया है। जैसा कि 'जो न छड़ि छलु हरिजन होई' से सूचित है।

स्वामिसेवकाई

अपने को अवधस्वामित्व से पृथक् कर वन से लौटने के बाद श्रीराम की सेवा करना भरतजी को अभिप्रेत नहीं है भले ही वे ईश्वर ही क्यों न हों अतः यहाँ 'स्वामिसेवकाई' कहा है न कि 'प्रभु सेवकाई' कहा है। यही न्याय अन्य पुरीस्थ प्रपन्न भक्तों के विषय में भी ज्ञातव्य है।

स्वारथ छल

प्रभु ने जिसके लिए जो जीविका बताई है व उसको प्राप्त करने हेतु जो भी कार्य बनाए हैं वे सभी "स्वारथ" से समझने हैं। वह बिहाई से अन्वित है।

"छल" का अन्वय भी 'बिहाई' से ज्ञातव्य है। 'छल' की व्याख्या भावप्रकाशन में इस प्रकार की गयी है—

"प्रियैरिवाप्रियैर्वाक्यैः विलोभ्य छलना छलम्[1]। छल की दूसरी व्याख्या २।२८८।५ में द्रष्टव्य है।

फल चारि

'फल चारि' का अर्थ धर्मादिचतुष्टय है।

बिहाई

भगवच्चरणसेवा तभी सुहावनी होती है जब प्रपन्न, स्वार्थ, छल व चतुर्विध फलों का त्याग करते हैं। ज्ञातव्य है कि उसमें स्वार्थ कुपथ्य है, छल प्रतिबन्धक है, त्रिवर्गफल प्राप्ति मोहोत्पादक है अतः इनको त्यागना 'बिहाई' से समझना है।

अग्यासम न

अग्या :—प्रेरणमात्रहेतुक इष्टसाधनत्वाद्यनुमितिप्रयोज्यत्वबोधक शब्द 'अग्या' है एवं च धर्मशास्त्रानुमत आज्ञापालन में, पापपरिवर्जनपूर्वक आचरण से शुद्धमनस्क भक्तों की स्वामित्वेन स्वीकृत श्रीराम के भक्तिशासन में व्यक्त विधि यहाँ 'अग्या' है।

भक्तिशासन में अथवा भक्तिशासनमात्र के उपदेश में प्रवृत्त भक्तों के प्रति रघुपति रक्षक होते हैं यह स्थिति भक्ति के अनुशासन में न चलनेवाले भक्तों को प्राप्त न होना 'सम न' का भाव है।

वस्तुतः स्वामिसेवा से वह सेवा अभिप्रेत है जो एक मात्र श्रीराम ही स्थायी स्वामी माने जाते हों और स्वामिरूप में जो भी प्रभु ने जिसको आज्ञा सुनाइ वही स्वामिसेवा है।

१. भाव प्रकाशन पृष्ठ-२३१ पंक्ति-१६

सुसाहिबसेवा

"सुसाहिब सेवा" 'स्वामिसेवा' शीर्षक में व्याख्यात है। इस पुनरुक्ति का प्रयोजन स्वामिसेवा के प्रयोग विशेष को समझाया है।

'सु'शब्द साहिबसेवा से अन्विस है। साहिब के अन्वय से सर्वलक्षणलक्षितत्व स्वामी में समझना है। सेवा व मेसु के अन्वय से सेवार्थ अपेक्षित संपूर्ण विवेक ज्ञातव्य है जो २।२।७४ में आगे निरुपित है।

प्रसादु

स्वामिसेवा की भरतज़ी ने प्रसादरूप में याचना करना "प्रसादु" है।

जन पावै

"जन" से जनक वसिष्ठादि प्रपन्न विवक्षित हैं।

"पावै" शब्द प्रस्तुत सभा में उपस्थित वर्णाश्रम व तदनुगामी की दृष्टि से कहा है न कि तदिनरो के लिए दृष्टि से कहा है।

इसलिए कि क्रूरादि दोष वर्णाश्रमेतरों के लिए ही है वह समाज कुलीनता, सत्पुत्रोत्पत्तिप्रक्रिया व राजशासनप्रभाव से संक्रमित नहीं है।

इस प्रकार भरतजी के वचन सुनकर समस्त विद्याएँ सन्तुष्टाहो गई जिससे प्रभु निःसंकोचको स्थिति में आ गए।

संगति :- अपनी ओर से विवेक धर्मनीतियुक्त प्रबोध प्रगट करने के बाद श्रीरामपगस्नेह की याचना करते हुए भरतजी का गूढ़ स्नेह उनके अनुभावों से बाहर प्रगट होना शिवजी बता रहे हैं।

चौपाई :—**अस कहि प्रेमबिबस भए भारी। पुलक सरीर बिलोचन बारी ॥५॥**
प्रभुपदकमल गहे अकुलाई। समउ सनेहु न सो कहि जाई ॥६॥

भावार्थ :—ऐसा कहते भरतजी प्रेम में विभोर हो गए शरीर पुलकित हो गया। आँखों में जल भर आया। उसके साथ ही भरतजी ने प्रभु के चरणकमलों को पकड़ लिया। वह समय तथा स्नेह वर्णित करना कवि के बश के बाहर है।

प्रेमबिबस

शा० व्या० :—'अद्वैतं सुखदुःखयोरनुगतं' की स्थिति में रहने वाले भरतजी, स्वामी की आज्ञात्मकसेवा प्रसाद से वंचित होने के कारण मछली की तरह तड़पते चित्रकूट पहुँचे अभी स्वामी के द्वारा प्रामव्य आदेश की पूर्ण आशा में प्रीति के अधीन हो गए क्योंकि उनको श्रीरामजी के मुख पर पूर्व की तरह संकोच नहीं दिखाई पड़ा किं बहुना अत्यन्त प्रीति ही दिखाई पड़ी।

भारी

"भारी" का आशय कौसल्योक्त भरतगूढ़ स्नेह प्रगट होने में है। यतः पातिव्रत्यधर्मनिष्ठ भरतजी की प्रबोधपूर्वक प्रपत्ति की प्रतिष्ठा सबके सामने स्थिर हो गई है।

पुलक सरीर बिलोचन बारी

"पुलक सरीर विलोचन बारी" पूर्व (२।२८८।२ व २।२९३।१) में व्याख्यात है।

गहे

मनस् में इतरव्यापारशून्यत्वेसति श्रीरामपदचिन्तनरूप व्यापारवत्ता होना "गहे" से सूचित है। देखेउँ पाँय[1] आदि से श्रीरामजी के चरणों (पादुका) को दृष्टिगोचर करने से उमड़े अनुराग में सेवक ने अभी धर्म, विवेक नय संपृक्त बुद्धि के साचिव्य के आश्रय से मस्तक झुकाना अनुराग की चरम सीमा है।

अकुलाई

"अकुलाई" का परिणाम श्रीरामजी का द्रुत होना है।

समउ सनेहु

ऐसा दृश्य देखने के समान यह दृश्य देखना मिलना यहाँ उपस्थित सभासदों का अहोभाग्य है यतः भक्तिसिद्धान्त में निश्छल स्वार्थ शून्य स्नेह ही ईश्वर है वह लोक में स्वार्थ छल फल कामना के कारण अदृश्य है किन्तु उसका दृश्य होना समउ सनेह है। न सो कहि से विस्मय स्फुट है।

संगतिः—छलशून्य, उद्देश्यरहित भक्ति (आदेशसेवाप्रसादरुचि) को स्थायी रखने में भरतजी का पूर्ण उत्साह देखकर प्रभु का हृदय भी द्रुत हो गया। फलतः वे भरतजी को सम्मानित कर रहे हैं जो विश्वास्यताप्रयुक्त विभूतिपात्रता का सूचक है।

चौ०—कृपासिन्धु सनमानि सुबानी। बैठाए समीप गहि पानी ॥७॥

भावार्थ :—कृपासिन्धु ने सुबाणी से सम्मानपूर्वक भरतजी को पकड़कर अपने पास बैठाया।

कृपासिन्धु सनमानि

शा० व्या० :—"कृपासिन्धु सनमानि" से अवधस्वामित्वस्वीकृति की ओर झुकाव 'सनमानि' से व्यक्त किया है।

स्मर्तव्य है उदासीन निर्विकारी ब्रह्म श्रीराम को भी भरतजी ने अवधस्वामित्व स्वीकार करने हेतु प्रवृत्तिमान् कराना उनके भक्ति की चरमावस्था का द्योतक है। अन्यथा उनकी उदासीनता ही बनी रहेगी।

---

१. २।३००।३

"उदासीना वयं नूनं न स्त्र्यपत्यार्थकामुकाः।

आत्मलब्ध्याऽऽस्महे पूर्णाः गेहयोर्ज्योतिरक्रियाः"[1] से सूचित हैं।

सुबानी

श्रीरामजी ने सुनाए (लखन भल भरत सरीसा। बिधि प्रपंच महँ सुना न दीसा आदि) वचन लक्ष्मणजी को सुनाये थे उनकी यथार्थता आज भरतजी ने अपने चरित्र से व्यक्त की है इसी हर्ष में प्रयुक्त वक्ष्यमाण वाणी "सुबानी" है।

बैठाए समीप

मालूम होता है कि अभीतक को सभाओं में प्रतिवादी के रूपमें बैठकर भाइयों में संवाद हुआ था परन्तु अभी भरतवाणी सुनकर संपूर्णसमस्या का समाधान होने से वादी-विवादी के संवादनुरूप प्रक्रिया को हटाकर श्रीराम ने भरतजी को अपनी पंक्ति में "बैठाना बैठाए समीप" है।

गहि पानी

"गहि पानी" से कायिकचेष्टाभाषात्मक सामप्रयोग विवक्षित है जो अनुभाव है।

स्मरणीय है कि वालकाण्ड में 'रघुपति रखुवारा' कहकर शिवजी की भक्ति का रक्षण रघुपति के रखुवारा से सिद्ध है उसका भाष्यरूप में निर्वचन भरतचरित्र से निश्दित है।

निष्कर्ष

आन्वीक्षिकीसमन्वितराजनीतिरक्षित ब्रह्मविद्या व कर्मविद्यादि संपूर्ण विद्याओं की प्रसन्नता प्राप्त करने के साथ स्वार्थहीन छलरहित अहैतुक भक्ति की दीर्घकालिकता साधुसंतसमयाज के द्वारा परीक्षोत्तीर्ण होने पर ही रघुपति संकोच त्यागकर अपने भक्त का रक्षण करते हैं अन्यथा ऐन्द्री माया की पराधीनता में तथाकथित भक्तों को विपरीतदर्शन होना असंभावित नहीं है। यह शिक्षा भरतजी के चरित्र का निष्कर्ष है।

भरतविवेक पर उक्तानुक्त द्विरुक्त चिन्ता

(यों सुधारि दोहा २९९) :—"यों सुधारि" का आशय यह कि आज्ञापालक प्रपण्न के बालस्वभाव विरोध प्रयुक्त पीड़ात्मक शोक और स्वामी के रुच्य विपरीत आदेश का पालन करने में असमानाधिकरण्य रूप विरोध है उसको प्रभु ने समानाधिकरण्य से सुधारा है। यदि ऐसा न होता तो आदेशपालनाभाव में राजनीति असन्तुष्टा होती व आदेशपालन में जगन्मंगलरूप राज्योत्सवभंग होने से राजनीति असन्तुष्टा होती अतः विद्याओं दोनों को सन्तुष्ट करने हेतु स्वामी के शरण में जाने का विवेकवराहा है।

---

१. श्रीमद्भागवत् १०।६०।२०

(देखेउँ पाय दोहा ३००।२) कुसुमांजलि के अनुसार :—"देचेउँ पाय" से तर्कसंयुक्त प्रमाण विवक्षित है आशय यह है कि प्रभु के आदेशमात्र से त्रयी अनुष्ठित होती किन्तु उसमें तर्क न होने से चरणदर्शन न होता व भक्ति विलुप्त हो सुमंगल ध्वस्त होता उससे बचने का फल यह हुआ कि अभी प्रभु के चरण वैसे दिखाई पड़े जिसमें भक्ति की स्थापना सिद्ध होने से सुमंगल होना व्याप्तिसिद्धि है।

(सुमंगल मूला दोहा ३००।३) :—भरतजी ने बालस्वभाव से ही प्रभु के चरणों को सुमंगलरूप में देखा है फिर भी अभी तक भरतदृगोचर श्रीरामचरण मोहरूप भक्ति विरोधी तत्व से असंस्पृष्ट है ऐसा सर्वविदित नहीं था जो अब हो गया इसलिए "सुमंगल मूला" कहा है।

(जानेउँ दोहा ३००।३) :—बाल्यकाल में क्रीड़ादि के अवसर पर भरतजी पर आपने सहज कृपा दर्शाई थी परन्तु इसमें कृत्रिमतारूपपाधिमत्ता आशंकित थी इसलिए कि सदा भरतजी अनुशासन में थे अनुशासन को भरतजी ने अतिक्रमण किया तथापि प्रभु ने उपेक्षा हहीं की जो उनकी बिरुदावली का साक्षात्कार है। अतएव कृत्रिमतारूपोपाध्यभाव सिद्ध हुआ।

(बड़े समाज दोहा ३००।४) :—कृपा का परिणाम विधाता की वामता पर अंकुश है उसको "बड़े समाज" से स्फुट किया है।

(अनुरागू दोहा ३००।४) :—आज्ञोल्लंघनरूप अपराध होने पर भी भरतजी नीतिमतानुसार श्रीराम के लिए मित्र बने रहे क्योंकि भरतजी उनमें हितसाधनता समझ रहे हैं। अभी पूर्वनिरूपित प्रीति की छठवीं अवस्था में पहुँची प्रीतिका भरतजी ने आस्वाद लेना "अनुरागू" का भाव है जैसा कि 'अनुरागेण भुज्यते' वचन से भाव-प्रकाशन में स्पष्ट है।

(सब अधिकाई दोहा ३००।५) :—"सव अधिकाई" से विवेकबराहा चिन्तनीय है। श्रुति ने श्रीराम को राज्य से पृथक् कराकर 'वनवासः हितसाधनम् अनिष्टाननुवबन्धि च, श्रुतिप्रमाणप्रमितत्वात्' सिद्ध कराया दूसरी ओर गुरु वसिष्ठजी ने राज्य लेने की अनुमति देकर भरतजी को अपने अंकुश में रहने की व्यवस्था दी व उसको ठुकराने से भरतजी में प्रमाद की प्रसक्ति कराई, तीसरी ओर श्रीराम ने भरतजी का विद्वदंकुश में रहना बताकर उनमें प्रमाद न होना समझाया, चौथी ओर श्रीरामवनवास सुनकर जनकजी चित्रकूट की ओर दौड़ पड़े। इस प्रकार प्रमाणभूत विद्याओं में विसंगति हो गई, गुर्वादि ने अपनी मति में व्यामोह का दर्शन कराकर स्वको निर्णयभार से मुक्त कर लिया ऐसे समय भरतजी का विवेक ही कार्यकारी हो भरतजी को यहाँ तक लाने में सफल हुआ। वह विवेक निम्न है—

श्रुति को यह विदित है कि भक्तप्रपन्न भरतजी बाल्यकाल से प्रभु की आज्ञापालन में पूर्ण रुचि रखते हैं। यदि उस रुचि में बाधा प्रसक्त हो तो प्रभु उसे दूर कराकर रुचि पूर्ति करते ही हैं जो श्रुति का निचोड़ से संबद्ध है ऐसी स्थिति में श्रुति के माध्यम से प्रभु

ने वनवासः मंगलं ऐसा अनुमान कराया। किन्तु वसिष्ठजी ने 'करव साधुमत लोकमत' कहकर उस अनुमान को दूषित ठहराया यदि इसकी इष्टापत्ति की जाती है तो श्रुतिका सार्वभौमत्व भंग होगा वह दोष निरस्त कर श्रीराम ने श्रुतिको प्रमाणित बनाया है उसका प्रकार यह कि जिस समय प्रभु ने कैकेयीजी के सामने 'वनवासः मंगलं' ऐसा अनुमान किया उसके पूर्व न्यायमतानुसार परामर्श किया ही होगा तदनुसार परामर्श के समय ही भरतरुचिपूर्ति करना भी उन्हें निर्णीत है ऐसा सोचकर श्रुति ने 'वनवासः मंगलं' ऐसा अनुमान कराने की सार्वभोमता श्रुति में स्थिर की है। अतः भरतजी को "विवेकबराहा" कहा है। इस प्रकार उक्तानुक्त द्विरुक्तचिन्ता समाप्त हुई।

संगतिः—श्रीराम के द्वारा प्राप्त वक्ष्यमाण उत्तर के पूर्व मध्यक्षणों गें अपने (श्रीराम) प्रति निरतिशय स्थिर, स्वार्थहीन स्नेह भरतजी में देखकर स्नेह शिथिलता-पूर्वक प्रभु ने अपने पास भरतजी को बैठाना देखकर सामाजिकों के हृदय में उभरे स्नेह का आंगिक अनुभाव कवि शिवजी गा रहे हैं।

चौपाई :—**भरतबिनय सुनि देखि सुभाऊ। सिथिल सनेहं सभा रघुराऊ ॥८॥**

भावार्थ :—भरतजी का विनय व स्वभाव देख-सुनकर सभासहित श्रीरघुनाथजी प्रेम में शिथिलगात्र हो गए।

बिनय

शा० व्या० :—छलशून्य कामनाहीन सेवकोचित शास्त्रार्थानुष्ठान बिनय है।

सुनि देखि

'सुनि' एवं 'देखी का अन्वय विनय एवं सुभाऊ से समझना है।

सुभाऊ

'सुभाऊ' सहजधर्म का वाचक है। विनय व स्वभाव दोनों ही तत्त्व लक्ष्मणजी ने प्रसिद्धिपरतया पूर्वपक्ष की ओर से व आकाशवाणी ने श्रीरामजो के सामने सूचित किये हैं। अभी वे ही दोनों तत्व (विनय व स्वभाव) सभा ने प्रयक्षतया प्राप्त किए हैं।

सिथिल

सभा व श्रीराम में इतनी विलक्षण स्नेहवल्ली उभड़ी कि उनका चूड़ादिबन्धन शिथिल हो गया क्योंकि उत्साहपूर्ण यथार्थ स्नेह शरीर को संकुचित करता है यही यहाँ "सिथिल" से विवक्षित है।

सनेह

प्रेम की द्वितीय स्थिति स्नेह है जिसमें भरतजी के प्रति सभासमेत प्रभु में भय शंका का अवसान ध्वनित है।

रघुराउ

राजा रघु ने प्राप्त कीर्ति का श्रीराम के द्वारा उज्ज्वलित होना "रघुराऊ" है।

संगति :—साधारणीकरणव्यापारप्रयुक्त स्नेह की समाक्रान्ति होने के दूसरे क्षण में अपने-अपने स्वरूप में सदस्यगण जैसे-जैसे आने लगे वैसे-वैसे उनके मुखों पर आन्तरिक भावों का अभिव्यक्त होना तुलसीदासजी सुना रहे हैं।

छन्द :—**रघुराउ सिथिलसनेहँ साधु-समाज मुनि मिथिलाधनी।**
मन महुँ सराहत भरत भायपभगति की महिमाधनी॥
भरतहि प्रसंसत बिबुध बरषत सुमन मानस मलिन से।
तुलसी बिकल सब लोग सुनि सकुचे निसागम नलिन से॥

भावार्थ :—भरतजी के वचन सुनकर साधुसमाज, जनकजी, वसिष्ठजी व रघुपतिजी के शरीर स्नेह से शिथिल हो गए हैं भरतजी की भ्रातृभक्तिमहिमा को सभा मनस् ही मनस् में सराह रही हैं। देवगण मलिनान्तःकरण से फूल बरसा रहे हैं सभी भरतजी का भाषण सुनकर विकल हो संकुचा रहे हैं जैसे रात्रि में कमल।

रघुराउ सिथिल

शा० व्या० :—रघुपति का स्नेह से शैथिल्य भरतमिलन के अवसर पर कवि ने गाया है वे उसीको पुनः यहाँ गा रहे हैं जो कवि की अनुरक्ति का सूचक है।

सनेह

"सनेहँ" की व्याख्या भावप्रकाशन में इस प्रकार है—

मनसो यद् द्रवार्द्रत्वं विषयेषु ममत्वता।
भयशंकावसानात्मा स एव स्नेह उच्यते।[1]

साधु समाज

पूर्वोदित स्नेहशैथिल्य का अनुवाद करते हुए रघुनाथजी, साधु समाज, वसिष्ठजी व विदेहराज के नामनिर्देश का प्रयोजन इन्द्र के चलाए 'अरति उचाट' से उनका सुरक्षण समझाने के लिए है।

मुनि मिथिलाधनी

मुनि से वसिष्ठजी विवक्षित हैं। "मिथिलाधनी" से मिथिलापति अर्थात् जनकजी विवक्षित हैं। दोनों का उल्लेख उनके नेतृत्वज्ञापनार्थ है।

सराहत

'सराहत' का अन्वय 'भगति की महिमाधनी' से समझना है। विवेकसाम्राज्य में छलशून्यस्वामिसेवात्मक प्रपत्ति का प्रयोग भरतजी के द्वारा यथावत् अभिनीत होना

देखकर आल्हाद में आए परीक्षक, वसिष्ठमुनि, जनकजी, साधुसमाज व रघुनाथजी ने भरतजी के द्वारा प्रतिष्ठापित भक्ति व प्रपत्ति' की सराहना करना निरतिशय मूल्यवान् है इसका विशेष प्रयोजन भायप भगति में प्रकट है।

भाथपभगति

धर्मराज्य की मर्यादा में स्थित वंशो में उदित नहुषादि राजाओं में गुणों की पूर्ण अर्हता होते हुए भी विद्वत्संगतिरूप अंकुश का अभाव होने की दशा में भोग की कामना का त्याग न होना दृष्ट है उसका अभाव यहाँ अपने में बनाए रखते हुए भरतजी ने सदा सेवाभाव में रहने की उत्सुकता रखना, सेवकता से वंचित होने को पीड़ा में उसी की चिकित्सार्थ प्रार्थना के व्याज से ज्येष्ठ श्रीराम को स्वामी बनाने से स्पष्ट है जो सूर्यवंश में उदित चारों भाइयों के लिए अभूतपूर्व इतिहास है।

श्रीराम में ज्येष्ठत्वमात्रप्रयुक्त दायाधिकारिता के साथ स्व में उसका अभाव प्रगट करना'भाथपभगति' है।

महिमाधनी

त्रय्यादि विद्याओं के सेवक भक्ति की छत्रछाया के अभाव में असुरक्षित होते हैं यतः उन्हें रघुपतिजी का संरक्षण नहीं मिलता जब वे भक्तिमहारानी की छत्र-छाया में अधिकारानुरूपतया रघुपति की आज्ञा को निष्कपट हो स्वीकारते हैं तभी विद्यासेवी उन-उन विद्याओं में उक्त फल के भागी होते हैं इसलिए भक्तिका स्थान ऊँचा है, यही भक्तिकी 'महिमाधनी' का भाव है।

विमल विवेक धर्म नय युक्त भक्ति व प्रपत्ति में कभी किसी प्रकार का छिद्र न होना 'धनी' से कहा है।

प्रसंसत

'प्रसंसत' से सेवोचित स्नेह दिखाया जा रहा है। इसका अन्वय "देहलीदीपन्यायेन" 'महिमाधनी' तथा 'विबुध' से ज्ञातव्य है।

बरषत

भरतजी के प्रति इन्द्रादि देवों में उदित शंकाओं का भरतजी की ओर से निरसन न होने पर भी 'बरषत' से भक्ति का प्रभाव ज्ञातव्य है।

मानस मलिन

श्रीरामजी का वन में रहना व भरतजी को टीका लगना देवदृष्टि में निर्णीत है तथापि राजनीतिमतानुसार जबतक लोकमत प्राप्त नहीं होता तबतक वह कार्यक्रम नीतिसंगत नहीं माना जाएगा ऐसी स्थिति में टीका के बारे में लोकमतप्रातिकूल्य होने से श्रीरामवनवास न होना सोचकर देवों का मानस, मलिन हो रहा है।

बिकल सब लोग

अवध व मिथिला का संपूर्ण समाज यह समझ रहा है कि श्रीरामजी तो लौटेंगे नहीं भरतजी को लौटना होगा अतः 'विकल सब लोग' कहा है।

सुनि

'सुनि' से भरतजी के पूर्व वचन समझने है।

संकुचे

संकोच की संभावना भय का परिणाम है उसका भाव यह कि देवों को भविष्य में अराजकता की आशंका है। अर्थात् यहाँ चित्रकूट में भरतजी के रहने पर लोक न इधर का रहेगा न उधर का।

निसागम

'निसागम' से विकलताप्रयुक्त मोह दिखाया है।

संगति :—यद्यपि भरतजी 'आवहि बहुरि रामु रजधानी' रूप प्रतिज्ञा को त्याग कर 'पनही' के भाव में रहकर प्रभु को अवध में आने का आग्रह नहीं कर रहे हैं तथापि संपूर्ण प्रजा चित्रकूट में रहकर सत्याग्रह अपनायेगी तो भरतजी व प्रजा में संगठन ही लुप्त होगा इस आशंका से प्रभुको लौटना होगा ऐसा सोचकर इन्द्रजी अपनी माया फैलाने के बहाने श्रीरामजी के वनवासानुकूल्य में राजनीति की प्रतिष्ठा करना चाहते हैं उसके उपक्रम में ग्रन्थकार इन्द्रमानस व्यक्त कर रहे हैं उसमें मायाप्रयोजकतत्त्व इन्द्रवृत्तितया गेय हो रहा है जो प्रपत्ति को दूर करनेवाला है।

अथवा 'विकल लोग' देखकर उसके उत्तर में भक्ति वैमुख्यकर्ता की प्रतिक्रिया सुना रहे हैं।

सोरठा :—**देखि दुखारी दीन दुहु समाज नर-नारि सब।**
मघवा महामलीन मुए मारि मंगल चहत ॥३०१॥

भावार्थ :—मलिन होते हुए इन्द्रजी दोनों समाजों के नरनारियों को दुखी देखकर मरे हुओं को मारकर अपना मंगल चाहते हैं।

दुखारी दीन

शा० व्या० :—दोहा २।२७२ में उक्त प्रार्थना पूर्ण होने की आशा न होना "दुखारी" है।

दीन :—भाव प्रकाशन में दीनता की व्याख्या इस प्रकार है।

"दैन्यमौत्सुक्य दौर्गत्य चिन्ताहृत्तापसंभवम्।
अनुभावः शिरश्शूलशिरोव्यावृत्तिघूननैः॥ देहोपस्करणत्यागात् गात्रगौरवतो भवेत्"।[1]

---

१. भावप्रकाशन पृष्ठ–१८ पंक्ति-१७-१९

काव्यप्रकाश में दीनता की व्याख्या इस प्रकार है।

"ओजसः मनोधर्मस्योत्साहपाटवस्यहानिरनौजस्यम्, हितेषु कृत्यसाध्यताबुद्धिः दैन्यमिति निष्कर्षं"[१]।

अर्थात् भरतजी "आवहि वहुरि रामु रजधानी" प्रतिज्ञा पूर्ण करेंगे ऐसे सोचकर संपूर्ण समाज उत्साह में चित्रकूट आया था किन्तु फलकाल में सबकुछ विपरीत हुआ ऐसी दीख रहा है। अव प्रभु को लौटाना अपनी कृति से साध्य नहीं है यही उनकी दीनता है।

ज्ञातव्य है कि यह दुःख विप्रलम्भ का द्योतक है जो पर्यवसान में प्रियविरह से पीड़ित व्यक्तियों को मृत्यु तक पहुँचा सकता है जैसा कि 'चक्षुः प्रीतिः मनस्संगः संकल्पोत्पत्तिः' आदि से कामसूत्र में वर्णित है।

नर-नारि-सब

भरतजी के द्वारा टीका स्वीकृत होने पर भी मनोरथपूर्त्यभाव में प्रजानुरंजन न होने की स्थितिको इन्द्रजी ने प्रति व्यक्ति में देखना "नर-नारि" का भाव है।

"सब" से यदि समाजत्वाक्च्छेदेन दीनता होना कहा जाय तो उपपन्न नहीं होगा क्योंकि वसिष्ठजी भरतजी, जनकजी कौसल्याजी आदि दुःखशून्य हैं अतः जो दुःखशून्य नहीं है वे ही यहाँ "सब' से विवक्षित है।

महामलीन

चिन्त्य है कि प्रपन्न व प्रभु के उपस्थित रहते किसी में नीतिनिपुणता नहीं है ऐसा सोचना इन्द्रजी की महामलिनता है।

मुए मारि मंगल चहत

श्रीरामजी से दूर होने की कल्पना में सबका दुःखी होना "मुए" से दिखाया है। उसको उच्चाट रूपी माया के वहाने कार्यान्वित करना "मुए मारि" है।

इन्द्रजी की इच्छा अवध व मिथिला के समाज को स्वदेश की ओर वापस भेजने की है उसको "मुए मारि मंगल चहत" से ग्रन्थकार ने श्रीरामविमुखों का स्वभाव बताया है अर्थात् प्रभु की अभ्यनुज्ञा न पाकर, भक्ति की छत्रछाया में रहने वाले साधुओं को किसी प्रकार से दुःख देना इत्यादि कार्य कोई संपन्न करता है एवं वैसे कार्य के प्रति श्रीराम अति पीड़ा का अनुभव करते हैं तो कभी मंगल होना संभव नहीं यहीं 'मुए मारि मंगल चहत' का भाव है।

संगतिः—भक्तिमान् रहते हुए भी त्रयी व राजनीति आदि विद्याओं की प्रसन्नता देखकर न चलने वाले लोगों को भक्ति से विमुख या दण्डित कराने हेतु अपेक्षित कापट्यादिस्वभाव की स्थायिता इन्द्रजी में देखकर प्रभु ने इन्द्रकी नियुक्ति की है उसी को 'मुए मारि मंगल चहत' का व्याख्यान करते हुए बता रहे हैं।

---

१. काव्यप्रकाश उल्लास–४ पृष्ठ-१५८

चौ०—कपट कुचाल सीवँ सुरराजू। पर अकाज प्रिय आपन काजू ॥१॥
काकसमान पाकरिपुरीती। छली मलीन कतहुँ न प्रतीति ॥२॥

भावार्थः—देवराज इन्द्रजी कपट कुचाल की सीमा है उनको परायी हानि और अपना लाभ ही प्रिय है। इन्द्रजी का कार्य कौए के समान है वह छली मलिनमनस्क है उनको कहीं किसी पर विश्वास नहीं है।

कपट

शा० व्या०—"कपट" से विसंवादितात्मक दंभ व माया समझायी है।

कुचालि

"कुचालि" से शंकामात्र से सरलों के प्रति स्वार्थियों की कूटयुद्ध की नीति समझाई है जो कि राजनीत्यनभिमत है।

सीवँ

"सीवँ" से कपट कुचाल करने में इन्द्रजी का मुकुटमणि होना समझना है।

सुरराजू

"सुरराजू" से कपट कुचाल कर्मविशिष्ट शताश्वमेधजपुण्यसंपन्न इन्द्रजी ध्वनित हैं। ज्ञातव्य है कि पूर्वजन्म में अमरावतीसिंहासनाधिष्ठित जीव होने हेतु ने शताश्वमेध संपन्न कर अपने में शचिपतित्व की योग्यता प्राप्त की परन्तु वह युंजान अभक्त होने से कापट्यादि कर्मसंस्कारों से शून्य न होता हुआ समय पाकर स्वगत मालिन्य प्रयोज्यकर्म में प्रवृत्त होते ही रहता है अतएव वह किसी तपस्वी को देखकर उसकी तपस्या भंग करने हेतु प्रवृत्तिमान् भी होता है। स्मर्तव्य है कि भक्तिमान् होने हुए त्रयी, ब्रह्मविद्या, राजनीतिप्रभृति विद्याओं को प्रसन्न रखने वालों के प्रति इन्द्रजी, विरोध यदि करते हैं तो सफल भी नहीं होते और न तो वैसे भक्त इन्द्रजी के राज्यापहर्ता ही होते हैं।

पर अकाज

कापट्य कुचाल का प्रयोजन परकार्य को बाधित करना है जिसको इन्द्रजी प्रिय मानते हैं भक्तिसमन्वित धर्म से जनित पुण्य की अतितीव्रता जब इन्द्रजी दूसरे में देखते हैं तब वे उसके द्वारा अपना अभिभव समझते हैं उस दशा में इन्द्रजी के द्वारा सेवारूप भक्ति या धर्म के कार्य में विरोध करना "पर अकाज" है।

काकसमान

पक्षियों में कौआ सबसे अधिक धूर्त व सर्वभक्ष माना गया है अर्थात् उसके सामने कोइभक्ष्याभक्ष्य नहीं है इतना ही साधर्म्य इन्द्रजी में समझाने के लिए "काकसमान" कहा है।

पाकरिपुरीति

पाकरिपु होते हुए भी इन्द्रजी की कृति व पाककृति में अन्तर नहीं है। यह दुष्टादुष्टकर्म की समान से स्फुट है।

छली मलीन

'छली मलीन' की पुनरुक्ति इन्द्रजी में स्वभावप्राप्तसंस्कारप्रदर्शनार्थ है। उसका अन्वय 'न प्रतीति' से है।

न प्रतीति

'न प्रतीति' से सबके प्रति अविश्वास्यता समझनी है जो 'छली मलिन' का गुण है यह गुण छली को निरंकुश बनाता है। फलतः वह अपने मनस् के अनुशासन से बिलगता नहीं। उसको विद्वानों का अंकुश मान्य नहीं है क्योंकि उसको विद्वानों पर भी विश्वास नहीं है।

मलिनस्वभाव की अपरिवर्तनीयता

मलिन स्वभाव की परिवर्तनीयता के सम्बन्ध में धर्म की अशक्ति का कारण कर्म की त्रिगुणता व यजमान की फलकामना है उसका उदाहरण इन्द्रजी हो हैं। पूर्वजन्म में शताश्वमेध या तत्सम दान पुरन्दरजी ने किया है तो भी उन्होंने छलप्रवृत्तिमान् बने रहने से यह सिद्ध है कि काम्य त्रिगुणात्मक कर्म अशुभप्रवृत्ति का नाशक नहीं होता। परिणामतः इन्द्रजी में जन्मान्तर से प्राप्त अशुभकर्मविपाक रूप छलस्वभाव ज्यों कि त्यों स्थिर है। इसलिए भक्त्युपबृंहित नित्यकर्म से अतिरिक्त कर्म को स्वभाव के परिवर्तन की क्षमता नहीं है।

भक्त्युपबृंहित धर्मनीति में शासनार्हता

यदि रामस्वामिप्रीतिजनक भक्त्युपंहित धर्म नीतिमय होता हैं तो वह धर्म अपने शासनप्रभाव से विश्वको शासित करने करने की क्षमता रखता है क्योंकि वैसे धर्मसंपन्न को शासनकार्य में प्रभु ने मनोनीत कर रखा है इसीलिए इन्द्रजी वैसे शासकों को माया से विचलित कराने में असमर्थ हैं। किंबहुना प्रभु ही धर्मशासक के रखवारे हो जाते हैं। उसका उदाहरण भरतजी हैं। उसकी पहिचान यह कि धर्मशासक अंकुशरूप में विद्वानों को मानते हैं। वे विद्वान् वसिष्ठसदृश होने चाहिए क्योंकि उन्हीं पर इन्द्रमाया अपना प्रभाव स्थापित करने में असमर्थ होती है। जो दोहा ३०२ में स्पष्ट है।

इन्द्रमाया की प्रसक्ति

प्रसंगात् यह भी समझना होगा कि त्रयीप्रभृति समस्त विद्याओं को प्रसन्न न रखकर भक्ति यदि अनुशासन करना चाहती हैं तो वह निस्तेजस्का हो ऐन्द्री माया से

अपने को नहीं बचा पायेंगो। क्योंकि वैसी भक्ति में प्रभु की आज्ञा के प्रति विमुखता व्यक्त है अतः भक्ति ने त्रयीप्रभृति सकलविद्या के प्रसन्नता की आकांक्षा रखनी हो होगी। जब लोक में त्वं तव अहं मम भाव बना रहता है तब इन्द्रमाया का प्रयोग स्वातन्त्र्येण प्रसक्त होता है क्योंकि परिमितप्रमातृता (त्वं तव अहं ममभावसंपन्न) से इन्द्रजी भीत नहीं होते। यदि प्रजा संगठित हो धर्ममात्र के प्रति आदर रखती है व स्वर्गादिप्राप्तिजनकधर्म को अपनाने की प्रवृत्तियाँ करती है उस समय इन्द्रजी माया का प्रयोग करते हैं अथवा जगन्मंगलसंबंधी विधान के प्रति प्रजा बाधक होती हो तो इन्द्रजी छल (माया) प्रयोग करते हैं। इस प्रकार इन्द्रजो के माया की प्रसक्ति ज्ञातव्य है।

संगतिः—निर्मल विवेक से शून्य समाज पर इन्द्रजी का सफल मायाप्रयोग सुना रहे हैं।

चौ०—प्रथम कुमत करि कपट सकेला। सो उचाटु सबके सिर मेला ॥३॥

भावार्थः—पहिले कुतर्क विचार कर अनेकों छल एकत्रित किए। फिर तत्तद्योग्यतानुरूप व उचाटुकर्म सबके मस्तकों पर उडेल दिया।

प्रथम

शा० व्या०:—२।२९४ दो० के अन्तर्गत कहा इन्द्रप्रपंच प्रथम से बोध्य है।

कुमत

'कुमत' से कुमति अर्थात् रामवैमुख्य की ओर प्रवृत्त करने वाली बुद्धि व्यक्त है उसका विषय कपट है।

कपट सकेला

गौतमसूत्रोक्त प्रथमसूत्रभाष्य में उक्त जातिनिरूपण के अनुसार जाति 'शब्द' से घोषित अनेकविध भेद यहाँ कपटशब्द से संकलित हैं उसकी छलसंबधित व्यवहार्यता समाजस्थ प्रतिव्यक्ति के संभाषणों से क्लृप्त है। कपट का संक्षिप्त व्याख्यान जादूगर का संकल्प समझना है।

'सकेला' से कपटसमूह समझना है जो व्यक्तिभेदेन व्यक्तिशः इन्द्रजी के द्वारा चालित है।

उचाटु

२।२९५ दो० में व अग्रिम चौपाइ में 'उचाटु' व्याख्यान है।

सबके

भरतादि सभी व्यक्ति 'सबके' से विवक्षित हैं। ज्ञातव्य है कि ३०३ में कथित भक्त सबके अन्तर्गत अपवाद होंगे।

सिर मेला

ज्ञातव्य है कि देवों को जीवित रहने के हेतु से ब्रह्माजी ने उनको निग्रहानुग्रह शक्ति दे रखी है जो उनके संकल्पमात्र से कार्यरत होती रहती है उसका नायकत्व इन्द्रजी आदि मलिनों में है वह कापटयपूर्ण होने पर भी स्वामि (राम) वृत्तिप्रेरणा प्रयोज्य प्रवृत्ति से विमुख व्यक्ति के द्वारा अभेद्य है।

संगतिः—पूर्व सगति के निर्देशानुसार माया की सफलता सुना रहे हैं।

चौ०—**सुरमाया सब लोग बिमोहे। रामप्रेम अतिय न बिछोहे ।।४।।**

भावार्थः—देवमाया से सब मोदित हो गए अर्थात् समाज (समाज के व्यक्ति) अवध जाने के विचार में आए किन्तु श्रीराम के सेवाप्रेम को छोड़ना उन्हें अच्छा नहीं लग रहा है।

सुरमाया

शा० व्या०—अस्थैर्यजनकस्वामिसेवाविमुखों से अभेध्य इन्द्रसंकल्प "सुरमाया हैं।"

सब लोग

स्वामिसेवा में रुचिमान् अभ्युन्नमनस्क पवर्ग" "सब लोग" से विवक्षित हैं।

बिमोहे

प्रजा को अभी तक अपने घर का ध्यान नहीं था पर अभी उन्हें गृहस्मृति होना "बिमोहे" है। राम प्रेम के कारण उनसे बिछुड़ने में रुचि न रखना बिछोहे है।

संगतिः—सुरमाया और श्रीरामप्रेमातिशय दोनों के संपर्क में समाजहृदयोदित भावसन्धि से लोगों की किंकर्तव्यविमूढ़तां वर्तित हो रही है।

चौ० :—**भयउचाट बस मन थिर नाहीं। छन बनरुचि छन सदन सोहाहीं ।।५।।**
दुबिध मनोगति प्रजा दुखारी। सरितसिंधुसंगम जनु बारी ।।६।।

भावार्थ :—भय व उच्चाटनाधीनता में लोगों का अन्तःकरण स्थिर नहीं रहा। जैसे चित्रकूटस्थ वन को रुचि में मनस् का खींचा जाना व अवधस्थित गृह की याद आना। दो प्रकार की इस मनोगति का परिणाम प्रजा के ऊपर दुःखसंकट हैं जैसे नदीं व समुद्र के संगम के बीच में रहा जल।

भय

शा० व्या० :—गृह, पशु, नारीं, संपत्ति आदि विषयों के लुप्त होने की शंका "भय" है।

उचाट

मनस् का चंचल होना "उचाट" है।

मन थिर नाहीं

भय व उचाट के वश में मनस् होने से उसमें स्थिरता न होना "मन थिर नाहीं" है।

छन

"छन"से भावसन्धि व्यक्त है अर्थात् दोनों ओर के राग ने किसीं को प्रतिबन्ध न करना स्पष्ट है।

सोहाहीं

"सोहाहीं" से परोक्षतया अवधस्थित गृहादिविषयक प्रीति स्पष्ट है।

दुबिध

ऐन्द्रीमाया के प्रयोग में हुई मनस् की अस्थिरता के बारे में राजनीतिदृष्टि से अस्थिरता को आपाद्य न मानकर उसको इष्ट कहा जाय तो उसका समाधान "दुबिध" से है अर्थात् प्रजा को दोनों ओर आपाद्य ही समझ में आना "दुबिध" का भाव है।

सरित-सिन्धुसंगम जनु बारी

मनस् सरित है जिसमें अवध व चित्रकूट के प्रति मनस् की दोलायमान गति "बारी" है। वह सिन्धुरूप अधैर्य में संगत है अर्थात् जिस प्रकार नदी व समुद्र के संगम में जल आगे पीछे होता रहता है उसी प्रकार मनस् को द्विविधगति चित्रकूट व अवत्र की ओर आर्कषित हो रही है। यही सत्प्रतिपक्षित स्थिति है।

संगतिः—स्थिरताशून्य मनस् का परिणाम घृत्यभाव है उसको प्रकाशित करने में प्रजा को लज्जा अनुभूत हो रही है।

चौ०—दुचित कतहुं परितोषु न लहहीं। एक-एकसन मरमु न कहहीं ॥७॥

भावार्थः—दोतरफा अन्तःकरण होने से लोक में कहीं संतुष्टि नहीं है यह मर्म कोई किसी से कहता नहीं है।

परितेषु न लहहीं

शा० व्या०—परितोषु न होने से सत्वगुण की कमी होने का दुष्परिणाम घृत्यभाव है जो "परितोषु न लहहीं" से स्फुट है। उसका कारण दुचित है। यही सत्प्रतिपक्षित स्थिति का भाष्य है।

एक एकसन

प्रथमं एक शब्द व्यक्तिविशेष का वाचक है दूसरा एक शब्द व्यत्स्यन्तरवाचक है।

न कहहीं

श्रीरामको अवध में लौटाने के उद्देश्य से सभी ने शपथपूर्वक व्रत पूर्ण किया उसके अतिक्रमण के प्राकट्य का भय सबको है क्योंकि अकार्यप्रयुक्त लज्जारूप दोष की

आपत्ति सबको समझ में आ रही है यतः प्रजा कुलवती है जैसा कि अर्थशास्त्रोक्त सन्ध्युपाय के अन्तर्गत कहे शपथ की उपयोगिता 'शान्ति का अग्रदूत' में उद्धृत है।

संगतिः—तर्क में अकुशलमति दोष से पूर्ण व्यवहारासक्त इन्द्र व प्रजा के मानस् में उदीयमान चपलता देखकर उनकी मूर्खता पर प्रभुको थोड़ा हास्य हो रहा है उसी को ग्रन्थकर सुना रहे हैं। जो 'दुचित' की चिकित्सा है।

चौ०—लखि हियँ हंसि कह कृपानिधानू। सरिस स्वान मघवान जुबानू ॥८॥

भावार्थः—लोगों के हृदय में भाव लखकर हँसते हुए श्रीराम कहने लगे कि श्वान् मघवान् व युवान् एक स्वभाव हैं।

लखि हियँ हँसि (दुचित की चिकित्सा)

शा० व्या०—प्रजा का आकर्षण अवध की ओर देखना "लखि" है।

हृदय में हास्य इसलिए कि दुचित होने से प्रजा के हृदयपटल पर चित्रकूटवन अवध जाते हुए पुनः चित्रित हो सकता है उसे रोकने के लिए प्रभु के हृदय में हास्य (माया) हो रहा है। परिणाम में अवध लौटने में प्रजा नहीं हिचकेगी न तो इन्द्रजी पुनः उन पर उचाटु प्रयोग करेंगे। इस प्रकार प्रभु का हास्य दुचित के प्रति चिकित्सारूप में ज्ञातव्य है। उसका परिणाम सत्प्रतिपक्ष को अवकाश प्राप्त नहीं होगा।

सरिस

प्रभु मघवा के चरित्र को देखकर युवान् व श्वान् का 'एकसंवन्धिज्ञानम्' संबंधिस्मारकं न्यायेन स्मरण कर रहे हैं इसलिए ये तीनों जिस कार्य में उत्साहित होते हैं उसमें आगा पीछा न सोचकर मनोनीत कार्य को पूर्ण करने में तत्पर रहते हैं।

संगतिः—ऐन्द्रीमाया प्रयोग के अधिकारी अनधिकारी वर्णित हो रहे हैं।

जिससे एन्द्रीमाया से बचने हेतु उपाय व्यक्त होगा और 'सिर मेला' का उपाय व्याख्यात होगा।

दोहा—**भरतु जनकु मुनिजन सचिव साधु सचेत बिहाई।**
लागि देवमाया सबहि जथाजोगु जनु पाई ॥ ३०२ ॥

भावार्थ :—भरतजी, जनकजी, वसिष्ठजी, सचिव साधु सयानों को छोड़कर प्रतिव्यक्ति पर उनके अनुरूप माया का सफल प्रयोग हुआ है।

भरतु जनकु

शा० व्या०—भरतु से प्रपत्ति, 'जनकु' से अध्यात्मविद्या, 'मुनिजन' से कर्मविद्या, 'सचिव' से आन्वीक्षिकीसंबधित नीति, 'साधु' से निश्छल भक्ति व 'सचेत' से लक्ष्मणजी ज्ञातव्य है।

लागि

प्रति व्यक्ति के पीछे पृथक् पृथक् माया ने पीछा करना "लागि" है।

सबहि

"सबहि" से भरतादि व्यक्तियों को छोड़कर अवध व मिथिला की संपूर्ण प्रजा विवक्षित है।

जथाजोगु

गृह दारादि के भेद से प्रजा की दारादिव्यक्ति निष्ठा चिन्ताविषयता 'जथाजोगु' है। इससे प्रजा की स्व में परिमित प्रकावृता स्पष्ट हुई।

संगतिः—परिमितप्रमातृता में एकसूत्रता न होना महान् दोष है जो सबको दुःखसागर में डुबानेवाला है जैसा कि निष्पक्षभाव में न रहने पर कही भागवतोक्ति "अन्यथात्वाचरन् लोके यास्य से गर्हित (श्रीमद्भागवत् १०।४९।१९) से निर्णीत है।

उसकी चिकित्सा प्रभु ने की है उसके पूर्व व्यक्ति की अन्तर्हित दुरपनेयता समझा रहे हैं।

चौ०—कृपासिन्धु लखि लोग दुखारे। निज सनेहँ सुरपति छलभारे ॥१॥

भावार्थः—प्रभु ने सुरपति माया के बोझ से लदी प्रजा को परिमित प्रमातृता रूप दोष से दुखी देखा।

कृपासिन्धु

शा० व्या०—दोहा ३०२।५ में कही सत्प्रतिपक्षितस्थिति प्रशमन भरतादि के द्वारा संभव नहीं है यदि प्रशमन न हुआ तो नीति असफल होगी यतः नीतिस्थापन की प्रवृत्ति श्रीराम में उदित हो रही है। उन्हें लोकसमवेत दुःख का अनुभव अति तीव्रता में होना "कृपासिन्धु" का भाव है।

लखि

यद्यपि लोग अभी अवध लौटने के पक्ष में उत्कट है तथापि उनमें संभावित परिमित प्रमातृताप्रयुक्त दुःख की अन्तर्यामी साक्षी ने लखना "लखि" है।

दुखारे

श्रीराम के प्रति प्रीत्यतिशय का फल है कि उनसे विलग होकर परिमित प्रमातृताप्रयुक्त वेदना होना "दुखारे" का भाव है।

निज सनेहँ

कुटुंब व परिवार के प्रति प्रजा की द्रुतचित्तता "निज सनेह" है।

छल

अप्रगट रहकर किया जानेवाला मायाप्रयोग "छल" है जो प्रजा के वैयक्तिक स्नेह को घेरकर उसे इन्द्रजी दुःखी बनाना चाहते हैं। भारे से इन्द्र छलात्मक अपरिहरणीय बोझ ज्ञातव्य है।

संगति :—भावी दुःख की चिकित्सा सुना रहे हैं जो कृपासिंधु कृपा का फल है।

चौ० :—**सभा राउ गुर महिसुर मंत्री। भरतभगति सब कै मति जन्त्री ॥२॥**

भावार्थ :—सभा, राजा जनकजी, गुरुजी, ब्राह्मणों मन्त्रियों व अन्यजनों की मति को भरतभक्ति ने कीलित कर दिया।

भरतभगति

शा० व्या० :—प्रभु ने गृह में लौटने के बाद सम्पूर्ण प्रजा में परिमितप्रमातृता प्रयुक्त दुःख न हो इस हेतु से प्रति व्यक्ति के हृदय (मति) में धर्म, नय विवेकपूर्ण भरतभक्ति की स्थापना करना "भरतभगति" से स्पष्ट है।

मतिजन्त्री

दोहा २।२२७।४ में उक्त "मति मति" से विवक्षित है।

भरतजी की यथार्थ अविसंवादिनी व कामनाहीन भक्ति के संक्रमण का परिणाम संपूर्ण सभासदों में निश्छल श्री रामभक्ति का दाढर्य होना है। इसके उदित होने में रससिद्धान्तानुसार सभा की सहृदयतावासना, व्यभिचारिभावव्याप्तिवासना व स्थायिभक्तिवासना कारण। इस प्रकार सभा (युक्तयोणी समुदाय) का भविष्यत् में ऐन्द्रीमाया से रक्षण समझाया है।

संगति :—२।३०१।७ से कडि जोड़ते हुए श्रीरामजी के द्वारा उत्तर सुनने की अभिलाषा में सबकी एकाग्रता वर्णित हो रही है।

चौपाई :—**रामहि चितवत चित्र लिखे से। सकुचत बोलत बचन सिखे से ॥३॥**

भावार्थ :—सब लोग एकचित्त से प्रभु की ओर देख रहे हैं तथा संकुचित हो बोल रहें हैं।

रामहि चितवत

शा० व्या०—विकट समस्या के प्रतिसदस्य ने विकट समस्यासमाधान एक मात्र श्रीराम से प्राप्त करना है क्योंकि वे ही स्वामी हैं उनकी आज्ञासबके लिए शिरोधार्य है समझाने हेतु 'रामहिचितवत' कहा है।

चित्रलिखे से

अन्तःकरण में भरतभक्तिजनित रामभक्तिवासनावासितत्व एवं विस्मय, ग्रन्थकार ने "चित्रलिखे से" गाया है।

अथवाः—श्रीरामजी के प्रति उभड़े स्नेह ने सभी के शरीर व इन्द्रियों को विचलित होने से रोककर मनस् को चितवत् बनाए रखना भरतभक्ति के संक्रमण का सूचक है। श्रीराम का प्रत्युत्तर ३०४।४ से प्रारंभ होगा।

सकुचत

अज्ञातज्ञापन समझे बिना से बोलने में लज्जा होना सकुचत है।

बोलत

संकोच होने पर भी संपूर्ण सभा के हृदय में हुआ हर्ष उसका भरत प्रशंसा के लिए बाध्य कर रहा है अतः "बोलत" कहा है।

सिखे से

संपूर्ण सभा का एक ही आनुपूर्वी में बोलना "सिखे (जो पहिले वर्णित है) से" ध्वनित है। इससे संपूर्ण सभा का हृदय, विमल, विवेक, धर्म नय से विशिष्ट भरतीय वचनार्थ पर पहुँच चुका है। जिसका परिणाम सबका एक आनुपूर्वो में बोलना है।

संगति :—भरतीय गुण के परिचायक सरस्वती श्रवण के बाद भरतोक्ति अनुभूत कर अन्तःभए सुख के कारण तन्मूलक प्रशंसा बिना किए नहीं रहा जाता है अतः बोलने हेतु एक ओर कवियों का उद्यत होना व दूसरी ओर बोलने में चेष्टा व भाषा कठिनता का अनुभव करना गोसाइजी अपनी ओर से बता रहे हैं। जिससे 'सकुचत' अर्धाली भी उपपन्न होगी।

चौपाईः—**भरत प्रीति-नति-बिनय-बड़ाई। सुनत सुखद बरनत कठिनाई ॥४॥**

भावार्थ :—भरतजी की प्रीति, विनय व महत्ता सुनने में सुखद है परन्तु वर्णन करने में कठिन है।

प्रीति नति विनय बड़ाई सुनत सुखद बरनत कठिनाई

शा० व्या० :—प्रीति :—भय, भ्रम, अरति उचाट से रहित ईशरति प्रीति है।

नति :—स्व में अनुत्कृष्टत्व बोधक व्यापार (आंगिक वाचिक मानसिक) होना नति है।

विनय :—विशिष्टो नयः विनयः। योगक्षेमनिष्पत्तिजनकव्यापारात्मक नीति, विनय है।

अथवा :—भरतजी ने स्वामित्वास्वीकृतिपूर्वक अवधस्वामित्वस्वीकार करने की प्रार्थना प्रभु से करना उनका विनय है।

बड़ाई :—भरतजी के जीवन वाणी आदि में परिच्छिन्नसीमापरिमितत्वाभाव 'बड़ाई' से समझना है।

सुखद :—विमल-विवेक-धर्म-नय, शालित्व जिसमें पूर्ण है ऐसी भक्ति को यदि कोई वर्णित करता है तो श्रवणेन्द्रिय के लिए मधुर होना "सुनत सुखद" है।

कठिनाई :—वचनविषयीभूत प्रशंसनीय भरतजी के संपूर्णगुण को चेष्टा या वाणी से वर्णन में कृत्यसाध्यता "कठिनाई" से बोध्य है।

भरतीय गुणात्मक अपारभक्ति के पुनर्गान का कारण सभा को प्राप्त सकल गुनगनजगलोनिरूपा मति है। जैसा कि २।२९३।३-४ में सूचित है। इससे 'भरतभगति सबके मति जन्त्री' का सार्थक होना अवगत है।

'भगति सबकै मति जन्त्री को अन्तर्नाद में सुनकर गोसाईंजी अपनी ओर से गाना चाहते हैं। उसके बारे में उन्होंने 'कठिनाइ' कहा है।

संगति :– सेवा के प्रति 'चितवत' से दर्शाये विस्मय के आलंबनभूत 'भरतप्रीति नतिं विनय बड़ाई' की यथार्थता, परीक्षकों के हर्ष से गोसाइजी सुना रहे हैं।

चौ० :–जासु बिलोकि भगतिलवलेसू। प्रेमगन मुनिगन मिथिलेसू ।।५।।
महिमा तासु कहै किमि तुलसी? । भगति सुभायं सुमति हियं हुलसी ।।६।।

भावार्थ :—जिनकी भक्ति का लवलेश देखकर राजा जनकजी व वसिष्ठमुनि प्रेम में मग्न हो गए उन (भरतजी) की महिमा तुलसीदासजी कैसे कहें? उनकी भक्ति व सुन्दर भाव से हृदय में सुबुद्धि विकसित हो रही है।

जासु

शा० व्या० :—राजादिपरीक्षित प्रीत्यादिसकल गुण विशिष्ट भरतजो यच्छादार्थ है।

बिलोकी

"बिलोकी" का विषय "भगति लवलेसू" है।

भगति लवलेसू

"सुसाहिब सेवकाई" में प्रोक्त सेतिकर्तव्यताक, अपथ्यरहित सेवा "भगति" से बोध्य है। ऐसी भक्ति के अनेकविध प्रयोग भरतजी के हृदय में प्रतिभात होते रहे हैं जिसके साक्षी एकमात्र श्रीराम हैं उसमें से एक विशेष का प्रयोग चित्रकूट में प्रगट होना "लवलेसू" है।

प्रेममगन

मुनि वसिष्ठजी एवं जनकजी ने की हुई भरतजी की परीक्षा पूर्ववर्णित है। जिसमें भरतजी उत्तीर्ण हुए हैं अभी वे दोनों वैसी ही भक्ति भरतजी में देख रहे हैं। अत: दोनों परीक्षकों का भरतजी के प्रति प्रेममग्न होना भरतभक्ति की यथार्थता का परिचायक है।

महिमा तासु

साधुप्रशंसित नीतिमान् गुणद्वन्द्व 'महिमा' से बोध्य है। मुनिगण मिथिलेशो भयप्रेमजनक दर्शनविषयः 'भगति लवलेसूविशिष्टः भरतः "तासु" है। जो जासु से संकेतित है।

कहे किमि ?

रामभक्तयुपधायक महती भक्ति का गुणगान तुलसीदासजी ने पूर्णतया करना असंभव है जो "कहे किमि" ? से स्पष्ट है।

तुलसी

संभव है कि चौपाई चार से लेकर दोहा ३०४ तक तुलसीदासजी के वर्णित विषय उनके अपने हैं। इससे 'सुनत सुखद बरनत कठिनाई तक निरूपण होना स्पष्ट है।

भगति सुभाँय

त्यक्तस्वामित्वक अवध के प्रति पुनः स्वीकृति जनकव्यापारात्मक छलफलादि शून्य सुसाहिबसेवा 'भगति' से बोध्य है जो विवेकप्रचुर हैं। "सुभाँय" से भरतजी का स्वाभाविक गुण अथवा रागाद्यपनोद्य सर्वथा मानसंस्कारोन्मूलनविशिष्ट भक्तिवासना-वासित अन्तकरण "सुभाँय" है।

सुमति

बालकान्ड में वर्णित उदर्य ज्वाला रूप सर्वज्ञ कुण्डलिनी "सुमति" से विवक्षित है जिसके साक्षी भरत आदि प्रपन्नमात्र हैं।

अथवा :—"सुमति" से इच्छित वर्णनाकूलशक्ति विवक्षित है जैसा कि "काव्य प्रकाश" में स्पष्ट है—

"मनसि सदासुसमाधिनि विस्फुरणमनेकधाऽभिधेयस्य, अक्लिष्टानि पदानि च विभान्ति यस्यामसौ शक्तिः"[1]

हियँ हुलसी

हियँ :—गोस्वामीजीका कुण्डलिनीनाद संपत्तिमत् हृदय 'हिय' बोध्य है।

हुलसी :—भरतभक्ति आदि को ज्ञात कर उनके वर्णनार्थ उद्यत होना 'हुलसी' है।

संगति :—कुण्डलिनी में भरतभक्ति आदि श्रुत होने पर भी उसको वर्णित करने में कठिनाई की उपपत्ति सुना रहे हैं।

---

१. काव्य प्रकाश —प्रथम उल्लास—पृष्ट १८

चौ० :—आपु छोटि महिमा बड़ि जानी । कबिकुल कानि मानि सकुचानी ।।७।।
कहि न सकइ गुनरुचि अधिकाई । मति गति बालबचन की नाई ।।८।।

भावार्थ :—अपनी स्वल्पकायता तथा भरतमहिमा की उच्चशिखरता एवं कविकुल परम्परा की मर्यादा को जानकर बुद्धि संकुचा गई। भरतजी के गुणों में रूचि बहुत होने पर भी उसके वर्णन में सुमति स्व में असमर्थता ही समझ रही हैं। अतः मति की गति बालवचन के समान चुप हो गई।

आपु छोटि

शा० व्या० - जिस प्रकार प्रभु अनन्त हैं उसी प्रकार प्रभु के गुण गौरवको बढ़ाने वाले चरित्र भी अनन्त हैं तथा प्रभु के प्रतिभूत्व में रहने वाले भक्तों के चरित्र भी अनन्त है। ऐसा समझकर कवि तुलसीदासजी के हृदय में उद्‌वुद्ध कुण्डलिनी ने अपने को न्यून समझना "आपु छोटि" है।

कानि

"कानि" मर्यादाबोध्य शब्द है उसका आशय कवि को प्राप्त भार से हैं जैसा कि—

न तत् पदं न तद् वाक्यं न सा विद्या न सा कला।
जायते यन्न काव्यांगं अहो भारो महान् कवेः।

उक्ति के अनुसार भक्ति की महिमा, तदनुगुणनद समझ में न आने से कविकुल भक्तिमहिमा को गाने में कठिनता का अनुभव कर रहीहैं। यही कवि कुल मर्यादा स्थित परम्परा है।

गुन रूचि अधिकाई

भक्तिमहिमा न गा सकने का कारण रूचि का न होना भी कहा जा सकता था उसका प्रतिषेध "गुन रुचि अधिकाई" से स्पष्ट है।

भक्त गुणों के वारे में उत्तरोत्तर स्वाद लेते रहना 'गुनरुचि अधिकाई' है।

बालवचन नाई

अज्ञेय को ज्ञेय समझना या तदर्थ प्रयत्न कर सफल होने की चेष्टा करना अज्ञता का सूचक है समझाने के लिए 'बालबचन की नाई' कहा गया है।

संगति :—'बालवचन की नाई' को स्फुट करने हेतु औचित्यपूर्ण घटना का अवगाहन करना बता रहे हैं जिससे अनुपेक्षा व्यक्त होगी।

दोहा :—**भरत बिमलजसु बिमलबिधु सुमति चकोरकुमारि।**
उदित बिमल जनहृदयनभ एकटक रही निहारि ।। ३०३ ।।

भावार्थः—भरतजी का विमलयशस् पूर्णचन्द्र है। निर्मल जन हृदयरूप आकाश में उदित होने वाले भरतविमलयशोरूप पूर्णचन्द्र को सुमतिरूपिणी चकोरी एकटक देख रही है।

भरत

शा० व्या० :—छठी चौपाई के 'तासु' शीर्षक में भरतशब्द व्याख्यात है।

बिमलजसु

'विमल अपथ्य, अधर्म, अपनय, अजितेन्द्रियता, मोह अप्रीति, आदि से रहित्व 'बिमल' से स्पष्ट है।

जसु :—अथ से इतितक के एक प्रयोग विशेष को सेवाधर्म के प्रति इतिकर्तव्यता के साथ प्रगट करना रघुवंश में भरतजी की अभूतपूर्ण कृति है जो 'जसु' से स्पष्ट है।

सुमति

आन्वीक्षिकी संवलित त्रयी के तात्पर्यविषय को प्रमेय के अन्तर्गत समझना ओर शब्द को प्रमाण मूर्धन्य मानकर उसके आदि में प्रमाणान्तर से त्र्युक्ति को प्रमित करते हुए नय का अवगाहन करना 'सुमति' है।

चकोर

उपर्यूक्त परिष्कृत सुमति ने अपनी उत्कट पिपासा (यशोरूपचन्द्र की चाक्षुष् पिपासा) का उपसमन व आनन्द अनुभूत करना 'चकोरी' के लिए ही संभव है।

बिमलजनहृदय

"बिमल जन" का स्वरूप राजा जनकजी, मुनि वसिष्ठजी, मुनि विश्वामित्रजी, प्रभृति के चरित्रों से स्फुट हैं जिनमें आन्वीक्षिकीकुशलताप्रयुक्त विवेकसाम्राज्य, मोहाभाव, क्षमादिगुण समूह व त्रयीधर्म के प्रति अत्युत्कट श्रद्धा होना ज्ञातव्य है।

एकटक रही निहारि

महात्मओं के (मस्तक) सहस्रार कमल में रही सुमति ने अपनी सर्वविध वृत्तियों को बटोरकर उनको भरत यशोरूप पूर्णचन्द्रकी ओर समर्पित करना तथा उसी आनन्द में शमसुखप्रयुक्त मौन धारण करना "एकटक रही निहारि" से स्पष्ट है।

संगति :—"कविकुल कानि मानि सकुचानि" की पुष्टि में ग्रःथकार वेद की दोहाई सुना रहे हैं।

चौ० :—भरत सुभाउ न सुगम निगमहूं। लघु मति चापलता कबि छमहूं ॥१॥

---

१. काव्य प्रकाश, प्रथम उल्लास, पृष्ठ–२०

भावार्थ :—भरतजी के स्वभाव को समझने में श्रुतियाँ भी जहाँ मौन रहती हैं फिर भी तदर्थ लघुमति ने भरतगुण गान प्रयत्न किया जो उसकी चपलता है उस रोष को न देखने की प्रार्थना कवि कर रहे हैं।

सुभाउ (भक्ति का ईश्वरत्व)

शा० व्या० :—सहजधर्म, स्वभाव है जो कि धर्म, नीति, प्रीति, विनय सन्तोष आदि रूप में गाया गया है। यही भक्ति का प्राण है। यह स्वभाव भक्तिशास्त्र में स्वतंत्ररूप में कहा गया है। अतएव वह प्रधान हैं। इसके उदाहरण में साहित्य में शृङ्गार वीर अद्भुत व शम में स्नेह है जो रूप में गाया है।

न सुगम

भरतजी ने जिस प्रेम की दासता स्वीकृत की है वह दासता सख्यरूप में परिणिता होती हुई दोहा २।२९३।७–८ व दोहा २।३०१।३–४ में वर्णित इतिकर्तव्यादि से पूर्ण है। वही ईश्वरतत्व है जो श्रुति के द्वारा गेय नहीं हो सकती क्योंकि प्रेम उन्हीं के लिए प्राप्त है जो विषयों से सर्वथा विमुख होते हुए भी भगवदादेश विषय मात्र के प्रति सर्वदा सोत्साह हैं। वैसे स्नेह का निर्वचन त्रिगुणात्मक वेदों के लिए आपाततः उपरि-उपरि गेय नहीं है। जैसे उपनिषद् भी आकर शून्य का वर्णन करती मौन होती है वैसे ही कर्मकाण्ड भी मौन है।

लघुमति चापलता

मति के लघुत्व का व्याख्यान "मोरि निरत संसारा" आदि से बालकाण्ड में स्मर्तव्य है।

चपलता :—लघुमति ने गुरुमति का वर्णन करना अविमृश्यकारित्वात् चपलता कहा जाएगा।

छमहुँ:–रोष के निरसनार्थ क्षमा प्रार्थना चिकित्सारूप में 'छमहुँ' से कही गई हैं।

संगति :—दोहा २।३०३।३-४ में भरतभक्ति के संक्रमण से लोक पर हुआ परिणाम केवल ऐतिहासिक ही नहीं वरन् भक्तिसिद्धान्तोक्त कार्य-कारणभाव से सुनाते हुए अपना वक्तव्य स्वतन्त्रतया शिववचन में हट कर ग्रन्थकार पूर्ण कर रहे हैं।

चौपाई :—**कहत सुनत सतिभाउ भरत को। सीयरामपद होइ न रत को ॥२॥**
सुमिरत भरतहि प्रेमु रामको। जहिन सुलभु तेहि सरिस बामको ?॥३॥

भावार्थः—भरतजी के सत्यभाव कहते-सुनते हुए जो भी श्रीसीतारामजी के चरणों में अनुरक्त न हो तथा भरतजी का स्मरण करते हुए भी जिन्हें रामप्रेम सुलभ न हुआ उनके समान भाग्यहीन कौन होगा ?

कहत सुनत

शा० व्या० :—दोहा २।३०३ व उसके अन्तर्गत चौपाई ४ में उक्त भरतप्रीति स्वभाव में से किसी एक प्रीत्यादिस्वभावविशेष को एक प्रयोगविशेषरूप में कहना सुनना 'कहत सुनत' का भाव है।

सति भाउ

"सति भाउ" से उपर्युक्त धर्म, विवेक, भययुक्त, प्रीति, नति विनय स्मर्तव्य हैं जो राजा जनकजी व मुनिवसिष्ठजी जैसे सत्परीक्षकों के द्वारा प्रशंसित हैं।

न रत को

'न रत को "यह साहित्यशास्त्रक्ति परिभाषित काकु" का बोधक है। अर्थात् भरतजी के चरित्र में कार्यकारणभावपूर्वक सेवाधर्म तथा तत्प्रयुक्त ऐन्द्रीमाया के वैफल्य के निरूपण से शास्त्रानुष्ठानात्मक इन्द्रियजय व वृद्धसेवा की ओर प्रवृत्ति होनी ही चाहिये जो 'सीयरामपद होइ न रत को का ध्वनितार्थ है। अतएव इन्द्रिय-जय का उल्लेख न कर 'सीयरामपद होइ न रत को' कहा गया है।

प्रेमु राम को

श्रीरामाज्ञा में प्रीति रखना 'प्रेमु राम को' से समझाया है।

सीयराम पद तथा होइ न रत को में अन्तर

"सीयरामपद" में शक्तिसमेत धर्मरूप प्रभु की' उपासना दर्शाकर नीति व धर्म स्थापित किया तथा 'प्रेम रामु को' में ब्रह्मरूप एकतत्व में भक्त का मिलन बताकर चरम भक्ति स्थापित की 'इस मत में शक्ति का शक्तिमान् से अपार्थक्य दर्शाया है।

बाम को

ऐन्द्रीमाया की प्रबलता व उसका प्रतिरोधोपाय समझते हुए भी श्रीराम के अनुशासन में रुचि न रखना नीतिधर्मदृष्ट्या पतन का बरण है जिसे कवि 'बाम को' से दिखा रहे हैं।

इस प्रकार सर्वातिश्रेष्ठ आज्ञासेवात्मिका भक्ति की आन्वीक्षिकी समेत त्रयी साधनसिद्धि रूप से प्राप्त श्रीरामपग स्नेह के अन्तर्गत सिद्धिरूप में सकल विद्याओं की पूर्णता में स्थापना कवि ने की जो अति आदरणीय है अर्थात् वर्णाश्रमसमाज में कोई ऐसा पातकी हो सकता है जो भगवदनुशासन में रुचि न रखता हो। इस प्रकार अपने वक्तव्य के साथ भरत वक्तव्य की पूर्णता कवि ने की।

संगति :—विवेकवराहा के प्रभाव से सभी के हृदय में सकलगुणसंपन्न मतिक्षोणी की स्थापना हुई देखकर दोहा २।३०१।४ में भरतकण्ठनिसृत मरालीवाणी के प्रत्युत्तर में श्रीराम को 'भरतमत साधुमत, नृपनयनिगमनिचोरवचन तात्पर्यविषय की स्थापना का

अवसर प्राप्त है।' तथा उभय (अवध-मिथिला) विध समाज के मनोगत को सम्हालने के साथ इन्द्रजी का भी आदर करना है अतः श्रीरामजी का उत्तर सुनानें के उपक्रम में रुच्या स्वामीपदलक्ष्यतावच्छेदक आत्मसंपत्ति प्रगट कर रहे हैं। इसलिए कि तदनु गुणतया अग्रिम तत्व व्याख्येय होंगे।

अथवा :—दोहा२।२९९।७ के भरतवचन को यादकर प्रीति में ओत-प्रोत शिवजी पुनः रामगुण कह रहे हैं। इसका प्रयोजन सबकी समस्या के समाधान कारण भूत प्रतिभान है जो श्रीराम के आत्मोपकारिगुण है।

चौपाई :—**देखि दयाल दसा सबही की। राम सुजान जानि जन जी की ॥४॥**
धरमधुरीन धीर नय-नागर। सित्य-सनेह-सील-सुख सागर ॥५॥
देसु कालु लखि समउ समाजू। नीति-प्रीति-पालक रघुराजू॥६॥

भावार्थ :—सबकी दशा देखते हुए प्रियजन की (भरतजी की) दशा समझकर, धर्मधुरन्धर, धीर, नीतिनिपुण, स्नेही, शीलवान्, सुख आदि के समुद्र, सत्यवक्ता, व प्रीति के पालक रघुपति देशकाल समय समाज को देखकर बोल रहे हैं जो परिणाम में हितकारी है व सुनने में चन्द्र के समान अमृतमयी है।

देखि

शा० व्या० :—श्रीरामविरह पीड़िता होने के कारण प्रजा स्वदुःखनिवारणार्थं प्रजापालक श्रीराम के समीप में पहुँची है जिसको दयालु श्रीराम ने देखना "देखि" का भाव है।

दयाल (सदाचार की स्थापना)

"दयाल" से सत्वगुणाच्छिन्न सर्वज्ञ सर्वतउ परिस्थित विराट पुरुषात्मक श्रीराम विवक्षित हैं।

दसा सबही की

दोहा २।३०२।६ में उक्त "द्विविध मनोगति" शीर्षक में उक्त मनोभाव "दशा" से विवक्षित हैं। उसका अन्वय 'सबही की' से है।

'सबही की' स्वचिन्ताग्रस्त मातृप्रभृति विभिन्न प्रकतिक समूह 'सब' से विवक्षित है।

सुजान

श्रीराम की स्वायत्तसिद्धिकता का प्रभाव "सुजान" से स्पष्ट है अर्थात् प्रति व्यक्ति की पीड़ा व उसके परिहार के ज्ञाता प्रभु के द्वारा सबको समाधान होना ध्वनित है।

जनजी को

यद्यपि चित्रकूट में उपस्थित सभी प्रभु के जन हैं तथापि यहाँ 'जन' शब्द भरतजी, वसिष्ठजी आदि प्रधानतया ज्ञातव्य है जिनकी वाछा छिपी नहीं हैं।

धरमधुरीन (अनुच्छेद)

"धरमधुरीन" से 'सुखसागर' तक कहे गुण नीतिशास्त्राभिमत आत्मोपकारिक (स्वामिप्रकृति) गुण के प्रदर्शक हैं। शब्द प्रमाण प्रमित अर्थ में रहना स्वामी का संकल्प है तो उसकी उपयोगिता; छलशून्यता विश्वासार्हता में है। फलतः धर्मधुरीण राजा प्रजानुरागसंपादक होने से शत्रु के लिए दुःखोच्छेद्य अजातशत्रु कहे जाते हैं।

धीर

"धीर" होने का परिणाम रसाभास न होना है यतः धीर व्यक्ति के द्वारा कार्य उचित ही होते हैं जो धृति के अनुभावरूप में परिगणित है। वे ही मनोरंजक रसमय होने हैं।

नय नागर

"नागर" शब्द का अर्थ कामसूत्रोक्त नागरक प्रकरण में उक्त है।

अथवा :—योगक्षेमनिष्पत्तिसंपादन में विदग्ध होना "नय नागरता" है। जैसा कि "लौकिके वैदिके चार्थे तथा सामयिकेऽपि च सम्यक्परिचयप्रौढ़िः वैदग्ध्य-मिति गीयते"[१] वचन से स्पष्ट है।

सत्य सनेह सील सुख

सत्य :—धर्मधुरीणों के लिए विशेषतया अनुष्ठेय होते हुए उनकी वाणी में मिथ्यात्व न होना 'सत्य' है। जैसा कि "ऋषीणां पुनराद्यानां वाचमर्थोनुधावति" से प्रमाणित है।

सनेह :—'वसुधैव कुटुंबकम्' भावना में रहते सब पर ममत्व का भाव "स्नेह" है।

सील :—"सील' से सुस्वभाव विवक्षित है जो साधुसभा में सराहनीय होने से अनुमित हैं।

सुख :—अनीहा से लभ्य परमात्मानन्दरूप तत्व "सुख" से बोध्य है।

सागर

'सागर' शब्द सत्य, शील, सुख व स्नेह से समन्वित है उसका भाव सत्य, शील, स्नेह व सुख की अगाधता में है।

---

१. भाव प्रकाशन

देसु, कालु

देश व काल का योग इसलिए अपेक्षित है कि वे दोनों परस्पर सापेक्ष रहकर कार्यकारी होते हैं।

लखि

"लखि" का अन्वय 'देसु कालु समउ समाजू' से है।

समउ

"समउ" का निष्कर्ष फल सिद्धि में है।

समाजू

श्री रामस्नेह व सुरमाया से आक्रान्त होने से अवध के प्रति आकृष्ट श्रीरामाश्रमस्थ समूह कर्तव्य मूढ़ 'समाजू' समझना है।

नीति

स्वामी को चाहिए कि वे पालक होने से नीतिपालन में प्रधानतया दक्ष हो तथा धनुर्धारण करते हुए भी प्रजा का उनके प्रति आत्मीयत्वेन भाव प्राप्तिजनक कर्म "नीति" है।

'नयनागर' कहने के अनन्तर नीतिपालक कहने का भाव प्रजा में चलायी नीति के पालन की अनुच्छेद्यता समझाने में है।

ज्ञातव्य है कि २०८ की चौ० में स्वामिसेवा के विचार में भरतजी ने स्वामी के आध्यात्मिक व शिवजी ने यहाँ श्रीराम के आत्मोपारिक गुण निरूपित किए हैं अथवा भरतजी ने स्वामिपद बनाया है यहाँ स्वामिपदलक्ष्यनिरूपित है—पालक है। फलतः द्विरुक्ति ही है।

प्रीति

अपने गुणों से सबके हृदय में प्रीति की स्थायिता रखना प्रीति से ध्वनित है। वह पालक से अन्वित है।

संगति :—धर्मधुरीण आदि उपर्युक्त विशेषणों की सार्थकता ध्वनित करते हुए शिवजी रघुपति का अमृतवत् बोलना सुनाने की प्रतिज्ञा कर रहे हैं।

चौपाई :—**बोले बचन बानि सरबसु। हित परिनाम सुनत ससिरसु से॥७॥**

भावार्थ :—प्रभु ऐसे वचन बोले जो वाणी के सर्वस्व थे परिणाम में हितकारी थे तथा चन्द्र की तरह अमृत के समान थे।

बोले बचन

शा० व्या० :—ज्ञातव्य है कि प्रभु का बोलना श्रोताओं की ठीक देशकालपरिस्थित्यनुरूप परखकर तर्कपूर्ण युक्तियों से होने वाला है। परिणाम में भरतजी को अवध

राज्य सभालते हुए रघुनाथ के साथ रहने का सुख अनुभूत होगा।

बानि सरबसु

प्रभु के वक्ष्यमाण वचन, "समाधान तब भा यह जाने" और 'जौं न होत जग जनम भरत को, वाणी की यथार्थता के निरूपण के साथ संपूर्ण सभा के लिए समाधान कारक होंगे।

हित परिनाम

प्रभु के वक्ष्यभाव वचन से यह निर्णीत होगा कि भविष्यत् में १४ वर्ष के बांद सबको अभीप्सित रामराज्योत्सव का दर्शन होना है जो सबके लिए हितकारक होगा।

ससिरसु

प्रभु के वक्ष्यमाण वचन तत्काल में सबके लिए अमृत के समान होते हुए राम-विरह में हुए सन्ताप के शामक होंगे जैसा कि 'सत्य ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् न वयात् सत्यमप्रिय प्रियं च नानृतं ब्रूयात् एप धर्मः सनातनः' वचन से स्फुट है।

चौ० :—तात ! भरत ! तुम्ह धरमधुरीना । लोक-बेदविद प्रेमप्रबीना ।।८।।

दोहा :-- करम बचन मानस बिमल तुम्ह तात !।
गुर समाज लघुबंधु गुन कुसमयं किमि कहि जात ? ।। ३०४ ।।

भावार्थ :—हे तात ! भरत ! तुम धर्म धुरीण हो। लोक वेद की जानेन वाले प्रेमप्रवीण हो। मनसा वाचा, कर्मणा, विमल, तुम्हारे समान तुम ही हो तथापि गुरुजी व समाज के सामने कुसमय होने के कारण छोटे भाई के गुण कैसे कहे जा सकते हैं ?।

भरत

३०१।८ में वर्णित सभास्थितिजनक गुण विशिष्ट भरतजी भरतशब्दार्थ है। अतएव प्रीति में तात कहना उपपन्न है।

धरमधुरीना

शा० व्या० :—"धरम" से सेवाधर्मविशेप, विशेष क्षात्रधर्म, अहिंसादिसाधारण धर्म विवक्षित हैं। आदि से अन्त तक सेवाधर्म के प्रयोग विशेष को सफल पूर्णकरने में विद्वानों, सदस्यों, माताओं प्रजा, व सन्तों को सन्तुष्ट होना ही धर्मधुरीणता है। इससे भरतजी की वैराग्य पूर्ण शुचिता ध्वनित है।

लोक-वेदविद

लोक :—'लोक' शब्द प्रत्यक्षानुमानादि लौकिकप्रमाण परक है 'वेद' शब्द प्रमाणान्तराबोधक प्रमाणपरक है। 'शुश्रूषा श्रवण ग्रहण धारण विज्ञानोहापोहतत्वाभिनिविष्टबुद्धि विद्या विनयति नेतरां' का स्मरण कर कहना यह होगा कि भरतजी का विद्या

विनीतत्व 'विद' से दर्शाया है। "लोकवेद" से विद्वत्संगतिप्रयुक्त विवेक की अधीनता में प्रमादाभाव तथा भाग्यवादिता व पुरुषार्थ वादिता के समन्वय की मर्मज्ञता समझनी है।

प्रेम प्रवीना

प्रेमियों के बीच यदि स्वार्थ का प्रवेश होता है तो वह स्वार्थ प्रेम का मूलोच्छेदक होता है वैसी परिस्थिति यहाँ भरतजी पर आ पड़ी थी किन्तु उन्होने स्वार्थ का ही उच्छेद कर दिया अतः प्रभु "प्रेमप्रवीण" कह रहे हैं।

करम बचन मानस बिमल

अन्तःकरण में निश्छलता रहना "करम वचन मानस विमल" है।

"विमल" से दोहा २।३०१।२ में उक्त मलिनता का अभाव समझना है।

तुम्ह समान

उपर्युक्त सेवाधर्मविशेष की इतिकर्तव्यता दोहा २।२·३।८ व २।३०१।६ में उक्त अपथ्यवर्जन धर्मधुरीणतागुणचतुष्टयप्रयुक्त सेवकगुण भरतजी में समन्वित हैं समझाने के लिए "तुम्ह समान" कहा है।

ज्ञातव्य है पूर्व में "भुअन भरतसमभाई[1]" तथा अभी "तुम्ह समान तुम्हकौन" कहा है इसके उतर में कहना है कि पूर्व में असमालंकार व अभी अनन्वयालंकार है।

गुर समाज

पूज्यतर या पूज्यतमों की उपस्थिति रहते कनिष्ठ प्रशंस्य की प्रशंसा करना शास्त्र विरुद्ध है। जैसा कि प्रभु ने दोहा २।२५९।७ में कहा है यही समझाने के लिए "गुर समाज" कहा।

लघु

अनुज 'लघु' से विवक्षित है। बन्धु कहने से उनमें अनुजीविवृत्तता दर्शाई है। गुन प्रसिद्ध है।

कुसमय

गुर्वादि के वचनों पर की हुई स्तुति से भरतजी ने (२५९७) असन्तुष्टि व्यक्त की स्तुत्य वृत्ति करने में असन्तुष्टि की संभावना "कुसमय" है।

अथवा :—समस्या का समाधान न कर स्तुति करना 'कुसमय' है।

कहि किमि जात

मनसा, वाचा, कर्मणा भरतजी में रही विमलता (२५८।८) तथा जनकजी के द्वारा अनुमोदन (२८९) होने से उसमें रागोपाधिकत्व नहीं है। उससे अधिक कहना

---

१. २।२५९

अर्थोपन्यास प्रयोजक अर्थलिप्सा रूप उपाधि की शंका का आधायक हो सकता है अतः प्रभु 'कहिं किमि जात' कह रहे हैं।

संगति :—पूर्वपक्ष के बाद सिद्धान्तपक्ष की स्थापना के पूर्व प्रभु प्रथमतः दोनों के अभिमत तत्व प्रगट कर रहे हैं जिससे पुनः पूर्वपक्षोप स्थापना नहीं होगा।

चौपाई :—**जानहु तात ! रविकुलरीति। सत्यसन्धपितु कीरति प्रीति ॥१॥**

समउ समाजु लाज गुरजन की। उदासीन-हित-अनहितमन की ॥२॥

तुम्हहि विदित सबही कर करमू। आपन मोर परमहित धरमू ॥३॥

भावार्थ :—हे तात ! तुम सूर्यवंश को परम्परा सत्यसंधता पितृकीर्ति, प्रीति, समय, समाज, तथा गुरुजनों की मर्यादा व उदासीन, शत्रु, मित्र के अन्तःकरण को अच्छी तरह से जानते हो, तुम प्रत्येक वर्णाश्रमसमाज के कर्म को जानते हो व अपने व मेरे धर्म को भी जानते हो।

जानहु (विधेयाभाव व स्वाभाविक इन्द्रिय जय)

शा० व्या० :— "जानहुँ" का अन्वय रीति, प्रीति इत्यादि से ज्ञातव्य है।

लौकिक अलौकिक धर्मनीति का मर्म दोनों भाइयों को मान्य होने से उनके संबंध में न तो भरतजी को प्रेरणा देनी है न अज्ञात ज्ञापन कराना है।

इसलिए उन तत्वों के वक्ष्यमाण प्रतिज्ञाघटकीभूत विधेयांश को उद्देश्यतावच्छेदक के रूप में अनूदित करना "जानहुँ" का भाव है।

अथवा वक्ष्यमाण (दोनो चौपाई) अर्थ को स्वभावतः भरतजी ने समझा है इस तथ्यको प्रगट करने हेतु 'जानहुँ' कहा है। उससे भरतजी का स्वाभाविक इन्द्रिय जय स्पष्ट है।

अथवा जानहु से वेद प्रतिपादित अर्थ का प्राप्त ज्ञातव्य है।

रीति

"रीति" से कुल परंपरागत आचार समझना है जो सूर्यवंश के लिए अपने अभ्युदय का एक विशेष कारण है जो संगत्युक्तउद्देश्य घटकतया "तरनि कुलरीति के अन्तर्गत प्रथम गुण है। आशय यह कि कुल का अनुसरण करना कुलीनो का कर्त्तव्य है। यदि कुलीन ऐसा स्वीकृत करते हैं तो उनकी स्वधर्म से च्युति न होने में उन पर संपूर्ण राष्ट्र विश्वास रखता है जैसा कि "कुलीनत्वान्नव्यभिचरति"[1] से स्पष्ट है। उसका अन्वय 'जानहुँ' से है।

सत्यसिन्ध पितु

सत्यसन्धतागुण कुल द्वितीय गुण है वह भी 'जानहु' से अन्वित है न्यायतः परिपालन में अत्यन्त उपयोगी माना जाता है। उसी पर राज्य की प्रियता टिकी है।

१. नीतिसार (जयमंगला)

"पितु" से आदिपुरुष विवस्वान् (सूर्य भगवान्) से लेकर राजा दशरथजी तक सभी विवक्षित हैं।

कीरति

विवस्वान् से आरम्भ कर राजा दशरथजी पर्यन्त कुलक्रमागत चरित्र की स्वच्छता "कीरति" से निवक्षित है। जो 'जानहुँ' से अन्वित तृतीय गुण है। वह कार्य रूप में गेय हैं।

प्रीति

सूर्यवंश ने अपनाई सत्यसन्धता की अनुस्युतता में केवल धर्म का अवलंब ही नहीं अपितु संपूर्ण पूर्वजों के उत्कट अनुराग का रहना "प्रीति" से संबोध्य है अतएव सत्यसन्धता का अक्षुण्ण बना रहना भी निर्णीत होता है। उसका पर्यवसान वह कि उत्तरोत्तर पीढ़ियों की इसमें रुचि होना व तत्प्रयुक्त अनुष्ठानतः प्रामाण्य होना देखा जा रहा है तब पूर्वजों का अपने पुत्रों के प्रतिप्रीतिमान होना सिद्ध है इसी की "प्रीति" से स्पष्ट किया है उसी में नैतिता व अन्य गुणों का अन्तर्भाव का कीर्त्याद्युपकतया ज्ञातव्य है।

समउ

"समउ" से कविसमय विवक्षित है। चिन्त्य है कि समउ से 'अनहित' तक 'जानहुँ' अन्वित है।

समाजु

"समाजु" से वर्णाश्रम समाज विवक्षित है। उसको 'लाज' से अन्वित करना है एवंच धर्मविजयित्व भरतजी में समझाया है उसी हेतु से वर्णाश्रम समाज उन्नत हो आश्वस्त है।

लाज

लाज का अन्वय 'समाज' तथा "गुरुजन की" से समझना है। लज्जा की व्याख्या भाव प्रकाशन[1] में इस प्रकार है—

चित्तेविलीयजातत्वाल्लज्जेति परिभाष्यते।
अकार्य करणाज्ञानगुर्वाज्ञारिव्यतिक्रमात्।
अनिर्वाहात्प्रतिज्ञायाः त्यागे भूयोनुपाततः॥
व्रीडा, तदनुभावास्युरुर्वी लेखनचिन्तनम्।
मुखावनमृताऽव्यक्तवचनं नखकर्तनम्॥

---

१. भावप्रकाशन पृष्ठ—२८ पंक्ति—१२

वस्त्रांगुलीयकस्पर्शो दूरादेवावकुण्ठनम् ।

अनिर्गमो बहिः क्वापि सर्वत्राप्यनवस्थितिः[1] ॥

लज्जा की व्याख्या काव्यप्रकाश में इस प्रकार है—

"निमीलनं स्वकर्तृकक्रियायां विद्वेषोनुतापः व्रीडेत्युच्यते[2] ।

कुलीनों में असत्यता, अपकीर्ति, धर्म में अप्रीतिरूप अकार्य से निवृत्ति प्रयोजक लज्जा होना गुण माना गया है जो धर्मप्रधान वर्णाश्रम समाज की लोक मात्रा को सुचारु बनाती है उसमें भी विशेषतया 'गुरुजन' की कहकर प्रभु ने भरतजी में विद्वदंकुश समझाया है।

मन की

साक्षी को प्रसन्न करने वाला सेवक शत्रु आदि के मनस् का साक्षी होता है अतः नीति में उक्तषाड्गुण्यसाधनोप्रायरूप साभादि के अनुष्ठान में भरतजी की सिद्ध हस्तता बनाइ है।

अथवा 'मन की' उक्ति से परचित्तज्ञतारूप अनुजीविगुण की जानकारी होना भरतजी में ध्वनित है।

यहाँ तक अपने कर्तव्य की जानकारी वताकर स्वधमनुष्ठान समझाया।

तुम्हहि

"तुम्हहिं" से चौपाई १-२ में स्पष्ट प्रीति, रीति, कीर्ति, लाज आदि गुण एवं 'परमहित धरमू' के संबंध में ज्ञातता भरतजी से 'तुम्हहिं' से विवक्षित हैं। संमाज के प्रति व्यक्ति से कर्मोनुष्ठापन कराने में भरतजी में श्रमाभाव दर्शाया है।

बिदित (कृतक इन्द्रिय जय)

"बिदित" से उपर्युक्त गुणों का भरतजी में मात्र ज्ञातृत्व ही नहीं 'अपितु प्रयोक्त भाव भी समझना है।

अथवा 'विदित' चौ० १ से भरतजी में धर्मविजयित्व व न्यायेन सम्यक्पालनपरत्व दर्शाया है ऐसा होने से ही 'भरतभगति सबकै मति जन्त्री' कार्यान्वित हो सकती है। जो श्रीराम ने स्थापित की है।

अथवा 'विदित' से कर्म आदि के संबन्ध में आन्वीक्षिकी माध्यम से विद्या तत्वों को ठीक से समझा है अतः भरतजी में कृतक इन्द्रियजयध्वनित किया है।

---

१. भावप्रकाशन पृष्ठ १९ पंक्ति ३—८

२. काव्यप्रकाश चतुर्थोल्लास पृ० १६०

सबहीं कर (राजा की व्यवस्थापकता)

सबही करः—व्यवस्थापक (राजा) के द्वारा व्यवस्थापित धर्मानुष्ठान कमी वर्णाश्रम 'सबही' से विवक्षित है।

करमू

वेदबोधित कर्तव्यरूप विशेष व सामान्य धर्म "करमू" से विवक्षित है। आशय यह कि वर्णाश्रम समाज के प्रति व्यक्ति के कर्म का पूर्ण परिचय होने से उनके कर्मो का यथावत् अनुष्ठान होते रहने में वर्णाश्रम को जब स्वतंत्रता मिलती है तभी उसका विश्वास सहजरीति से भरतजी को प्राप्त होना सकता है। यही 'भरत भगति सबके मति जन्त्री' हो सकती है दर्शाने हेतु 'करमू' कहा है।

आपन मोर

"आपन" से वृत्तिप्रेरणा स्वामिसेवाप्रयोज्य प्रवृतिमत्वविशिष्ट भरतजी बोध्य है। प्रार्थ्यमान स्वामि प्रेरणावान् श्रीराम 'मोर' शब्दार्थ है।

भरत द्वारा प्रार्थ्यस्वामिसेवा के आदेष्टा श्रीराम व 'आपन' का अन्वय 'परमहित धरमू से है।

परमहित धरमू (क्षात्रधर्म की प्रधानता)

"परमहित" का आशय दोनों भाइयों के क्षात्रधर्म में है जो राजा का परमधर्म है उसको प्रधान मानकर क्षात्रधर्म की सेवा में आत्मसमर्पण करना हैं। वर्णाश्रम से क्षात्रधर्म की प्रधानता व्यक्त है।[1] जो उद्देश्य बोधक है वह यदि कार्यन्वित है तो उन पर ईश्वर का प्रसाद नियत है समझाने के लिए 'परम' कहना भी उपपन्न है। अतः अमरकीर्तिसंपादक क्षात्रधर्म है। इस धर्म के प्रत्यार्थ धर्मशास्त्र का प्रादुर्भाव हुआ हैं। इसी तथ्य को ध्यान में रख भरतजी ने भरद्वाजमुनिजी के सामने 'रसारसातलजाई' कहना, अवध की सभा में असन्तुष्टि प्रगट करना, अवधस्वामित्व को सर्वथा अस्वीकृत करना, त्यक्तस्वामित्व को प्रभु से पुनः स्वीकृत कराने हेतु चित्रकूट में उपस्थित होना आदि उपपन्न है। उसका परिणाम "इहलोके सुखं भुक्त्वा" समझना है। एवं च "परमहित धरमू" का अंतिम निष्कर्ष राजनीति में सामान्यधर्मरूप क्षात्रधर्म में पालन कराना व करना हैं। इस प्रकार वक्ष्यमाण प्रतिज्ञा के अन्तर्गत उद्देश्य का निरूपण हुआ। जो दोहा २।३०६।५ "करहु" से स्पष्ट होगा।

संगति :—वक्ष्यमाण दोहा २।३०६।५ में प्रतिज्ञा का कार्यान्वन कर्तृत्व भरतजी में है ऐसा समझकर प्रभु भरतजो से बोल रहे हैं तथा भरतजी को दास्य से ऊपर सख्य भक्ति दे रहे हैं।

---

१. शांति का अगदूत में देखें।

चौपाई :—**मोहि सब भाँति भरोस तुम्हारा । तदपि कहउँ अवसर अनुसारा ॥४॥**

भावार्थ :—मुझे सब प्रकार से तुम्हारा भरोसा है, तथापि मैं देशकालानुसरण में कह रहा हुँ ।

मोहि

शा० व्या० :—'मोहि' परित्यक्तस्वामित्व की पुनः स्वीकृति की ओर झुकने पितृवचनप्रमाणपरतन्त्र श्रीरामजी "मोहि" से विवक्षित हैं ।

सब भाँति

कुसमय-सुसमय तथा स्वकी उपस्थिति व अनुपस्थिति आदि ऊँची-नीची परिस्थितियाँ "सब भाँति" से विवक्षित है ।

भरोस (मित्रता की स्थापना)

'सब भाँति' शीर्षकोक्त सभी परिसितियों में श्रीराम का भरतजी पर विश्वास "भरोस" से कहा है ।

"भरोस" शब्द 'अयं (भरत) से हितं साधयिष्यति" ऐसे निर्णयात्मक विश्वास का बोधक है । जैसा कि मंगलाचरण में "श्रद्धाविश्वास रूपिणौ" से व्याख्यात है ।

यहाँ विशेषतया राजनीति सम्मन मित्रसंपति स्मर्तव्य है कि मित्र वही है जो विपत्ति में (सभी परिस्थितियों में) निष्कपट निरपेक्ष व सहायक हो मित्रता का कार्य संपन्न करता है यतः प्रीति अपनी विपत्ति में हो परीक्षणीय मानी गयी है इसको ध्यान में रखते हुए कहना होगा कि भरतजी, श्रीरामजी के ऊपर आई विपत्ति (सभी परिस्थितियों) से पूर्ण परिचित हैं वे उस अवस्था से श्रीराम की हितकारिता में अत्यन्त दक्ष हैं अतः श्रीराम समान भरतजी के उनके मित्र हैं । जैसे इसलिए भरतजी की अज्ञात ज्ञापन नहीं कराना है ।

तदपि

जबकि स्वयं होकर भरतजी, श्रीरामजी की विपत्ति (सभी अवस्थाओं) के अवसर पर सहायक होरहे हैं तब उस अवस्था में "मेरी विपत्ति पर सहायता करो" ऐसा कहने की श्रीरामजी को आवश्यकता नहीं है । यतः भरतजी के लिए कोई अज्ञातरूप में तत्त्व अवशिष्ट नहीं है फिर भी उसका प्रतिप्रसव "तदपि" से व्यक्त कर रहे हैं इसलिए कि वेदना में भरतजी ने भक्ति स्थापनार्थ त्रयी की सार्वभौमिता भंग की है । उस दोष से भरतजी को मुक्त करना है ।

कहउँ

न्यायशास्त्र में संकेतित आहार्य के समान प्रभु अपने वचन में न्यायपरिभाषित रीति से समय को देखते हुए सबको राजस्वरूप समझाने के विचार से 'अयंजानातु' ऐसी इच्छा प्रयुक्त आहार्य समता 'कहउँ' से ध्वनित कर रहे हैं ।

अथवा :—'कहउँ' से देश काल-संबंध देखते हुए मीमांसासम्मत प्रयोगविशेष विवक्षित है यही 'कहउँ' का सार्थक्य है।

अवसर

प्रकृत में उपस्थित समस्या का यथावत्समाधान का प्रकाशन वसिष्ठजी आदि के द्वारा न होना, भतरजी व माता के द्वारा वनवास के प्रति विकल्प का उपस्थापन करना माता कौसल्याजी द्वारा रानी सुनयनाजी के सामने अनभिप्रेत (भरत वनवास) की सम्मति देना आदि "अवसर" से ग्राह्य है।

संगति :—दोहा२।३०६।५ में जो विधान सुनाने हैं उसके पूर्व प्रतिबंधक रूप से जो-जो तत्व उपस्थित हुए हैं उनका प्रदर्शन कह रहे हैं यतः उन प्रतिबन्धकों का निरसन कैसे हुआ समझाने के प्रमाण का निरूपण प्रारम्भ कर रहे हैं।

चौपाई :—**तात! तात बिनु बात हमारी। केवल गुरकुलकृपां संभारी ॥५॥**

न तरु प्रजा परिजन परिवारू। हमहि सहितसबु होत खुआरू ॥६॥

भावार्थ :—हे तात! पिताजी के अनुपस्थिति (मृत्यु) में मेरे मनोनीत संपूर्ण तथ्य गुरु समुदाय की कृपा से सुरक्षित हो रहे हैं। यदि ऐसा न होता तो प्रजा, सेवक, परिवार और हम भी विनाश के गर्त में चले जाते।

तात बिनु बात हमारी

शा० व्या० :—"तातबिनु" से दशरथजी का स्वर्गगमन स्मरित है।

"बात हमारी" से 'वनवासो हितकरः श्रुतिप्रमाण (गंगावचन) प्रमितत्वात्' यह अनुमिति से विवक्षित है। इसकी सत्यता "संभारी" में व्यक्त की है।

केवल

यहाँ जो भी सुना है उससे स्पष्ट है कि श्रीराम की अनुपस्थिति में गुरु वसिष्ठ भरद्वाजजी वाल्मीकिमुनि व निषाद मन्त्रीवृद्ध संरक्षक थे अतः 'केवल' कहा है। वह कृपा से संबद्ध हैं।

गुरुकुल कृपा

"गुरुकुल" से मुनि वसिष्ठजी व 'कुल' शब्द से भरद्वाजजी, कौशिकजी, माताजी व पूर्वोक्त सभी बोध्य हैं।

"कृपा" से उनकी प्रसन्नता बोध्य है। त्रयी के समान अनूचान सत्यसन्ध पितृ-वचन को प्रमाण मानकर वनवास स्वीकृति होने के बाद पिताजी का स्वर्गारोहण हुआ। उस निमित्त से अपने घर में, मित्रराष्ट्र में; भाइयों में नानाविध, भेदनीति के अंकुरित होने की स्थिति उत्पन्न हुई उसका प्रशमन हम नहीं कर सकते थे, शासन शक्ति लुप्त हो गई ऐसा देखकर गुरु वसिष्ठजी एवं मुनि भरद्वाजजी, बृहस्पतिजी,

कौशिकजी आदि महामनीषियों ने एकवाक्यता में आवाज उठाकर भेदनीति को उखाड़ फेंका। उसी का स्मरण श्रीराम "कृपा" से कर रहे हैं।

संभारी

"संभारी" से बलवदनिष्टनिरसनसूचना बोध्य है।

न तरु

"न तरु" से व्यतिरेकसहचार कहकर कृपा व संभारी के कार्य-कारणभाव को स्पष्ट किया है। निष्कर्ष यह कि यदि गुरुकुल की कृपा न होती तो भेदनीति से अपना रक्षण कथमपि नहीं होता।

प्रजा

राज्य के अन्तर्गत राष्ट्र रूप में स्थित जन "प्रजा" है।

परिजन

आभ्यन्तर होते हुए बाह्य सम्बन्ध से आबद्ध "परिजन" होते हैं।

परिवारु

आभ्यन्तर संबद्ध जन "परिवारू" से समझने हैं।

सबु

प्रजा, परिजन, सूर्यवंश के अतिरिक्त प्रकृतियाँ "सबु" से समझनी हैं।

खुआरू

"खुआरू" का अन्वय 'न तरु' से समझना है। इसका अर्थ 'गुरुकुलकृपाभावे प्रजापरिजनाः चत्वारो भ्रातरोपि विनश्येयुः' ऐसा समझना है। इसकी उपपत्ति दोहा २२५।८।८ व दोहा २५९।६ में द्रष्टव्य है।

संगति :— धर्मराज्य में पूर्वपरिगृहीत शासनविधान का कार्यान्वियन रहते भेदनीति से राज्यविनाश प्रसंग संभावित था उससे बचने की उपपत्ति "बिमल बंश यह अनुचित एकू" में दर्शायी है उसी को दृष्टान्त से समझा रहे हैं।

चौ० :—जौं बिनु अवसर अथवं दिनेसू। जग केहि कहहु न होइ कलेसू ॥८॥
तस उतपातु तात ! बिधि कीन्हा। मुनि मिथिलेस राखि सबु लीन्हा ॥७॥

भावार्थ :—विहित समय के पूर्व-पश्चात् सूर्योदय या सूर्यस्त होना जगत के क्लेश का कारण होगा। उसी प्रकार का उत्पात, विधि ने उपस्थापित किया है परन्तु मुनि एवं राजा जनकजी ने हम सभी को बचा लिया है।

बिनु अवसर

शा० व्या० :—समय में विहित कार्य का कुसमय में होना "विनु अवसर" है।

मुनि

भरतयात्रा का नेतृत्व करते हुए वसिष्ठजी ने सबका हित करना 'मुनि' है।

जग

"जग" शब्द प्रजा परिजन परिवार आदि के समकक्ष होता हुआ संपूर्ण विश्वका बोधक है।

अथवा:—"जग" से वर्णाश्रम लोग समझने हैं क्योंकि उसी को मुहूर्तादि मर्यादा की अपेक्षा है अतः "जग केहि कहहु" कहा है।

कलेसु

दैनन्दिन कार्य करने का क्रम सूर्योदय व सूर्यास्त के अनुसार निश्चित हुआ है। उसमें अचानक परिवर्तन होना, आध्यात्मिक आधिदैविक आधिभौतिक उत्पात होना क्लेश है जो विश्व के लिए दुःखावह होता है।

अथवा :—काल का अंगत्व लुप्त होने पर सभी का अनुष्ठानतः अप्रमाणित होना क्लेश है।

तस उतपातु

"तस उतपातु" से प्रस्तुत वनवासदि तिलकादि सभी प्रस्तुत दार्ष्टान्तिक कार्य बोध्य है।

अवध में शोकमयी अराजक स्थिति, दुस्वप्न आदि "उतपातु" है।

बिधि कीन्हा

"बिधि" से कैकेयीप्रोक्त विध्यनुमोदित विधाता बोध्य है। जैसे अरिविजिगीषु के चलन में द्वादशविधराजमण्डल चलायमान होता है। अरिविजिगीषु रूप में स्थित कैकेयीजी व दशरथजी के स्वार्थ चलन के बिना भरतरुचिपूर्ति के श्रीराम-वनवास मंत्रिमंडल की उपेक्षा से भरतजी ने भक्ति के आवेश में श्रुतिको ठुकराना उनकी रुचि के विरुद्ध बलात् टीका लगाने का आग्रह, राजमृत्यु, अराजकता श्रुति की सार्वभौमता कामादि विवृति की प्रधानता, कलह, राजकुमारियों की पीड़ा, भक्ति की निरंकुशता आदि उत्पात 'विधि कीन्हा' से समझना है।

मिथिलेसु

अवध पर आए संकट को सुनकर मिथिलेश ने यहाँ पहुँच हम सभी का हित करना चाहा उनका यह संकल्प ही हमारे सहित प्रजा का कल्याणकारी हुआ है। जैसा कि सुनयना-जनकजी के संवाद से समझाया है।

राखि सबु

मुनि जनकसंवाद जनक-सुनयना संवाद, कौसल्या सुनयनासंवाद व स्वतंत्रतया जनकजी का निर्णय, वसिष्ठ रामसंवाद आदि "राखि सबु" से बोध्य हैं।

संगतिः—प्रमाणसमन्वयपूर्वक मंत्र के अनुष्ठाता जनकजी (उपनिषद) व वसिष्ठजी (योगत्रयी) ने किया कार्य सुना रहे हैं।

दोहा—**राजकाज सब लाज पति धरम धरनि धन धाम।**
गुर प्रभाउ पालिहि सबहि भल होइहि परिनाम ।।३०५।।

भावार्थः—सभी राजकार्य, मर्यादा, अकार्य करण निवर्तक व्रीड़ा, कीर्ति, धर्म, पृथ्वी, वन, घर ये सभी गुरु के प्रभाव से ही सुपालित है तथा उसका परिणाम भी शुभकर होनेवाला है।

राजकाज

शा० व्या० :—"राजकाज" से राजकर्म विवक्षित है।

अथवा :—'आन्वीक्षणं च विधानां सद्वर्णाश्रमरक्षणं' आदि ७२ राजकीय कर्म "राजकाज' से गिनाए गए हैं जिनके अन्तर्गत संपूर्ण प्रकृति के कर्म भी परिगृहित है।

लाज

लाज :—सत्वात्मप्रयुक्त अमलधर्म संबलित अहंकृति के विपरीत कार्य करने में सत् कुलीनों को लज्जा होती है जैसा कि—

'सत्वात्मनाममलधर्मविशेष जन्मा जन्मान्तरानुभववासनयावतीर्णः।

सर्वात्मसम्पदुदयातिषयैकहेतुः जागर्ति कोपि हृदि मानमयोविकारः'[1] से स्पष्ट है।

अथवा :—"लाज" दोहा ३०५।२ में व्याख्यात है।

पति

'पति' से कीर्ति रूप पति विवक्षित है क्योंकि वह सुरक्षित होती है तो पातकों का पतित्व निर्बाध होता है।

१. नीतिसार (प्रवतिक पकरण)

धरम

संरक्षणीय तथा अनुपेक्षणीय वर्णाश्रम धर्म 'धरम' से समझना है जो जीविका व कर्तव्य का नियामक है।

धरनि धनधाम

धर्म के द्वारा सुरक्षित मनुष्यवती भूमि "धरनि" से संकेतित है।

राजशास्त्रोक्तस्वसम्पदुपेत कोष 'धन' से विवक्षित है।

'धाम' से दुर्ग विवक्षित है।

गुर प्रभाउ

गुरुजी के द्वारा प्राप्त यथार्थ मंत्रशक्ति 'गुरुप्रभाउ' है।

सिद्धान्ततः भारतीय राजनीति की सांगोपांगता समझने पर भी नूतन-नूतन कर्तव्य उपस्थित होने पर अपूर्व प्रतिभान् प्राप्त करना राजा का अपना उपरिबुद्धित्व है परन्तु गुरुप्रभाव के अभाव में सुरमाया, बुद्धि में अनभीप्सित का प्रकाशन कराती है ऐसी स्थिति से बचने में गुरुप्रभाव को उपाय रूप में प्रभु ने गाया है। न्यायभाषा में इसका सारांश इस प्रकार होगा—"मातृ, पितृ, गुरु, स्वाम्याज्ञापालनाश्रितः गुरु प्रसादः गृहादिरक्षणं प्रति कारणं" है।

ज्ञातव्य है कि पूर्व में भरतजी ने "कुलगुरु सम हित माय न बापू" कहा था अभी श्रीराम "गुरु प्रभाउ" कह रहे हैं। तात्पर्य यह कि गुरुजी ने आन्वीक्षिकी कुशल बनाकर विद्यार्थ समझने की योग्यता चारों भाइयों को दी व उसके माध्यम से त्र्य्युपष्टब्ध नीतिनिपुण बनाया। उसका यह फल है कि राज्य, पृथ्वी, धर्म सब सुरक्षित हुआ। यही कृतज्ञता श्रीराम "गुर प्रभाउ" में व्यक्त कर रहे हैं।

"गुरु" शब्द राजा का उपलक्षक है। "प्रभाउ" का अर्थ मंत्रणा है।

पालिहि सबहि

राजकाज प्रभृति दुर्गान्त तत्वों में उभरे रन्ध्रों व अन्य कण्टकों को नीति के माध्यम से हटाना "पालिहि" से विवक्षित है।

"सबहि" से राजकाजादि धामान्त बोध्य है।

परिनाम

जैसे भुक्त अन्न जल पीत रस रूप में परिणत होना शरीर के लिए सुखकर होता है वैसे ही राजकाज तभी सुपच होगा जब प्रजा स्व मार्ग में प्रवृत्त होती निष्कंटक हुई त्रिवर्गसमृद्धियुक्ता होती है।

संगति :—सामान्य नियम बताकर गुरु के द्वारा प्राप्तव्य या प्राप्त मंत्रशक्ति से प्राप्त विशेषतया अनुभूत तेजस्विता का मूलाधार समझा रहे हैं जो रघुपति रखवारा का प्रयोजक है।

चौपाई :—**सहित समाज तुम्हार हमारा। घर, बन गुर प्रसाद रखवारा ॥१॥**

भावार्थ :—समाज सहित तुम्हारा मेरा घर, वन आदि के रखवारा गुरु प्रसाद ही है।

सहित समाज

शा० व्या० :—समाज साहित्य का अन्वय 'तुम्हार हमार' से है अर्थात् नीति में राजा को रक्षक माना गया है अतः उसकी प्रधानता में प्रजा की अंगता होने के कारण प्रभु ने "सहित समाज" कहा है। एवं च केवल अपने ही रक्षण से स्वामी यशस्वी नहीं होते अपितु वे प्रथमतः समाज का रक्षण करते हैं तो सुरक्षित होते हैं समझाने हेतु "सहित समाज" कहा है।

गुर प्रसाद

गुरु द्वारा प्राप्तव्य या प्राप्त मंत्रशक्ति की तेजस्विता (कार्यकारिता) तब तक रहती है जब तक स्वामी, गुरु प्रसाद संवलित बने रहते हैं इसलिए प्रभु ने गुर प्रभाउ कहने के बाद भी "गुर प्रसाद कहा है।

रखवारा

"रखवारा" कहने से प्रभु ने सेवकों में अपने लिए गुरु प्रसाद की व्याप्यवृत्तिता होने की आवश्यकता समझाई है अर्थात् अपने जीवन में एक क्षण भी ऐसा न हो जो गुरु प्रसाद से वंचित हो अन्यथा लक्ष्मणजी ने सुनाए चन्द्र-नहुष् आदि के चरित्र में आई निरंकुशताप्रयुक्त मद की स्थिति का अपने में होना असंभव नहीं है। इसलिए प्रभु यहाँ "रखवारा" कह रहे हैं। आशय यह कि जैसे द्वारपाल स्वामी का रक्षण निमेष होकर करता रहता है उसी प्रकार गुरु प्रसाद की स्थिति, स्वामी ने अपने में प्राप्तव्य है।

गुरु प्रसाद की पुनरुक्ति का परिहार

प्रस्तुत वक्तव्य में प्रभु ने गुरुकुल का उल्लेख दो बार किया है जिसका विवेक मननीय है प्रथमतः गुरु कृपा को मीमांसाभिमत अपूर्व विधि या नित्यकर्म के रूप में गया है। इसके अन्तर्गत नित्यकर्म का आशय गुरु कृपा के अभाव में आरक्षण रूप प्रत्यवाय का होना निर्णीत होना है। गुरुकृपा की अपूर्वविधिता यह कि वह सर्वसाधारण के लिए अज्ञात होती है। दूसरी बार कहे गुरु प्रभाउ का तात्पर्य मीमांसाभिमत नियम विधि से है आशय यह कि जिस प्रकार गुर्वध्ययन पूर्वक वेदाध्ययन होने पर ही उसकी सफलता या वेदों में मंत्रत्व जानने की प्रथा मीमांसा में नियम विधि के रूप में सिद्ध है उसी प्रकार नियम विधित्व गुरु प्रभाउ में समझाने हेतु द्विरावृत्ति है।

यद्यपि बालकाण्ड में दोहा ८५ के अन्तर्गत "रघुपति रखवारा" की प्रधानता गाई है तथापि रघुपति की रक्षकता सेवकों को तब प्राप्त होती है जब वे अपने में गुरु प्रसाद की व्याप्यवृत्तिता अपने में प्राप्त करते हैं अतः प्रभु ने सैद्धान्तिक दृष्टि से लोगों के लिए दृष्टविधेया 'गुरु प्रसाद रखवारा' कहा है जैसाकि "शिवेरूष्टे गुरुस्त्राता गुरौरूष्टे न कश्चन" से स्फुट है।

संगति :—गृहादि के रक्षण का कारणीभूत गुरुप्रसादरूप अर्थ को आकांक्षित आश्रय को बता रहे हैं।

अथवा प्रमेयतत्व के साधक या प्रापक प्रमाण निरूपण का उपसंहार कर रहे हैं।

चौपाई :—**मातु-पिता गुर स्वामि निदेसू। सकल धरम धरनीधर सेसू ॥२॥**

भावार्थ :—जिस प्रकार संपूर्ण पृथ्वी को शिवजी धारण करते हैं उसी प्रकार माता-पिता गुर व स्वामी की आज्ञा का पालन सभी धर्मों को धारण करने वाला है।

निदेसू

शा० व्या :—"निदेसू" से आदेष्टृत्व तथा दोहा ३०६।४ में वक्ष्यमाण फल प्रदान करने की शक्ति को पहचानकर माता-पिता, गुरु, स्वामी के निर्देश की आचारणीयता ज्ञातव्य है।

धर्म रूप अनष्ठेय कर्म में सफलता, बलवदनिष्टाननुबन्धिता, कृतिसाध्यता त्रितय का अनुमापक विध्यात्मक वचन "निदेसू" से ज्ञातव्य है इसकी विशेष आपत्ति दोहा १।७७।५ में ज्ञातव्य है तथा गुरु आदि से निर्दिष्ट विधि की आचरणीयता वक्ष्यमाण चौपाई ४ में स्फुट होगी जिससे निदुष्टभाव में गिनाए गए माता-पिता की सत्यसंधता यहाँ अभिप्रेत मालूम होती है इसके उदाहरण रूप में श्रीराम व भरतजी के आदेष्टा दशरथजी व कैकेयी के चरित्र हैं।

धरम धरनी

धर्म जितेन्द्रियता विनय का प्रतीक है वह शास्त्र के द्वारा समझा जाता है उसके वर्णाश्रम समाज में सत्यसन्ध माता-पिता, गुरुजी अभिषिक्त राजा माने गए हैं। उनके आदेश का अतिक्रमण करना धर्म का हनन है। फलतः अबुद्ध व वैरी सेवकों को गुरुप्रसाद से वंचित होना पड़ेगा तथा सुरमाया का शिकार भी होना पड़ेगा। इस धर्म को धरणी इसलिए कहा कि दोनों का एक ही गुण है। जैसा कि 'तैत्तरीय नारायणोपनिषद् में प्रश्न ६ अनुवाक् ६४ में स्पष्ट है।

सेसू

जिस प्रकार पृथ्वी को धारण करने वाले शेष निष्प्रकंप रहते हैं परन्तु जब पृथ्वी पर मिथ्याचरण का बोझ बढ़ता है तो शेषकंपित होता है। उसी प्रकार वर्णाश्रम समाज में गुरु, माता-पिता, स्वामी के आदेश विचलित होने लगते है तो इस वर्णाश्रम

का धर्म रसातल की ओर जाना अपरिहार्य है यह गूढ़ तत्व समझाने हेतु "सेसू" कहा है। इस प्रकार प्रभु ने प्रमाण निरूपण पूर्ण किया।

संगति :—सुहृत्सम्मित उपदेश के रूप में गुरु, माता-पिता, स्वामी के आदेश के पालन की उपयोगिता बताकर दोनों भाइयों के लिए न्याय्य पथ पर चलने का आग्रह कर रहे हैं।

चौपाई :—**सो तुम्ह करहु करावहु मोहू। तात! तरनिकुल पालक होहू॥३॥**

भावार्थ :—वह तुम करो और मुझमें भी करवाओ। हे तात! सूर्यकुल के पालक बनो।

सो

शा० व्या० :—"सो" शब्द से सफल हेतु मन्निगछाधिकरण स्मर्तव्य हैं जो मीमांसा में उक्त है।

करहु

गुरुप्रसाद, भविष्यत् में स्थायी तौर पर प्रातव्य है तो पितृ आदि चरणों का आदेश स्वीकार करने की प्रेरणा "करहु" से दे रहे हैं जो भक्तिशास्त्रशासन से बोध्य है।

करावहु

यदि भरतजी टीका स्वीकार करते हैं तो श्रीरामजी का वनवास सफल होगा। अतः "करावहु" कहा है।

तरनिकुल पालक

माता-पिता के आदेश का पालन हम दोनों भाई नहीं करते तो गुरुप्रसाद होना संभव नहीं अतः आज्ञापालन आवश्यक है ऐसा होगा तो सूर्यवंश के पालन होने से "तरनिकुल पालक" कहा है।

संगति :—धरणीरूप धर्म में नीतिरुपता समझाने हेतु वर्णाश्रम समाज में स्थित पूर्व परम्परा प्राप्त उपदेश के पालन की विशेषता इसलिए नहीं कि वह माता-पिता, गुरु, स्वामी आदि के रूप में सम्मानित हैं अपितु कीर्ति, सुगति, भूतिरूप फलत्रयोत्पत्ति की उपधायक वचन के उपदेष्टा होने से स्वीकृत है। जैसा कि "एष आदेशः एष उपदेशः" से श्रुति ने समझाया है। इसी रहस्य को समझा रहे हैं।

चौपाई :—**साधक एक सकल सिधि देनी। कीरति सुगति भूतिमय बेनी॥४॥**

भावार्थ :—सकल सिद्धि को देने वाला एकमात्र साधक निर्देश हैं उसमें कीर्ति सुगति भूति उपाहित है।

साधक

शा० व्या० :—"साधक" शब्द फलायोगव्यवच्छिन्नअसाधारण कारणार्थक है जो माता-पिता, गुरु, स्वामी के निर्देश के रूप में उपयुक्त है।

सकल

यद्यपि "सकल" कहकर संपूर्ण उद्देश्यभूत सिद्धियों के प्रति साधनरूप में अनुष्ठानतः निर्दिष्ट को साधन कहा गया है तथापि एक ही समय में भिन्न-भिन्न सिद्धियाँ मनोवांछित होंगी तो उनकी प्राप्ति के लिए अर्थतः एक ही गुर्वाज्ञापालन को पर्याप्त साधनरूप में नहीं समझना होगा क्योंकि एक अनुष्ठान के लिए उद्देश्य एक ही माना जाता है अनेक नहीं, जैसे "सर्वेभ्यो दर्शपूर्णमासौ" ऐसा श्रुतिवचन होने पर भी एकबार किए दर्शपूर्णमास के अनुष्ठान से एक ही फल प्राप्ति होना मीमांसा को इष्ट है। निष्कर्ष यह कि तत्तत् सिद्धि को प्राप्त करने के लिए साधनरूप में पुनः पुनः अर्थतः गुर्वाज्ञापालन अनुष्ठेय होते रहना चाहिये।

कीरति

'अयं न्यायवर्ती न्यायेन पालकः इति देशदेशान्तरवर्तिलोकप्रसिद्धिः' "कीरति" से विवक्षित है।

सुगति भूति

सुगति सत्य निश्छल भगवत्कैंकर्य "सुगति" है।

भूतिः—भूतभौतिकवशितात्मक ऐश्वर्य "भूति" है।

धर्म की नीतिरूप में कीर्त्यादि फलदातृता

निष्कर्ष यह कि पूर्व चौपाई में उल्लिखित धर्म जब राजनीति के रूप में परिणत किया जाय तब वह धर्म, कीर्ति, सुगति, भूति त्रिवेणी के रूप में समुदाय बनकर फलदाता बनता है। अन्यथा 'अदृष्टरूप में परिणत होकर परलोकमात्र से संबद्ध हो सकता है वैसा होना श्रीरामचरितमानस् की दृष्टि से अभिप्रेत न होने के कारण धर्म को राजनीतिरूप में कीर्त्यादि के माध्यम से फलदातृता स्पष्ट है।

संगतिः—स्वनिष्ठफलजनकतया धर्म में फलदातृता बताकर परफलजनकतया उसी रीति में धर्म की फलदातृता समझा रहे हैं। जिसमें "प्रजासुखे सुखं राज्ञः प्रजानां च प्रियं हितं नात्मप्रियं हितं राज्ञः प्रजानां च प्रियम् हितम्" को समन्वित करना है।

चौ०—सो बिचारि सहि संकटु भारी। करहु प्रजा परिवारु सुखारी ।।५।।

भावार्थः—उपर्युक्त तथ्यों का विचार कर उसके बल पर प्राप्त संकट को सहना ही होगा इसलिए कि प्रजा व परिवार के हित व सुख को मुख्यतया राजा ने साधना है।

सो बिचारि

शा० व्या०—आपतित संकट तथ्यों को आन्वीक्षिकीदृष्टि से विचारित करना "बिचारि" है। आशय यह कि भरतजी प्रजापालन करने में समर्थ होने से श्रीरामजी उनके प्रतिभूत्व पर वन में आ गए हैं। अब भरतजी उससे मुड़ते हैं तो अनर्थ होगा अतः प्रजापालनहेतु जो भी कर्तव्य होगा वह करना ही होगा।

संकटु

चौदह वर्ष तक चक्षुष् व त्वगिन्द्रिय के लिए पाणिग्रहणयोग्य-श्रीरामजी ने विषय न होना 'संकटु' है। यद्यपि यह संकट इष्टापत्ति का विषय नहीं है तथापि उक्त संकट को सहने की ओर प्रभु संकेत कर रहे हैं यतः अवध की प्रजा अराजक होगी व आक्रोश में आएगी तो श्रीरामजी का वनवास व भरतजी का सेवकत्व संकट में पड़कर किसी अर्थ का साधक नहीं होगा इसलिए कि गुरुजी, जनकजी, माताजी अप्रसन्न होंगे।

सुखारी (स्वामित्वेन अपनी ओर से राजनीति आदि की सन्तुष्टि)

राजकुल में प्रधान उद्दिष्ट प्रजा को सुखी बनाना है। उसके लिए जो भी विपत्ति उठानी पड़े वह सह्य होनी चाहिये अतः अवधबास प्रस्तुत संकट को सहन करने से हो होगा। इस प्रकार स्वामी श्रीरामजी ने कर्तव्य पर ध्यान रखते हुए की अपनी ओर से भक्ति की छत्रछाया में राजनीति आदि को सन्तुष्ट किया है।

संगतिः—गुरु पिता-माता उपनिषद् व राजनीति को सन्तुष्ट करना है। वह तभी होगा जब दोनों भाई श्रुति की सार्वभौमता की छत्र-छाया में स्थापित करेंगे। उस उद्देश्य की असिद्धिरूप विपत्ति के प्रतीकारार्थ जो भी वलिदान अपेक्षित है उसके प्रति तैयार रहने हेतु भरतजी को उत्साहित कर रहे हैं।

चौ० :—बांटी बिपति सबहिं मोहि भाई। तुम्हहि अवधि भरि बड़ि कठिनाई ॥६॥

भावार्थ :—हम सभी भाइयों ने मिलकर विपत्ति का बंटवारा करना होगा तुम पर मुझसे भी अधिक विपत्ति का भार आया है।

बांटी

शा० व्या०—'विपत्ति' शीर्षकोक्त कार्यव्यवसन विपत्ति के अंशभूत टीकास्वीकार भरतजी ने राम वनवास के समय भोगना होगा क्योंकि श्रीरामवनवासरूपकार्यव्यसन का वह एक भाग है उसी को "बाटी" से व्यक्त किया है।

बिपति

कैकेयीजी के वरयाचना के प्रकाशन से दशरथजी की पूर्व प्रतिज्ञा का निर्वहण करने हेतु वनगमन एवं टीकास्वीकार यथावत् नहीं किया जाता तो शास्त्राज्ञापालन न होना "बिपति" है।

अथवा :—कैकेयीमनोरथपूर्तिप्रागभावध्वंस होने के पूर्व राज्योत्सव नहीं हो सकता न तो श्रीराम का स्वत्व अवध में होना है। तदर्थ टीकास्वीकार व वनवास नीतिमत में कार्यव्यसनरूप विपत्ति है वही "बिपति" से बोध्य है।

सबहिं

राजा दशरथजी ने अपने ऊपर आयी हुई मिथ्याभाषण व कार्यव्यसनरूप विपत्ति को चारों भाइयों ने दायाधिकारानुसार बाँटना "सबहिं" से समझाया हैं।

अथवा :–'सबहिं' से चारों भाई विवक्षित हैं फलतः सबने एक साथ जैसी प्रीति बनाए रखी है वैसे ही उन्होंने विरह-वेदना भी सहनी होगी यह 'सबहिं' का भाव है।

तुम्हहिं

स्वामित्व स्वीकार कराकर श्रीराम से वापस होने की कामनापूर्त्यर्थं श्रीरामाज्ञा आज्ञा के पालनकर्ता भरतजी "तुम्हहिं" से बोध्य हैं।

अवधि

१४ वर्ष पर्यन्त की अवधि "अवधि" से बोध्य है।

बड़ि कठिनाई

श्रीरामजी भरतजी से विपत्ति बोझ को कठिनाई कह रहे हैं। भाव यह कि श्रीरामजी ने अपने अन्तःकरणमात्र को संयत करना है भरतजी ने तो संपूर्ण समाज को संयत करा कर उसको अपनी ओर आकृष्ट करते हुए स्व के अन्तःकरण को संयत करना है।

संगतिः—श्रीरामजी भरत में सीताजी व लक्ष्मणजी का पूर्ण साधर्म्यं अनुभूत करते हुए उनको विरह में रहो कहना भी अत्यन्त क्लेश मानते हैं जैसा कि "प्रभु बरजे बड़ अनुचित जानी" कहकर प्रभु ने लक्ष्मणजी को आगे बोलने से रोका था ऐसा जानते हुए भी कर्तव्य समझकर प्रभु वाणी से भरतजी के सामने अपनी लाचारी प्रगट कर रहे हैं।

चो० :—**जानि तुम्हहि मृदु कहउँ कठोरा। कुसमयँ तात! न अनुचित मोरा ॥७॥**

भावार्थ :—तुम अत्यन्त कोमल हो और मेरी वियोगात्मक वाणी अत्यन्त कठोर है। फिर भी हे तात! कुसमय की बलिहारी में मेरे कठोर वचन अनुचित नहीं हैं।

मृदु

शा० व्या० :—वनवासारंभ में भए श्रीराम-सीतासंवाद के अनुसार प्रियसंभोग में रहे भरतजी में सीतासंभोग का साधर्म्य "मृदु" से ध्वनित है।

अथवा :—बालभाव से अभीतक रामक्रीडा में. रहना राज्यभारचिन्ता से मुक्त रहना "मृदु" से बोध्य है। वह जानि का कर्म है।

कठोरा

प्रियसंभोग में रही पतिव्रता के सजातीय भरतजी के सामने वियोग बोधक शब्दों से होने वाली पीड़ा "कठोरा" से ध्वनित है।

अथवा :–कार्यव्यसनदूरीकरणार्थं दायरूप से विपत्ति में रहो कहना "कठोरा" है जो पूर्व चौपाई में सूचित है।

कुसमयँ

राजशासनाधिकार की पूर्ण व्यवस्था करने के पूर्व ही श्री पिताजी का और्ध्व-दैहिक संस्कार होना सभी के लिए "कुसमय" है।

अथवा :—राज्योत्सव देखना है तो तदंगतया कैकेयीमनोरथपूर्तिप्रागभावध्वंस करना होगा उसकी अवधि का समय "कुसमयँ" है क्योंकि वह कार्यव्यसन का अधिकरण है।

अथवा :—दोहा २६८ में उक्त विकल्पों में से किसी विकल्प को स्वीकार करने में समय की स्थिति ज्यों की त्यों बने रहना "कुसमयँ" का ध्वनितार्थ है।

न अनुचित

"सो तुम्ह करहु करावहु मोहु" से उक्त वियोगबोधक वाणी की कठोरता को समझकर भी उसको स्वामी की सेवा करने वाले निश्छल भक्त के सामने स्फुट करना स्वरूपतः अनुचित है उसका प्रतिषेध 'न' से किया है। उसकी उपपत्ति विपत्तिरूप कार्यव्यसन (२।३०६।६) के चिन्तन में उक्त है।

संगति :—सुबन्धु भक्तों के भक्तिमत्ताकी परीक्षा का समय बता रहे हैं।

चौ० :—होहिं कुठायँ सुबंधु सहाए। ओडिअहिं हाथ असनिहु के घाए ॥८॥

भावार्थ :—सुबन्धु ही कुसमय में सहायक होते हैं जो वज्र के आघात से मुख को बचाने के लिए हाथ के समान आगे रहते हैं।

कुठायँ

शा० व्या०—"कुठायँ" का निष्कर्ष कुसमय में है।

सुबन्धु

अनुजीविवृत्त में समासीन निश्छल स्वामिभक्त आभ्यन्तरसंबंध से बद्ध भरतजी 'सुबन्धु' हैं उनमें आभ्यन्तरचरुसंबंध होना प्रसिद्ध है व शील शुचिता भी निर्विवाद है।

सहाए

विपत्ति में सहायक सहज मित्र सुबन्धु होते हैं अर्थात् शुचि निश्छल बन्धु जिसको प्राप्त हैं उसके लिए असमाधेय विपत्ति में सुबन्धु सहायक होते ही हैं।

ओड़िअहिं

शस्त्र के द्वारा प्रहार होने पर उस प्रहार से प्रहर्तव्य को बचाते हुए हाथों ने अपने ऊपर प्रहार झेलना "ओड़िअहिं" से बोध्य है।

हाथ

'ओड़िअहिं' का उदाहरण 'हाथ' से दर्शाया है। हाथ के रूपक से भरतजी में सुबन्धुत्व ध्वनित है। जैसे श्रीराम पर आई कार्यव्यनरूप विपत्ति बोझ के एक भाग (अवधवास) को उठाने में भरतजी हाथ हैं जो मुखस्थानापन्न श्रीरामस्वामी के लिए हैं।

असनिहु

"असनिहु" से दोहा २।३०६।६ मे कार्यव्यसनत्व से 'बिपति' शीर्षककोक्त निरुपित विपत्ति सूचित है।

घाए

कैकेयीजी की वरयाचना से राज्योत्सव के लिए प्रतिबन्धकरूप में ककेयी-मनोरथपूर्तिप्रागभाव का प्रकाश में आना "घाए" है। इस पर भरतजी से कण्ठत उत्तरारंभ २।३०७।६ से होगा।

संगति :—श्रीराम व भरतजी की निश्छल प्रीति को देखकर स्व के कुण्डलिनी-नादश्रुति में तन्मय तुलसीदासजी के मुख से प्रीत्यनुभावरूप में वचन निकल रहे हैं।

दोहा :—**सेवक कर-पद-नयन से मुख सो साहिबु होइ।**
तुलसी प्रीति कि रीति सुनि सुकबि सराहहिं सोइ॥ ३०६॥

भावार्थ :—सेवक, हाथ, पैर, और नेत्रों के समान तथा स्वामी, मुख के समान होने चाहिये। तुलसीदासजी कहते हैं कि सेवक और स्वामी की ऐसी प्रीति सुनकर सुकवि उसकी सराहना करते हैं।

कर-पद-नयन

शा० व्या० :—"कर-पद-नयन" कहकर वसिष्ठजी, जनकजी, भरतजी संकेतित हैं। इनमें से जनकजी कर हैं भरतजी पद हैं और वसिष्ठजी नयन हैं क्योंकि भरतजी पादुका के इच्छुक हैं वसिष्ठजी ने अपना विवेक 'अरध तजहि' व 'करब साधुमत' आदि से दिखाया है अतः वे नेत्र हैं। जनकजी ने हाथ उठाकर स्वयंवर में धनुर्भंगकर्ता ने त्रैलोक्यविजयी होना घोषित किया है।

मुख

स्वामी मुखस्थानापन्न हैं यतः सेव्य के तत्तद्गुणों की परीक्षा कर उनके सम्मान में तत्तत्स्थानों पर भक्तों को नियुक्त करने हेतु आदेष्टा होने से स्वामी मुखस्थानापन्न होते है। "साहिब" से स्वामी (श्रीराम) विवक्षित हैं।

सोइ

"सोइ" से एवकार प्रदर्शित है। अर्थात् स्वामी एवं सेवक के प्रीतिन य विनय सत्य सरलभाव आदि आश्रितात्मोपकारिगुणों से विशिष्ट के अतिरिक्त की स्तुति न करना "सोइ" से ध्वनित है।

प्रीति कि रीति

राजनीति में स्वामी ने प्रजानुराग प्राप्त करना ही "प्रीति" से ध्वनित है। उसके अंगोंपांगो को एकत्रित करने का प्रकार "रीति" से ध्वनित है।

सराहहिं

जब सुकविगण स्वाम्मि-सेवकप्रीति व उसकी रीति को शब्दप्रमाण प्रभृतिप्रमाणत्रय पर अवलंबित होते हुए देखते हैं तब वे देशदेशान्तर में स्वामि-सेवक की प्रीति को गाकर कीर्ति को फैलाते हैं यही "सराहहिं" से बोध्य है।

संगति :—श्रीराम और भरतजी ने अवतार लेकर शुद्ध भक्ति की छत्रछाया में त्रयी व नीतिशास्त्रसम्मत प्रीति की स्थापना की है यह देखकर साधुमत, लोकमत, नृपनय के द्वारा प्राप्त पुष्टि को शिवजी, सभापरभट ससंक्रमण के अनुभाववर्णन से गा रहे हैं।

चौ०—सभा सकल सुनि रघुबर बानी। प्रेमपयोधिअमिअँ जनु सानी ॥१॥

भावार्थ—सभा ने प्रभु के प्रेम रूपी समुद्र से प्रगट अमृत से सने वचनों को सुना।

सभा

शा० व्या० :—अवधसभा मिथिला सभा मुनिसभा व श्रेणी पूग आदि "सभा" सेबोध्य हैं। सकल रघुवरवानी से अधिन है।

सुनि

संपूर्ण समस्याओं के समाधान में उपनिबद् कर्मविद्या व नीतिविद्या आन्वीक्षिकी समन्वित भक्ति से तर्कयुक्त संभाषण श्रीराम के प्रसन्नतापूर्वक विनय के सभा का प्रसन्न व अशोक होना "सुनि" से ध्वनित है।

रघुबरबानी

नीति व धर्म से युक्त व सर्वसम्मत वाणी "रघुबरवानी" है।

प्रेम

संपूर्ण अक्षरों में श्रीराम के हृदय में पितृगुरुकुल-श्वसुर-परिजन-परिवार के प्रति प्रेम की लहरों का उठना "प्रेम" है।

पयोधि

उक्त प्रेमविशेष की असीमितता "पयोधि" है।

अथवा :—भरतीय स्नेह में श्रीराम के उपर्युक्त प्रेम का मिश्रण होने से उस प्रेम को समुद्र कहा गया है।

अमिअ

"अमिअ" का आशय भरतादि के प्रति रहे निश्छल गूढ़स्नेहसमुद्र में संवाद-रूप मन्थन के माध्यम से गोते लगाने वाले श्रीरामजी की वाणी का प्रागट्य है जो अमृत है इसलिए उस वचनामृत का पान कर सभा के सामने कोई समस्या न रहना स्पष्ट है।

संगति :—दोहा ३०३।३ के अन्तर्गत 'चित्रलिखे' से जिस स्थिति में सभा पहुँची थीं अभी प्रभु के वचनामृत की वर्षा के स्वाद में शिथिल होने के परिणाम में समाज की मनोवृत्ति में श्रीरामपग के प्रति प्रीतिसजातीय धाराप्रवाह का बने रहना सुना रहे हैं।

चौ०—**सिथिल समाज सनेह समाधी। देखि दसा चुप सारद साधी ।।२।।**

भावार्थ—संपूर्ण समाज स्नेह से शिथिल हो गया। सब एकाग्रचित हो गए। उनकी यह दशा देखकर सरस्वतीजी चुप हो गई।

सिथिल

शा० व्या० :—एकचित्तता में प्रेमरस का प्रवेश होते ही सभी के शरीरावयव-बन्धन शिथिल होना मनस् भी द्रुत होना। "सिथिल" से व्याख्यात है।

समाधी देखि दसा

अनुभावरूप में मनस् की सजातीय धारा प्रवाहात्मक एकाग्रता "समाधि" से ज्ञातव्य है। फलतः संपूर्ण सभा की इन्द्रियाँ कुछ क्षणों के लिए तूष्णींभाव को प्राप्त हुई है जो "देखिदसा" से स्फुट है।

चुप सारद साधी

"सारद साधी" का निष्कर्ष यह कि राज्यारोहण के अवसर पर सरस्वतीजी ने विघ्न उपस्थापित किया था अभी भरतजी के माध्यम से उन्होंने अपने दोष के परिहारार्थ दोहा २।२९७ से प्रारंभकर दोहा ३००।८ तक कही क्षमा प्रार्थना पर श्रीराम का उत्तर सुनकर सरस्वतीजी तूष्णींभाव में आ गयीं अर्थात् विवेकवराहा से उद्यत सकल गुण की आधारभूत मति के संस्थापक धृतिमान् होने से भरतजी का जागरूक होना 'चुप सारद साधी' स्फुट है।

संगति :—श्रीरामजी के वचन सुनकर भरतजी की ओर से हुई प्रतिक्रिया सुनाने के पूर्व कवि उनका सन्तोष प्रगट कर रहे हैं। इसलिए कि भरतचिन्ता समाहित हो गई हैं।

चौ०—**भरतहि भयउ परम संतोषू। सनमुख स्वामि बिमुख दुख दोषू ।।३।।**
मुख प्रसन्न मन मिटा बिषादू। भा जनु गूंगेहि गिराप्रसादू ।।४।।

भावार्थ:—कवि कह रहे हैं कि भरतजी परम सन्तोष में आए स्वामित्व रूप में प्रभु केसम्मुख होते ही उनके दुःख दोष चले गए मुख पर प्रसन्नता, अन्तःकरण में विषाद न होना स्फुट हो रहा है मानो गूँगे को वाणी का प्रसाद प्राप्त हुआ है।

भरतहि

शा० व्या०—भरतजी के अभिमत, स्वामित्व की ओर सम्मुख हुए श्रीराम की प्रीतिपात्रता से विशिष्टः प्रपन्न भरतजी "भरतहि" से बोध्य हैं।

परम संतोषू

श्रीरामजी के स्वामित्वत्याग से सेवकत्व से वंचित होने की असह्य वेदना ने दूर होना ही "परम संतोषू" से व्यक्त है।

सनमुख

यद्यपि चित्रकूट में आकर कतिपय दिनों में भरतजी ने श्रीरामजी के सम्मुख रहना सिद्ध है तथापि यहाँ सनमुख कहने को आशय भरतजी के अभिमत स्वामी के रूप में श्रीराम का होना है।

दुख दोषू

स्वामित्वविशिष्ट श्रीराम की सेवा प्राप्त न होना "दुख" है व 'दोषू' से भरतजी के ऊपर आया जन्मप्रयुक्त राज्योत्सवभंगरूप कलंक स्पष्ट है। उनदोषों ने भरतजी से विमुख होना "विमुख" है।

प्रसन्न

"प्रसन्न" का तात्पर्य हर्ष से है, वह ईप्सित अर्थ की प्राप्ति, इष्टसंगम व स्वामी का अचिन्त्येष्टार्थरूप प्रसाद होने से भरतजी प्राप्त में उच्छलित हो रहा है।

मिटा विषादू

मानसिक ओजस् का अभाव "विषादू" से स्पष्ट है। उसका मिटना "विमुखदुख दोषू' से स्फुट हो चुका है।

गूँगेहि

गूँगे के ऊपर वाणी का प्रसाद होने के उदाहरण ध्रुवजी एवं मूक आदि कवि हैं।

ज्ञातव्य है कि आन्तरिक भावों का परिवर्तन, वर्धन या आगमन होते ही स्वरों में स्वभावतः अन्तर होते रहते हैं अतएव सम्मुख व्यक्ति के आन्तरिक भाव स्वरवैचित्र्य के माध्यम से परीक्षणीय होते हैं जैसाकि तत्तद्भावभेद से उदित स्वरवैचित्र्य का सूक्ष्म विवेचन संगीतरत्नाकर में विवेचित है—

सरी वीरेऽद्भुते रौद्रे धो बीभत्से भयानके कार्यौ गनी तु करुणे हास्यश्रृंगारयोर्मपौ[1]।

---

1. संगीत रत्नाकर

अर्थात् वीर, अद्‌भुत, रौद्र के परिणाम में षड्ज एवं ऋषभस्बर में मिश्रित आवाज का होना समझाया हैं। अभी तक भरतजी का स्वर गांधार व निषाद में था अभी षड्ज व ऋषभ में हो रहा है देखकर "गूँगेहि गिरा प्रसादू" कह रहे हैं।

स्वामिप्रसादप्राप्त्युपायचिन्तन

ज्ञातव्य है कि जिन प्रपन्न निश्छल सेवकों में रागाद्यन्धत्वाभाव व स्वामी का कार्य बनने व बिगड़ने का प्रबोध रहता है वे सेवक स्वामी ने अपनाये सत्यव्रत व धर्मरतत्व को अपनाते हैं तभी सेवक पर प्रभु का पूर्ण अनुग्रह होना व्याप्त्या निर्णीत हैं।

संगति :—आन्तर में रहा अभिमानिकपुरस्सर मानोरथिक सुख वैषयिक हो ही गया समझकर तुष्टि में भरतजी पूर्व संगति के निर्देशानुसार प्रणामपूर्वक बोल रहे हैं जिसमें कृतज्ञता प्रकाशित हो रही हैं।

चौपाई :—**कीन्ह सप्रेम प्रनामु बहोरी। बोले पानिपकरुह जोरी ॥५॥**

भावार्थ : भरतजी ने प्रेमपूर्वक प्रणाम किया फिर वे करकमल जोड़कर बोले।

सप्रेम

शा० व्या० :—पूर्व में कवि ने सप्रेम कहकर अभी फिर सप्रेम कहने का कारण उनका अतिप्रेम है फलतः वनवास (नंदिग्राम) के प्रति उत्साह की पूर्ण अभिव्यक्ति "सप्रेम" से व्यक्त है।

प्रनामु

ऐसा योग सेवक को क्वचित् ही प्राप्त होता है कि सेवक मनोरथ करें उसको यथावत् स्वामी पूर्ण करें अतः मुनि वसिष्ठजी से भरतजी ने "कीजिअ वचनु प्रवान"[१] कहा था उसकी सिद्धि हो गई उसी के उपलक्ष्य में भरतजी प्रणाम कर रहे हैं।

बोले पानि

अग्रिम चौपाईयों में वक्ष्यमाण वचन "बोले" से समझना है। कौसल्याजी ने पूर्व में "भरतु वनु जाही"[२] कहा था उसकी एकवाक्यता में कवि "बोले पानि" कह रहे हैं।

पंकरुह

कमलपत्रद्रोण में पानी रखने के समान राज्यभार रूप जल हाथों में भरतजी ने लिया है पर उसका स्पर्श हाथों में लगने वाला नहीं है। जैसे कमल में जलरसस्पर्श न होना प्रसिद्ध है। अतः "पंकरुह" कहा है।

जोरी :—आदेश में अति आदरपूर्वक शिरोधार्यता 'जोरी' से व्यक्त है।

---

१. २।२५६।– २. २।२८९।४

संगति :—भरतजी, श्रीरामजी के विना अवध में जीवित नहीं रहेंगे ऐसी कल्पना कौसल्याजी आदि को थी[1] उसका पूर्णतया समाधान बता रहे हैं।

चौपाई :—**नाथ ! भयउ सुखु साथ गए को। लहेउं लाहु जग जनमु भए को ॥६॥**

भावार्थ :—हे नाथ ! आपके साथ जाने का सुख मुझे प्राप्त हो रहा है। इस प्रकार मैंने वर्णाश्रमजगत् में जन्म लेने का फल प्राप्त किया।

सुखु साथ गए को

शा० व्या० :—ज्ञातव्य है कि प्रभु के साथ वनवास करने का सुख और नन्दि-ग्रामवास का सुख व्यक्तिभेदेन भिन्न होने पर भी वनवास के सुख का प्रत्यक्ष नन्दिग्राम-वास जनित सुखवृत्ति सुखत्वव्याप्य जातिविशेष से होगा। उसको न्याशास्त्रोक्त अलौकिक सामान्य लक्षणासंनिकर्ष प्रयुक्त प्रत्यक्ष कहा जाएगा। इस प्रकार नन्दिग्राम में रहते हुए भी श्रीरामजी के साथ वनवास होने के सुख का प्रत्यक्ष होना "सुखु साथ गए को" का भाव है।

अथवा :—रामराज्योत्सव की कैकेयीवरयाचनारूप कार्यव्यसन ने भंग कर दिया है उसका निरास दोनों भाइयों ने मिलकर करना है उसमें एक भाग श्रीराम पूरा करेंगे दूसरा भरतजी। अन्यथा राज्योत्सव नहीं होगा अतः कार्यव्यसन में साथ 'साथ गए को' से लक्षित किया है।

जनमु भएको

स्वार्थ न रखते हुए सेव्य की विपत्ति को बांटना सेवकजन्म की सार्थकता है जिसे भरतजी ने "जनमु भएको" से व्यक्त किया है इस प्रकार परस्परविरोधी पितृवचनों का समन्वय होना भी ज्ञातव्य है।

संगतिः— उपर्युक्त निर्णय के बाद मेरे लिए और कोई कर्तव्य हो तो उसकी शिक्षा दें। ऐसा भरतजी कह रहे हैं।

चौपाई :—**अब कृपालु ! जस आयसु होई। करौं सीस धरि सादर सोई ॥७॥**

भावार्थ :—हे कृपालों ! अब आप जैसी आज्ञा देंगे वह मेरे लिए शिरोधार्य होगी।

आयसु होई

शा० व्या० :—पितृवचनप्रमितातिरिक्त कोई कर्तव्य यदि अवशिष्ट हो तो उस अनुशासन की मांग "आयसु होई" से कह रहे हैं।

सादर

"सादर" से आदेशनिर्वहण में अनुपेक्षणीयता के साथ कार्य को पूर्ण करने की दक्षता व शीघ्रता स्फुट की है।

१. २।२।८४।४

अथवा :—उपर्युक्त आदेशपालनोद्देश्य की सिद्धि हेतु तत्करणतया (प्रधानतया) तदुपकारककर्तव्यतया वा यदि कोई हो तो उसकी मांग की है जिससे नीति कार्यान्वित हो सके।

संगति :—टीकातिरिक्त कोई आदेष्टव्य नहीं है ऐसा समझकर भरतजी अपनी ओर से श्री रामोपदिष्ट कार्य पूर्ण करने हेतु श्रीरामप्रतिनिधि के रूप में कोई सहायक मांग रहे है।

चौपाई :—**सो अवलंब देव ! मोहि देई। अवधि पारु पावौं जेहि सेई ॥८॥**

भावार्थ :—मुझे आप एक ऐसा अवलंब दें जिसके सहारे मैं चतुर्दशवर्षावधिक कार्य पूर्ण कर सकूं।

सो अवलंब

शा० व्या० :—प्रभु के आदेश को कार्यान्वित करने में उपस्थित अनेकविधि विघ्न-बाधाओं को रोकने हेतु पृष्ठरक्षक (रखवारा) के रूप में मागा अवलंब "सो अवलंब" से बोध्य है।

"अवलंब" का गूढ़ार्थ पादुका है वही आदेशोपालनोद्देश्यसिद्धि में सहायक होगी उसका आश्रय, पादुकाप्रत्यक्षानुकूलव्यापार रूप दृशधात्वर्थ है।

मोहि देई

श्रीरामानुपस्थितिसहचरित अवलंब के याचक भरतजी मोहिघटक अस्मच्छ्दार्थ हैं।

प्रार्थनार्थक 'देई' शब्द है।

अवधि

"अवधि" से प्रस्तुत समस्या के समाधान में केवल १४ वर्ष ही न होकर भावी पीढ़ी के लिए भी समस्या के समाधायक के रूप में ज्ञातव्य है। अर्थात् पितृवचन को प्रमाणित करने के लिए ही रखवारा की याचना नहीं है अपितु संपूर्ण पीढ़ी को दुरपनेय बुद्धिव्यामोहक आपदाओं से बचाने हेतु अवलंब का दीर्घकाल तक रहना 'अवधि' से व्याख्यात है। इस प्रकार यह एक प्रार्थना स्फुट हुई इसमें ससोचभय नहीं है।

पार

१४ वर्ष की अवधि को निर्विघ्नरूप में. विताते नीति को सफल वनाते अवधि को पार करना "पार" है।

जेहि सेई

स्वामिस्थापनापन्न प्रतिनिधरूप अवलंब 'जेहि सेई' शब्दार्थ है।

ज्ञातव्य है कि मुनिमन्त्री के रहते अवलंब की याचना इसलिए कि स्वामी के प्रतिनिधि रूपमें मांगा अवलंब असंपन्न का संपादन व संपन्न का संवर्धन करने में अधिकृतण है।

संगति :—दूसरी प्रार्थना में सर्वौषाधियुक्त अभिमंत्रित जल की प्रतिपत्ति समझने हेतु भरतजी प्रभु से प्रतिपत्ति का विधान पूछ रहे हैं। जिससे भरतजी में स्वत्वशांकित न हो।

अथवा :—दोहा २।२५८।८ की पूर्वापर व्याख्यानुसार व्याख्या करते हुए 'वनवासः शुभः' इस अनुमिति के पूर्व कारणतया रहे परामर्श के साथ भगवान् ने भक्त-रुचिपूर्ति होना निर्णीत कर रखा है तदनुसार उक्त अनुमान को निर्बाधता सिद्ध हुई। उसके अनन्तर 'रघुपतिभगतभगति' (दोहा २।२६५।३) की यथार्थता स्फुट करने हेतु अग्रिम ग्रन्थ में जलप्रतिपत्ति की प्रार्थना प्रस्तुत हो रही है।

दोहा :—देव-देव ! अभिषेकहित गुरअनुसासन पाइ।
आनेउ सब तीरथसलिलु तेहि कहँ काह रजाइ ? ॥३०७॥

भावार्थ :—देव-देव ! अभिषेक के हेतु से लाया सब तीर्थजल गुर्वाज्ञा पाकर यहाँ लाया हैं उसकी प्रतिपत्ति के लिए क्या आज्ञा है ?

देव-देव

शा० व्या० :—मर्त्यलोक में अवतरित हुए श्रीरामप्रभु के अभिषेकप्रसंग की अनुरूपता में यहाँ "देव" से त्रिदेव विवक्षित हैं उनके भी शासक (चक्रवर्ती राजा प्रभु) देव-देव से विवक्षित हैं।

अथवा :—प्रथम देव शब्द संबोधन है जो नृदेवार्थक है। दूसरा देवशब्द अभिषेक से अन्वित हैं जो राज्यभिषेकार्थक है। अथवा 'देव-देव' ऐसा अन्वय करने में चक्रवर्तित्व का संकेत ज्ञातव्य है।

गुर अनुसासन (प्रतिपत्ति का प्रथम फल)

"गुर अनुसासन" :—यहाँ मंत्रपूत जल लाने का वैयर्थ्य नहीं होना चाहिए समझाने हेतु "गुर अनुसासन" कहा है। जो प्रतिपति का एक फल होगा।

सब तीरथ

गुरुजी ने रामराज्याभिषेक न होना जानने पर भी तीर्थजल लेकर चलने को भरतजी से कहा है उसका प्रयोजन सर्वज्ञ श्रीरामजी जानते हैं अतः जल की प्रतिपत्ति का प्रश्न भरतजी प्रभु से कर रहे हैं उस का उत्तर होने पर गुरुजी को प्रसन्नता होने वाली है व महर्षि अत्रि की भी कामना पूर्ण होनी है।

रजाइ (प्रतिपत्ति का दूसरा फल)

ज्ञातव्य है कि भरतजी ने अपने लिए अवलंब मांगना ठीक है। प्रश्न है कि अबोध व अंधत्वरूप दोष जिनमें प्रसक्त नहीं है वे प्रभु के कार्य में सदैव शुचिमनस्क हो संलग्न रहते हैं उन पर वर्तमान संकट के समान संकट भविष्यत् में उपस्थित होगा तो उसके निवारणार्थ क्या किया जाय, ? इसके उत्तर में उन सेवकों के लिए भरतजी जल

की प्रतिपत्ति के द्वारा अवलंब की माँग कर रहे हैं उसका कारण इतना ही कि भरत-सदृश प्रपन्न जो भी चित्रकूट में है या रहेंगे उन सभी के लिए रघुपति की अनुपस्थिति में अभिषेकजलप्रपत्ति का आधार कूप अवलंब होगा यह प्रपत्ति का दूसरा फल है जैसा कि दोह २।३१०।६-८ में सूचित होगा।

संगति :—भरद्वाजजी के आश्रम से निकलकर चित्रकूट तक जहाँ-जहाँ श्रीरामजी गए हैं वहाँ-वहाँ भरतजी गए हैं इस व्याप्ति की साधक दिदृक्षा को व्यक्त करना है परन्तु प्रतिबन्धक होने से वह नहीं हो रहे है उसको भरतजी प्रगट कर रहे हैं।

चौपाई :—**एक मनोरथु बड़ मन माहीं। सभयँ, संकोच जात कहि नाहीं ॥१॥**

भावार्थ :—मेरे मनस् में एक बड़ा मनोरथ है किन्तु सभयता व संकोच के कारण कहा नहीं जा रहा है।

एक मनोरथ

शा० व्या०—संगति में उक्त व्याप्ति को यथार्थ बनाना "एक मनोरथ" से स्पष्ट है।

बड़ मन माहीं

मनोरथ का औत्कट्य 'बड़' से स्पष्ट है जो इच्छापिधान के सामने मनोरथ न करने की मर्यादा का अतिक्रमण कर रहा है। किसी को उस मनोरथ का परिचय न होना "मन माहीं" से कहा है।

सभय संकोच

सभय :—श्रीरामदर्शन में सभी तीर्थों की अन्तर्भूति से कही भी दूसरे जगह जाने के अनौचित्य की संभावना "सभय" है

संकोच :—उक्त अनौचित्य को निरस्त करने हेतु प्रभु से प्रार्थना करना भी अकार्य है अतः "संकोच" कहा है।

अथवा :—भरतजी ने कार्य करते हुए संदेहोपस्थिति पर राज्यसंचालनहेतुतया अबलंब के रूप में याचना की जिसका पूर्ण होना निर्णीत है। अन्यथा राज्यसंचालन में बाधा आ सकती है। इसके अनन्तर अन्य रुचिपूर्ति के लिए प्रभु बाध्य नहीं हैं। ऐसी स्थिति में भरतजी ने प्रभु को पुनः भस्वरुचिपूर्ति के लिए बाध्य करने में भय होना "सभय" है व इस भय के कारण ही लज्जा होना "संकोच" है।

कहि नाहीं

भय व संकोच के कारण वाणी का अवरुद्ध होना "कहि नाही" का भाव है।

संगति :—यद्यपि 'बाटी बिपति' आज्ञा के कार्यान्वयन में विलम्ब होना ठीक नहीं है तथापि चित्रकूटस्थ आश्रमदर्शनमनोरथ के जगते राज्यसंचालन में बाधा होगी सोचकर प्रभु ने मनोरथ प्रगट करने की आज्ञा पाना सुनाकर कवि भरतवचन के आरंभ का उपक्रम कर रहे हैं।

अथवा :—चित्रकूट में उपस्थित होने के बाद चित्रकूट पर्वत की प्रदक्षिणा करनी ही होती है परन्तु सेवक-स्वामी की अनुमति के बिना कोई धर्मकृत्य नहीं कर सकते अतः प्रभुसे आज्ञा पाकर भरतजी का बोलना सुना रहे हैं।

चौपाई :—**कहहु तात ! प्रभु आयसु पाई। बोले बानि सनेह सुहाई ॥२॥**

भावार्थ :—श्रीरामचन्द्रजी बोले हे तात ! कहो ऐसी आज्ञा पाकर भरतजी स्नेह से भरी वाणी में बोले।

कहहु तात

शा० व्या :—साहित्य सिद्धान्तानुसार सत्वात्मा भरतजी की निर्विकार मनोवृत्ति में उदित विकृत्यात्मक भाव निष्फल न होकर फलप्रद होने वाला है जो "कहतु तात" से सूचित है।

पाई

"पाई" से भय व संकोच का निरसन समझना है।

सनेह सुहाई

प्रायः स्वामि-सेवक भाव के अन्योन्य में सेवक की प्रेरणा सुनकर स्वामी उसके मनोरथ का निरोध करते रहते हैं फिर भी प्रभु के द्वारा आज्ञा की प्राप्ति से मनोरथनिरोध का अभाव देखकर भरतजी के हृदय में चित्तका द्रवीभाव अधिक हुआ है। फलतः उनके हृदय में जो थोड़ा भय था वह भी निरस्त हुआ अतः "सनेह" कहा है। 'सुहाई' से भरतीय वक्ष्यमाण मनोरथ वचन की सुशोभितता स्फुट की है।

संगति :—भय संकोच न होने से भरतजी प्रभुपदांकित चित्रकूट व उसकी पवित्रता के प्रति की उत्कट दिदृशा (मनोरथ) व्यक्त कर रहे हैं।

चौ० :—**चित्रकूट सुचि थल तीरथ बन। खग-मृग सर सरि निर्झर गिरिबन ॥३॥**
प्रभुपदअंकित अवनिविसेषी ! आयसु होइ त आवौं देखी ॥४॥

भावार्थ :—आज्ञा है तो चित्रकूट के शुचिर्भूत स्थल, वन, तीर्थ, पशु, पक्षी, तालाव, नदी, झरने, पहाड़, को जो प्रभु पद से अंकित हैं देखकर आऊँ।

सुचि

शा० व्या० :—चित्रकूट में शुचित्व स्वतः प्राप्त है। श्रीरामसंसर्ग सोने में सुगन्ध जैसा है अर्थात् सर्वत्र रामपदांकितचिन्ह से संपूर्ण चित्रकूट में उपधाशुद्धि व विवेकपूर्ण है जैसा कि कोल भिल्लों द्वारा किये गए आतिथ्य से स्पष्ट है। अतः चित्रकूट के सभी तत्व विन्ध्य के समान सभी आश्रितों के लिए सुखद हैं। जैसा कि—

'अभिलक्ष्यं स्थिरं पुण्यं ख्यातं सद्भिर्निषेवितम्।

सेवेत सिद्धिमन्विच्छन् श्लाध्यं विन्ध्यमिवेश्वरम्'[1] में उक्त है। सुचि का अन्वय तीरथ बनखग मृग सरसरि निर्झर गिरि बन से बोध्य हैं।

---

१. नीतिसार

थल तीरथ

'थल' से चित्रकूटदेश समझना है।

तीरथ :—जिनके आश्रय से व्यक्ति पार हो जाते हैं उन्हें 'तीरथ' कहा जाता है।

वन खग मृग

वन के रूप से अनेक देवता प्रभुसेवा में उपस्थित हैं।

खगमृग के रूप में देवो मुनियों को प्रभु की सेवा का सौभाग्य बालकाण्ड में मृगया समय पर वर्णित है[1]।

प्रभुपदअंकित

'प्रभुपद अंकित' शुचित्वविशेष का बोधक है। ज्ञातव्य है कि राक्षसों के संपर्क से अशुचि हुए दण्डकारण्य में प्रभु ने निवास किया उसका परिणाम सम्पूर्ण दण्डकारव्य प्रभुपद से शुचि हो गया।

अथवा :—"प्रभुपद अंकित" से वह भी स्थान विवक्षित है जहाँ प्रभुपदअंकित होते हुए भी विलुप्तप्राय हैं।

अवनिबिसेषी

अत्रि महर्षि एवं अनसूया पतिव्रता का अनुग्रह जिस स्थल को प्राप्त हुआ वह स्थल 'अवनिविशेषी' से बोध्य है।

'देहंभृतामियानर्थो दंभं हित्वा भयं शुचं। सन्देशाद्यो हरें लिंग दर्शन श्रवणादिभिः[2] उक्ति के अनुसार रुच्यार्थ कहकर यदि कुछ प्राप्तव्य है तो भक्तों ने दंभादि को त्यागकर प्रभुपदचिन्हित भूमि का वंदन या उसमें लोट-पोट करना चाहिये क्योंकि उसीसे मोह व तमस् का संहार होना निर्णीत है यदि वह नहीं हुआ तो नमस्कृति आदिकार्य दंभादिसमानाधिकरण ही समझने होंगे ऐसा समझकर पदचिन्हित भूमिको नमन करना चाहिए ताकि वनादि देओं का आशिष् प्राप्त हो सके। फलतः नन्दिग्राम वनवास अवाधित हो।

ज्ञातव्य है कि दोहा २।२१०।४-५ में ग्रन्थकार ने भरत दर्शन रूप कार्य के प्रति श्रीसीता-लक्ष्मण-राम दर्शन की कारणता बताई तदनन्तर भरतदर्शन की विशेषोपयोगिता दोहा २।२१७।२ में समझाई है। उसके साथ ही श्रीरामदर्शन की उपयोगिता भी समझाई है उसी की एकवाक्यता में खग मृगादिकों का उल्लेख है। आशय यह कि प्रथमतः सत्संग में आकर जड़-चेतन आदि सभी प्राणियों को पवित्र होना जरूरी है जिसमें सत्य अहिंसादि व्रत अनुष्ठित होते है तभी वे श्रीराम की ओर मुड़ते हैं उसी स्थिति को देखते हुए प्रभु ने चित्रकूट में स्थल, तीर्थ मृगादि को पदचिन्हित कर "परम पद जोगू"[3] बना दिया किन्तु उनका भवरोग

---

१. १।२०५।२ २. श्रीमद्भागवत १०। ३. २।२१७।१

मिटना बाकी था वही कार्य भरतजी करने जा रहे हैं। चिन्त्य है कि यहाँ कोल-भिल्लों का उल्लेख न होने का कारण उनके भवरोग का मिटना पहिले ही कहा गया है।

संगति :—उपलक्षणतया अथवा विशेषणतया प्रभुपदांकित पृथ्वी के ज्ञाता अत्री मुनि उन्ही की कृपा से वन मंगलदाता हुआ है अतः प्रभु उनको साथ में रखने का उपदेशे दे रहे हैं।

चौ० :—अवसि अत्रिआयसु सिर धरहू। तात ! बिगतभय कानन चरहू ॥५॥
मुनिप्रसाद बनु मंगलदाता। पावन परम सुहावन भ्राता ॥६॥

भावार्थ :—श्रीरघुनाथजी बोले अवश्य ही अत्रि ऋषि की आज्ञा को स्वीकारो और निर्भय हो वन में विचरो। हे भाई ! अत्रि ऋषि के प्रसाद से वन मंगलों को देने वाला परमपवित्र और सुहावना हो रहा हैं।

अवसि

शा० व्या० :—यात्रा में शुचि स्थल एवं मुनि, साधु महात्मा जो भी हो उनके दर्शन की कर्त्तव्यता 'अवसि' कही है जिसका आशय अकरणे प्रत्यवाय में है।

अथवा :—भरद्वाज मुनि ने प्रभु पंदाकित स्थलदि रूप में रहे जीवों का भवरोग मिटाने में भरतजी की नियुक्त किया है अतः वन में विचरण अवश्य कर्त्तव्य है ऐसा समझाने के लिए 'अवसि' कहा हैं।

अत्रि

"प्रभुपदअंकित अवनिविसेषी" उक्ति को ध्यान में रखकर प्रभु ने अत्रिमुनि का उल्लेख किया है इसका विशेष विचार दोहा ३१०।३ के दृष्टव्य है।

आयसु

ज्ञातव्य है कि दोहा २।२२१।८ में कहा गया है कि जहाँ-जहाँ श्रीराम गए थे वहाँ-वहाँ भरतजी गए थे अभी चित्रकूटस्थल में प्रभुपदांकित वन स्थल विलुप्त प्राय है फलतः पूर्वोक्त व्याप्ति का भंग न हो इसलिए अत्रिजी को साथ ले जाने हेतु कहा है।

दोहा २।३१०।४ के अनुसार अन्तर्हित कूप के उद्धरण का मनोरथ अत्रिजी के हृदय में था उसकी पूर्ति रामाभिषकार्थ लाये जल से ही होनी है क्योंकि मुनि को यह पता था कि अभिमंत्रित जल यहाँ आया है। उसी उत्कण्ठा में वे सभा में उपस्थित हुए हैं ऐसा सोचकर प्रभु अभिमंत्रित जल को कूप विशेष में रखने के लिए अत्रिजी का अनुशासन लेने को कह रहे हैं।

बिगत भय

'सभय' व आयसु शीर्षक में सूचित व्याप्तिलोप शंका और मुनिमर्यादातिक्रमण शंका को त्यागना विगतभय है। यह असंकोच का उपलक्षक है।

अथवा :—राजनैति समस्या के समाधानानन्तर यहाँ रहने का उदासीनता क्या बाधित होगी, ऐसी आशंका भय है इस आशंका से दूर रहना "बिगत भय" है क्योंकि

भरतरुचिपूर्तिहेतु जिस प्रकार उसासीनता का परित्याग अत्यावश्यक था उसी प्रकार जलप्रतिपत्ति, चित्रकूटप्रदक्षिणा व दोहा २।३०८।१ की संगति में सूचित व्याप्ति को सिद्ध करने हेतु भी उदासीनता का परित्याग आवश्यक हो गया है। अतः बिगतभय कहा है।

मंगलदाता

वन में पशुपक्षियों का अनुपद्रव, स्तेयाभाव, विवेकपूर्वक मैत्री, तपस्याआदि की प्रचुरता रहने पर ही उपासकों में शक्ति समाहित होने से वन मंगलदाता होता है। यह संपूर्ण वैभव वन का नहीं अपितु अत्रिजी का है, उनका तपोबल अतितीव्र है उन्होंने वन की चतुर्दिशाओं को आतंक से बचाया है। राक्षस आक्रमण नहीं कर पाते न तो दंभ से प्रवेश कर पाते हैं यहाँ दुष्टसंसर्ग नहीं है इतना होने पर भी सेवकों के लिए वन तभी मंगलदाता होता है जब वे ऋषियों की प्रसन्नता प्राप्त करते रहते हैं इसी को प्रभु ने कैकेयीजी के सामने (दोहा २।४१) अवध में प्रकाशित किया है।

पावन परम

'पावन' से दुष्टसंसर्गाभाव समझा रहे हैं। इसका अन्वय 'परम' से है।

ज्ञातव्य है कि स्यमन्तक मणि-सर्वारिष्टनाशक होते हुए भी प्रमादी प्रसेन के संसर्ग में मणि में शक्ति न होना भागवत में प्रसिद्ध हैं वैसे ही वन की पावनता व तत्संसर्ग शक्ति समाहित होना मुनि अत्रिजी के तपःपूतत्व का परिणाम है।

अथवा :—पावन पदार्थ भी देशकाल, अशुचि आदि के संसर्ग से अपवित्र या दोषसंसृष्ट होते रहते हैं जैसे गंगाजी पवित्र होती हुई भी स्नानार्थ आए पापियों के पाप हरण के कारण उससे संस्पृष्टा हो जाती हैं उसके प्रतिकारार्थ गंगाजी को प्रभु का या प्रभु के भक्तों का संसर्ग अपेक्षित होता है। फलतः अदुष्ट संसर्ग से पावन पदार्थ अपने में आए हुए देशकालादिप्रयुक्त दोषों से छुटकारा पाते हैं अतः पावनों को पवित्र करने वाले के लिए "पावन परम" कहा है।

सुहावन

विवेकसाम्राज्य में शुचि स्थल ही शुचि सुबन्धुओं के लिए मनोहर लगते हैं इसी को 'सुहावन' से कहा है। इसका अन्वय 'परम' से ज्ञातव्य है।

भ्राता

भ्राता कहकर भरतजी की शुचिता, बन्धुता, विदग्धता, निश्छलता ध्वनित है।

संगति :—प्रार्थना के प्रातिलोम्य के अनुसरण में दोहा ३०७ में किये प्रश्न का उत्तर प्रथमतः दे रहे हैं।

चौपाई :—**रिषिनायकु जहँ आयसु देहीं। राखेहु तीरथजलु थल तेहीं ॥७॥**

भावार्थ :—ऋषिनायक अत्रिजी जहाँ आज्ञा दें उसी स्थान पर तीर्थों का जल स्थापित करो।

रिषिनायकु

शा० व्या० :—चित्रकूट में ऋषि बहुत हैं पर उनमें से अत्रिजी में मंत्रशक्ति, विद्या, तपस् अधिक होने से उन्हें "रिषिनायकु" कह रहे हैं।

जहँ आयसु (क्लृप्त व कल्प में विनिगमना)

संपूर्ण वन में मंगल दातृत्व, पावनत्व, परम सुहावनत्व होते हुए भी जहाँ मुनि अत्रिजी की आज्ञा होगी वहीं तीर्थाभिषेकजल का सार्थक्य होगा ऐसा सोचकर प्रभु ने "जहँ आयसु" कहा है।

ध्यातव्य है कि नवीन कल्प्यस्थलों में भी अधोनिर्देश के अनुसार विनिगमना न होने का प्रश्न उपस्थित हो सकता है उसके उत्तर में 'जहँ आयसु देही' कहा है।

"जहँ" से सूचित दूरदर्शिता दोहा २।३०१।४ में द्रष्टव्य है।

ज्ञातव्य है कि उक्त निर्णय के पीछे "क्लृप्तेषु विनिगमनाविरहे कल्प्यमन्यद् भवति" न्याय स्मर्तव्य है। अर्थात् चित्रकूट में प्रत्यक्षविषय तीर्थों में से किसी एक में तीर्थाभिषेकजल का परित्याग करने में विनिगमना उपलब्ध नहीं है अतः नवीन कूप कल्पित हुआ इसकी एकवाक्यता वक्ष्याण दोहा ३१०।३ में स्मर्तव्य है।

संगति :—श्रीरामजी का निर्णय सुनकर सभी प्रतिपत्ति चिन्ताग्रस्तों को प्रसन्नता हुई उनमें से प्रथमतः अतिचिन्ताग्रस्त भरतजी की प्रसन्नता सुना रहे हैं। क्योंकि उनकी सन्तुष्टि पर लोकयात्रा होनी है।

चौ० :—सुनि प्रभुबचन भरत सुखु पावा। मुनिपदकमल मुदित सिरु नावा ॥८॥

भावार्थ :—प्रभु के वचन सुनकर भरतजी को हर्ष हुआ व उन्होंने पुलकित हो अत्रि मुनि के चरणों में मस्तक नवाया।

सुनि

शा० व्या० :—प्रकृत में श्रीरामराज्याभिषेकार्थ लाये जल की प्रतिपत्ति किसी शास्त्र में उपलब्ध नहीं हैं प्रभु ने अपने प्रभुत्व के बल पर राज्याभिषेकार्थ लाए जल की प्रतिपत्ति बताना व तत्प्रयुक्त फल (दोहा २।३१०।८) भरतजी ने समझना "सुनि" का भाव है।

प्रभुबचन

दोहा २।३०४ से २।३०६ तक के वचन भी "प्रभुबचन" से स्मर्तव्य हैं।

भरत

अतिचिन्ता से मुक्त भरतजी "भरत" से बोध्य हैं।

सुखु पावा

राज्याभिषेकार्थ लाए जल की प्रतिपत्ति होने का सुख भरतजी को होना "सुख पावा" है ।

मुनि

"मुनि" से प्रकरणानुसार अत्रि मुनि समझने हैं ।

मुदित

दोहा २।३०८।५ से ७ तक में उक्त निर्णय से अर्थप्राप्ति मूलक हर्ष होना 'मुदित' से कहा है ।

नावा

श्रीरामजी के द्वारा महर्षि अत्रिजी की विशेषता सुनकर भरतजी आनन्द में मुनि को अपने साथ ले जाने हेतु उनको प्रणाम कर रहे हैं । चिन्त्य है कि तमनानन्तर-वर्ती भरतीयकार्य ३०९ दोहे से सुनायेंगे ।

संगति :—भरतसुख का वर्णन कर ग्रन्थकार देवों, सभासदों व माताओं का सुख सुनाने के क्रम में चिन्ता के तारतम्य को देखते हुए प्रथमतः स्वार्थीदेवों का सुख सुना रहे हैं ।

दोहा :—**भरत-रामसंबादु सुनि सकलसुमंगलमूल ।**
सुर स्वारथी सराहि कुल बरषत सुरतरु-फूल ।। ३०८ ।।

चौपाई :—**धन्य भरत जयराम गोसाई । कहत देव हरषत बरिआई ।।१।।**

भावार्थ :—सब सुमंगलों का मूल श्रीराम-भरत संवाद सुनकर स्वार्थी देवों ने रघुकुल की सराहना करते हुए पुष्पवृष्टि की व अत्यन्त हर्षित होकर भरतजी व श्रीराम की जै-जैकार करने लगे । भरतजी धन्य हैं, स्वामी श्रीराम की जै हो कहते हुए देव अत्यधिक हर्ष में आए ।

संवादु सुनि

शा० व्या० :—तत्वनिर्णयपूर्वक निरसूयुओं का वाद, संवाद है । इसमें राजा, मध्यस्थ वादी, प्रतिवादी सम्मिलित होते हैं वैसे संवाद को सुनना 'सुनि' है उसका फल यही कि सर्वसम्मति से निर्णय होकर,लंकाकाण्डान्त सभी कार्यों की सफलता, अवध के पालन की व्यवस्था के साथ वन में रहते पालन की स्थिति व कार्यव्यसन की समाप्ति का यथासमय होना आदि तथ्य निर्विरोध होंगे ।

मूल

यह श्रीराम-भरतवाद न हुआ होता और मुनि निर्णायक न होते तो न श्रीरामवनवास सफल होता न तो अवध की अराजकता उन्मूलित होती (जैसा कि

दोहा २।२५८।८ में सूचित है) तथा रामराज्योत्सव भी संभव न होता इत्यादि दोषों के निरसन से सर्वविध मंगल की सूचना 'मूल' से स्पष्ट है।

स्वारथी

"स्वारथी" शब्द इन्द्र-सरस्वतीजी के संवाद में व्याख्यात है। दोहा ३०१ में कही मलिनता निरस्त होने से अब देवों का स्वार्थ गुण है न कि दोष है।

ज्ञातव्य है कि देवों की भक्ति में हैतुकता समझाई है जो निष्काम भक्तों की भक्ति से विषमता रखती है इस अन्तर को 'स्वारथी' से स्पष्ट किया है।

कुल

"कुल" से सूर्यवंश विवक्षित है। ज्ञातव्य है कि पवित्र रघुवंश में यद्यपि कैकेयी माताजी को कलंकित होने का प्रसंग आया था तथापि उनके पातिव्रत्य और कण्ठ-प्रसूत शब्दों की प्रमाणिकता स्थापित हुई फलतः पवित्र मातृशक्ति के गोद में जन्में सभी 'कुल' से बोध्य हैं जिसमें उपधापरिशुद्धता, त्यागिता, शौर्य, सत्य देदीप्यमान हो रहे हैं वे ही कुल सराहना के योग्य होते हैं। प्रकृत में कुल से भाई ध्वनित हैं।

सुरतरु

सुरतरु सभी प्रकार के आश्रितों व आश्रयार्थियों के मनोरथपूरक हैं तद्वत् रहे भाइयों पर पुष्पों की वर्षा देवों ने की है जिससे उनका चिन्तारहित होना स्पष्ट है।

धन्य भरत

"धन्य" से सुकृती समझने हैं अर्थात् प्रभु की आज्ञा का प्रेमपूर्वक पालन करने वाले सन्तोषी सुकृती 'धन्य' हैं। इसका अन्वय 'भरत' के साथ है जो 'पुन्यसिलोक-शिरोमणि' का नियामक है।

जय राम

"जय राम" का निष्कर्ष "रघुपति रखुवारा" में है जिसका तात्पर्य यथावत् संपूर्ण वचनों की समन्वित करने के साथ जनक राजा, देव, प्रजा तथा भरतजी की सन्तुष्टि में है।

बरिआई

जैसे वत्स को देखकर गौ का दूध स्वयं गतिमान् हो बाहर आता है उसी प्रकार हर्ष का स्वाभाविक प्रकाशन देवों में होना "बरिआई" से समझना है जो पूर्वनिरूपित हर्षवैलक्षण्य का बोधक है।

संगति :—दोहा २।२५८ में कही वसिष्ठजी की 'करब' मनोरथपूर्णता तथा दोहा २।२८८।१से दोहा२।२८९तक सुनयनाजी के सामने निकले राजा जनकजी के जो उद्गार

थे उनकी यथार्थता पर 'भरतसुखु' की व्याख्यानुसार जनक राजा का आंगिक अनुभाव सुना रहे हैं। उसमें मुनि व सभा भी एकमत हैं।

चौपाई :—**मुनि मिथिलेस सभा सब काहू। भरतबचन सुनि भयउ उछाहू ॥२॥**

भावार्थ :—वसिष्ठजी व जनकजी समेत सभा भरतजी के वचन सुनकर अत्यन्त उत्साहित हुई जो हर्ष का पर्यायवाची है।

मुनि

शा० व्या० :—दोहा २।२५८ के अन्तर्गत चौपाइयों में उक्त तथ्य तथा दोहा २५६ के अन्तर्गत चौपाइयों में किये हुए निर्णय का स्वागत देखकर हर्ष में आए 'मुनि' से समझने हैं।

मिथिलेस

सुनयना-जनक संवाद में हुआ निर्णय प्रगट होने से मिथिलेश को प्रसन्नता हुई।

सभा

नागरिक, ऋषि, माताएँ आदि की "सभा" से बोध्य हैं।

सब काहू

"सब काहू" कहने से सभात्वावच्छेदेन उत्साह कहा है। इससे 'छत्रिणो यान्ति' की तरह बोध करने का निषेध ज्ञातव्य है।

भरतबचन

समस्याओं का समाधान भरतजी के सन्तुष्टि पर निर्भर था वह सन्तुष्टि दोहा ३०७।६ में जिन वचनों से भयी है वे वचन "भरतबचन" से सूचित है।

सुनि

श्रीराम के द्वारा अवध में स्वत्वस्वीकृत्युपधायक अर्थ के बोधक वचन सुनना "सुनि" है अथवा भरतप्रपत्ति की अपारसीमा के बोधक वचन सुनना "सुनि" है।

उछाहू

श्रवणाव्यवहितोत्तरत्व बोधनार्थ "उछाहू" कहा है।

संगति :—मिथिला से घबराकर आने के कारण व्यक्त भई राजचिन्ता का समाधान होना जनकजी के वाचिक हर्षानुभाव से ग्रन्थकार सूचित कर रहे हैं। उसके विषयश्रीरामभरतोभय गुण होंगे।

चौपाई :—**भरत-रामगुनग्रामसनेहू। पुलकि प्रसंसत राउ बिदेहू ॥ ३ ॥**

भावार्थ :— भरतजी व श्रीरामजी के गुणसमूह व उनके पारस्परिक प्रेम की प्रशंसा राजा विदेहजी रोमांचपूर्वक कर रहे हैं।

गुन

शा० व्या० :—भरतजी के गुणों की उपयोगिता उनको कीर्ति, सुगति, भूति आदि प्राप्त होने में है। श्रीरामजी के गुणों की उपयोगिता उनको राज्यश्री ने वरने में है।

हरि को लक्ष्मी आदि ने वरना प्रभु के गुणों के कारण है। कीर्ति, सुगति, भूति भी उन्हीं को सुलभ हैं जो विनय संपन्न हो बड़ों के आदेश के पालयिता हैं। वही तथ्य यहाँ गुणग्राम से सूचित है। मुनि व राजा का स्नेह भी स्वरूपतः दोनों भाइयों परतत्त्वेन होकर उनके-उनके स्व-स्व गुणों से है एवंच वसिष्ठ मुनि व राजा जनकजी के स्नेह की विषयता, मायाप्रयुक्त औपाधिकता से नहीं है समझाने हेतु "गुनग्राम" कहा है।

सनेहू

उपनिषद् विद्या, कर्मविद्यादि सभी विद्याओं ने नीत्युपधायक गुणग्रामों को देखकर ही स्नेह रखना "सनेहू" से समझाया है।

पुलकि प्रसंसत राउ बिदेहू

"पुलकि" से आंगिक व "प्रसंसत" से वाचिक हर्षानुभाव समझना है।

दोहा २।२७१।२ में जनकजी को जो घबराहट प्रारम्भ हुई थी उसकी पूर्ण समाप्ति "राउ बिदेहू" से ध्यातव्य है।

संगति :—प्रशंसा के विषय बता रहे हैं।

चौपाई :—**सेवक स्वामिसुभाउ सुहावन। नेमु पेमु अति पावन-पावन॥ ४॥**

भावार्थ :—सेवक व स्वामी का स्वभाव उनके नियम व पारस्परिक प्रेम पवित्र को अत्यन्त पवित्र करने वाले हैं।

सेवक स्वामि

शा० व्या० :— भरतु रामु क्रम से सेवक-सेव्य के गुण ज्ञातव्य है जैसे दक्षता भद्रता, शुचिता आदि गुण सेवक के हैं। साध्वाभिगामिक (स्व व आश्रिताश्रये) गुण सेव्य के हैं जो आत्मसंपत्ति के नाम से विख्यात है।

सुभाउ

उपर्युक्त गुणों की अस्तितता दोनों भाइयों में जन्मतः ही है। यहाँ भारतीय राजनीति का सिद्धान्त चिन्त्य है यह कि नियम व शुचिता से संपृक्त माता-पिता का

असर पुत्र से होना ही कुलीनता है। जिससे पुत्रों में गुणों की समृद्धि का स्वभावतः होना 'सुभाउ' से स्फुट है।

नेमु पेमु अतिपावन पावन

नेम से नियम और पेमु से आस्वादपूर्वक रुचि समझना है।

ज्ञातव्य है कि धर्मविजय नाटक के अनुसार परस्परसंगति के चक्कर में दंभ, व्यभिचार आदि को प्रवेश करने का अवकाश यहाँ प्राप्त नहीं है जो "नेमु पेमु" से स्पष्ट है। कोई भी वस्तु स्वमर्यादा के अनतिक्रमण में तत्तन्मर्यादाप्रतिपादकशास्त्र-दृष्ट्या प्रमित होने के कारण पावन होती है तथापि उपरिस्थित भक्तिशास्त्र की दृष्टि में वह वस्तु अपवित्र भी हो सकती है जैसे राजाओं द्वारा की जानेवाली मृगयादि की अशुचिता अतः उस अपवित्रताविशेष को दूर करने के लिए भक्तिशास्त्रप्रमितत्व की आवश्यकता होती है अर्थात् पावन वस्तु की पावनता तभी प्रमाणित होगी जब उसके बारे में भक्तिशास्त्र का अनुमोदन प्राप्त होगा। जैसे शुचिर्भूत होकर पाकशास्त्र की मर्यादा से पक्वान्न पवित्र होते हुए भी तब तक वह पूतभोज्य नहीं माना जाता जब तक उसकी पवित्रता देवता साम्मुख्य से आहित नहीं की जाती है इसी तत्व को समझाने के लिए "अतिपावन पावन" कहा है। निष्कर्ष यह कि जो भी शास्त्र-मर्यादित नियम व प्रेम पवित्र होते हैं उसके बाद उन्हीं नियमों व प्रीति को भग-वत्संबद्ध किया जाय तो भक्तपरिगृहीत नियम व प्रेम में पावन को भी पावन करने की योग्यता प्राप्त होना 'अतिपावनपावन' से वताई है।

संगति :— परीक्षक जनकजी ने की हुई अतिअभ्यर्हित सराहना बताकर सामान्यतया मंत्री आदिकों के द्वारा की गई प्रतिक्रिया में उन्होंने की सराहना वता रहे हैं जिसका लक्ष्यविन्दु अनुराग है।

चौपाई :—**मतिअनुसार सराहन लागे। सचिव सभासद सब अनुरागे॥ ५॥**

भावार्थ :—सचिव, सभासद, सभी अनुराग में अपनी मति के अनुसार श्रीराम भरतजी युगल की सराहना करने लगे।

मतिअनुसार

शा० व्या० :— किसी ने पितृवचन को प्रमाणित न होने की समस्या के समा-धान में, किसी ने श्रीराम व भरतजी की बुद्धिमत्ता के बारे में, किसी ने भरतजी व श्रीराम की सेवादृढ़ता व फलसिद्धि के बारे में, किसी ने दोनों की विदग्धता के बारे में, किसी ने शिष्यहिना (प्रजा) धान के प्रति राम भरतोभय की दूरदर्शिता के बारे में किसी ने दोनों के द्वारा किए गए संशयच्छेदन के बारे में, अपनी मति की विचित्रता व्यक्त की है।

सचिव सभासद

"सचिव" से पूर्वमंत्रिपरिषद्", "सभासद" से अनियुक्त-नियुक्त सदस्य विवक्षित हैं।

सब अनुरागे

"सब अनुरागे" का निष्कर्ष श्रीराम या भरतजी के बारे में आलोचना न होने में है।

संगति :—श्रीराम-भरतसंवाद सुनकर समाज के द्वारा भइ प्रतिक्रिया से उन पर हुआ परिणाम ग्रन्थकार सुना रहे हैं।

चौपाई :—**सुनि सुनि राम-भरतसंवादू। दुहु समाज हियँ हरषु बिषादू ॥ ६ ॥**

भावार्थ :—श्रीराम-भरतसंवाद सुनकर दोनों समाजों के हृदय में हर्ष-विषाद दोनों हुआ।

सुनि सुनि

शा० व्या० :—प्रथम "सुनि" का अन्वय 'हरषु' से व द्वितीय "सुनि" का अन्वय 'विषादु' से है अर्थात् श्रीरामराज्योत्सव होना यह समाज के हर्ष का कारण हुआ व श्रीराम का १४ वर्षों तक विरह होना विषाद का कारण हो रहा है।

दुहु

"दुहु" से अवध व मिथिला समाज ज्ञातव्य है।

हरषु बिषादू

यहाँ हर्ष की अवस्थाएँ दो प्रकार से स्मर्तव्य हैं उनमें से एक 'सुनि-सुनि' शीर्षक में ज्ञातव्य है। दूसरी अवस्था ऐन्द्रीमाया की चेष्टा में अवधीय आवास निमित्त से है।

"विषादू" इसलिए कि उक्त अवस्थाओं में श्रीराम विरह अपरिहार्य है।

संगति :—माताजी के द्वारा की गई प्रतिक्रिया में हर्षविषादविरोधी आन्वीक्षिकीकुशला कौसल्याजी ने अन्य माताओं की जिस पद्धति से अनुराग में लाया वह पद्धति ग्रन्थकार सुना रहे हैं।

चौपाई :—**राममातु दुखु सुखु सम जानी। कहि गुन राम प्रबोधी रानी ॥७॥**

भावार्थ :—श्रीराम की माता ने दुःख व सुख को समान जानकर अन्य रानियों को धैर्य संपादक बोध में लाकर उनको धैर्य में स्थिर कराया।

राममातु

शा० व्या० :—"राममातु" से शतरूपा जन्म में ही प्रभु वर से प्राप्त विवेकवती कौसल्याजी विवक्षिता हैं।

समजानी

सुख-दुःख में निर्विकार रहना "समजानी" है जो विवेकसम्राट की महारानी शान्ति व सुमति का चित्रण है।[१]

कहि गुन

श्रीरामतत्व को व्यक्त करने हेतु कौसल्याजी ने श्रीरामजी के व्यवहारिक नीतिसम्मत गुणो के साथ आध्यात्मिक तत्व को गाना "कहि गुन" से विवक्षित है।

प्रबोधी

दोहा २।३०७।६ के अनुसार भरतजी को श्रीरामजी के साथ वनवास (कार्य-व्यसनापाकरण) करने का अनुभव, उनकी विपत्ति के बंटवारे में भागी होने के कारण हो रहा है किन्तु वात्सल्यप्रेममूर्तिमती सुमित्रा आदि रानियों को वह अनुभव प्राप्त नहीं हो रहा है। फलतः वे अवध में सुखेन निवास नहीं कर सकेंगी सोचकर कौसल्याजी ने वियोगरूप निद्रा से जगाने हेतु रानियों को सान्त्वना देना "प्रबोधी" है जो अन्वीक्षिकी का परिपाक है। उसका निष्कर्ष 'भवतीनां वियोगो से नहि सर्वात्मना क्वचित्'[२] इस भागवतोक्ति केअनुसार श्रीरामवियोगाभाव ने स्व के साथ रहने में है।

संगति :--अभिषेकजलप्रतिपत्यर्थ[३] अत्रिजी के साथ भरतजी ने किए प्रस्थानाभिमुख्य के बाद आगे का अर्थ आकांक्षित था पर राम-भरत संवादजनित राग का वर्णन[४] उपक्रान्त होने से उसके उपसंहार में राग का अनुभाव दिखा रहे हैं।

चौपाई :—**एक कहहिं रघुबीरबड़ाई। एक सराहत भरतभलाई ॥ ८ ॥**

भावार्थ :—कोई श्रीरामजी की बड़ाई की चर्चा कर रहें हैं तो कोई भरतजी के अच्छेपन की सराहना कर रहे हैं।

एक कहहिं

शा० व्या० :--"एक" से व्यक्तित्वेन श्रीरामसेवक विवक्षित हैं।

"कहहिं" से प्रभु की प्रशंसा करना ध्वनित है जिसका अन्वय "बड़ाई" से है।

बड़ाई

दोहा २।३०४।८ से दोहा २।३०६।८ तक के प्रभुवचनों से उनकी महत्ता स्पष्ट है।

एक सराहत

"एक" से भरतानुरक्तिमद्व्यक्तित्वेन श्रीरामसेवकसेवकाई में दक्ष समझने हैं।

"सराहत" :—'कहहिं' शीर्षक में व्याख्यात है।

---

१. २।२३५।७ २. श्रीमद् भगवान् १०।४७।२९ ३. २।३०८।७ ४. २।३०९।१

भरत भलाई

भरतजी ने किये कार्यों के वर्णन से श्रीरामराज्योत्व होना निर्णीत होकर सभी को सन्तुष्टि होना "भरतभलाई" है।

संगति :- दोहा २।३०८।७ के अन्तर्गत प्रभु की हुई आज्ञा के कार्यान्वियनानुगमन में राज्याभिषेकजलप्रतिपत्ति जो दोहा २।३०८ में गाई थी उसको सुना रहे हैं।

दोहा :—**अत्रि कहेउ तब भरतसन सैलसमीप सुकूप।**
राखिअ तीरथतोय तहँ पावन अमिअ अनूप ॥३०९॥

भावार्थ :—तब अत्रिजी ने भरतजी से कहा कि पर्वत के समीप एक सुन्दर कुआँ (तिरोहित) है। उसमें पवित्र, अनुपम, अमृत जैसे तीर्थजल को आप स्थापित करें।

अत्रि

शा० व्या :—"अत्रि" से अनसूयाजी के पति विवक्षित हैं जिनके यहाँ तीनों देवों ने अवतार लिया हैं व गोदावरी प्रगट भई है।

अथवा :—भूमिगर्भस्थित (तिरोहित पुण्यमय) जल के ज्ञाता "अत्रि" से समझने हैं।

तब

प्रभु के अनुशासन का आनन्तर्य "तब" से समझाया है।

सैलसमीप

"सैलसमीप" से यह समझना है कि अत्रिऋषि ने श्रीरामाश्रम से बाहर आने के बाद उस कूप का स्थान भरतजी को अंगुलिनिर्देश से बताया है।

सुकूप

"सु" से राज्याभिषेकार्थ लाये जल के सम्मिश्रण की योग्यता होना समझाया है। यह कूप दोहा २।३०८।७ में निर्दिष्ट न्यायानुसार कल्प्य है अर्थात् अन्तर्हित है।

राखिअ

अभिषेकार्थ लाये जल को अन्तर्हितकूपानुयोगिकसंयोगप्रतियोगी बनाना है अर्थात् इस जलकूप को सदा के लिए अनेकों जीवों का उद्धार करने में समर्थ बनाना "राखिअ" का तात्पर्य है।

तीरथतोय तहँ

"तीरथतोय" से राज्याभिषेकार्थ लाया जल व "तहँ" से शैलसमीपवर्ती स्थानविशेष समझनां है जहाँ नीचे के भाग में छिपा कूप है।

पावन

राज्याभिषेकार्थ लाया जल मुनियो के द्वारा सुमन्त्रित है उसके द्वारा राजा में रिपुक्षय व प्रजापालन करने की शक्ति (तेज) आहित होती है उस शक्ति के रक्षणार्थ राजा व पुरोहित को सदैव पवित्र रहना पड़ता है अन्यथा शक्ति विनष्ट होती है। इस शक्ति का स्पष्टीकरण दोहा २।३१०।७-८ में द्रष्टव्य है।

अमिअ अनूप

"अमिअ" का आशय प्रस्तुत कूप के स्नाता को मेधा विद्या की प्राप्ति में सहायक होने में है अतएव अन्यान्य तीर्थों का वैधर्म्य होने से इसकी अनुपमता स्वतः सिद्ध है।

संगति :—अत्रिजी के अनुशासन से कूप में जलस्थापनार्थ साथ लाये तीर्थों के घड़ों को कूप की ओर भरतजी ने भेजना बता रहे हैं।

चौपाई :—**भरत अत्रिअनुसासन पाई। जलभाजन सब दिये चलाई॥ १॥**
सानुज आपु अत्रि-मुनि-साधू। सहित गए जहँ कूप अगाधू॥ २॥

भावार्थ :—भरतजी ने अत्रिमुनि की आज्ञा पाकर अभिषेकजल के सब घड़े भेज दिये और छोटे भाई शत्रुघ्नजी, अत्रिमुनि व साधुसन्तों सहित रामाश्रम से चलकर जहाँ वह अगाध तिरोहित कुआँ था वहाँ पहुँचे।

अत्रिअनुसासन

शा० व्या० :—"अत्रिअनुसासन" से अत्रिसमवेतप्रेरणाप्रयोज्यत्व समझना है।

जलभाजन

"जलभाजन" से राज्याभिषेकार्थ लाए जल के सभी घड़े समझने हैं।

सानुज

"सानुज" से समझना है कि भरतजी, शत्रुघ्नजीसहित कूप तक गए।

आपु

"आपु" से भरतजी ध्वनित हैं।

मुनि

"मुनि" से सूक्तपाठकरने वाले, साधु से निश्छल सन्त एवं शिल्पविशेषज्ञ आदि समझने हैं।

जहँ

जहँ :—जिसकी कल्पना रामाश्रम में से अत्रिजी ने दी थी वह स्थल "जहँ" से सूचित है। उससे कूप की अगम्यता स्पष्ट है यतः यह कूप प्रगट नहीं था जैसा कि आगे कहा जायगा।

अगाधू

"अगाधू" से यह समझना है कि वह कूप भीषण ग्रीष्मऋतु में भी सूखने वाला नहीं है।

संगति :—अभिषेकार्थं लाए जल की प्रतिपत्तिकर्म का क्रम कह रहे हैं।

चौपाई :—**पावन पाथ पुन्यथल राखा। प्रमुदित प्रेम अत्रि अस भाषा॥ ३॥**

भावार्थ :—पवित्र जल को उस कूपदेशवर्तिपुण्यस्थल में रख दिया तदनन्तर अत्रिऋषि आनन्दित होकर वक्ष्यमाण वचन बोले।

पावन पाथ

शा० व्या० :—पावन :—पावन शब्द पावन-पावन में व्याख्यात है वह पाथ से अन्वित है जो अभिषेकजल का बोधक है।

पुन्य थल

ज्ञातव्य है कि अभिमंत्रित जलादि को स्थल पर रखना निषिद्ध है तथापि यहाँ जल को जमीन पर रखने पर भी उसमें दोषों का स्पर्श नहीं हुआ उसका कारण स्थल की पुण्यता है जो अत्रिजी के तपस् का प्रभाव है।

प्रमुदित

अत्रिऋषि की प्रतिभात होने से जगी उत्कट अभिलाषा की पूर्णता होना प्रमोद का कारण है।

अथवा :—ऋषियों का ध्येय लोकहित होता है उसकी पूर्णता भरतजी के द्वारा हो रही है देखकर अत्रिजी ने भरतजी पर अति प्रेममय होना 'प्रमुदित' से स्पष्ट है।

अत्रि

जैसे अहल्याशिला से एकमात्र मुनि विश्वामित्रजी ही परिचित थे वैसे प्रस्तुत कूपगर्त का परिचय एकमात्र अत्रिजी को ही श्रीरामकृपा से प्रतिभात हो रहा है अतः अत्रिजी के नियुक्ति का वैयर्थ्य नहीं है।

अत्रिजी को स्मृति होने का कारण

यह स्मृति अत्रिजी को ही हुई इसका कारण उनकी व अनसूयाजी की तपस्या के कारण उनको प्राप्त प्रभुकृपा ही समझनी होगी यतः उन्होंने अनादि सिद्ध स्थलकूप बनाकर उसमें तीर्थाभिषेकजल रखने हेतु अत्रिजी को मनोनीति किया है यही स्मृति का कारण है।

संगतिः—'तहँ' की एकवाक्यता में स्मरण करते हुए अत्रिमहर्षि कूप की अस्तिता सूचित कर रहे हैं जो उनके शब्द प्रमाणता है। इससे कूप की विशेष अर्हता ज्ञात हो रही है।

चौपाई :—तात ! अनादिसिद्ध थल एहू । लोपेउ काल विदित नहिं केहू ॥३॥

भावार्थ :—हे तात ! यह अनादि सिद्ध पुण्यवान् स्थल है । कालक्रम से यह लुप्त (उसमें रही पुण्यजनकतासंबंधी अज्ञान के कारण) हो गया था । इसका किसी को ज्ञान नहीं था ।

तात

शा० व्या० :—पूर्व चौपाई में निर्दिष्ट प्रतिभात अर्थ का निरूपण करने का का श्रेयस् भरतजी के सान्निध्य में उपलब्ध हो गया ऐसा देखकर प्रेम में "तात" से संबोधित कर रहे हैं ।

अनादि

"अनादि" का अन्वय सिद्ध स्थल से है । उसका निष्कर्ष यह कि सृष्टि के आरंभ से ही इस स्थल की विशेष पुण्यजनकता किसी के वर से प्राप्त नहीं अपितु स्वयंसिद्ध हैं इसलिए "अनादि" कहा है ।

सिद्ध

"सिद्ध" से इस स्थल की पुण्यजनकता पूर्व से ही लक्ष्य है जो अज्ञात स्थिति में ही थी ।

एहू

अत्रि आदि ऋषिओं से अनुमोदित समीपवर्ती स्थल "एहू" से समझना है ।

लोपेउ

विवेकसाम्राज्य कृतयुग के पूर्व में था जैसाकि 'नैव राज्यं न राजासीन्न दण्डो न च दाण्डिकः धर्मेणैव प्रजाः सर्वाः (पाल्यमानाः) रक्षन्तिस्म परस्परम्' से स्पष्ट है उस समय यह स्थल पुण्यजनकतया प्रतिभात था किन्तु विवेकाभाव में विद्याहीनता जैसे-जैसे समृद्ध हुई वैसे-वैसे मोह का राज्य बढ़ता गया उस साम्राज्य से चित्रकूट भी प्रभावित हुआ । इस अशुचिता के परिणाम में प्रस्तुत स्थल की सिद्धता अज्ञात हो गई । तदनन्तर कतिपय काल बीतने पर उसका यह प्रभाव हुआ कि संस्कारनाशक दीर्घकाल से स्मृति का भी मूलतः लुप्त होना "लोपेउ" है । यह स्थिति श्रीरामजी के द्वारा विवेकसाम्राज्य की स्थापना होने के बाद समाप्त हुई । उसका श्रेयस् रामचरितमानस को है ।

नहिं केहू

"केहू" से अत्रिजी भी विवक्षित हैं क्योंकि उन्हें भी यह तत्व अप्रतिभात ही रहा हो । यतः भगवत्सृष्टि में प्रभु ने जिसके द्वारा जिस समय जो कार्य कराना सोचा है उसको उस समय उस कार्य कार्य की प्रतिभा प्राप्त होती है जो प्रभुकृपा का परिणाम है अतः यह कूप घटना होने तक सभी (अत्रिजी) को कूप अविदित रहना आश्चर्य नहीं है ।

संगति :—दोहा २।३१०।१ की व्याख्यानुसार अभिमंत्रित जल के प्रतिपत्त्यर्थं भरत-सेवकों के साथ खनक आदि का भी वहाँ पहुँचना निर्णीत है उनको ऋषि का वचन सुनकर सिद्ध स्थल में जलपूर्ण कूप खनने की प्रेरणा हुई जो अत्र्युक्ति का कार्यान्वियन है उसी को बता रहे हैं।

चौपाई :—तब सेवकन्ह सरस थलु देखा। कीन्ह सुजलहित कूपबिसेषा॥ ५॥

भावार्थ :—तब सेवकों ने अधोदेश में कूपाशास्त्रानुसार जल की अस्तिता देखी और कूप खनकर तैयार किया।

तब

शा० व्या० :—अभिषेक जल की प्रतिपत्ति के लिए महर्षि अत्रिजी के शब्द-प्रमाणरूप अनुशासनप्रमितत्वानन्तर्य "तब" से विवक्षित है।

सेवकन्ह

खनक जलपरीक्षक आदि यथायोग्य व्यक्ति "सेवकन्ह" से बोध्य हैं।

सरस

"रस" से जल विवक्षित है तत् सान्निध्य होना 'सरस' है। अभी कवि ने 'रस' शब्दोच्चारण से विशेष तत्त्व परिचित कराया है वह यह कि सेव्य-सेवक की पारस्परिक निश्छल, प्रीति, नियम, गुरुजी का अभिमंत्रण व अत्रिजी की प्रतिभा से जल में रसवता विशेषतया प्राप्त है जो बल, आरोग्य, पुष्टि प्रदान करने में सामर्थ्यवान् है।

थलु देखा (निर्णयपद्धतिक्रम)

अन्तःस्थित जल से समन्वित स्थल का परिचय पाना "देखा" से विवक्षित है। यह परिचय सर्वसाधारण के लिए असंभव है तथापि उसके परीक्षक यहाँ उपस्थित थे अतः उनके द्वारा देखा जाना 'देखा' है।

ज्ञातव्य है कि "लोपेउ काल विदित नहिं केहू" की स्थिति में आया स्थल खनकों को विज्ञान से जलवृत्तित्वेन प्रमाणित हो गया किन्तु उसमें पुण्यद्वारकर्मे ाद्रि-जनकत्व वैज्ञानिकदृष्टि से प्रमाणित नहीं हो सकता है। अतः ऋषिशासन का उपयोगिता सिद्ध है। इसमें स्मर्तव्य है कि भारतीयराजनीतिमतानुसार प्रथमतः शब्दप्रमाण से पुण्यजनकत्व स्थलकूप में सिद्ध करने के बाद ही तत्व देखने हेतु वैज्ञानिकों के द्वारा शब्दातिरिक्त प्रमाण का उपयोग करना चिन्तनीय होता है उसी को कवि ने दर्शा कर प्रमिततया निर्णय करने की पद्धति का क्रम स्फुट किया है।

सुजल

सर्वकालावच्छेदेन जल का अस्तित्व रहना "सुजल" है।

कूपबिसेषा

सरस स्थल को परखकर सेवकों ने मुनि की यह इच्छा समझी कि अभिषेक-जल को स्थिर रखना है वह विना अगाधकूप के नहीं हो सकता। अतः मुनि और स्वामि-भक्त भरजजी की राय में स्थल को अगाधकूप का रूप देना होगा। फलतः सेवकों ने एक दिन में कूप बनाया। जिसमें संपूर्ण जाति के व्यक्ति स्नान करते हुए भी वह अगाधकूप सबके लिए संम्मानित रहे। विशेष अग्रिम चौपाइयों स्फुट है जो अनितरसाधारण है।

संगति :—कूपविसेषा का व्याख्यान कर रहे हैं।

चौ० :-बिधिबस भयउ बिस्व उपकारू। सुगमअगम अति धरमबिचारू ।।६।।
भरतकूप अब कहिहहिं लोगा। अतिपावन तीरथजलजोगा ।।७।।
प्रेम सनेम निमज्जत प्रानी। होइहहिं बिमल करम मन बानी ।।८।।

भावार्थ :—विधिवशात् यह कूप विश्व के उपकारार्थ हुआ है जिस धर्म का विचार करना अगम था वह भी सुगम हो गया। आज से यह कूप भरतकूप कहलायेगा जो अभिमंत्रित जल के संयोग से अतिपावन हुआ है जो प्राणी प्रेमपूर्वक व्रत में रहकर इसमें स्नान करेंगे उनकी कायिक, वाचिक मानसिक शुद्धि होना सिद्ध है।

बिधि बस

शा० व्या० :—"विधि" से श्रीरामजी का अनुशासन[1] विवक्षित है उसके फल रूप में निम्न तथ्य स्पष्ट हो रहे हैं—

१. अभिषेकार्थ लाये जल की प्रतिपत्ति करना। २. सिद्धस्थल को प्रकाश में लाना, ३. महर्षि अत्रि के तपःपुंज से उनकी कीर्ति स्थापित करते हुए लोगों को विमल प्रतिभासंपंन कराना। ४. भरतजी की कीर्ति का निर्माण करना आदि। एवं च ये तथ्य पूर्ण होना "विधिब्रस" है। 'बिधि बस' का अन्वय इन तीनों चौपाई में उक्त संपूर्ण धात्वर्थ में समझना है जो अन्यों को सर्वथा अविदित है।

उपकारू

सत्वप्रकृति पुण्यात्माओ का मानसिक स्पन्दन या उनमें क्षोभ होता है तो वह स्पन्दन विश्व कल्याणार्थ होता है। वही युक्ति यहाँ स्मर्तव्य है।

सुगम

श्रुति के महावाक्यार्थ के निर्णय में सौलभ्य होना "सुगम" है।

अगम

बुद्धिव्यामोह में विद्याओं का परिचय न होने से धर्मनिर्णय करने की अशक्यता "अगम" से समझनी है। सुगम का अन्वय 'अगमधरमविचारू' से है।

१. २।३०८।५

बिचारू

श्रुति का धर्मसंबंधी महावाक्यार्थ निर्णय "बिचारू" है उसके निर्णय में विद्याओं का यथावत् परिचय रखना भी आवश्यक होता है परन्तु देशकाल के दुष्प्रसंसर्ग, स्वभाव-महिम्ना विद्वानों की बुद्धि में व्यामोहकरूप में प्राप्त होने पर अविद्या की छाया फैली रहती है उसके फलस्वरूप धर्म का विचार न होना अर्थात् कर्मबोध(श्रुति का महावाक्यार्थ निर्णय) असंभव है। अतएव वह अगम है उसके चिकित्सार्थ होना कूप की स्थापना हुई है परिणामतः कूप जल के सेवन से बुद्धि की शुद्धि होकर अधीतानधीतविद्यार्थ प्रतिभात होता रहेगा परिणाम में श्रुति के महावाक्यार्थ का निर्णय करने में सौलभ्य होगा। इस निमित्त से चित्रकूटयात्रा में कूप की स्थापना हुई।

भरत कूप

"भरत कूप" से कूप का नामकरण ध्वनित है।

अब

अभिषेकार्थ अभिमंत्रित जलसंयोग कालोत्तरकाल "अब" से समझना है।

अतिपावन

"अतिपावन" कहकर कवि महाभाग ने 'अतिपावन पावन'[1] का स्मरण किया है।

बिमल

श्रुत्यभिमत निर्दुष्ट अर्थमात्र का संसर्ग 'मनस्' आदि को होना "विमल" से समझना है।

संगति :– अत्रिजी के हृदय में हुई अचानक प्रतिभा से हृदय में प्राप्तअर्थ (कूप महिमा) स्मृति के बदले में कृतज्ञता व्यक्त करने हेतु महर्षि अत्रि समाज के साथ रात्रि होते-होते श्रीरामाश्रम में पहुँच रहे हैं। इसकी एकवाक्यता में दोहा ३०१।१–२ स्मर्तव्य है।

दोहा :—**कहत कूपमहिमा सकल गए जहाँ रघुराउ।**
अत्रि सुनायउ रघुबरहि तीरथपुन्य प्रभाउ॥ ३१०॥

भावार्थ :—कूप की महिमा कहते-कहते संपूर्ण समाज श्रीरामजी के समीप पहुँचा। अत्रिजी ने प्रभु को तीर्थ का पुण्य-प्रभाव समझाया है।

महिमा

शा० व्या० :—अत्रिजी का वचन सुनकर संपूर्ण समाजस्थ व्यक्तियों ने उस कूप में ज्यों ही स्नान किया तत् क्षण में उनको शरीर, वाणी, मनस् में प्राप्त विमलता अनुभूत होना "महिमा" है।

१. २।३०९।४

गए जहाँ रघुराउ

कूपखनन व जलप्रतिपत्ति करते पूरा दिन व्यतीत हुआ है। तत्पश्चात् उक्त सभी कार्यविधि सुनाने हेतु समाजसहित अत्रिजी का श्रीरामाश्रम में आना "गए जहाँ रघुराउ" से सूचित है।

अत्रि सुनायउ

सुगम अगमधर्म की सुगमविचारक्षमता आदिमहिमा 'सुनायउ' रूप में अविस्मरणीय है। आशय यह कि इन्द्रकृत माया के आक्रमण से आत्मरक्षण होना कूपजल का प्रभाव है जो समाज का स्वानुभव है। उसी के साथ अवध में पहुंचकर समाज ने नियमों का पालन करते हुए श्रीरामजी के चतुर्दशवर्षावधिक वनवास के सफलतार्थ अपने कर्तव्य को समझना भी कूपजलस्नान का प्रभाव है। उस में रसाभास न होना "अत्रि सुनायउ" का तात्पर्य है।

तीरथ पुन्य प्रभाउ

"तीरथपुन्य प्रभाउ" से दोहा २।३१०।६–८ में वर्णित महिमा ज्ञातव्य है।

चिन्त्य है कि प्रत्यक्षादि तीनों प्रमाणों से प्रमितता उक्त अर्थ में समानरूप से निर्णीत है तथापि भारतीय राजनीति ईश्वरप्रसादरूप पुण्य की साकांक्षा होने से तदनुवन्धितया ग्रन्थकार ने "पुन्यप्रभाउ" कहना भारतीय नीति के गौरवस्थापनार्थ है।

संगति :—जिस चिन्ता से संपूर्ण समाज अवध व मिथिला से चला था उस चिन्ता की अभिषेकजलप्रतिपत्यन्त कर्म की पूर्णता से समाप्ति होना व रात्रि का व्यतीत होना बताते हुए ग्रन्थकार प्रस्तुत विषय की पूर्णता बता रहे हैं।

चौपाई :—**कहत धरम-इतिहास सप्रीती। भयउ भोरु निसि सो सुख बीती ॥१॥**

भावार्थ :—धर्म व इतिहास प्रेम से कहते हुए सुख से रात बीत गयी व भोर हो गया।

धरम इतिहास

शा० व्या० :—जिस धर्म के शरण होकर दोनों (वादीप्रतिवादी) भाइयों ने सब अवधवासी (साधु, माता, गुरु, सचिव, प्रजा, राजा, मुनि) को सन्तुष्ट किया है। वह धर्मात्मक नीति सबके मुख से उच्चरित हो रही है जो प्रीतिं का वाचिक अनुभाव है। एवंच "धरम" से नीतिधर्म विवक्षित है। धर्मसंबंधी सूर्यवंशीय व मिथिलावंशीय घटनाएँ जो भी हो चुकी हैं वे सभी "इतिहास" से बिवक्षित है।

सप्रीती

वचनप्रमाण की अवहेलना ही महान् दोष है। यतः उस दोष की परम्परा में औचित्य व न्यायरक्षण दुर्लभ है वैसा कुछ भी नही हुआ ऐसा देखकर अत्रिमुनि आदि सभी अति प्रीतिमान् हैं।

भोरु

उत्तरदिनसंबंधी कार्य का आरम्भबिन्दु "भोरु" है। यह अत्यन्त पुण्यजनक काल है जैसा कि श्रीमद्भागवत में "मुहूर्तं तन्तु वैदभी नामृश्यदतिशोभनम्"[१] से उक्त है।

निसि सो सुख बीती

एक-एक पल अधिक समय के समान चिन्ता में बीता है फलतः अभी तक रात्रि का समय सुखमय नहीं था। आज की यह प्रथमरात्रि है जिसमें जागरण करते हुए भी सुखानुभूति में शारीरिक बात, पित्तादि, दोषों का क्षोभ व श्रम न होना "सुखबीती" का भाव है।

संगति :—दोहा २।३०८।१—५ में अनुमोदित वनभ्रमण के उपक्रम में भरतजी का प्रातःकालीन कृत्य संक्षेप में जलप्रतिपत्ति के बाद सुना रहे हैं।

चौपाई :—**नित्य निबाहि भरत दोउ भाई। राम-अत्रि-गुरआयसु पाई ॥२॥**
सहित समाज साज सब सादें। चले रामबन अटन पयादें ॥३॥

भावार्थ :—प्रातःकालीन कृत्य पूर्ण कर श्रीरामजी, वसिष्ठजी व अत्रिजी की आज्ञा प्राप्त कर भरतजी, शत्रुघ्नजी समाज के साथ पैदल ही चित्रकूट के शुचिस्थल का भ्रमण करने के लिए चल पड़े।

नित्य निबाहि

शा० ब्या०।—"अकरणे प्रत्यवाय जनक कर्म, नित्य कर्म हैं।

भरत दोउ भाई

"भरत दोउ भाई" से भरतजीसमेत शत्रुघ्नजी में गमनकर्तृत्वपर्याप्ति समझनी हैं, यहाँ नित्यक्रिया निवृत्ति के बाद समयविलंबाभाव भी सूचित है।

राम-अत्रि-गुर आयसुपाई

दोहा ३०८।५ में उक्त आज्ञा के प्रदाता श्रीराम हैं, अत्रिमुनि की योग्यता अभिमंत्रित जल की प्रतिपत्ति में स्पष्ट है, गुरुजी समाज के दीर्घदर्शी संचालक हैं इसलिए दोनों भाइयों ने श्रीराम, अत्रिजी व गुरुजी से आज्ञा प्राप्त करना उनकी नम्रता का प्रतीक है।

सहित समाज

जिस आनन्द में समाज अवध से चला था उसी आनन्द में उसका दोनों भाई के साथ प्रस्तुत चित्रकूट भ्रमार्थ जाना सहित समाज में स्पष्ट है।

---

१. १०।७०।३

सादे

"सादे" से सेवकत्व, श्रद्धा, मर्यादा आदि का भ्रमण में रहना विवक्षित है।

चले

दोहा २।३०८।३-४ के अनुसार चित्रकूटस्थ स्थावर जंगम प्राणियों को श्रीराम-दर्शन के परिपाकरूप में भरतजी अपना दर्शन देकर जिस माध्यम से भवरोगमुक्त कर कृतकृत्य करेंगे वह भरतजी का भ्रमणात्मक कर्म नैमित्तिक है उसकी पूर्णता में समय लगना है जैसाकि इस यात्रा में पांच दिन लगने से स्फुट है। अतएव उनका रोज जाना व आश्रम में आना स्मर्तव्य है। जो २।३१२।८ में उक्त है।

रामवन

श्रीरामपदांकित वन "रामवन" से सूचित है।

पयादे

श्रीरामपदांकित भूमि की तीर्थयात्रा करनी है तीर्थयात्रा के समय पादत्राण का निषेध होने से सभी पैदल जा रहे हैं।

संगति :—वचनप्रमाणानुयायी पवित्रतम निश्छल सेव्य-सेवकप्रीति (भक्ति की तीसरी अवस्था) का परिणाम घोषित कर रहे हैं। जिससे जनकजी के सामने दोनों भाइयों की भक्ति का वास्तविक तथ्य प्रगट हो।

अथवा :—मीमांसासम्मत उपमान (एतत् सदृशी गौः) पद्धति से भावी अवधसुख को चित्रकूटस्थ तीर्थ भ्रमण में अनुभूत सुख रूप उपमान से उपमित करा रहे हैं।

चौ० :—**कोमल चरन चलत बिनु पनहीं। भइ मृदु भूमि सकुचि मन मनहीं ॥४॥**
कुस कंटक काँकरी कुराईं। कटुक कठोर कुबस्तु दुराईं ॥५॥
महि मंजुल मृदु मारग कीन्हें। बहत समीर त्रिबिध सुख लीन्हें ॥६॥
सुमन बरषि सुर, घन करि छाहीं। बिटप फूलि-फलि तृन मृदु ताहीं ॥७॥
मृग बिलोकि, खग बोलि सुबानी। सेवहिं सकल रामप्रिय जानी ॥८॥

भावार्थ :—मृदु चरणों से बिना पादत्राण के चल रहे हैं देखकर पृथ्वी को संकोच हुआ। वे कोमला हो गयीं। कुश, काँटे कंकड़, दरारें आदि कड़ुवीं व कठिन वस्तुओं को हटाकर भूमि ने मार्ग कोमल कर दिया। शीतल, मन्द, सुगन्धित हवा बहने लगी। मार्ग में देवता फूल बरसा कर बादल छाया कर वृक्ष फल-फूलकर, व तृण कोमलता से तथा मृगादि देखकर पक्षी सुन्दर वाणी से भरतजी को श्रीरामजी के प्यारे जानकर उनकी सेवा करने लगे।

कोमल

शा० व्या० :—राजपुत्र अतिसात्विक होने के नाते उनके पैरों के स्वरूप में इतरों की अपेक्षा विलक्षणता होना "कोमल" का भाव है।

मृदु

"मृदु" २।२१६।८ में सूचित है।

सकुचि मन

नीतिमान्, साधुसयानों को त्रास होना, उनकी सेवा न करना अपराध है ऐसा भाव भूमि के सकुचि से यहाँ स्पष्ट हो रहा है।

कुस

कुश पर उसकी जड़ से ऊपर की ओर हाथ चलाया जाय तो हाथ विदारित नहीं होता अन्यथा कुश हस्तादि को विदारित किए बिना नहीं रहता है।

ज्ञातव्य है कि कुश, वेदों में यज्ञांगतया वर्णित हैं उसकी उत्पत्ति भारत देश में ही है उसी प्रकार गौ व यब भी भारतीय संपत्ति हैं वे भी वेदों में वर्णित हैं। अतः वेद का अध्ययन जिनको विहित है वे अनादिकाल से ही भारत के निवासी हैं न कि बाहर से आये हैं। इससे राज्यकंटकशोधनकर्म दर्शाया है।

कटुक कठोर

"कटुक कठोर" आदि से वनोत्पन्न कण्टकादि वस्तु की अनास्वाद्यता, अभोज्यता, अदृश्यता, अदर्शनीयता, अनाघ्रेयता स्पष्ट है। वे सभी भूमि के दोष माने गये हैं।

दुराई

विज्ञान जगत् में कतिपय ऐसे (प्रोट्रान) अणु हैं जिनके सन्निवेश या निष्कासन से अन्यान्य धातुओं का निर्माण या विनाश देखा गया है। जैसे कांस्य, सुवर्ण आदि की उत्पत्ति आदि से विदित है। उसी प्रकार से भूमि ने भरतजी की सेवार्थ अपने दिव्यतेजस् से अशुद्ध पदार्थों में से दुष्ट अणुओं को हटाकर खाद्य, स्पृश्य, भोज्य, घ्रेय, दृश्य के अनुकूल रस का संचार कराकर कुवस्तु को सुवस्तुरूप में परिवर्तित करना दुराई है।

मंजुल मृदु

ज्ञातव्य है कि भरतजी, श्रीराममंत्रचिन्तन में एकाग्र हैं श्रीरामपदांकित वन की शोभा देखने हेतु उत्सुक हैं। उनके पैरो में तकलीफ न हो उस प्रकार से प्रकृति स्वयं सेवाकार्य कर रही है यह भरतयात्रीयों की विशेषता श्रीरामपदांकित वन में देखने को मिल रही है इस रहस्य को "भूतिमय बेनी" से पूर्व में समझा चुके हैं।

बहत

चक्षुरिन्द्रियातिरिक्त इन्द्रियों में स्वविषय के प्रति प्राप्यकारिता न होने से उनके समीप में मन्द, शीतल, सुगन्धित हवा के द्वारा उन-उन विषयों का पहुँचना "बहत" से समझाया है।

सुमन बरषि (पुनरुक्तिपरिहार)

दोनों पुष्पवर्षा के प्रयोजन विभिन्न हैं जैसे प्रथम पुष्पवर्षा से काल देश अवस्था व भक्तिविशेष की अतिशयितता समझाई है। अभी की पुष्पवर्षा से प्रदक्षिणा करने वाले यात्रियों के चरित्र से देवों में सन्तोष व भक्ति स्फुट हो रही है। इस प्रकार पुष्पवर्षा की पुनरु सक्ति का पारेहार ज्ञातव्य है।

घन

ध्यातव्य है कि निरपेक्षता के सुख में रमते हुए श्रीरामप्रिय साधु को ताप से बचाने हेतु छाया करना प्रकृति का धर्म है। श्रीरामप्रियता से विपरीत व्यक्ति को नीचे गिराने का कार्य भी उसी का धर्म है। जो 'घन' से ध्वनित है। अतः प्रकृति भरतजी को योग्य समझकर उनकी घन के रूप में शूश्रूषा कर रही है उसी को "घन छाई" से समझाया है। यहाँ "घन" से सुभिक्ष ध्वनित है।

बिटप

राजा, देव व निधियों के सामीप्य में प्रकृति ने प्रसन्ना होकर व्यवस्थापित धर्म से अनुगृहीत समाज का पालन करना शास्त्रों में वर्णित है यदि ब्रह्मचिन्तन और आत्म-साम्य के वल पर की वर्णाश्रम मर्यादा को उपेक्षित करता है तो भारतबर्ष की वर्णा-श्रमधर्मप्रधाम प्रकृति क्षुब्धा हो प्रजा का पालन करने से मरन हो जाती है। फलतः फल-फूल, धन-धान्य की मात्राएं ह्रास की ओर मुड़ जाती हैं वैसा योग भरतजी अथवा भरताधिष्ठित शासन में नहीं हैं समझाने हेतु श्रीरामजी ने बिलगकर स्वतन्त्र रूप में प्रकृति ने सेवा करना "बिटप" से समझा रहे हैं। यहाँ "बिटप" से वानप्रस्थियों के लिए भी सुभिक्ष होना बताया हैं।

सुबानी

राजपुत्र होते हुए भी भरतजी की आँखों में झलकती हुई हार्दिक शान्ति, अहिंसा, शालीनता सत्यप्रियता देखकर खग मृगादि, पशु-पक्षी भी भरतजी की सराहना सुन्दर वाणी से कर रहे हैं। "सुबानी" से अपशकुनों का अभाव भी स्पष्ट है।

सेवहि सकल

"सेवहि सकल" के अन्तर्गत संकल से अत्रि आदि समझने हैं वे भी प्रकृति की तरह ही भरतजी की सेवा करेंगे उसका साधक हेतु वाक्य "रामप्रिय जानी" है।

राम प्रिय

"रामप्रिय" का आशय सेव्य-सेवक की पारस्परिक नियमयुक्त प्रीतिपरक है। भाव यह कि श्रीराम का प्रेम जिन्हों ने अर्जित शासक यदि वर्णा श्रम समाज की शास्त्रोदित किया है वैसे वणाश्रमों व वर्णाश्रमेतर "रामप्रिय" से समझने हैं।

आशय यह कि जो रामप्रिय हैं वे अनात्मवान् नयद्वेषी नहीं होते जिसका परिणाम शत्रुउन्मूलन है एसा समझना "रामप्रिय जानी" से है।

रामप्रिय से लाभ

"अहं बहु स्यां" इच्छा के अनुवन्ध में सम्पूर्ण संसार ही ईश्वर शरीर हैं सब चेतन हैं उनमें से जिन जीवों के अंतः सात्विक, राजस्, तामसरूप में जो संस्कार उद्बुद्ध होते रहते हैं उनको उतनी ही स्मृति होती रहती है। फिर भी लोक व्यवस्था कि सुचारुता बनाने हेतु प्रभु ने विप्रादि विभिन्न-विभिन्न न्तमों के कीर्तन करतत्परक वैदिक विधि-निषेध के द्वारा सबको मर्यादित किया है उसमें अव्यवस्था होने पर राजा को अनुशासक माना गया है उसके लिए विशेष व्यवस्था यह है कि राजा यदि ईश्वर के आदेश में तत्पर हैं, छलहीन हैं, प्रीतिमान हैं तो उसकी सेवा में ईश्वर ही प्रकृति के माध्यम से उपस्थित हो राजा की कार्यप्रणली को सफल बनाने में तत्पर होते हैं। अतः यहाँ भी ईश्वर प्रकृति के रूप में मेघादि को प्रवृत कराकर भरतजी की सेवा करते दिखाई दे रहे हैं फलतः ईश्वरसेवक के सामने कोई समस्या अवशिष्ट नहीं रहती। इसी तथ्य को "यस्य प्रसन्नो भगवान् गुणैर्मैत्र्यादिभिर्हरिः। तस्मै नमन्ति भूतानि निम्नमाप इव स्वयं"[१] से कहा गया है।

इस रीति से जल प्रतिपत्तिस्थापना के अन्तर राजनीति की पूर्ण स्थापना समझाने के साथ आन्वीक्षिकीकौशल से त्रयी की स्थापना में अपना गौरव मानते हुए वार्ता को सर्वत्र स्थापित किया है यह नीतिसारीय द्वितीय सर्ग में 'व्यवस्थापितधर्मस्य लोकस्य जीवनहेतुर्वार्ता' से स्पष्ट है।

संगति :—श्रीरामसेवक भरतजी की सेवा में प्रकृति ने फल-फूलादि के माध्यम से सेवा करना देखकर उसकी प्रामाणिकता के लिए श्रीराममंत्र की साधकता प्रत्यक्ष से प्रमाणित कर रहे हैं अथवा "रामप्रिय जानी" का भाष्य कर रहे हैं।

दोहा :—**सुलभ सिद्धि सब प्राकृतहु राम कहत जमुहात।**
रामप्रानप्रिय भरतकहुँ यह न होइ बड़ि बात ॥३११॥

भावार्थ :—जृम्भविद्या में कही जृम्भा की सिद्धि में श्रीराममंत्र प्राकृतों के लिए सुलभ देखा गया है अतः श्रीराम के अत्यन्त प्रिय भरतजी के लिए उपर्युक्त सिद्धि होना वड़ि बात नहीं है।

सुलभ

शा० व्या० :—जो सिद्धि वैदिकों को काफी कष्ट करने के बाद प्राप्त होती है वह सिद्धि इतरों को आसानी से प्राप्त होना "सुलभ" है।

सिद्धि सब

"सिद्धि सव" से अणिमादि सिद्धियाँ विवक्षित हैं।

१. श्रीमद्भागवत ४।९।४७

प्राकृतहु

"प्राकृतहु" का अन्वय दोहा २।३११।८ में उक्त "रामप्रिय" से है अर्थात् अणिमादि सिद्धियाँ ब्रह्मचिन्तनलीन को ही प्राप्त होती है ऐसा नहीं, अपितु वर्णाश्रमेतर भी यदि गुहादि के समान स्वधर्म में स्थिर रहते हुए सामान्य धर्म को अपनाते हैं तो वे भी श्रीरामप्रिय होने के साथ सिद्धिमान् देखे जाते हैं उन्हीं को यहाँ "प्राकृतहु" से समझना है।

जमुहात

शिवजी ने अनेकों शाबर मंत्रों का निमांण कर उनका वितरण लोक में किया है उनके अन्तर्गत जृम्भक विद्या भी है उससे मंत्रिकों में जृम्भा होना व दृष्ट दोष का दूर होना देखा गया है उस विद्या का रामनाम से अंकित होना इस दोहे से मालूम हो रहा है।

प्रानप्रिय

शैशवकाल से ही निश्छल स्वामिसेवाव्रत में रहे भरतजी को स्वयं होकर वरने के लिए आई राज्यश्री का स्वीकार करने में सन्तोष नहीं हुआ अपितु श्रीराम की विपत्ति में सहायक बनते हुए 'साथ गए को सुख' की अनुभूति में सन्तोष प्रगटकर त्रयी की स्थापना उन्होंने की अत: श्री राममजी के लिए भरतजी का प्राणप्रिय होना "प्रानप्रिय" से संकेतित हैं।

ज्ञातव्य है कि स्वधर्मस्थित वर्णाश्रमी व वर्णाश्रमेतर दोनों ही श्रीराम को प्रिय हैं तो भी दोनों का वैधर्म्य "प्रानप्रिय" से स्पष्ट किया है। आशय यह कि निश्छल श्रीरामसेवक वर्णाश्रमियों पर यदि प्राकृत का आघात करते है तो प्रभु वैदिकमर्यादा को ही मान्यता देकर वे वेदप्रमाणरत सेवक को "प्रानप्रिय" मानते हैं।

यह

"यह" से पृथ्वी ने भरतसेवानुरूप व्यवस्था करना सूचित है।

न बड़ि बात

निश्छल सेवक (भरतजी) के सामने उपस्थित समस्याओं का निरसन व प्रकृति के द्वारा भरतजी की सेवा होना विद्यापति शिवजी जैसे उत्तम भक्तों के लिए विस्मयकारी नहीं है ऐसा कहकर शिवजी ने विद्वानों को सूचित किया कि उन्होंने ससार में कहीं भी किसी प्रकार मे होने वाली नवीन घटनाओं को देखकर विस्मय में नहीं आना चाहिए किंबहुना उस घटना के रहस्य को ज्ञातरूप में प्रगट कर स्वयं को बचाना चाहिए तभी विद्या का गुरुत्व स्थिर रहता है फलतः दूसरे के अनुकरण मे जाने

की प्रवृत्ति रोकी जा सकती है जैसा कि "स्वं-स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः[1] से ब्राह्मण विद्वानों को मनुजी ने सावधान किया है इसलिए "न बड़ि बात" कहा है।

संगति :—दोहा २।३११ में सेवकसिद्धि के प्रति सामान्य नियम बताकर दोहा २।३११।८ से कड़ी जोड़ते हुए निश्छलसेवक तथा स्वधर्म में स्थित भरतजी को देखकर मुनिगण अपने नियम के फल रूप में वैसी रामप्रीति न देखकर उन्होंने स्वनियम के प्रति संकुचाना ग्रन्थकार बता रहे हैं।

चौ० —:एहिबिधि भरतु फिरत बन माहीं। नेमु प्रेमु लखि मुनि सकुचाहीं ॥१॥

भावार्थ :—इस प्रकार भरतजी वन में फिर रहे हैं उनका नियम व प्रेम देखकर मुनियों को संकोच हो रहा है।

एहि बिधि

शा० व्या० :—अवध से यात्रा प्रारम्भ करने के बाद स्वीकृत यम, नियम के अनुबन्ध में श्रीरामप्रसाद से प्राप्त मनोरथपूर्ति के बाद अत्रिमहर्षि के अनुशासन में रहते दोहा २।३१० व दोहा २।३११।१-४ में उक्त स्वीकृत-नियम प्रयोज्य प्रकृतिकृत सेवा, 'एहि बिधि' से ज्ञातव्य है।

चार्वाक मत की प्रतिष्ठा

"एहि बिधि" से प्रकृति ने की हुई पूर्वोक्त सेवा के प्रकार बताकर शिवजी ने चार्वाक मत की प्रतिष्ठा की है जिसमें इन्द्रियों को पूर्ण सुखानुभूति होने की चर्चा है। निष्कर्ष यह कि प्रथमतः स्वामि के अभिप्राय को समझकर तदनुबन्धित सेवा से स्वामी की सन्तुष्टि प्राप्त करना सेवक की कर्तव्यपूर्ति है। अनन्तर अवशिष्ट रहे समय में प्रकृति-प्रदत्त विषयों का सुख भोगना भी राजनीतिसम्मत है इस प्रकार चार्वाक मत की प्रतिष्ठा भी दर्शाई है। विशेष विचार अर्थशास्त्रीय जयमंगला क्रोड़पत्र 'टीका' में द्रष्टव्य है।

भरत

'एहिबिधि' शीर्षकोक्त नियम में रहने वाले भरतजी "भरत" से बोध्य हैं।

बन

चित्रकूटस्थ वनात्मक श्रीरामपदांकित प्रदेश "वन" है।

नेमु पेमु

"नेमु" से 'एहिबिध' शीर्षकोक्त नियम ज्ञातव्य हैं।

श्रीरामविषयक प्रीति के स्थायी संस्कार "पेमु" से ज्ञातव्य हैं जो 'लखि' का कर्मकारक है।

---

१. मनुस्मृति २. ३०६।४

संकुचाही

भरतजी का औचित्यपूर्ण अभियान देखते हुए उसके प्रभाव में आए मुनियों के हृदय में कठिन योग से लुप्तस्थिति में आया श्रीरामप्रीतिसंस्कार जागृत हुआ है ऐसा देखकर मुनियों का लज्जित होना "संकुचाही" है।

चिन्त्य है कि यह लज्जा मुनियों के लिए मस्तक झुकाने वाली नही वरन् भरत-नाट्य देखकर मुनियों में अभी रामप्रीत्यतिशयितता (दोहा २।३०९।२) संस्कार का उद्बोध होने से उनमें रही प्रसन्नता के बोधनार्थ ग्रन्थकार ने "संकुचाही" कहा है।

संगति :— प्रभुपदांकित तत्तद्भूमिविशेषदिदृक्षा ३०८।४ में गायी है उसका पूर्ण उपशमन करने हेतु भरतजी सबका नाम पूछ रहे हैं।

चौपाई :—**पुन्यजलाश्रय भूमिबिभागा। खग-मृग-तरु-तृन गिरि-बन-बागा ॥२॥**
चारु बिचित्रपवित्र-बिसेषी। बूझत भरतु दिव्य सब देखी ॥३॥

भावार्थ :—पुण्यजलाश्रयों, चतुर्दिक् भूमि के विभागों, खगों-मृगों, पेड़, पहाड़ों, वनों व बगीचों की सुन्दर विचित्र पवित्रता और विशेषता के बारे में भरतजी पूछ रहे हैं।

पुन्य जलाश्रय

शा० व्या० :—देश विदेष में निवास आदि कर्म करने से उसके संसर्ग में अपरिमित अदृष्ट का उत्पन्न होना 'पुन्य' का भाव है। भरतकूपस्थल के सदृश चित्रकूट में अनेकों तीर्थ हैं जैसे वाराणसी में। फलतः उन-उनमें निवास उन उनतीर्थों कि रहने का विधान काशीखण्ड में हैं अतः व्रतानुष्ठानार्थ योगियों क्षेत्रोंमें का निवास भी सिद्ध है।

भूमिविभागा

"भूमि विभाग" का निष्कर्ष अयोध्यादि सप्तपुरियों, पुष्करादि क्षेत्रों का चित्रकूट कीतत्तल् में स्थली में निवास भी है। भूमिविभागा की व्याख्या "खगमृगतरुतृन-गिरिबनबागा" है ये सभी श्रीरामपदांकित हैं।

खग-मृग

दोहा २।२१६।२ में उक्त परमपदजोगू विशिष्ट पक्षी आदि "खग-मृग" से ज्ञातव्य हैं।

चारु

हस्त्यादिलक्षणबोधक शास्त्रों के अनुसार हस्तिआदि प्राणियों में तत्तल् लक्षण-संपत्ति होना "चारु" है।

पवित्रबिसेषी

जैंसे गुहजी की पवित्रता भरतजी के नेत्रों में झलकी वैसे ही श्रीरामसंपर्क में आए पवित्र मृगादि की पवित्रता भरतजी के नेत्रों में झलकी अतः "पवित्र बिसेषी" कहा है।

बूझत

विशेषधर्मावाच्छिन्नविषयक जिज्ञासा "बूझत" है क्योंकि ऐसे पवित्र मृगादि की उपलब्धि अन्यत्र न होना जिज्ञासा का कारण है।

दिव्य

भरद्वाज मुनि के आश्रम में ऋद्धि-सिद्धिकल्पितवस्तुफसाधर्म्य "दिव्य" से समझना हैं।

अथवा :—खग-मृगादिकों में श्रीरामपदयोग्यता होना दिव्य है।

अथवा :—साकेतलोक में अस्तत्वि की योग्यता खग-मृगादि में होना दिव्य है।

संगति :—भरतजी का प्रश्न सुनकर अत्रिमहर्षि ने उत्तर देना ग्रन्थकार सुना रहे हैं।

चौपाई :—**सुनि मन मुदित कहत रिषिराऊ। हेतु नाम गुन पुन्यप्रभाउ ।।४।।**

भावार्थ :—उन (भरतजी) का प्रश्न सुनकर ऋषिराज अत्रिजी प्रसन्न मनस्क हो सबके जनन का कारण, नाम, गुण और पुण्यप्रभाव कहते हैं।

सुनि

शा० व्या० :—अत्रिजी ने भरततात्पर्य समझना "सुनि" का भाव है।

मुदित

भरतजी की जिज्ञासा सुनकर हर्ष इसलिए कि गुरुवचनप्रमाण पर पूर्ण आश्वस्त, पवित्र, नम्र बुद्धिमान्, जिज्ञासु बहुत कम उपलब्ध होते हैं।

कहत रिषिराउ

तत्तन्मृग गत अज्ञात, व्याप्यधर्मावच्छिन्न का गुणादि के साथ निरूपण करना "कहत" है।"रिषिराउ" से अत्रिजी बोध्य हैं।

हेतु

श्रीराम व भरतजी की सेवा के लिए पुण्यात्माओं ने पेड़ों के रूप में जन्म लेना 'हेतु' है।

अथवा वृक्षलतादि की उत्पत्ति का कारण 'प्रयोजन' "हेतु" है। उनको समझाने लायक इतिहास जैसे कूष्मांडलतोत्पत्ति, तुलस्युत्पत्ति, वृन्दोत्पत्ति तथा तत्तवृक्ष के रूप में देवादि का देवीशाप से उत्पन्न होना आदि प्रसिद्ध है।

नाम

यद्यपि भरतजी ने अध्ययन काल में ही वृक्षादिकों के नामों का परिचय पाया है। तथापि अभी "नाम" कहकर 'अयं एतज्जातीयः अमुकनामवाच्यः' ऐसा परिचय न होने से 'नाम' जिज्ञासित है।

अथवा :—कतिपय वृक्ष ऐसे भी होते हैं जो मुनियों के आश्रम में ही होते हैं उनका परिचय "नाम" से ज्ञातव्य है।

गुन

"गुन" के अन्तर्गत पेड़ों के रसवीर्य विपाक विशेष आदि समझने हैं।

पुन्यप्रभाउ

"पुन्यप्रभाउ" से यज्ञसंपत्ति, आयुर्वेदोक्त औषधि, गुणसंपत्ति, तपः संपत्ति आदि के प्राचुर्य से वननिवास की सात्विकता आदि का होना समझना है।

संगति :—स्थान-स्थान पर रामपदांकिन जलाशय पर पहुँचने के बाद भरतजी ने संपादित कर्म शिवजी सुना रहे हैं।

चौपाई :—**कतहुं निमृज्जन कतहुँ प्रनामा। कतहुँ बिलोकत मनअभिरामा॥५॥**
कतहुँ बैठि मुनिआयसु पाई। सुमिरत सीयसहित दोउ भाई॥६॥

भावार्थ :—भरतजी कहीं स्नान, कहीं प्रणाम, कहीं सुन्दर स्थानों के दर्शन कहीं मुनि अत्रिजी की आज्ञा पाकर बैठते हुए श्रीरामलक्ष्मणजीसमेत श्रीसीताजी का स्मरण करते हैं।

निमज्जन

शा० व्या० :—पुन्य जलाशय देखकर उनके सम्मान में भरतजी ने स्नान करना निमज्जन है।

प्रनामा

भूमिविभाग देखकर उससे उन-उन पुरियों की भावना से उन उनको प्रणाम करना भूमि विभागों का सम्मान है। ज्ञातक है कि वक्ष्याण चौपाई के अनुसार निमज्जनादि सभी कार्य सेवारूप में समझने हैं।

बिलोकत

सामान्य पुष्पादिकों से लदे हुए वृक्षादिकों की सुन्दरता देखना "विलोकत" है।

बैठि

ज्ञातव्य है कि दोहा २।३१२।८ के अनुसार ढाईप्रहर वीतने के बाद प्रथमदिवसीथ यात्राको स्थगित करने हेतु भरतजी से बैठने के लिये मुनि ने कहा उनकी आज्ञा सुनकर भरतजी का बैठना "बैठि" का भाव है।

मन अभिरामा

भरतजी को विश्रान्ति प्राप्त होने का परिचायक मन "अभिराम" है।

आयसु पाई

कहीं पर मुनि अत्रिजी, अति भ्रमण कुपथ्य से बचने हेतु बैठने के लिए जहां आदेश करते हैं उसी स्थान पर भरतजी के बैठने से उनकी मनोवृत्ति में चंचलशून्यता समझनी है जो "आयसु पाई" से ध्वनित है।

सुमिरत

"सुमिरत" से भरतजी की मनोवृत्ति का इधर उधर न भटकना सुना रहे हैं। यहाँ ज्ञातव्य है कि उक्त सभी क्रियाओं का कर्तृत्व भरतजी व शत्रुघ्नजी में समझना है जैसा कि दोहा २।३११।२ व २।३१२।३ की व्याख्या में चर्चित है।

सीयसहित दोउ भाई

पूर्व संवाद को यादकर आनन्दित हो भरतजी, श्रीसीताराम-लक्ष्मणजी को स्मृतिपथ में ला रहे हैं। अर्थात् स्मृति के बहाने भरतजी को अन्तःस्थित श्रीसीताराम-लक्ष्मणजी का दर्शन होना भी संकोतित है।

अथवा :—दोहा २।२४२।५-६ में उक्त आशीर्वाद की पूर्ण सफलता का अनुभव करते हुए भरतजी सीताजी विशेष का स्मरण कर रहे हैं जो उनकी आराध्या हैं।

अथवा :—वनवासी श्रीराम की सेवा करने वाले भक्तों के हृदय में ध्येय तत्व कहकर सीताजीसहित श्रीरामलक्ष्मणजी विहित हैं जो 'श्रीरामरक्षास्तोत्र' से पुष्ट है उसी के अनुगमन में ग्रन्थकार ने "सीयसहित दोउ भाई" कहा है। इस प्रकार 'तात विगतभय कानन चरहू' की कार्यान्वयिता स्फुट है।

संगति :—भरतजी के द्वारा किये गए तीर्थादि सम्मान की फलश्रुति समझा रहे हैं।

चौ० :—देखि सुभाउ सनेहु सुसेवा। देहिं असीस मुदित बनदेवा ॥७॥

भावार्थ :—उनके (भरतजी के) स्वभाव, स्नेह व सेवाभाव को देखकर वनदेवता प्रसन्न ही आशीर्वाद दे रही हैं।

सुभाउ

शा० व्या० :- भरतजी में शुचिता आदिगुणों का जन्मजात रहना 'सुभाउ' है।

सनेहु

वनस्थ संपूर्ण जीवों को भरतजी ने प्रेम में आकर किसी को स्पर्श किया, किसी को देखा जो वनदेवों के लिए अतिसुखकर है अतः "सनेहु" कहा है।

सुसेवा

वनस्थ वृक्षादि स्पर्शवेदियों को जिस प्रकार प्रीति हो उस प्रकार से स्पर्श करना "सु" का भाव है।

मुनि के अनुशासन में रहना अथवा "भरतु दिव्य सब देखी"[1] में कही शुश्रूषा "सेवा" से विवक्षित है।

शास्त्रपरिभाषित तत्तद्देवताओं की प्रीतिजनक व्यापार "सुसेवा" है। परिणाम में तत्तत् स्थलों तक पहुँचकर स्वयं ने किए निमज्जनादि की सार्थकता 'सुसेवा' से स्पष्ट है।

देहिं असीस

अवधप्रजा का न्यायतः रक्षण करते व समस्त कण्टक बाधाओं के दूर करते हुए 'साथ गए' से व्यक्त कार्यव्यसनपरिहार्थं विपत्तिविभाजन की निर्विघ्नपूर्णता आशीर्वचन का प्रयोजन है जो "सुसेवा" का परिणाम है।

इस प्रकार 'मुनि आयसु पाई' की सप्रयोजनता के साथ २।३०८।३ की सफल कार्यान्विति समझाई है।

मुदित बनदेवा

"मुदित" से सेवा के उत्तरक्षण में वनदेवों को हर्ष होना स्फुट है।

"वनदेवा" से ज्ञातव्य है कि समस्त वृक्षादिसमुदायतादात्म्यापन्न जीवविशेष का शरीर वन से बोध्य है तथा तत्तदवयवस्थानापन्न वृक्षादितादात्म्यापन्न तत्तद्देवताविशेषों का शरीर ज्ञातव्य है जैसे मर्त्य शरीर में एक स्वतंत्र जीव है व तत्तदिन्द्रियों के साथ तादात्म्यापन्न हुए वन्हि आदि देवों का अस्तित्व भी माना जाता है वही युक्ति वन के संबंध में भी स्मर्तव्य है। वे मर्त्यों के लिए उपास्य होने से 'वनदेव' संज्ञा से बोधित होते हैं।

संगति :—एकदिवसीय सप्रयोजन भ्रमणनिरूपण समाप्त करते हुए तत्तद्दिवसीय वनभ्रमणाश्रयकालनिरूपण के साथ श्रीरामाश्रम की ओर भरतजी का लौटना ग्रन्थकार समझा रहे हैं।

चौ० :—**फिरहिं गएं दिनु पहर अढाई। प्रभुपदकमल बिलोकहिं आई।।८।।**

भावार्थ :- इस प्रकार घूमते हुए ढाई प्रहर बीतने के बाद भरतजी लौटते हैं। आकर प्रभु के चरणकमलों का दर्शन करते हैं।

फिरहिं गए

शा० व्या० :—भ्रमण का सातत्य रहने से "फिरहिं" वर्तमानकाल का बोधक है। 'गए' का अन्वय 'पहर अढाई' से ज्ञातव्य है।

अढ़ाई

प्रातःकालीन कृत्य पूर्ण कर संमय का काल में उक्त यात्रा प्रारंभ कर ढ़ाई प्रहर तक यात्रा पूर्ण कर अपने यथास्थान में पहुँचना "पहर अढ़ाई" से स्पष्ट है। "पहर अढ़ाई" की व्याख्या दोहा २।२७८।६ में द्रष्टव्य है।

---

१. २।३१२।३

प्रभुपदकमल

विश्रामसुख प्राप्ति के साथ देवों से आशिष् को प्राप्त करने वाले भरतजी ने प्रभुपदकमलदर्शन करना उनकी नीत्युक्त सेवकोचित गुण के अन्तर्गत दक्षता (अनालस्य) के सूचनार्थ है जो भरतजी की प्रीति का द्योतक है।

बिलोकहिं आई

प्रथमदिवसीय कार्यक्रम की पूर्णता "बिलोकहिं आई" से स्फुट है।

संगति :—संपूर्ण यात्रा की पूर्णता व्यतीत हुए दिवसों की संख्या बता रहे हैं।

दोहा :—**देखे थल तीरथसकल भरत पाँच दिन माँझ।**
कहत सुनत हरिहरसुजसु भयउ दिवसु भइ साँझ ।।२१२।।

भावार्थ :—भरतजी ने पाँच दिनों में सब तीर्थ स्थलों के दर्शन किये। भगवान् विष्णु व महादेवजी का सुन्दर यशस् कहते वह (पाँचवाँ) दिन भी बीत गया, सन्ध्या (शाम) हो गयी।

सकल

शा० व्या० :—पाँच दिनों के ढाइ प्रहर तक का समय लगाने का कारण "देखे तीरथ सकल" है। इसमें आइपुनरुक्ति उक्तं द्विरुक्तं, नुक्तं अनुक्तं का अनुकरण है।

पाँच दिन

पंचमाधिक संस्या की व्यावृत्ति अर्थात् चित्रकूटयात्रा में देव दर्शन करते पाँच दिन से अधिक दिन का बिषेध सूचित है अथवा ५ दिन विहित है।

कहत सुनत

लक्षणभक्तिरूप शिवचरित्र, एवं लक्ष्यभक्तिरूप प्रभुचरित्र से समझाई गई मानवता की स्थापना के अनुरूप एवं लंकाकाण्डोक्त २ दोहे की उक्ति के अनुरूप 'हरि-हरयशस् का गान करना' कहत सुनत, से स्पष्ट है।

हरि-हरसुजसु

यात्रा में भ्रमण करते हुए हरिहर यशस् के गायन का विधान है इसी को 'हरि-हर सुजसु' से कहा गया है।

सांझ

तीर्थयात्रा का वर्णन कहते सुनते २।२७८।६ के अनुसार फलाहार करते सन्ध्या (शाम) होनी ही है फलतः यह पाँचवीं रात्रि भरतजी के लिए पूर्ण विश्रान्ति देने वाली हो गई। फलतः बहुत दिवस के अनन्तर सभी को प्रगाढ निद्रा आई है। इस प्रकार दोहा २।३०८।१ से दोहा २।३०८।८ तक का भाष्य पूर्ण हुआ।

संगति :—दोहा २।३०७।८ में उक्त प्रार्थना को ध्यान में रखते हुए भरतजी अपने प्रार्थित विषय (अवलंब) को प्राप्त करने की योजना में हैं ऐसा सोचकर उसके आनुकूल्य में समाज का एकत्रित होना बता रहे हैं।

चौ० :—भोर न्हाइ सबु जुरा समाजू। भरत भूमिसुर तेरहुतिराजू ॥१॥

भावार्थ :—अगले दिन सबेरे स्नान करके भरतजी, ब्राह्मण, राजा जनकजी और सारा समाज आ जुटा।

भोर न्हाइ

शा० व्या० :—"भोर न्हाइ" प्रातः कालीन स्नानादि नित्य कर्म अग्निहोत्र, कामदगिरियात्रा, पूजनादि का उपलक्षक है जो ऊपर उपवर्णित है।

सबु जुरा

"सबु जुरा" का आशय श्रीरामवेदी पर सभी के एकत्रित होनें में हैं जहाँ श्रीराम प्रातःकालीन कृत्य कर्म पूर्ण कर समासीन हैं इसलिए कि अभिमंत्रित अभिषेक जल की प्रतिपत्ति आदि कार्य पूर्ण होने के वाद सभी को लौटाना हैं तथापि दोहा २।३०७।८ में प्रार्थित अवलंब की प्राप्ति होने तक भरतजी, वसिष्ठजी, व जनकजी अवध की ओर वापस जाने में उत्साहित नहीं होंगे।

भूमिसुर

"भूमिसुर" से ब्राह्मण, मुनि से वसिष्ठादि मुनि विवक्षित हैं।

तेरहुतिराजू

'तेरहुति राजू" राजा जनकजी है। इसकी एकरुपना ३०६।२ में स्मर्तव्य है।

संगति :—दोहा ३०६।६ में निर्दिष्ट व्याख्यानुसार अर्थतः श्रुतिप्रामाण्य स्थापित होने पर भी श्रीरामपददर्शन के प्रति हेतुल्या श्रुत्युक्त धर्म की उपयोगिता समझी नही जा सकती है उसका उत्तर ग्रन्थकार अग्रिमचरित्र से दे रहे हैं।

चो० :—भल दिन आजु जानि मन माहीं। रामु कृपाल कहत सकुचाहीं ॥२॥
गुर नृप भरत सभा अवलोकी। सकुचि राम फिरि अवनि बिलोकी ॥३॥

भावार्थ :—आज सबको विदा करने के लिए अच्छा दिन है यह जानकर भी कृपालु श्रीरामजी कहने में संकुचा रहे हैं। उन्होंने गुरुजी, जनकजी, भरतजी व सारी सभा को देखा फिर संकोच करते वे पृथ्वी की ओर देखने लगे।

भल दिन

शा० व्या० :—"भलदिन" से संपूर्ण समस्यासामाधानाधिकरण्यविशिष्ट सुमुहूर्तयुक्त दिवसस्फुट है।

मनमाहीं

अवध में समाज को भेजने हेतु सुमुहूर्त है परन्तु जबतक भक्तिदृष्टि से श्रौत धर्म में श्रीरामपगदर्शन-साधनता सिद्ध नहीं होगी तब तक श्रुति की सार्वभौमता स्थापित नहीं होगी जैसा कि संगति व मनमाहीं शीर्षक में अतः उसकी स्थापना होने तक मुहूर्त को मनस् में रखना ही "मनमाहीं" का भाव हैं।

कृपालु

पितृवचनसमन्वय के साथ त्रयी, वार्ता, राजनीति आदि सभी विद्याओं की प्रतिष्ठा पर आघात होने से मेवकों पर आई पीड़ा को हटाने का संकेत "रामकृपालु" से प्राप्त है।

सकुचाहीं

कविने प्रभु के बारे में संकुचाहीं कहा। इसका तात्पर्य वह कि प्रभु ने उक्त बचन (३०४।७ से ३०६।८) सुनकर त्रयी का आदर कार्यान्वित हो गया फिर भी उसकी उपयोगिता कार्यव्यसन के परिहार में ही पर्याप्त होगी। फलतः श्रीरामचरणदर्शन से त्रवी प्रोक्त धर्म का संबंध नहीं रहेगा ऐसा सोचकर 'अतः प्रभु को संकोच हो रहा है।

गुर नृप भरत

तत्तद्रूप में अवतीर्ण उपनिषद, कर्मविद्या व भक्ति विद्याओं को सन्तुष्टि होना सर्वविदित हैं तथापि प्रस्तुत अवलंब मात्र की याचना की याद कर गुर्वादिकों आन्तरिक असन्तोष 'गुर नृप भरत' से व्यक्त है। क्योकि विवेक कुशल हैं यहाँ कौसल्याजी को प्रभु ने अवलोकी चिन्ता है।

सभा

श्रीरामचरण अनुराग में स्थित निश्छल भक्तिसंपन्न समाज यहाँ "सभा" से विवक्षित है। इसका प्रयोजन संकुलि शीर्षक में देखें।

अवलोकी

गुरु मुनि भरतजी के आन्तरिक असन्तोष को परखना 'अवलोकी' का भाव हैं जो पृथ्वी की ओर देखने के प्रति प्रेरिका है। सभा अवलोकी का प्रयोज आगे देखें।

संकुचि

प्रभु ने देवताओं के सामने भूमि पर अवतरित होने की प्रतिज्ञा में यह कहा था कि नारदवचन सत्य करूँगा उसका आशय यह था कि अन्यान्य अवतारों में शब्दप्रमाणातिरिक्त का ही सहारा लेने में कौटिल्य है किन्तु श्रीरामावतार में किसी भी प्रकार से छलादि दोषों को स्थान न देते हुए प्रमाणमूर्धन्यशास्त्रसापेक्षता में ही रहना संकल्पित था किन्तु अभी वसिष्ठ, भरतजी पतात्मा और जनकजी निश्छल समाज के

सामने स्वयं प्रभु ने ही समाज को ऐन्द्रीमाया से ग्रस्त देखते हुए भी उसी ओर प्रवृत्त किया अर्थात् अवध लौटने का अनुमोदन दिया इत्यादि विषयों को ध्यान में लाते हुए प्रभु अधिक संकुचित हो रहे हैं जिसका परिणाम वे पृथ्वी की ओर देख रहे हैं।

छल प्रयोग में नीतिसम्मत धर्मत्व

प्रश्न है कि छलानुमोदनप्रयुक्त लज्जामात्र से छल धर्म कैसे होगा ? इसका उत्तर यह कि भक्ति की सेविका विद्याओं को सन्तुष्टि व राजनीतिस्थापना छलप्रयोग के बिना नहीं होती है तो उस दशा में किया छलप्रयोग उपनिषद्, भक्ति कर्म इत्यादि के लिए सन्तुष्टिकारक होने से वह छल अधर्म नहीं कहा जायेगा। जैसाकिं 'यमार्याः क्रियमाणं हि शंसन्त्यागमवेदिनः' से नीतिसार में उक्त है। अतः छल विशेष प्रयोग में नीतिसम्मति प्राप्त होने से धर्मत्व है।

संगति :—प्रभु के लज्जाभिव्यक्त मानसिक संकोच में स्थायी श्रीरामचरण-दर्शन की प्रतिबन्धकता को सभाने समझना चाहिये था ऐसा न होकर उक्त संकोच को प्रभु श्रीराम के अनन्यसाधारणगुणरूप में समझकर उनकी प्रीति परखी है उसी का वर्णन कवि सभा के संकेत से कर रहे हैं।

चौपाई :—**सील सराहि सभा सब सोची। कहुँ न रामसम स्वामि संकोची ॥४॥**

भावार्थ :—सभा श्रीराम के शील की सराहना करते हुए सोचती है कि प्रभु श्रीरामजी की तरह संकोची स्वामी कहीं नहीं है।

सील

शा० व्या० :—'सद्भिः संभावनीयताहेतुर्गुणः शीलं' के अनुसार सब का यथोचित सम्मान करना शील है जो श्रीराम में सर्वानुमत होने से निर्विवाद है। उसका पर्यवसान संकोच में स्पष्ट हो रहा है क्योंकि इन्द्रजी ने किए छलप्रयोग के चपेट में भी सभी का अनुराग वर्तमान में अपने ऊपर है ही ऐसा देखकर श्रीराम ने छल का प्रतीकार न करना न्यायप्राप्त होने से वे (श्रीराम) विषादरहित उदासीन (प्रीतिरहित) ही रह सकते थे पर वैसा न कर प्रजा को छलप्रयुक्त सत्प्रतिपक्षित स्थिति से बचाते हुए भरतजी को अवध में लौट कर जाने की प्रेरणा देते हुए वियोगपीड़ा का अनुभव कर रहे हैं व मुख नीचे कर रहे हैं यही उन का 'सील' है।

सराहि

'शील' शीर्षकोक्त शीललक्षणानुसार श्रीराम के संकोचात्मक आचार में सराहनीयता बताकर उस आचार में शीलता स्फुट कर रहे हैं।

सभा

श्रीराम के शील की सराहना का कर्तृत्व सभा में बताकर पाँच दिन पूर्व किए गए निर्णय में सभा का विरोधाभाव होना 'सभा' से व्यक्त किया हैं।

सोची

'सोची' से वक्ष्यमाण 'कहुँ न राम' आदि वाक्य समझने हैं।

कहुँ न रामसम

विभिन्न-विभिन्न रुचि रखने वाले लोक की प्रीति प्राप्त करना प्रमाणपरतन्त्र आत्मवान् के लिए भी दुष्कर हैं पर वही कार्य श्रीराम ने संपन्न कर अपनी आत्मरूपता व्यक्त की है इस प्रकार 'कहुँ न रामसम' कहकर उनकी प्रीतिरूपता व आत्मता कवि ने अनुमित कराई है। जो बालकाण्डोक्त ४६ व ११०।४ के प्रश्न का उत्तरान्तर है।

स्वामी

"स्वामी" की व्याख्या इस प्रकार है—

"निवारयन्नकृत्येभ्यः कर्तव्येभ्यः प्ररोचयन्। स्वभावे स्थापयति यः स स्वामीति निगद्यते"[1]।

संकोची

भारतीय राजनीति के अनुसार पूर्वसभाओं में हुए निर्णय के समर्थन में गुरुजी से लेकर समाजपर्यन्त जितने भी सदस्य उपस्थित हैं उन्होंने अपने में द्रव्यप्रकृत्यन्तर्गत स्वत्वक स्वीकार किया है अतः ये सभी श्रीरामजी के अपेक्षरट अधस्तात् हैं तथा सभी श्रीराम के द्वारा नियम्य, प्रेर्य व आदेश्य हैं स्वयं श्रीराम स्वामी आदेष्टा हैं। फिर भी उनके मुख पर स्वामित्वप्रयुक्त भाव ऐसा कोई नहीं है जिसमें कहीं से अवमानना भर्त्सना आदि को अवकाश प्राप्त हो। किंबहुना श्रीराम का आदरभाव पक्वशालिसंपन्न मंजरी के समान नजर आना एवम् 'सब का समाधान मैंने किया' ऐसा अभिमान न होना 'संकोची' से स्पष्ट है।

गुरु व नृप का तूष्णींभाव

ज्ञातव्य है कि राजा जनकजी व मुनि भरतजी की भक्ति और विवेक की अपार महिमा के दिदृक्षु हैं। उनके द्वारा जितना विचार सुनाना अपेक्षित था वह पूर्ण हो चुका है। उसके बाद सभी ने भरतजी को ही अपना नेतृत्व समर्पित कर दिया है जैसा कि २।२९६ में स्फुट है अतः गुरु व नृप तूष्णीभाव में हैं।

संगति :—दोहा ३०७।८ को यादकर प्रतिबन्धकरूप में स्थित 'संकोच' को दूर कराने हेतु अवलंबप्राप्ति का उपक्रम भरतजी ने करना ग्रन्थकार बता रहे हैं।

चौ० :—**भरत सुजान रामरुख देखी। उठि सप्रेम धरि धीरविसेषी॥ ५॥**

भावार्थ :—सुजान भरतजी श्रीरामजी का रुख देखकर धैर्यविशेष धारण कर प्रेमपूर्वक उठे। जिससे त्रयी में भक्तिपक्ष से रामदर्शनयोग्यता व्यक्त कराकर उस में सर्वभौमता प्रमाणित हो सके

---

१. भावप्रकाशन १०७।१९

भरत

शा० व्या० --गुरुजी व जनकजी का तूष्णींभाव से रहना पूर्व चौपाई में निरूपित है अतः विवेकवराहाविशिष्ट एकमात्र भरतजी 'भरत' से ज्ञातव्य हैं।

सुजान

स्वामी के आदेशानुसार कर्तव्यकोटि में आए राज्यरक्षण के उद्देश्य से प्रधानतया अपेक्षित अवलंब को भक्तिशास्त्र के अनुसार समझना "सुजान" है।

रुख

दोहा ३१३।३ के अन्तर्गत "सकुचि" शीर्षक के अनुसार ऐन्द्री माया के चपेट में हुआ पूर्वनिर्णय भक्ति के लक्ष्यग्रन्थ में कलंक है उससे सभा का रक्षण करते हुए सबको अवध में भेजना होगा ऐसा आशय प्रभु के रुख से भरतजी ने समझना "रुख" है।

अथवा :—यथाभिप्रायानुरूपक्रियाविष्करणात्मक इंगित "रुख" से समझना है। उसे केवल भरतजी ही समझ सकते हैं।

अथवा सर्वतोभावेन त्रयी के सार्वभौमना की अपेक्षा भक्ति के उद्देश्य को साधने के प्रति अभि व्यक्त होने के पूर्व ३।३०७।७ में प्रार्थित 'सो अवलंब' का कार्यनिर्वहन नहीं होगा इस प्रकार का आशय समझना 'रुख' है।

अथवा सकुचाही देखकर अपने को अज्ञात कोई रामराभिप्रेत तत्व अवशिष्ट है वही जिज्ञास्य होना चाहिए ऐसा जिस चिन्ह से समझा वही 'रुख' है।

उठि सप्रेम

भरतजी को सुख प्राप्त हुआ है जैसा कि दोहा ३०७।६ में उक्त है। उसी को 'सप्रेम' से व्यक्तकिया है। 'उठि' से बोलने से पूर्व औद्धत्यविरोधीकर्तव्य समझाया है।

धीर

राज्य प्रकृति के द्वारा भगवान् का चतुदर्श वर्ष के बाद लौट कर राज्याभिषिक्त होना इत्यादि सब कार्य निर्विघ्नतापूर्वक निर्णीत हो चुका है तथा चित्रकूटयात्रा व अवनिदर्शन के मनोरथ पूर्ण है। अब अवध के प्रति लौटने में विलंब नहीं करना है किन्तु अभी भी श्रीराम में संकोच बना रहेगा तो यह संकोच राज्यसंचालनार्थ अपेक्षित अवलंब की प्राप्ति में प्रतिबन्धक होगा इसी चिन्ता में भरतजी का चित्त किंकर्तव्य मूढ मानो हो रहा है उससे छुटकारा पाने हेतु भरतजी ने धैर्य को अपनाना 'धीर धौरि' है।

बिसेषी

धीरता रहने पर भी अभी की परिस्थिति कुछ दूसरी ही है जैसे गुरुजी व जनकजी मौन हैं, राम विरहपीड़ा हमे अवध की ओर लौटना है, फलतः पीड़ा से मेरी दुर्बलता

को देख कर मोह अपना प्रभात मुझ (भरत) पर दिखा सकता है पर परिणाम में धीरता अवध में जाते जाते ऊचित कार्य का रिणी नही होसकती ऐसे दोष के निरासार्थ विवेक वराहा प्रायुक्त प्रबलनम धैर्य को धारण करना 'धीरविसेषी' है ।

संगति :—कार्यपूर्तिहेतुतया स्नयं व प्रजासमेत श्रीराम ने दुख, सहा कार्य पूर्ण हुआ, उसके पश्चात् पुनः संकोचात्मकदुःख प्रभु दिखा रहें हैं उससे अपने में कमी समझ में आ रही है उसी व्वथा में पूर्वसत्ताप स्मृत हो रहा है उसको भरतजी अपने वक्तव्य के पूर्व दुहरा रहे है ।

चौ० :—**करि दंडवत कहत करजोरी । राखीं नाथ ! सकल रुचि मोरी ।।६।।**
मोहि लगि सहेउ सबहिं संतापू । बहुत भाँति दुखु पावा आपू ।।७।।

भावार्थ :—भरतजी हाथ जोड़ते दण्डवत कर कहने लगे कि हे नाथ ! आपने मेरी सभी रुचियाँ रखीं । मेरे लिये सभी ने संताप सहा आपने भी बहुत कष्ट पाया ।

दण्डवत

शा० व्या० :—साष्टांग का विचार न करते हुए शरीर को सीधे चरणों पर गिरा देना "दण्डवत" है ।

कर जोरी (विनय व औद्धत्याभाव)

हाथों की अंजलि बांधकर प्रणाम करना विनय का सूचक है तथा बोलने में श्री रामस्वभावप्रयुक्त प्रीति एवं रामसूचक पंचमस्वरविशेष भी यहाँ स्मर्तव्यि है जो धीरविशेषी का परिणाम है

नाथ

"नाथ" की व्याख्या इस प्रकार है—

'दानमानार्थसम्भोगैः लालयन् प्रीणयन् सदा ! भजते रहसि प्रीतः स नाथ इति कथ्यते" ।[1]

सकल रुचि (संपूर्ण मतो का समन्वय)

स्वामित्व की स्वीकृति के आधार पर १४ वर्ष के पश्चात् श्रीराम जी के द्वारा श्रीरामराज्याभिषेक की मंजूरी, भरतजी के प्रति पूर्ववत् प्रीति को कायम रखना, श्रीरामजी ने अपने साथ वनवास का सुख देकर उनको (भरत) कलंक से बचाना, मुनि वसिष्ठजी व माता कौसल्याजी ने निर्णीत किए भरतवनवास पर अनुमति, पितृ वचनों में प्रमाणता की स्थापना, भक्तिकी छत्रछाया में चतुर्विध विद्याओं की स्थापना के साथ पर्यवसान में त्रयी को ही प्रधानता (सार्वभोमता) देना व उनकों सन्तुष्ट करान आदि रुचियाँ "सकल रुचि" से समझना है ।

१. भावप्रकाशन १०७।१७

सहेउ (नान्तरीयकता)

अवध सभा में वसिष्ठोक्ति (२।११७।६) सुनकर सन्तुष्टि न होने से भरतजी ने तथा उनके साथ चित्रकूट जाते समाज ने नियमादिप्रयुक्त क्षुधादि सन्ताप सहना "सहेउ" से स्पष्ट है।

ज्ञातव्य है कि राज्योत्सव में उद्देश्यता सबके लिए समान होने से तदर्थं लोक ने स्वीकृत किए नियम के अन्तर्गत अनशनादिसंतापसहिष्णुत्व राज्योत्सवदर्शनांगत्वात् नांतरीयक होने से वह श्रम के रूप में परिगणित नहीं है।

सन्तापू

शारिरिक, व आधिभौतिक संताप पूर्व में व्याख्यात है इसमें जनकजी का शोक, ताप भी चिन्त्य है।

दुखु पावा आपू (भक्तानुगामिता)

वन में ऊष्मा-वात-वर्षा सहना, पैदल चलना, फलभोजन करना, कुशासन पर सोना, बैठना आदि "दुखु" से स्मर्तव्य हैं जो राजपुत्रों के शरीरानुरूप नहीं होता।

"आपू" से प्रभु की निरीहता, निर्लोभता आदि विवक्षित है। इसका प्रयोजन भरतजी पर श्रीरामजी की प्रीति को निश्छल रूप से व्यक्त कराने में है।

इस प्रकार अन्यस्वामियों की अपेक्षया श्रीराम की स्वामिता में अनन्य वैशिष्ट्य भरतजी ने दर्शाया है।

संगति :—उपक्रतिस्मरण से सबको आदर देकर 'करहू' (३०६।५) की चरितार्थता में भरतजी ने श्रीरामादिष्ट कर्तव्य को पूर्ण करने का संकेत अपनी ओर से दे रहे हैं। अथबा धीर विसेषी का परिणाम सुना रहे हैं जो औचित्य से पूर्ण है।

चौ० :—अब गोसाइ ! मोहि देउ रजाई। सेवौं अवध अवधिभरि जाई ॥८॥

भावार्थ :—अब हे स्वामिन् ! मुझे आज्ञा दें मैं जाकर १४ वर्ष पर्यन्त अवध की सेवा करूँ।

अब

शा० व्या० :—'अब' का निष्कर्ष कैकेयीमनोरथपूर्ति कार्यों का आरंभ समझना है। उसके पश्चात् देर करना ठीक नहीं है।

देउ रजाई

"देउ" यह लोट् लकार में किया गया प्रथमपुरुषीय प्रयोग उत्कृष्ट के प्रति आज्ञार्थकतया विहित है अतः भरतजी ने कहा 'देउ' प्रयोग अनुचित है जैसा कि अर्थशास्त्र में स्पष्ट है—

"देहि इत्यर्थना, इदं क्रियतां इति चोदना"।[१] इसलिए 'देउ' कहाना अनुपित है।

तथापि प्रभु ने खुद ही "सो तुम्ह करहु करावहु मोहू"[२] कहा था उसी के अनुबंध में यहाँ "देउ" कहना भरतजी की विदग्धता का परिचायक है।

कौटिलीय अर्थशास्त्र में रजाई की व्याख्या

"भर्तुराज्ञा भवेद्यत्र निग्रहानुग्रहो प्रति, विशेषेण तु भृत्येषु तदाज्ञा लेख लक्षणम्"[३] से अर्थशास्त्र में "रजाई "स्पष्ट है।

सेवौं

सेवक होकर श्रीराम की प्रीति को बनाने हेतु उनकी संपत्ति सुरक्षित रखनी हैं उसके हेतु एकाग्रता "सेवौं" से समझाई है इसका उदाहरण लंकाकाण्ड में भरतजी के द्वारा हनुमान जी को बाणप्रक्षेप से अवध में नीचे लाना है।

अवधि भरि

"अवधि भरि" से अवध संरक्षण का मर्यादाबिन्दु घोषित है इसलिए कि तावता पितृवचन की प्रमाणता सिद्ध होगी।

संगति :— २।३१३।२ चौपाई के अनुसार 'संकुचाही' के रहते श्रीराम के द्वारा अवलंब प्राप्त होना नहीं है ऐसा सोचकर संकोचात्मक दुरख के निरसन के साथ प्रभु के हर्षयुक्त चेहरे को देखने हेतु तदनुकूलतया उपायशिक्षाप्राप्ति की प्रार्थना कर रहे हैं।

दोहा : **जेहि उपाय पुनि पाय जनु देखे दीनदयाल !।**
सो सिख देइअ अवधि लगि कोसलपति ! कृपाल ! ॥३१३॥

भावार्थ :—जिस उपाय से पुनः दीनदयाल के चरणारविन्द सदा दर्शनीय हों उस प्रकार की शिक्षा दें जो १४ वर्ष में भी मेरे द्वारा सेवित होती रहे।

जेहि उपाय

शा० व्या० :—यहाँ पर जिज्ञास्य उपाय वह होगा जिसके अवलंब से पूर्व-प्रार्थित उद्दिष्ट की सिद्धि क्षेमरुप में परिणत होसकती है अन्यथा 'राम सकुचाही' रहते अवलंब प्राप्त नहीं होगा। यदि अवलंब प्राप्त हो जाय तो भी शिक्षा के अभाव में स्थायीरूप से अभिलाषित रामदर्शन से वंचित होना पड़ेगा। इस विचार से भरतजी ने उपाय पूछना पुनरुक्त नहीं हैं न तो व्यर्थ ही है।

'जेहि' का तात्पर्य सामान्यकार्य-कारणभाव न होकर विशेषकार्यकारणभाव की ओर है जो भक्तों के लिए सर्वथा अनुपेक्षणीय है।

---

१. अर्थशास्त्र अध्यक्षप्रचार शासनाधिकार
२. २। ३० ६।३
३. अर्थशास्त्र,अध्यक्षप्रचारे शासनाधिकारः

देखैं

'देखैं' से उपेय का वर्णन हो रहा है। आशय यह कि अशुचिंता से खोई श्रीरामपदप्राप्ति की वापसी से राज्यप्राप्ति की रुचि व कलंक का परिहार भरत-संकल्पानुसार हुआ भविष्यत् में वह प्राप्ति निरन्तर (भरतजी को होती रहे इस आशयत में) देखें, कहा है। अभी वह दिदृक्षित एसलिए कि १४ वर्ष की अवधि में स्वामी के चरणारबिन्द पादुकारूप में भरतजी के लिए चाक्षुषविषय होने वाले हैं।

दीनदयाल

"दीन दयाल" इसलिए कि भरतजी आज के तथा समान १४ वर्षपर्यन्त दीनता में ही रहेंगे अर्थात् वे कभी चित्त में स्वामित्व को नहीं आने देंगे . किन्तु भरतजी अपने को शरणागत हो श्रीराम के आदेश में सदा रहना निर्णीत कर चुके हैं इस लिए वे 'दीन' है उसके रक्षक होने से प्रभु को दिनदयाल कहा है।

सिख (नूतनता)

उक्त उपेय तत्व के प्राप्त्यनुबंध में आलंबनीय उपाय के प्रति कर्तव्य का बोध जिस व्यापार से हो वह "सिख" से बोध्य है। पलत वह शिक्षा प्रभुपददर्शन के प्रति कारण होगी। यद्यपि भरतजी ने पूछे प्रश्न का उत्तर ३१५ से सुनाई जाने वाली दर्शित शिक्षा ही होगी जो ३०५।१ से ३०६।३ तक भी निरूपित है अतः वक्ष्यमाण सिक्षा में नूतनता (अज्ञात अज्ञापकता) नही है ! तथापि वक्ष्यमाणशिक्षा में रामपददर्शन प्रति कारणता समझाकर भक्तिसिद्धान्त की दृष्टि से उस मत में भी श्रुति की सार्व-भौमता स्थापित करेंगे जो २।३१५ में सुनाए उपदेश में नही है इस प्रकार श्रुति की सार्व भौमना सिद्धि के साथ वक्ष्यमाण शिक्षा में नूतनता मननीय है।

अवधि लगि (कार्यकारणभाव में त्रैकालिकता)

वक्ष्यमाण शिक्षा में अवधिलगि की एक वाक्यता से श्रीराम प्रदत्त शिक्षा की उपादेयता १४ वर्ष के अन्नतर आकिंचित्कर है परन्तु न्याय की मति में वह विवेक नही है। क्योंकि न्यायदृष्टि में कार्यकारणभाव देशादिसीमित न होकर सदा के लिए रहता है। प्रकृत में अवधि कह कर भरतजी ने किसी भी प्रायोगिक के अवसर पर श्रुति की सार्वभौमता को असाज्य समझने का संकेत दिया है. जो विद्वानों के लिए अत्यन्त मननीय है।

कोसलपाल

स्वामी (श्रीराम) के परिचयार्थ 'कोसलपाल' कहा है।

संगति :—उक्त दोहे में निरूपित शिक्षानुसरण करने वाले निर्दंभी सेवकों पर विपत्ति का आना असंभव नहीं है उस दशा में भी रामदर्शनजोगु रामादेशपालन की अपरिहरणीयताप्रजा के चरित्र से बता रहे हैं।

अथवा रामदर्शनोद्देश्यका सदाचार पथ्य रूप में नीतिमान् भक्तों के कौन हैं ? जिनके अवलंब से सभी को रामपददर्शन सुलभ होना बता रहे हैं।

चौ० : —**पुरजन परिजन प्रजा गोसाईं ! । सब सुचि सरस सनेहं सगाई ॥१॥**
राउर बदि भल भवदुखदाहू । प्रभुबिनु बादि परमपद लाहू ॥२॥

भावार्थ :—हे गोसाईं जी ! आपके प्रेम व स्वस्वामिभाव संबंध से अवधवासी कुटुम्बी और प्रजा सभी पवित्र व तन्मय (पथ्य) हैं। आपके लिए भवदुख (जनम) की आग में जलना अच्छा है किन्तु आपके बिना परमपद (मुक्ति) लाभ व्यर्थ है

पुरजन परिजन प्रजा

शा० व्या० :—पुरजन :—दुर्ग (अयोध्या) वासी 'पुरजन' हैं।

परिजन :—प्रभु (राजा) के कर्मचारी, बाह्याभ्यन्तरवर्ती 'परिजन' हैं।

प्रजा :—दुर्ग से बाहर रह कर कृषि आदि कार्य करने वाले देशवासी 'प्रजा' हैं।

पुरजना दि के उल्लेख से प्रभु (श्रीराम) व संपूर्ण देशवासियो का पारस्परिक प्रेम व अटूट संवन्ध दर्शाया है जो ३०३।१ व ३०६ की चौपाइयों में व्यक्त हुआ है।

सब सुचि

वर्णाश्रम समाज की त्रेता युगीन यह मर्यादा है कि उसयुग में जन्मे व्यक्तियों में तृणमात्र भी अशुचिता प्रसक्त होती है तो उसका दण्ड सभी ग्रामवासियों को भोगना पड़ता वह प्रसक्ति यहाँ श्रीरामने किए स्वामित्वस्वीकृति से नहीं है समझाने हेतु "सब सुचि" कहा है। ज्ञातव्य है कि सुचि सरस व सनेह को पथ्य के रूप में समझना दृष्टि है।

स्मर्तक है कि शुचिता वेदप्रोक्त विधिनिषेध से ही ज्ञात होती है उसको अपनाने वाले अवधवासी सभी दे हैं अतः सभी में रामपददर्शनाधिकारिता सुचि, से व्यक्त कीहै। उसका विशेष फल विहित-इन्द्रियप्रतिपति से अन्य प्रतिरी पत्तिकी होना व्यावृत्ति है।

सरस

परिजन आदिको ने कैकेयीमत को सम्मान न देकर बड़े उत्साह से यात्रा में सहयोग देना, विपत्ति को विपत्ति न समझना, सुरमाया से उचाट होने पर भी किसी ने किसी को कुछ भी न कहकर श्रीरामस्नेह में प्रभु को न त्यागना "सरस" है जो वुद्धि का अष्टम गुण होता हुआ औचित्य से पूर्ण व अनुपेक्षणीय व पथ्य है।

सनेह

स्नेह की व्याख्या इस प्रकार है—

"मनसो यत् द्रवार्द्रत्वं विषयेषु ममत्वता, भयशंकावसानात्मा स एवं स्नेह उच्यते"[1]।

1. भाव प्रकाशन ४०।२

सरस कहकर स्नेह के पुनःपदर्शन से समस्त प्रजा के प्रति शुचि आत्मश्रृंगार समझाया है जो जन्मान्तर मे भी अटूट रहने वाला है। यह तीसरा पथ्य है।

सगाई

"सगाई" शब्द संबंधबोधक है। अर्थात् पुरजन आदि को ने शुचि सरस हो स्नेह के माध्यम से अपने मनस् को श्रीराम के प्रति संबद्ध करना "सगाई" है जो पतिपत्नी-भाव का सूचक है।

राउर बदि

श्रीरामजी ने जिस राज्य को त्यागा उसको भरतजी यदि स्वीकार करते या वहाँ रहने तो वह अनुचित होने से लोक में प्रीतिस्थापक नहीं होता इसलिए भरतजी ने राज्य को त्यागना उचित था अब श्रीरामजी अवधस्वामित्व को पुनः स्वीकार कर रहे हैं ऐसी अवस्था में श्रीरामसंपत्ति का रक्षण करना भरतजी को इष्ट है यतः इस रक्षण से श्रीराम की प्रसन्नता अवश्यंभाविनी होती है यही "राउर बदि" है।

भवदुख

जैसे कुन्ती देवी ने धर्मराजादिरक्षणार्थ उनके साथ रहते सापत्नभाव क्लेश दाह आदि सहा क्योंकि भक्तिसिद्धान्तानुसार तथाविध क्लेश सहने में प्रभुदर्शन की व्याप्यता कुन्तौ को विदित थी। उसी व्याप्यता को ध्यान में रखकर यहाँ 'भवदुखदाहू' कहा गया हैं।

प्रभुबिनु

भक्तों को सेव्यत्वेन प्रभु का दर्शन न होना "प्रभुबिनु" है।

परम पद

भक्ति (उपासना) सिद्धान्त में सर्वस्व प्रभु (सगुण ब्रह्म) ही एकमात्र हैं। अद्वैतसिद्धान्त में परमपदप्राप्ति ही ब्रह्मसाक्षात्कार है जिसमें वैकुण्ठादिसमेत संसार का अदर्शन होता है उसका परिणाम प्रभु की सेव्यता व भक्ति का विलयन होना सिद्ध है किन्तु यह सिद्धान्त भक्तों को मान्य नहीं है इसलिए भरतजी उपर्युक्त स्नेह में ही सदा ओत-प्रोत हैं।

इस प्रकार 'भवदुख' शीर्षकोक्त तथाविध व्याप्यता (प्रभुपददर्शनं तदीया देश पालन ब्यापकम्) प्रभुसंपत्तिरक्षण में समझकर भरतजी के द्वारा अवध में रहने की स्वीकृति से संगत्युक्त प्रश्न का उत्तर पूर्ण हुआ।

संगति :—दो. २।३१३ में निरूपित्त प्रश्न के स्पष्टीकरण में याचना करते हुए भरतजी वैसी शिक्षा चाहते हैं जिसका फल जन्मान्तरीय न होकर इसी जन्म में प्रजा का यथावत् ध्यान रखते हुए उसका पालन होता रहे ऐसी प्रर्थिना प्रभु से कर रहे हैं।

चौ०:—स्वामी ! सुजानु ! जानि सबही की। रुचि लालसा रहनि जनजी की ॥३॥
प्रनतपालु ! पालिहि सब काहू। देउ दुहूँ दिसि ओर निबाहू ॥४॥

भावार्थ :—हे स्वामिन् सर्वज्ञ ! आप सबकी रुचि लालसा समझते हैं। तदनुस.र ही शिक्षा देय होगी जो सबके लिए कृतिसाध्य होते हुए अवध व वन के वास पर कोई आँच न आवे।

सुजानु

शा० व्या० :—प्रभु के वनवास एवं भरतजी के अवधवास में संभावित विघ्न-विपत्ति के प्रतीकार की जिज्ञासा एवं प्राणिमात्र को रुचि व लालसा की पूर्ति होने में प्रयोगविशेष के ज्ञाता प्रभु "सुजानु" से बोध्य हैं।

सबहीं

"सबही से छलशून्य साध्वी प्रजा विवक्षित है।

रुचि लालसा

रुचि लालसा का अन्वय "जानि सवही की" से है। रुचि से जुगुप्सानिवृत्ति, लालसा से विषयसिद्धि (श्रीराम दर्शन में आनन्दानुभूति) समझनी है। रुचि व लालसा दोहा २।३०२।३-४ व २।३०३।३ में स्पष्ट है।

रहनि जनजी की

'रहनि' से आचरण विवक्षित है। यहाँ कविने "रहनि" से 'लालसा' पृथक् की हैं क्योंकि ऐन्द्रीमाया के चपेट में आकर भी प्रजा अवध की ओर जांने में उत्सुका नहीं है पर वैसी उत्सु कता को बनाना "रहनि" से समझना है। "जनजी की" से वाचिक कायिक मानसिक एकरूपता स्पष्ट हैं।

प्रनतपालु

जितेन्द्रियता व शास्त्रार्थानुष्ठान से संपन्न साधु व सयानों के रक्षक प्रनतपाल से बोध्य हैं।

प्रमाणनिरपेक्ष हो प्रमेय तत्व को समझने की पूर्ण योग्यता सर्वज्ञ में ही होने से श्रीराममें प्रणतपालता निर्णीत है। यह इसलिए कहा गया कि महाराजा दशरथजी ने संपूर्ण मंत्रिमण्डल के साथ निश्चित किए राज्यारोहण पर बाधा पहुंचाकर एक क्षण में आई विघ्नबाधा से भरतीय भक्ति में विघ्न पहुँचाना प्रसिद्ध है उसका परिहार प्रभु के अतिरिक्त और किसी के द्वारा नहीं हो सकता।

पालिहि सबकाहू

मानुषी व दैवी विपत्ति से बचाना "पालिहि" है।

अथवाः—पालन विधि के प्रथम पुरुष का बोध "पालिहि" से करना है जो प्रार्थनापरक है। इस प्रकार दोहा २।३०५ की एकवाक्यता में प्रभु के पालकत्व की वोधक श्रुति की सार्वभौमता स्पष्ट है।

'सब काहू' से पालन करने में उच्चनीचवैषम्याभाव समझाया गया है।

दुहू दिसि

एक ओर दक्षिण दिशा और दूसरी ओर उत्तर दिशा का अन्तिम छोर 'दुहू' से समझना है अर्थात् दोनों दिशा श्रीरामजी को पालनीय हैं। दक्षिण में दुष्टसंहार करते हुए प्रजा का पालन करना है। दूसरी ओर उपदेश देकर भरतजी के द्वारा उत्तर दिशा का रक्षण करवाना है।

इस प्रकार दोनों ओर "पालिहि" बताकर दोहा २।३१४।१ की संगति में सूचित विघ्ननिवारण की प्रक्रिया बताकर भरतजी ने प्रभु के द्वारा दी जाने वाली शिक्षा में त्रिकालाबाधित प्रामाण्य व शंकाभाव स्पष्ट कर वेदवचन प्रामाण्य की त्रिकाला-बाधितता स्पष्ट की इसी सिद्धान्त को ध्यान में रखते हुए नीतिसार में "व्यवस्थापित-धर्मस्थ लेकस्य जीवनहेतुवर्ति"[1] कहा गया है।

संगति :—भरतजी प्रभुशिक्षा में त्रिकालाबाधित प्रामाण्य के प्रति आहार्यशंका व विप्रतिपत्ति को अवकाश प्राप्त न होना बता रहे हैं।

चौ० :—अस मोहि सब बिधि भूरि भरोसो। किए बिचारु न सोचु-खरो सो ॥५॥

भावार्थ :—विचार करने से मुझे शिक्षा पर पूर्व स्थायी विश्वास है कि उसमें आहार्य शंका व विपुति पत्ति को अवकाश नहीं है।

अस मोहि

शा० व्या : —"अस" का अन्वय 'भरोसों से समझना है जो २।३१४।१-४ में उक्त अर्थपरक हैं।

"मोहि" से केवल भरतजी ही नहीं अपितु सर्वतोभविन प्रमाण की महत्ता को समझकर तत्प्राथित अर्थ व प्रीति को छलशून्यता पूर्वक अपनानेवाले सभी शुचि भक्त भी समझने हैं।

सब बिधि भूरि भरोसो

"सब बिधि" के अन्तर्गत भक्ति की छत्रछाया में रही विद्याओं के बलाबल-निर्णयपूर्वक उन सभी विद्याओं की यथावत् पूवानुस्यूत स्थापना व पार्वतीरूप श्रद्धोत्तर-भावी शिवस्वरूप विश्वास को उत्पन्न कराने वाले सर्वविध इतिहास आदि सभी "सब बिधि" से उक्त हैं। ये सब तथ्य "भरोसो" के इतिकर्तव्यकुक्षि में गिनाए गए हैं। अर्थात् ये सभीप्रकार प्रभु की शिक्षा से भरतजी को प्राप्त होने वाले हैं जिसके अवलंब से सब कठिनाइयां निरस्त हो जाएंगीं। उनमें प्रभु के द्वारा किए विपत्तिपरिहार के समानाधिकरण में परकीय विपत्तिपरिहार का सामानाधिकरण्य ने अनेकधा प्रत्यक्षाप्रमाणित होना "भूरि" है।

किए विचारु

पूर्व में उक्त 'भरोसो' का अनन्तर भावी काल "किए से दर्शा रहे हैं। 'न' से विप्रतिपत्ति का अभाव दर्शाया है।

---

१. २।३।२

'किए' में उक्त उत्तरकालीन सत्परामर्श 'विचारु' से समझना है जो शिक्षा का सार है। उसका परिणाम 'न सोचु' में द्रष्टव्य है।

न सोचु

प्रभु को सर्वविधि हितकारी समझने के बाद उनसे प्राप्त शिक्षा में ननु- नच इत्यादि आहार्य शंका को अवकाश प्राप्त न होना 'न सोचु' से समझाया है।

संगति :—पूर्व चौपाई में वर्णित विश्वास की पराकाष्ठा जन्म से ही रहते हुए भी भरतजी अतितीव्रचिन्ताग्रस्त होकर चित्रकूट में कैसे आए ? इसका समाधान दे रहे हैं।

चौ०:—आरति मोर नाथकर छोहू। दुहुं मिलि कीन्ह ढीठु हठि मोहू ॥६॥

भावार्थ :—मेरी पीड़ा व स्वामी का स्नेह दोनों ने मिलकर मुझे इतना विवश किया कि जिससे आपके सामने आने व विषयोंपस्थापन करने हेतु टिठाई हुई है।

आरति

शा० व्या० :—भक्तिविलोपसहकृत राज्यटीकास्वीकार करने से भरतजी के जीवनाधारभूत भक्ति को संभावितनश्यता के प्रति कारणता होना 'आरति' से समझाई है।

छोहू

भरतजी के प्रति सदैव बना रहा स्वामी (श्रीरामका) मानसिक स्पन्दनात्मक स्नेह 'छोहू' से स्पष्ट है।

दुहु

"दुहु" से आर्ति व स्नेह विवक्षित है।

ढीठु

प्रथम सभा से आरंभ कर अभी तक जो भी भरतजी ने वाक्य सुनाएँ हैं वे सभी धृष्टतामूलक हैं जो अनुजीविवृत्त के विरोधी कहे जा सकते हैं। उसके प्रतिन्यायाभिमत उत्तेजकता की पर्याप्ति 'स्नेह' व 'आरति' में बताकर यह ध्वनित किया कि केवल आर्ति रहने पर सेवकमनोरथपूर्ति होना कठिन है तथा केवल स्नेह रहने पर धाष्ट्र्य ही नहीं होगा यदि होगा तो वह दंभ होगा। इस विशेषांश के निरूण से 'आरत के चित चेत्' उक्ति के बाद इस उक्ति में वैयर्थ्य नहीं समझना है।

संगति :—मीमांसा में 'दध्ना जुहोति' वचनाभिप्रेत निर्दिष्टगुणविधि के तुल्य गुणविधि को भरतजी सुना रहे हैं।

अथवा :—भरतजी स्वाम्यनुजोविवृत्त पक्ष से शिक्षा देने की प्रार्थना के बारे में निगमनवाक्य सुना रहे हैं।

चौ० :—यह बड़ दोषु दूरि करि स्वामी। तजि सकोच सिखइअ अनुगामो ॥७॥

भावार्थ :—उपर्युक्त अपरिहार्य धाष्ट्र्य को दोष न समझकर संकोच त्यगकर आप हमें शिक्षा दें।

बड़ दोषु

शा० व्या० :—अनुजीविवृत्ति की दृष्टि से अनुचितरूप में भासमान होने पर भी अपरिहरणीयभक्तिविलोप के प्रत्याख्यान कर्तृत्वद्वारा भक्तिस्यापनांगभूत धाष्ट्र्यं "बड़दोषु" से विवक्षित है।

दूरि करि

उपरिपरिभाषित आर्ति व स्वामिस्नेह में उत्तेजकता समझकर उक्त धाष्ट्र्यं में दोषाभाव स्वीकारना 'दूरि करि' है।

तजि संकोच (गुणविधि)

सेवक ने धृष्टता करना स्वामी के लिए लज्जाजनक है क्योंकि वर्णाश्रम जगत् में स्वामी की अप्रतिष्ठादि की अकार्य कहा गया है तन्निवारण प्रयोजक लज्जा न होना सेवक की अशुचिता है उसकी प्रसक्ति न होने से 'तजि संकोच' कहा है। एवच संकोच का त्याग उक्त उत्तेजकद्वय के कारण होना है। यह त्याग ही संगत्यनुसार गुणाविधि है जो २।३१३ में निर्दिष्ट शिक्षोद्देश्य की पूर्ति के लिए है।

सिखइअ

आचारशिक्षा "सिखइअ" है। ऐन्द्रीमाया से निर्मुक्त हो भक्तिस्थापना में सेवक का तत्पर रहना देखकर उसके हृदय में कुण्डलिनीजागरण कराकर सेवक के हृदय में शास्त्रसम्मत अन्तर्नाद सुनाना 'सिखइअ' का एक भाव है अथवा प्रस्तुत में भरतजी के लिए प्रभुने कण्ठतः सुनाना 'सिखइअ' का दूसरा भाव है।

संगति :— जिज्ञासित भरतवाक्यार्थ का औचित्य सभा ने की हुई प्रशंसा से कवि व्यक्त कर रहे हैं।

चौ०:—भरतविनय सुनि सबहि प्रसंसी। खीर-नीर-बिबरनगति हंसी ॥८॥

भावार्थ :—भरतजी की विनयपूर्वक प्रार्थना सुनकर सब सभा प्रशंसा करने लगी मानो वह विनन्ति क्षीर-नीर-विवेक करने वाली हंसिनी की चाल चल रही हो।

भरतविनय

शा० व्या० :—"भरतविनय" से श्रीराम के स्नेही आर्त शुचि भक्त की प्रार्थना स्मर्तव्य है जो दोहा २।३१३।६ से २।३१४।७ तक वर्णित है।

सुनि

भरतमहावाक्यार्थ का बोध होना "सुनि" का भाव है।

सबहि

'सबहि' से ऐन्द्री माया से ग्रस्त (दोहा २।३०२।४) श्रीरामस्नेही जन तथा ऐन्द्रीमाया से शून्य जनकादि विवक्षित हैं।

प्रसंसी

दोहा२।२१३ से २।३१४।७ तक भरतजी की जोभी वचनरचना सुनी उस में सभा आन्वीक्षिकीप्रधानता का कौशल समझ रही है जिसके आधार पर विद्याओं के बलाबल के साथ पितृवचन की प्रमाणता व विलोपदशा में पहुँची भक्ति की पुनः स्थापना करना सभा की 'प्रसंसी' का विषय है।

ज्ञातव्य है कि भरतजी की विवेकयुक्त वाणी सुनकर जनकादि विवेकी विद्वान् प्रशंसा कर ही रहे थे अभी संपूर्ण समाज ने भी प्रशंसा करना "प्रसंसी" है।

खीर-नीरबिबरन

दोहा १।६।४ के अन्तर्गत कही त्रयी स्थापना के अनुसार गुणात्मक दूध का ग्रहण तथा दोषात्मक जल का त्याग करने में सभा अपना पूर्ण भला समझ रही है उसी तथ्य का भरतजी के द्वारा प्रकाशित होना 'खीर-नीर विवरन' है।

अथवा अनुगामियों के लिए श्रुतिसार्वभौमता व भगवद्प्रदत्त अवलंब की सार्वभौमता में एकरूपता लाने हेतु प्रश्न उपस्थापित कर विवेक का प्रकाशन करने का मार्ग प्रशस्त करना 'खीर-नीरबिवरन' है।

हंसी

'हंसी' से समझना यह है कि सभा भरतजी की अपेक्षया उनकी वाणी पर अधिक बल दे रही है जो श्रीरामशासन स्वीकार करने में सबके लिए प्रेरिका हो रही है अतः वाणी की समानलिंगता में "हंसी" कहना उपपन्न है। इससे सभा जन ऐन्द्रीमाया से ग्रस्त होने पर भी श्रीरामशासनपालन में स्थिर ही हैं समझाने हेतु 'हंसी' कहा है।

संगति :—भरतविनय में संपूर्ण सभा की समशीलता देखकर उसकी श्रीराम का उत्तर शुश्रूषित है उसके उपक्रम में कवि श्रीरामजी की नैतिक कुशलता प्रगट कर रहे हैं जो सभी शुश्रूषुओं के लिए आस्वाद्य व सदा अनुष्ठेय है।

दोहा :—**दीनबंधु सुनि बंधु के वचन दीन छलहीन।**
देसकालअवसरसरिस बोले रामु प्रबीन॥ ३१४॥

भावार्थ :—दीनबन्धु श्रीराम भाई भरतजी के छलहीन वचन सुनकर देश-काल और अवसर के अनुकूल वचन बोले।

दीनबन्धु

शा० व्या० :—प्रभु की सेवा में उपस्थित या उपस्थापित बाधा के प्रतीकार में स्वकृतिसाध्यता की सबाधता समझकर उन्हीं उद्देश्यों को पूर्णतया कार्यान्वित करने हेतु अपनी स्वतंत्रता नष्ट कर शरणागत हुए व्यक्ति 'दीन' हैं उनके संकल्पित कार्य को पूर्ण करने व विघ्नों का निरास करने में सहायक 'दीनबन्धु' हैं।

असमाधेय स्थिति में आनेवाली या असमाधेय शंका से आक्रान्त प्रपन्न भरतजी 'दीन' हैं उनकी आपत्ति का निरास करने में निपुण प्रभु श्रीराम 'दीनवन्धु' से लक्षित हैं।

दीन पर नैतिक दृष्टि

प्रभु ने निर्णय किया कि अभी तक भरतजी करुण में आकर गांधार व निषाद स्वर में बोल रहे थे अब तो उन्हें संपूर्ण प्रजा में स्थायी अनुरागदार्ढ्यार्थ शमसहकृत पंचम स्वरसंपृक्त नाद में ही स्थिर रूप में रखना है परन्तु उपर्युक्त शिक्षाविषयक शंका के संक्रमण से शमसहकृत पंचम स्वरयुक्त नाद प्रकट नही हो रहा है अब भरतजी को शंकाप्रयुक्त दीनता से उबारना है ऐसा समने हेतु 'दीनबन्धु' कहना नैतिक दृष्टि है।

दीन

सन्देह के समाधान मे कृत्यसाध्यताबुद्धिमान् होना प्रकृतमे "दीन" है। समाजों व देवों के प्रतिनिधि बनकर बोलने वाले नीरक्षीरविवेकप्राप्ति के चिन्तक भरतजी का अनन्यमनस्क शरणागतिभाव प्रगट करनेके साथ भावी कर्तव्य के प्रति अनिर्णयस्थित में 'भरतजी' उनका रहना "दीन" से स्फुट है।

छलहीन

अभीतक भरतजी ने जो भी वचन सुनाए हैं उनमें कभी देव या कभी तो समाज साशंक हो रहा था इसलिए समाज पर मायाप्रयोग अपेक्षित था जैसा कभी छल-प्रयोग की विनश्यत्प्रागभावदशा से कभी (उत्तरकाल) छलप्रयोग ही प्रगट होने से स्पष्ट है। अभी भरतजी के वचनों में उन संपूर्ण दशाओं का समापन हो चुका है ऐसा समझकर कवि ने "छलहीन" कहा है इसलिए यह कहा जा सकता है कि देव व संपूर्ण समाज एकरूप में आ गए फलतः जिज्ञासा की शमनार्थ भगवत् पादारविन्द-दर्शन की स्थिरता रूप क्षेम के लिए दोनों भाईयों के संवाद में भविष्यत् कालीन कर्तव्यबोधक शिक्षा जो भी होगी वह सबको मान्य ही है ऐसा दर्शाने हेतु 'छलहीन' कहा है।

देशकाल अवसर

'देशकाल' समयोचित संस्कारों के उद्‌बोधक या अनुद्‌बुद्ध के स्मारक माने गए हैं जैसे मगर का भूमि पर कुत्ते से वध्य होना मगर के अनुद्‌बुद्ध संस्कार का परिणामं है जो देश का उदाहरण है। रात्रि में काक में अन्धापन होना काल का उदाहरण है। उसी प्रकार यहाँ मोहासंस्पृष्टविवेकसाम्राज्ययुक्त चित्रकूट देश है। जहाँ भरतकूप उपस्थित है जिसमें नहाकर शुद्ध हो एक साथ एकत्र सारे समाज को उपस्थित होने का समय काल का वैभव है। अथवा समाज में दीनता आने का समय 'कालवैभव' है। देशकाल का संयोग होना अवसर है जो दुर्लभ प्राय है।

सरिस

लोकयात्रासंचालन के लिए 'अनुरुपताप्राप्ति 'सरिस से' विवक्षित है। अथवा प्रस्तुत में प्रभु जो भी निर्णय सुनायेंगे वह सर्वमान्य होगा समझाने हेतु 'सरिस' कहा है। आशय

यह कि प्रभु के वचनों में दीनता का परिहार छलहीनता एवं देशकालयोग के संबंध को ध्यान में रखकर उनके बचनों का तात्पर्य प्रकट होना 'सरिस' का निष्कर्ष है।

रामु प्रबीन

दोहा २।३१३ के उल्लेखानुसार श्रीरामपददर्शन की स्थायिता के प्रति कार्य-कारणभाव के ज्ञाता एकमात्र श्रुत्यनुगामी श्रीराम होने से "रामप्रबीन" कहा है।

संगति :—नीर-क्षीर-तत्व को पार्थक्येन प्रकाशित करने वाली विवेकयुक्त शिक्षा की प्रार्थना सुनकर आनन्द में आने वाले विद्वद्वर्ग व तदनुयायियों के सामने २।३१३ व २।३१४।३-४ की उक्ति का उत्तर प्रारंभ कर रहे हैं। जिससे भरतजी २।३१३।व २।३१४।३-४ में वर्णित चिन्ताओं से मुक्त होंगे।

चौ० :—तात! तुम्हारि मोरि परिजनकी। चिन्ता गुरहि नृपहि घर बनकी ॥१॥

माथे पर गुर मुनि मिथिलेसू। हमहि तुम्हहि सपनेहु न कलेसू ॥२॥

भावार्थ :—हे तात! तुम्हारी मेरी व परिवारजनों की तथा घर, वन की चिन्त गुरुजी और जनकजी को है। हम लोगों के लिए अवग्रह के रूप में गुरुजी, मुनि विश्वामित्रजी, व जनक राजा उपस्थित हैं जिससे हम लोगों को स्वप्न में भी क्लेश नहीं है।

मोरि (प्रमेयचिन्तोन्मुक्ति)

शा० व्या० :—"तुम्हरि मोरि" का विशेष भाव यह कि प्रभु ने प्रमेयचिन्ता न करने का संकल्प लेने का कारण यह कि अवग्रह रूप में स्थित गुरुजी व पिताजी हैं अतः उनके वचनानुशासन में रहकर प्रभुने वनवास प्रारम्भ किया परिणाम में जो भी १४ वर्ष तक घटनाएँ उपस्थित होगीं उनका परिहार कैसे होगा ? इत्यादि का उत्तर गुरुजी तथा राजवचनों ने सोच रखा है अतः प्रमेयचिन्ता से बहिर्भूत हो प्रभु ने वनवास स्वीकृत किया है उसी आदर्श को भरतजी ने भी अपनाना है समझाने हेतु 'तुम्हारी' व 'मोरी' कहा है।

परिजन की चिन्तासंबन्धी एक विवेक

श्रीरामजी व भरतजी यदि परिवार तथा घर की चिन्ता करते हैं तो शास्त्र-प्रमाण की दृष्टि में वह प्रमेय की चिन्ता कही जाएगी। प्रमेय अत्यधिक होने से तद्विषयिणी चिन्ताएँ भी असंख्य हैं उनको दूर करने हेतु प्रपन्न सेवक यदि उपाय सोचता रहे तो चिन्ताओं का अन्त होना उसके लिए कठिन है इस लिए प्रपन्न को श्रीरामावलंबप्राप्ति का फल (यथार्थं वस्तु प्रतिभान) प्राप्त होगा ही ऐसा नहीं कहा जा सकता अतः उस भार से सेवक ने अपने को मुक्त रखना ही श्रेयोमार्ग हैं समझाने हेतु परिजनादि का उल्लेखहै। यहाँ प्रधानतमत्वात्, 'तुम्हारी' प्रधानतरत्वात्, 'मेरी', व प्रधानत्वात् 'परिजन' का क्रमशः उल्लेख है।

चिन्ता

आप्त, सर्वज्ञ, वसिष्ठ मुनि और राजा जनकजी के रहते सामजिक सेवक ने अनन्तप्रयोगात्मक प्रमेय के चिन्ताजाल के बोझ को उठाना न्यायभाषा के अनुसार सेवक के लिए अन्यथासिद्ध है। चिन्ता का अन्वय 'गुरहि नृपहि' से है उसका तात्पर्य चिन्ताशमनकर्तृत्व में है जैसा कि 'मशकाय धूमः' वाक्य से धूम में मशकनाशकत्व होना स्पष्ट है। यहाँ चिन्ता का कर्मत्व 'तुम्हारि मेरि परिजन' में है।

गुरहि नृपहि

सर्वज्ञता में गुरुजी व जनकजी में समान हैं जैसे गुरुजी ने 'सिव साखी' कहा है जनकजी ने त्रैलोक्यविजय की घोषणा की है। उन दोनों में से किसी एक का नाम-कीर्तन करने में विनिगमना न होने से "गुरहि नृपहि" कहा है दोनों में चिन्तन-कर्तृत्व ज्ञातव्य है। यहाँ 'मुनि' का उल्लेख न होने का कारण उनकी नीति से विलग कर गृहीतपोमात्रनिष्ठता है।

घर बन को

"घर" से राजदुर्ग व "बन" से चित्रकूट विवक्षित है। आशय यह कि १४ वर्षपर्यन्त नदिग्रामवास व वनवास होते हुए भरतजी या श्रीराम पर आनेवाली जो भी विपदाएँ होंगी उनका निराकरणभार गुरु व नृप के वचन में समझना है।

माथे पर (प्रमेय चिन्ताधिकारी)

शास्त्रों की अनुपेक्षणीयता में रहने का सुझाव सर्वज्ञ, आप्त तभी तक करते हैं जबतक शास्य राजा शासक के अंकुश में रहते हैं। इसमें नीतिविद्धान्त यह है कि संत, सर्वज्ञ व माहात्माओं को दुर्ग मानकर उनकी छत्रछाया में शास्य राजा रहते हैं तो वे सदा राजा, राजवल्लभ शत्रु व लोभ से बचे रहते हैं तथा प्रजा का सदा पालन करने में समर्थ होते हैं। यदि वे शासक संत महात्माओं द्वारा उपेक्षित होते हैं तब तो शास्यराजा दण्ड्य होकर स्वयं ही अपना और प्रजा का विनाश कर लेते हैं इसलिए शास्य राजाने शत्रुषड्वर्ग के अधीन न होना ऐसा समझने के लिए 'माथे पर' कहा है।

गुरु मुनि मिथिलेसू (कर्म विद्यादि का अनुशासन)

यहा 'गुरु मुनि मिथिलेसू' से कर्मविद्या, योगविद्या, व उपनिषद्विद्या का अनुशासन विवक्षित है। गुरुकी विशेषोपयोगिता २।३१५।८ में द्रष्टव्य है जो कर्म-विद्या से संवद्ध हैं। मुनि की विशेषोपयोगिता राजाद्वारा तीक्ष्णदण्ड होने, न होने की परीक्षा करने में है अर्थात् मुनि तीक्ष्णदण्ड राजा पर कुपित होते हैं तो राजाने तीक्ष्णदण्ड को त्यागने में अपना श्रेयस् मानना होता हैं। जैसा कि दोहा २।२०७

में स्पष्ट हैं। "मिथिलेसू" से मित्रराज्य समझाया है जिनके सहयोग से दुष्कर अर्थ की प्राप्ति होती है जो 'मित्रवान् साधयत्यर्थान् दुष्करानप्यनादरत्' वचन[1] से स्पष्ट है।

हमहि तुम्हहि

"हमहिं तुम्हहि" से श्रीराम व भरतजी ही नहीं वरन् सभी सेवक विवक्षित हैं।

सपनेहुँ

गुरु मुनि व मिथिलेश की कृपा पूर्व में व्याख्यात है किन्तु उस समय श्रीराम ने सपनेहुँ उच्चारण नहीं किया कहा अभी स्वप्न में भी क्लेश नहीं होगा ऐसा कहा उसका विशेष तथ्य यह कि अंकुश के रूप में गुर्वादिको के वचनप्रमाणसेवा का यह प्रभाव है कि क्लेशजनक स्वप्न के प्रति अपेक्षित अदृष्ट या दोषधातुवैषम्यादि का न होना बताया है। फलतः तत्प्रयोजक संस्कारी का सर्वथा विनाश स्फुट है। इत्यच जब संस्कार ही नहीं रहा तब दुष्टसंस्कार का जाग्रत में भी उद्बोधन न होना कैमुतिकन्ययेन सिद्ध हैं।

न कलेसू

अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेशामक अविद्याप्रयुक्त मोहदि-विविध दुःख "कलेसू" से विवक्षित हैं।

चिन्त्य है कि क्लेशों का अभाव गुरु मुनि व मिथिलेशसेवा से प्रयोज्य ईश्वर-प्रणिधान व तपः स्वाध्याय से होना यहाँ प्रसिद्ध हैं। अतः 'न कलेसू' बताया है।

संगति :—प्रमाणप्रमित विषय के चिन्ता को ध्यान में लाकर दोहा २।३१३ में भरतजी ने कहे श्रीरामपददर्शनयोग्य उपाय संबंधी प्रश्न का उत्तर दे रहे हैं।

चौ० :—मोर तुम्हार परम पुरुषारथु। स्वारथु सुजसु धरमु परमारथु ॥३॥
पितुआयसु पालिहि दुहु भाई। लोक-वेदभल भूप भलाई ॥४॥

भावार्थ :—मेरा और तुम्हारा परम पुरुषार्थ स्वार्थ, सुयशस्, धर्म और परमार्थ इतना ही है कि दोनों भाई श्रीपिताजी की आज्ञा को कार्यान्वित करें। राजा की भलाई से ही लोक और वेद दोनों का हित होने वाला है।

मोर तुम्हार

शा० व्या० :—'मोर' से सत्यप्रतिज्ञ प्रपन्नों के स्वामी पित्राज्ञापालक श्रीराम और 'तुम्हार' से सेवा में निश्छल प्रीतिमान् रामपददर्शनोपायजिज्ञासु भरतजी बोध्य हैं।

---

१. नीतिसार ४

परमपुरुषारथु

मीमांसामत से ऐहिकजीवन में क्लेशासंस्पृष्ट स्वसुखानुभूति की प्राप्तिहेतु उपायो का अवलंबन ही परम पुरुषार्थ है।

स्वारथ सुजसु धरमु परमारथु

स्वारथ :—आत्महित (शरीरात्म हित) स्वार्थ है।

सुजसु :—'न्यायतः अयं पालकः शूरः' ऐसी जनसभवेता प्रसियशस् है। उसकी आजीवन स्थायिता होती है तो वह यशस् 'सुजसु' है।

धरमु :—विद्वत्सेवा के रूप में जो भी वैध अर्थ अनुष्ठित होते हैं वे सभी अर्थ सर्वांगपूर्ण होते हुए अदृष्टोत्पादक होने से 'धर्म' हैं।

परमारथु :—धर्म का मुख्य उद्दिष्ट ऐहिक जीवन को साधते हुए उसके पूर्ण-परिपाकरूप में अविद्योच्छेदपूर्वक पूर्णानन्द को प्राप्त करना 'परमारथु' है।

पितुआयसु

'पिता' शब्द सभी माताओं का उपलक्षक है। सत्यसन्ध पिता व पतिव्रताओं के माध्यम से प्रगट वाणी त्रयीविद्यासम मानी जाती है वह पितृप्रसूत विधि "आयसु" है।

पालिहि

प्रमाणचिन्ता के अन्तर्गत प्रभु, भरतजी को 'पालिहि' से उपदेश दे रहे हैं अर्थात् नीति के रक्षकत्व में कर्त्तव्याकर्त्तव्य की निर्णायिका एकमात्र त्रयी विद्या ही है जो 'वेद्यते इति विद्या' इस व्युत्पत्ति से सिद्ध है। वह विद्या ही अभी प्रस्तुत राजनैतिक एक प्रयोगविशेषरूप में प्रगट है जैसा कि २।२९१।३ में उक्त है। उसी को अर्थतः व अनुष्ठानतः प्रमाणरूप में स्वीकारना "पालिहि" है।

दुहु भाई

पितृवचन की प्रमाणता माननी है तो तदर्थपालनकर्तृता की पर्याप्ति ने उभयनिष्ठ होना समझना है। इस प्रकार चारों भाईयों ने एकसाथ जन्म लेने की सार्थकता भी स्फुट हो गई।

लोक वेद भल

त्रयी के उक्त वचन को प्रमाण मानने में जब स्वामिप्रकृति आदर दिखाते हैं व उनकी पितृसेवा निश्छलरूप से पूर्णतया प्रगट होती है तब उसी स्वामिप्रकृति को प्रजा अपनी समृद्धि का साधन मानती है क्योंकि उसे यह विश्वास होता है कि धर्म-विजयी राजा त्रयोविद्यानुगामो मन्वाद्युपदिष्ट न्याय, उचितादेयरूप कर तथा लोक-शास्त्रानुमत दण्ड आदि का प्रणेता होगा। इस प्रकार स्वामिप्रकृति तत्तद् प्रजा-नुरागात्मक हित को साधते हैं। यही युक्ति इन्द्र व तदनुशासित देवों के प्रति मन्तव्य है।

जैसे कि राजशासनाधिकृत लोक में होनेवाले यागदि से परलोक में व परलोक से देवों ने की वर्षा से इहलोक में समृद्धि का होना प्रसिद्ध। फलतः वार्ता की पूर्ण पुष्टि होती है उसी को 'लोकवेद भल' से सूचित किया है।

संगति :—गुर्वादि के अनुशासन में रहने पर भी कदाचित् सेवकों की काय-कर्मवाणी कुमार्ग की ओर आकृष्ट होती है तथापि उस समय उपाय रूप में एक उपाय बता रहे हैं जो गिरने से बचाता है।

चौ० :—गुरु-पितु-मातु-स्वामिसिख पाले। चलेहु कुमग-पग परहिं न खाले ॥५॥

भावार्थ :—गुरुजी, माताजी, पिताजी और स्वामी की आज्ञा का पालन करते हुए भी यदि कुमार्ग पर पैर मोहवश ही फैलते हैं तो भी वे गड्ढे में नहीं जाते।

गुरु पितु मातु स्वामि

शा० व्या० :—गुरु :—विवेकवृत्त्यवच्छिन्न चिद्विशिष्ट 'गुरु' हैं।

पितु :—सत्यसन्ध रहते पुत्रहिताधानार्थंद्रष्टृत्वविशिष्टवृत्यवच्छिन्नचिद्वृत्ति-मान् 'पितु' से बोध्य है

मातु :—वात्सल्यस्नेहावच्छिन्न चिद्वृत्तिविशिष्ट पतिव्रता 'मातु' से बोध्य है।

स्वामि :—विद्वदंकुशसमवहितउपरिबुद्धिवृत्यवच्छिन्नचिद्विशिष्ट दण्डधर 'स्वामि' होते है।

सिख पाले (पुनरुक्तिपरिहार)

प्रथमतः प्रभु ने "सिख पाले" कहकर प्रजारक्षणं प्रति गुरु-माता-पिता की शिक्षा के पालन में नियतपूर्ववृत्तिता बताई है। (२।३०६।२) उसीमें अभी अनन्यथा सिद्धता 'सिख पाले' से समझाई है अतः पुनरुक्ति नहीं हैं।

कुमग

"कुमग" से अचानक उपस्थित मोह विवक्षित है। आशय यह कि गुरु, स्वामी, पिता के वचन का पालन करने वाले व्यक्ति के संरक्षण का प्रतिभूत्व धर्म पर स्थित है ऐसा सोचकर उस धर्म को अनुष्ठानतः सेवक अपना रहे हैं ऐसी अवस्था में मोह होने का कोई कारण नहीं है फिर भी रागादिवशात् कुपथ की ओर जाना कुमग है।

न खाले

धिग्दण्ड या दण्डान्तरप्रणयन से उस सेवक को पापमुक्त कर पुनः योग्य स्थान मे पहुँचाते है जैसा कि 'गुरुरात्मवतां शाता' (गरुड़पुराण) वचन से प्रमाणित है।

संगति :—उक्त रीति से आन्वीक्षिकीकुशलता के साथ त्रयी को भक्ति की छत्र-छाया में स्थापित कर भरतजी से अग्रिम कर्तव्य की तर्क स्मृति पूर्वक शिक्षा सुना रहे हैं।

चौ० :—अस विचारि सब सोच बिहाई। पालहु अवध अवधिभर जाई ।।६।।

भावार्थ :—ऐसा विचार कर सब सोच छोड़ते हुए अवध में जाकर १४ वर्ष तक वहाँ प्रजा का पालन करो।

बिचारि (इतरबाध व लाघव)

शा० व्या० :—सत्तर्क युक्त व्याप्ति-पक्षधर्मताविशिष्ट हेतु का पक्ष में इतरबाध-सहकृत लाघवयुक्त परामर्श 'बिचारि' से समझना है। अर्थात् पित्रादिवचनप्रमित वैध पालनकर्तृत्वा हेतु को प्रजापालनकर्तृत्वव्याप्यतया भरतजी ने अपने में सदा समझना यहाँ सत्परामर्श है। एवच दोहा३०५।६ के अनुसार गुर्वादिनिर्देशातिरिक्त के द्वाराज्ञा-पितप्रजापालन कर्तृत्वभाव इतरबाध है व ३०५।१ में 'तरनि कुलरीति' कह कर पूर्व-परंपरागत शब्द प्रमाण को स्वीकारने में लाघव की नियामक़ता 'वीचारि' विचारि स्फुट की है।

सब सोच

प्रबलतर सत्तर्क युक्त परामर्श के रहने का परिणाम उस सोच का त्याग है जो सोच चित्रकूटमें अति हुए भरतजी ने किए विकल्पत्मिक चिन्ता में स्फुट है जैसाकि (२६८) 'विचार सोच' के अन्तर्गत कहा हैं पर वह दुर्बल होने से वेत्याज्य है।

बिहाई

'गुर्वारिकों के वचनपालन की सफलता समझ में आने के वाद उक्त सभी सोच का परित्याग करना सोच 'बिहाई' से समझना है।

पालहु

"पालहु" से अवधीयत्रिवर्गसमृद्धि प्रति पालन को न्यायपरिभाषितव्यापारविधा कारण समझाया है अर्थात् प्रजापालन के माध्यम से गुर्वादि ने दी शिक्षा में लोक-समृद्धिजनकता स्फुट की है।

भरि जाई

विपत्ति में सहायक होकर उक्त कर्तृत्यों का भार भरतजी ने न संभाल कर उदासी श्रीराम के वनवास में बाधक नहीं होना है इसका निष्कर्ष यह कि भरतजी १४ वर्ष पर्यन्त अवध से बाहर नहीं जायेंगे। राज्य के संपूर्ण, कोश, दुर्ग, दण्ड, वाहन, कुप्य, द्रव्यनिचय का उत्पादक, राष्ट्र होने से 'अवध' कहकर दुर्गादि का व्यक्त किया है।

संगति :—गुरु, मुनि, जनकजी के रहते चिन्ता न करने की बात सुनाने पर भी विशेषधर्मतया राज्यरक्षणार्थ भरतजी अधिकृत होने से प्रजा को त्रयीप्रोक्त कार्य के प्रति प्रेरणा देने का भार भरतजी पर प्रभु सौंप रहे हैं। तथा पालनीयत्वेन राष्ट्रातिरिक्त अमात्यादिकों का नामकीर्तन कर रहे हैं जिससे भरतजी का ध्यान सातों प्रकृत्तियों पर समभाव में बना रहे।

चौ० :—देसु कोसु परिवारू। गुरपदरजहिं लाग छरु मारू ।।७।।

चौ०:—तुम्ह मुनि-मातु-सचिवसिख मानी। पालेहु पुहुमि प्रजारजधानी ॥८॥

भावार्थ :—देश, कोष, कुटुम्ब परिवारादि सभी की निर्भरता गुरुजी के चरणरजस् पर है तुम मुनि वसिष्ठजी, माताओं व सचिवों की शिक्षा मानकर पृथ्वी प्रजा और राजधानी का पालन करो।

देसु कोसु परिजन परिवारु

शा० व्या०।—"देसु" से जनपद विवक्षित है। "कोशु" प्रसिद्ध है। परिजन से दुर्गस्थ प्रजा व सेवक समझने हैं। 'परिवारु' से मौल सैन्य समझना है यतः मौल सैन्य सदा राजसान्निध्य में स्थित रहता हैं। उनके रक्षण की व्यवस्था शुभाशुभ आदि सभी तत्व विद्याओं में विहित है जो वसिष्ठजी के रूप में मूर्तिमती हो उपस्थित हैं। इसे 'छरु भारु' से आगे दर्शाया गया है। अर्थात् जैसे श्रीराम उदासी हो वनवासी हैं वैसे ही भरतजी ने देशादि के प्रति होना है।

गुरपदरजहि

"गुरपदरजहिं" की पुनरुक्ति का कारण विद्यावृहोसेवा पर विशेष बल देना है। इससे वसिष्ठजी पर प्रभु की अतिशय प्रीति समझ में आती है रघुकुल के पुरोहित वसिष्ठजी गुरु हैं। उनके कर्तव्य में, राजराज्योयरत्रणं विहित है। उसमें से राजरक्षण २।२१५।२ में कहा गया है। अभी 'देखु कोसु' से राज्यरक्षण कहा गया है।

तुम्ह

सकल चिन्ताभार से मुक्त भरतजी "तुम्ह" से बोध्य हैं। स्वामी के स्थान पर प्रतिनिधि बनकर रहने की योग्यता होने से भरतजी को अपना प्रतिनिधि के रूप में कार्य करने का संकेत 'तुम्ह' से श्रीरामजी दे रहे हैं।

मुनि

यहाँ 'मुनि' से अनियुक्त विश्वामित्रादि स्मर्तव्य हैं। आशय यह कि मुनि को जैसे रुष्ट न हों वैसा कार्य करना राजा का कर्तव्य है उसी को प्रतिनिधि के रूप में भरतजी ने निभाना हैं।

मातु

'मातु' से पतिव्रताओ पर प्रभु का ध्यान समझना है। जैसे कौसल्याजी व सुमित्राजी प्रभुकी सेविका हैं वैसे हों कैकेयीजी भी कुशला हैं। जिनकी मति को पलटने के लिए सरस्वतीजी को आना पड़ा उन लोगों के आदेश का विरोध कभी राजनीति नहीं कर पाती। किंवहुना तत्तत् प्रसंगों पर निर्णयहेतुतया माताओं व का उल्लेख ही प्राप्त है।

सचिव

जयमंगला नीतिसार (१२।१७।३०) की उक्ति ("देश कालान्तरिदित्वादसाक्षात्कृतस्य विज्ञानं मंत्रिभ्य एव, मंत्रिसाक्षात्कृतस्यापि तत्वाभासनिश्चयभूयस्त्वे

निश्चयो वुध्यन्तरात् अर्थहैधस्य दशया त्व्ययोः के प्रति यायात्यदिसन्देहे तच्छेदनं मन्त्र्युददशात् शेषदर्शनमेकदेशदृष्टस्य") के अनुसार कही उपयोगितासचिवों से स्पर्तव्य है।

पालेहु

"पालेहु" कह कर प्रभु ने धार्मिक पालनपरं सम्यक् परंपुरंजयं"।

राजानमभिमन्यन्ते प्रजापतिमिव प्रजाः"[1]

न्यायप्रवृत्तो नृपतिः आत्मानमथ च प्रजाम् त्रिवर्गेणोपसन्धन्ते निहन्ति ध्रुव मन्यथा[2] इत्यादि समझाते हुए लाभपालनोपायशास्त्रशरीर की उपादेयता दर्शाकर राजनीति सिद्धान्त स्पष्ट किया है।

पुनरुक्तिकारण

दोहा २।३१५।६ में पालहु, कह कर पुनः "पालेहु की पुनरुक्ति का तात्पर्य यह कि स्वामित्व को अर्पित करने में जिस आत्मगुणसंपत्ति की अपेक्षा राजशास्त्र में विहित है उसको श्रीराम ने कार्यान्वित करके चरितार्थ कर प्रमाणित किया उतनी ही आत्मसंपति पालन क्षेमात्मककर्म में भी अपेक्षित है वह योग्यता भरतजी ने शिशुभाव से लेकर अभी तक प्रकाशित की है अतः पालनसेम करने का भार भरतजी पर सौपना उनके लिए सहज धर्म है ऐसा समझाने के लिए पुनुरुक्ति है।

पुहुमि प्रजा रजधानी

"पुहुमि" से मनुष्यवती भूमि समझनी है उसके पालनार्थ भारतीय राजनीति ही समर्थ है क्योंकि पृथ्वी के पालन, अर्जनरूप निमित्त को पूर्ण करने हेतु नैमित्तिकरूप में अर्थशास्त्र ही माना गया है जैसा कि 'पृथिव्या लभि पालने च यावन्ति अर्थ-शास्त्राणि[3] से आचार्य कौटिल्य ने कहा है।

"प्रजा" से संपूर्ण देशवासियों के मनस् को आकृष्ट करने का संकेत है। 'रज-धानी' शब्द दुर्ग का वाचक है जहाँ राजा का निवास स्थान होता है।

एवंच उक्त सभी कार्य यदि भरतजी स्वोकारते हैं तो उनके हृदयमें या चक्षुष् के लिए श्रीरामपददर्शनस्थिरता रूप क्षैम होना है अन्यथा नहीं। इस प्रकार भरतजी के द्वारा उपस्थापित प्रश्न का पूर्ण समाधान प्रभु ने किया है। यही न्याय तत्तदधिकारिभेदेने सभी प्रपन्न भक्तों के लिए सर्वदा ज्ञातव्य है।

संगतिः—आत्मगुणसंपन्न पालक की अभ्यर्हितता, उपादेयता रूपकविशेष से गोस्वामितुलसीदासजी समझा रहे हैं।

दोहा :—**मुखिआ मुखु सो चाहिऐ खान पान कहुँ एक।**
पालइ पोषइ सकल अंग तुलसी सहितबिबेक ॥ ३१५ ॥

भावार्थ :—तुलसीदासजी कहते हैं कि मुखिया मुख जैसा होना चाहिये जो खाने पीने में अकेला होता है किन्तु विवेक की सहायता से वह सभी अंगों का पालन करता है।

१. नीतिसार सर्ग १ २. नीतिसार सर्ग १ ३. अर्थशास्त्र १।१।१

मुखिआ मुखु

शा० व्या० : - ज्येष्ठत गुणतिरिक्त गुण, अमसंपत्ति के रूप से जिसमें उदित है वह कनिष्ठ भी मुखिया होता है। भरतजी सेवाधर्म में तत्पर होते हुए भी शास्त्रप्रमाण परतन्त्र हैं सोचकर सरस्वतीजी ने एक ओर रावणवधार्थ श्रीराम को वन में भेघा है व दूसरी ओर भरतजी को मुखिया के रूप में अवधराज्यरक्षवार्थ नियुक्त किया है। 'मुखिया' का तादात्म्यप्रतियोगी अर्थ "मुखु" है।

सो

मुखिया (नेता) मुख ने अपनाए विवेकपूर्वक भोक्तृत्व और अंगरक्षकत्व की अन्यत्र दुर्लभता 'सो' से व्यक्त की है।

खान पान

समाहरण और सन्निधानादि सभी अर्थशास्त्रोक्त आयमुख कार्य मुखिया ने करना 'खान पान' से समझाया है जो मुख भी करता है।

कहुँ एक

मुखु ने 'खान पान'कर्तृत्व विवेकतिरिरिक्त की असहायता में करना है मुखिया ने भी वैसे ही असहाय हो राज्य प्रकृति का पालन करना है जो 'एक' से बोध्ब है एक शव्द असहायवाचक है।

पालइ पोषइ

पालइ विरोधी से व्यसनादि तत्वो से वचाना स्पष्ट है।

भुक्त अन्न के समान संगृहीत कुप्यादि को यथावत् वितरण से राज्य के संपूर्ण प्रकृति 'अंगों' में संचरित कराकर राज्यक अवयवों का उपचय कराना 'पोसइ' है।

अंग

'मुख' पक्ष से शरीर के अवयव व मुखिआपक्ष में संपूर्ण राज्यांग व संपूर्ण द्वादश-विध राजमण्डल समझना है।

विवेक

शरीर के प्रतिअंगों का रक्षण पोषण सोचकर आयुर्वेदप्रमाण से प्रमित खाना-पीना मुख ने करना होता है उसी प्रकार आन्वीक्षिकीकौशल में नीति त्रयी का बलाबल विचार करते प्रमाणों से प्रमित विधान के आधार पर द्रव्य, धान्य, पशु, हिरण्य, का संग्रह व वितरण मुखिया ने करना ही 'ववेक' है।

ज्ञातव्य है कि प्रश्नका उत्तर सुनाते २ बीच में अपनी ओर से गोस्वामीजी ने विवेक का उल्लेख कर विद्वत्संगतिरूप अंकुश (गुर्वाद्यादेशपालन) को सदा अपनाने के प्रति बल दिया है जो २। २३१ व उसी के अन्तर्गत चौपाईयों में व्याख्यात है।

संगति :—राजधर्मानुशासन पर्व में प्राप्त शिक्षा के अन्तर्गत उपदिष्ट राजधर्म के ग्रन्थ में संभावित न्यूनता का परिहार कवि कर रहे हैं।

अथवा—गुर्वादि के आदेशपालन की अतिमहत्ता समझाने हेतु विवेक का कीर्तन कर उसके अभाव में राजधर्म के अप्रकाशित रहने की आपत्ति ध्वनित कर रहे हैं।

चौ० :—राजधरम सरबसु एतनोई। जिमि मनमहि मनोरथ गोई ॥१॥

भावार्थ :—राजधर्म अत्यन्त गूढ़ है जैसे मनस् के भीतर मनोरथ गुप्त रहता है।

राजधरम

शा० व्या० :—उपरिवर्णित श्रीरामाभिप्रेत आदेश का पालनात्मकधर्म राजधर्म से विवक्षित है। वह संपूर्ण देशों में व्याप्त रहने पर भी मोह के प्राबल्य से वह गूढ़रूप में छिपा गुर्वाद्योदेशपालन राज धर्म है।

सरबसु

जिस प्रकार मनोरथ का आधार एक मात्र मनस् ही है उसी प्रकार लोकपालन का आधार वही राजधर्म है जिसको गुर्वादिप्रोक्तविधिनिषेधपराधीनत्वेन रहना स्वीकार्य है तभी उसको "सरबसु" से सूचित किया है।

एतनोई

अत्यन्त गूढरूप में राजधमं गुर्यादि से प्राप्त शिक्षा से हो प्रतिभात होता है अतः प्रभु ने प्रारक्‌से अभीनंफ कक्षगुर्द धादेश वात्र नही "एतनोइ' से स्मर्तव्य है।

मनमहि

स्थूल या सूक्ष्मरूप में स्थित मनोरथों का आधारभूत स्थल "मन" है। तथापि वे मनोरथ मोह से तिरोहित रहते हैं वैसा ही राजधर्म चिन्त्य है अर्थात् गुर्वादि के आदेश राजधर्म का आधार होते हुए भी विवेक के अभाव में उनके अनुष्ठानतः अस्वीकार्यत्वात् राजधर्म तिरीहित होते हैं।

मनोरथ

मनस् में यदि निर्विकाररिता मोहास्पृष्ट रही तो उस पर आधारित मनोरथ प्रतिभात होते हैं अन्यथां मनोरथ मनस् में ही रहते है फलतः अशांति आदि का उदित होना भी स्पष्ट है। इस दृष्टान्त से दार्ष्टान्तिक में राजधर्म (आदेश पालन) और लोकसमृद्धि के पारस्परिक संबंध में सफलता व विफलता ज्ञातव्य होगी।

गोई

मनोरथ तो बहुत लोग करते हैं किन्तु उनमें रागोपाधि है या निरूपाधि है उसके लिए विवेक करना किसी व्यक्तिविशेष को संभव है जैसा कि २।३०२।४-७ में स्पष्ट है। उसी प्रकार राजधर्म में कथित 'पालहि पोसइ' के विवेकबराहा से संपृक्त शिक्षा से समझ कर उनको व सार्थक करने पर कीर्ति का पात्र होना सबके लिए संभव नहीं है जैसा कि 'शतेषु जायेत शूर' से स्पष्ट है। आशय यह कि सूर्यवंश के पूर्वक्रमागत चक्रवर्तित्व की पुनः प्राप्ति श्रीराम के द्वारा तभी संभव होगी जब एकमात्र भरतजी

भूपालन (अवधपालन) के आधार भूत गुर्वादेशपालन को विवेक के से स्वीकृत करेंगे (जो औरों के लिए दुलर्भ है) तथा श्रीराम को वनवासार्थ अनुमति देंगे। अन्यथा स्वर्गस्थ राजा, सरस्वतीजी, एवं श्रीरामजी का सत्यतात्मकराजनीतिधर्म लुप्त होगा।

संगति :— वेद के पूर्वक्रमप्राप्त निचोड़ के रूप में गायी स्वामिश्रीरामादेशपालन रूप भक्ति की छत्र छाया में बसे भरतजी को राजधर्मपालन के प्रति बताए रहस्य का प्रवोध देने का मार्ग श्रीराम के द्वारा अपनाये जाने पर भी दोहा २।३०७।८ में उक्त प्रार्थना की पूर्णता नहीं हो रही है इसलिए भरतजी को प्रबोध होने पर भी उक्त पूर्णत्वाभाव की शंका हो रही है फलतः रघुपतिरखुवारा के स्थैर्य में सन्देह होने से मनस् में विमलता व शम न होना शिवजी सुना रहे हैं।

चौ० :—बन्धु प्रबोधु कीन्ह बहु भाती। बिनु अधार मनु तोषु न सांती ॥२॥

भावार्थ :— प्रभु ने भाई (भरतजी) को वहुत प्रकार से समझाया परन्तु कोई अवलंब पाये बिना बन्धु (भरतजी) के मनस् में विमलता नहीं हुई न तो शांति ही हुई।

बन्धु

शा० व्या० :— स्वामिकार्यसाधक आदेशपालक भरतजी बन्धु से वोध्य हैं।

प्रबोधु

"प्रबोधु" का निष्कर्ष मोहनिद्रा से जगाने में है जिसके प्रति श्रीराम के शव्द कारण हैं जैसा कि 'स प्रबोधो मनो येन सर्वानिथन्प्रिवुध्यते'[1] से स्पष्ट है।

बहुँभाती

प्रभु के वियोग की वास्तविकता न होने में वेदान्ताभिमत जगदुपादानोपादय तत्त्व व भागवतोक्त युक्ति[2] से समझना "बहुभातो" के अन्तर्गत है।

बिनु अधार

"बिनु अधार" से रघुपतिरखवारा के रूप में अपेक्षित अवलंव का अभाव क्षेमा भाव विवक्षित है। यहाँ राजनीतिपक्ष से कहना यह है कि मंत्रशक्ति एवं उत्साह शक्ति का वल पूर्णतया प्राप्त होते हुए भी कोशदण्ड जतेजस्संपत्तिरूप प्रभुशक्ति (रघुपतिरखवारा) के अभाव में श्रीरामविरहवासनाप्रयुक्त प्रमाद व अभिमानप्रयुक्त अशुचिता यदि अपना जोर पकड़ती है तो हृदय में यथावत् पदार्थ का प्रतिभान नहीं हो सकता फलतः लोकपालन असंमव होगा ऐसा सोचकर "बिनु अधार" कहा है।

तोषु न सांतो

तोषुः -"तोषु" से मनस् की विमलता निरस्संदिग्धता ज्ञातव्य है। सन्तोष न होने का कारण प्रभुचरणों का स्थिरदर्शन होने में संदेह होना विमलता है जिसको दूर

१. भावप्रकाशन (२९।७) २. श्रीमद्भागवत १०।४७।२९

करने हेतु भरतजी ने दोहा २।३१३ में प्रार्थना की थी उसका पूर्ति न होने से संतोष नहीं हो रहा है उसका परिणाम शम का अभाव है वह "न सांती" से ज्ञेय है।

संगति :—अवलंब के प्रदान में विलंव होना देखकर प्रपन्न भरतजी को हुआ असन्तोष परख कर उसका निरास प्रगट करने में प्रभु का संकोच शिव जी कह रहे है अन्यथा अवलंबप्रदान में कारणतया अपेक्षित भगवदादेशपालन की उपपत्ति समझ में नहीं आयेगी।

अथवा :—प्रबोधाभाव व शमाभाव का परिणाम सुना रहे हैं।

चौ०:—भरतसील गुर सचिव समाजू। सकुच सनेह बिवस रघुराजु ॥३॥

स्वार्थ :—भरतजी का शील गुरुजी, सचिव और श्रीराम के प्रति अनुरक्त समाज को देखकर श्री रघुनाथजी स्नेह व संकोच के वशीभूत हो गए।

भरतसील

शा० व्या० :—प्रार्थित अवलव की अनुपालब्धिमात्र में चिन्तासंपन्न भरतजी "भरत" से विवक्षित हैं। 'शील' पूर्व में व्याख्यात है उसमें समस्त आत्मवत्ता गुण समाहित हैं। शीलसंपन्न क्षत्रिय व्यक्ति ही राजपदाधिष्ठाता मुखिया हो सकता है उसके द्वारा ही संपूर्ण समुद्रान्ता पृथ्वी के पालन की आशा संभावित है वह योग्यता भरतजी में निर्विवाद है अतः "भरतसील" कहा है। वही वक्ष्यमाण 'विवस' का कारण है।

गुर सचिव समाजू

"गुर" दोहा २।३१५ में व्याख्यात है।
"सचिव" दोहा २।३१५। में व्याख्यात हैं।
"समाजू" से अवध व मिथिला का समाज समझना है।

संकुच

भरतहृदय में विमलता न होना श्रीरामके पुनस्संकोच का कारण है यतः अतिश्रमपूर्वक आकर सभा में सर्व सम्मति से भरतजी ने पितृवचन को प्रमाण के रूप में मानने का निर्णय लिया जिससे उनका सेवाधर्म स्थिर रहा अभी उन्होंने अवध में जाना भी स्वीकारा फिर भी भरतजी की असन्तुष्टि बनी है उसके रहते राजनीति को अप्रतिष्ठा में त्रयी अप्रतिष्ठिता होगी फलतः भक्ति का अंगविहीन होना सोचकर प्रभु में रहा पूर्वसंकोच ज्यों की त्यों बना रहा अतः वह संकोच पादुकादान का कारण है। उसी को प्रगट करने के विचार से दोहा २१३।२ में उक्त 'संकुचाहीं की अनुवृत्ति का बने रहना यहाँ ज्ञातव्य है।

सनेहविवस

भरतजी ने अपने को प्राप्त श्रीरामपददर्शन का स्थैर्य रहने हेतु यथा भूतानि भूतेषु खं वाय्वाग्निर्जल मही तथाहं च मनः प्राणभूतेन्द्रियगुणाश्रयः जो प्रार्थना की थी उसकी

अनुरूपता में 'हम लोगों को भी नैरन्तर्येण अवलंब हो' ऐसी प्रजा की उत्कट इच्छा को ध्वनित करना "सनेहविवस" का निष्कर्ष है। वह रघुराजू से अन्वित्त है जो कल्पवृक्ष बोधक है।

संगति :—स्नेहविवशता का अनुभाव प्रगट करते हुए प्रभु अवलंब दे रहे हैं जिससे भरतजी सन्तुष्ट हों।

चौपाई :—**प्रभु करि कृपा पावरी दीन्ही। सादर भरत सीस धरि लीन्ही ।।४।।**

भावार्थ :—प्रभु ने कृपा करके अपनी पादुका देदी भरतजी ने उसको आदरपूर्वक सिरस् से स्पर्श कर ले लिया।

कृपा

शा० व्या० :—सचिव, गुरुजी, समाजसहित, भरतजी की अशान्ति, साशंकता, दुःख, असन्तोष, विमलता, चिन्ता को दूर करना प्रभु की कृपा है।

पावरी

प्रीति से दी हुई पादुका में प्रभु ने अपना तेजस् भी स्थापित किया जिसके प्रभाव से विघ्नादि का न होना निर्णीत है अब सेवक का काम है कि वह गुरुजी के अनुशासन को आदरपूर्वक मानते हुए पादुका की सेवा करें।

भरत

सकलचिन्तामुक्त प्रजासमेत भरतजी "भरत" पद से विवक्षित हैं।

सीस

शम की न्यूनता से चिन्ता में डूबते हुए की यह पादुका ही प्रबोधप्राप्तिहेतु सहारा है सोचकर भरतजी ने विनयपुरस्सर पादुका को अनुपेक्षणीयतया लेना "सादर सीस" से व्यक्त है अन्यथा पादुका निस्तेजस्का हो सकती है।

यहाँ ज्ञातव्य है कि तेजस् ही मुख्यतया भरतजी को प्राप्तव्य था वही सभी विपदाओं से रक्षण करने वाली है इस प्रकार प्रपन्न भक्तों के लिए भरतजी का चरित्र एक आदर्शचरित्ररूप में स्वीकार्य होगा तो उनका हित है।

संगति :—पादुकादान से प्रभु ने जिन-जिन पर कृपा की है उनका संकेत चरणपीठ की महिमा से कर रहे हैं।

चौपाई :—**चरनपीठ करुनानिधान के। जनु जुगजामिक प्रजा प्रानके ।।५।।**
संपुट भरतसनेह रतन के। आखरजुग जनु जीव जतनके ।।६।।
कुलकपाट कर कुसल करम के। विमल नयन सेवासुधरमके ।।७।।

भावार्थ :—करुणानिधान की दोनों पादुकाएं प्रजा के जीवन की रक्षा के लिए मानो रक्षक हैं भरतजी के प्रेमरूपी रत्न के लिए मानो डिब्बा है। तथा जीवों

के लिए साधन के रूप में मानो रामनाम के दो अक्षर हैं। रघुकुल के लिए दो दरवाजे हैं। तथा कुशलकर्म करने के लिए दो हाथों की तरह हैं और सेवारूपी धर्म को सुझाने के लिए निर्मल आँखें हैं।

करुनानिधान के

शा० व्या० :—प्रभु के हृदय में भरतजी एवं प्रजा के प्रति करुणा आई उसका कारण सबके नियम, व्रत, आदेशपालनात्मक निश्छल सेवा व भक्ति की छत्रछाया में त्रयी के प्रति रही आस्था है। प्रभु की यह करुणा अनुष्ठानतः प्रमाणरुप में प्राप्त हुई है जिसकी सहायता से दोहा ३१५।५-८ में उक्त तथ्य पूर्ण होंगे।

ज्ञातव्य है कि गुरु, पिता, माता की सेवा में रहते हुए सेवक उनकी आज्ञा को अनुष्ठानतः प्रमाणतया स्वीकार कर राजधर्म (अहिंसादिधर्म) को पालने में प्रवृत्त होते हैं तो उनके हृदय में भगवत्चरणपादुका का स्थैर्य निर्णीत है। इस प्रकार कवि ने सबके लिए तेजोमयी चरणपादुका को पाने का उपाय बताया है।

जनु जुगजामिक

भरतजी को प्राप्त पादुकाओं से प्रजा को सन्तोष प्राप्त है। फलतः वह अयोध्या में रामवियोग के समय भी जीविता रह गई। यही "जनु जुगजामिक" का भाव है।

सनेह

१४ वर्ष जैसे दीर्घकालिक प्रवास से प्रेम की स्थिति में न्यूनता होना संभव है। उस दोष से भरतजी का सुरक्षित होना 'सनेहरतन' से समझाया है क्योंकि उनको प्रभु-दर्शन पादुका में निरन्तर होता रहेगा।

आखर जुग

रामतापनी उपनिषद्नुसार प्राणिमात्रों के लिए 'रामनाम' तारक मंत्र है। उस युगल अक्षर को पादुकाओं मे अंकित कर प्रभु ने जनमात्र पर कृपा करना "आखर जुग जनु जीव जतन के" से स्पष्ट है।

कुल कपाट

भविष्यत्काल के लिए कुल की रक्षाहेतु पादुकाएँ कपाट इसलिए कि रघुकुल में यहीं से पादुका-पूजा नियत हो गई। अर्थात् कुल में तपोविद्या की अनुच्छिन्नता से उदितोदितत्व का होना तब तक स्थिर रहेगा जबतक शुचितापूर्वक पादुकाएँ सेविता रहेंगी।

करकुसल करम के

चरणपीठ के सान्निध्य में धर्मकृत्य प्रारम्भ होता है तो उसकी पूर्णता में प्रतिबन्धक रूप से रहे मोह कामादि विकार का निरसन होने में पादुका की सहायता स्मर्तव्य है।

विमल नयन

आज्ञापालनात्मक सेवा, भक्ति की उत्तर सीमा है किन्तु आदेश का तात्पर्य समझना कठिन है वह कार्य पादुका से संपन्न होना "विमल नयन" से स्पष्ट है। जो विवेक का बोधक है।

स्मर्तव्य है कि जिस प्रकार राजा भगीरथ ने इसी वंश (सूर्यवंश) के पूर्वजों को तारने के लिए गंगावतरण कराया उसी प्रकार भरतजी ने सूर्यवंश की भलाई के लिए पादुका प्राप्त की है। जिसमें प्रभु का तेजस् स्थायीरूप में निहित है।

संगति :— तेजोयुक्त पादुका का कृपापूर्वक दान प्राप्त करने से २।३१५ की द्वितीय चौपाई में उक्त असन्तोष व अशान्ति का समापन हुआ व संवाद की सफलता हुई तब भरतजी की ओर से हुई प्रतिक्रिया में कवि उनका सुख सुना रहे हैं।

चौपाई :—**भरत मुदित अवलंब लहे ते। अस सुख जस सियरामु रहे ते ॥८॥**

भावर्थ :—अवलंब प्राप्ति से भरतजी आनन्दित हैं उन्हें ऐसा सुख प्रतीत हो रहा है जैसे श्रीसीताराम के अवध लौटने से होता।

मुदित अवलंब

शा० व्या० :— चौपाई २ में उक्त 'मन न तोषु न सांती' का समाधान "मुदित" से स्पष्ट है। दोहा २।३०७।८ तथा दोहा २।३१३ में प्रार्थित वस्तु (पादुका) यहाँ अवलंब से सूचित है।

अस सुख

चौदह वर्ष की अवधि में निरन्तर पादुकाओं में श्रीसीता रामदर्शनप्रयुक्त मानोरथिक व वर्तमान में वैषयिक सुख "अस सुख" से स्पष्ट है।

जस सियराम रहे ते

भरतजी का यह सुख आहार्यज्ञानवत् समझना है अर्थात् श्रीसीतारामजी न रहते हुए भी उनकी प्राप्ति का सुख होना यहाँ "जस" से समझाया है।

वर्तमान में यह पादुकादर्शन आहार्यसुखसजातीय होने पर भी श्रीसीताराम-दर्शनसुखप्राप्ति का औत्कण्ठय भरतजी में कायम रहेगा जो १४ वर्ष के बाद ही उन्मूलित होगा। इस प्रकार भरतजी के सम्पूर्ण व्याधियों व असन्तोष का तिरोधान बताकर उनके चित्रकूटयात्रोद्देश्य को पूर्णता बताई।

संगति :— भरतजी के विदा होने का क्रम सुनाते हुए भरतजी ने की बिदा प्रार्थना व अवध में प्रजा की स्थिरनिवास कराने हेतु उच्चाटत करने में इन्द्रजी को कुअवसर प्राप्त होना ग्रन्थकार, सुना रहे हैं।

दोहा :—**मागेउ बिदा प्रनामु करि राम लिए उर लाइ।**
लोग उचाटे अमरपति कुटिल, कुअवसर पाई ॥ ३१६॥

भावार्थ :—भरतजी ने प्रणाम कर विदा मांगी तब प्रभु ने उन्हें हृदय से लगा लिया। इधर कुटिल इन्द्रजी ने कुअवसर पाकर चिकित्सारूप में लोगों का उच्चाटन कर दिया।

माँगेउ बिदा

शा० व्या० :—श्रीराम ने स्वामित्व स्वीकारा है, सम्पूर्ण पितृवचन समन्वित होने से तद्रूपा त्रयी प्रमाणित हो रही हैं, भरतजी को श्रीराम के साथ वन में रहने का सुख प्राप्त है, सेवक होकर (भरतजी ने) अवध में रहते उन्हें श्रीराम की आज्ञा रूप सेवा में रहना है ऐसा निर्णय होने के बाद समाजसहित अवध में लौटने हेतु आदेश माँग रहे हैं। इसके आगे भरतजी ने किया चरित्र दोहा २।३१८ में द्रष्टव्य हैं।

प्रनामु (सामप्रयोग)

१४ वर्षवाधिक काल में प्रजासमेत भरतजी को विघ्न निवारण होने की पूर्ण आशा है अतः उन्होंने किया यह प्रणाम कल्याणप्रदि के हेतु सामप्रयोग हैं।

उर लाई

दोहा २।२४० में उक्त "उरलाई" से श्रीरामाश्रम में भरतसमागम निरूपित होने के बाद श्रीरामादेशपालन स्वीकार कर भरतजी ने प्रपत्ति की प्रतिष्ठा स्थापित की है उसी आनन्द में "उरलाई" का निरूपण है।

लोग

"लोग" से भरत मुनिजनकाद्यतिरिक्त ज्ञातव्य हैं।

उचाटे (ऐन्द्रीमाया की सार्थकता)

"कुअवसर" शीर्षक में वक्ष्यमाण असमाधेय दोष न हो तदर्थ इन्द्रजी ने किया मायाप्रयोग (उच्चाटन) "उचाटे" से विवक्षित है इसका प्रयोजन १४ वर्ष तक अवधवासियों को स्थायितया अवध में निवास कराते हुए जीवन को सुखमय बनाना है जिससे वे न तो जीवन त्यागेंगे न चित्रकूट आयेंगे कि बहुना वे श्रीराम का निर्विघ्न वनवासप्रयुक्त कैकेयीमनोरथपूर्ति-पूर्वक लौटना ही इस हेतु से १४ वर्ष पर्यन्त सातत्येन नियमव्रतपालम रुचि पूर्वक पूर्ण कर सकें इसमें अधोनिर्दिष्ट न्याय स्मर्तव्य है जैसा कि विधि के द्वारा प्रतिपादित अर्थ को यथावत् समझने पर भी कर्मप्रधान वर्णाश्रमसमाज वैध अर्थ के अनुष्ठान में प्रवृत्त नहीं होता तब उस समाज की अनुष्ठेय अर्थ के बारे में स्थायिनी रुचि जगाने हेतु अर्थवाद, पुराण, इतिहास, व कविताओं से रुचि को दृढ़ करने का विधान मीमांसा में प्राप्त है।वही कार्य उच्चाट से बोध है।

कुटिल कुअवसर पाइ

इन्द्रजी छलप्रयोगकर्ता होने से उन्हें "कुटिल" कहा है।

श्रीराम को अवध लौटाने हेतु समाज ने की प्रार्थना सुनकर इन्द्रजी ने पूर्व में ही बार बार उच्चाटन किया उस समय श्रीरामस्नेह ने समाज में रही सत्प्रतिपक्षतस्थिति उत्पन्न की। पर स्नेहौत्कण्य ने उस स्थिति का निरास करते हुए श्रीराम ने समाज को स्थिर बनाया पश्चात् भरतजी कोपादुका देकर सुखी बनाया फिर भी १४ वर्ष पर्यन्त सुख प्राप्ति का मार्ग प्रशान्त नहींहुआ तो यदि भरत समेत अवस्वासी श्रीरामविरह से पीड़ित है। उनके दर्शनार्थ चित्रकूट आते हैं तो उसका दोष उच्चाटयिता इन्द्रजी पर आयेगा फलतः उन्हें भक्तिविरोधयुक्त दण्ड का भागी होना निर्णीत है। यही उनके लिए "कुअवसर" है। उसकी आसन्नस्थिति "पाइ" से ज्ञातव्य है इसकी चिकित्सा "उचाटे" में निरूपित है। जो वक्ष्यमाण चौपाइ में स्फुट है।

संगति :— कुअवसर पाइरूप दोष के निरसन भरतसमेत समाज पर किए हुए उच्चाटन की सफलता से ग्रन्थकार कह रहे हैं।

चौपाई :—**सो कुचालि सब कह भइ नीकी। अवधि आससम जीवनि जीकी ।।१।।**

नतरु लखनसिय रामवियोगा। हहरि भरत सब बोग कुरोगा ।।२।।

भावार्थ :—वह कुचाल भी सबके लिए हितकारक हो गयी। १४ वर्ष की अवधि में श्रीरामप्रत्यागमन की आशा जीवन के लिए संजीवनी हो गई, नहीं तो श्रीसीतारामलक्ष्मणजी के वियोगरूपी असमाधेय रोग से सब घबराकर सभी कुरोगी हो हाहाकार करते।

सो कुचालि

शा० व्या० :—'सेवकसेवकाई' के विरोध में कोई कार्य करना इन्द्र के हृदय में कुचाल है अर्थात् तत्काल में कटु है. तथापि उसका भक्तों के हक में हितकर होना कटुकय के समान हो रहा है अतः इन्द्र का यह कुचालकार्य हितानुवन्धी होने से लोक में निन्दनीय नहीं ठहरा।

सब कह

"सबकह" से भरतजी समेत समाज समझना है।

नीकी

वर्तमान काल में इन्द्रकृत चाल कुत्सित है तथापि वह आयतिकाल (भविष्यत्) में उपयोगी होने से "नीकी" है।

अवधि आस

भरतजी के द्वारा अराजक समस्या के समाधान की आज्ञा में रहे अवधवासी चित्रकूट पहुँचकर श्रीरामराज्योत्सव होना सुनकर स्वदुःख से निवृत्त हो गए वे अवध में लौटने के बाद उनको राज्योत्सव होने की आशा में १४ वर्ष तक जीवित रखेंगे यही अवधिआस है।

जीवनि जीकी

यदि श्रीरामवियोग ने बल दिखाया तो समाजसहित भरतजी का जीवित रहना संदिग्ध होगा उसकी चिकित्सा ऐन्द्रीमाया ने की है।

न तरु (वियोगचिकित्साऽभाव)

वियोगचिकित्साऽभाव "न तरु" से स्पष्ट है। इसका अन्वय 'वियोगा' से समझना है।

लखन सीय (कीर्तन का क्रम)

ज्ञातव्य है कि वन जाते समय लक्ष्मणजी के आगे सीताजी व उनके आगे श्रीराम का जाना वर्णित है उसके अन्तर्गत लक्ष्मणजी को जीव कहा है उनसे परिचय होना सहज है इसलिए उनका कीर्तन प्रथमतः हुआ है। वह (जीव) भी आत्मरूपत्वात् प्रिय रहे तो इसमें आश्चर्य नहीं। जीवब्रह्मभेदिका माया सीता जननीजी के नेत्र सबको प्रिय हैं। अन्तिम बिन्दु में रहे आनन्दसागर श्रीराम अंशीका प्रिय होना भी स्फुट है उसी क्रम से कीर्तन यहाँ भी मननीय है।

वियोगा

शांत प्रीतिमान् के वियोग से भड़कने वाले अग्नि ने भरतजीसमेत अवधसमाले के लिए दाहक होना "वियोगा" से समझाया है।

हहरि

प्राणप्रिय संत के वियोग का अनुभाव "हहरि" से ज्ञातव्य है।

भरत सबलोग

'भरत' से विवेकी श्रीरामसेवक भरतजी व "सबलोग" से सभी पुरजन, परिजन, प्रजा समझने हैं।

कुरोगा

यदि इन्द्रजी ने कुचाल न की होती तो श्रीसीतालक्ष्मणसमेत श्रीरामके वियोग ने मृत्यु के प्रति कारण होना "कुरोगा" से समझाया है।

संगति :—बृहस्पत्युपदिष्ट "सेवक सेवकाई" को ध्यान में रखकर इन्द्रजी ने प्रजासमेत भरतजीवन को स्थिर रखने हेतु उच्चाटनप्रयोग किया है उसी सफलता को शिवजी गा रहे हैं।

चौपाई :—**रामकृपां अवरेब सुधारी। बिबुध धारि भइ गुनद गोहारी॥ ३॥**

भावार्थ :—श्रीराम की कृपा ने संपूर्ण उलझनों को सुलझा दिया, देवों की माया भक्ति को लूटने के लिए आई थी वही अभी हितकारिस्त्री हो भक्ति के अनुगुण हो गयी।

रामकृपाँ

शा० व्या० :—भरतजी को भक्ति से वंचित करने हेतु उपस्थित बाधा को दूर करने में पूर्वप्राप्तप्रसाद "रामकृपाँ" से बोध्य है।

अवरेब (समस्यावृन्द)

श्रीराम वियोगाहित परिजनों की बागडोर सम्भालना, श्रीरामराज्योत्सव की समस्या, संपूर्ण पितृवचनों का यथावत्पालन करते हुए उनको प्रमाणित करने की समस्या, श्रीराम के साथ जाने का सुखानुभव न होने की समस्या, अवधसमाज को अवध की ओर लौटाने व १४ वर्ष तक उनको जीवित रखने की समस्या आदि दुरपनेय विघ्नसमूह को "अवरेब" से समझना है।

सुधारी

वचनप्रमाण के अनुगामी होने व स्वामित्वसमानार्थकरणश्रीरामादेशपालन-रूप सेवा को अपनाने मात्र से श्रीरामकृपा नियत है इस विश्वास पर भक्त को या उसके अनुगामी वंश को फलप्राप्ति की अवधि के मध्य में सभावित दैनिक, सांसर्गिक, आध्यात्मिक विघ्नो के निरासपूर्वक फल प्राप्त होना श्रीरामकृपा का फल है। उसी को "सुधारि" से कहा है।

बिबुध

"बिबुध" से नूत्न कल्पना के लिए अवकाश मिलता है कि इन्द्र जी के साथ अन्य देवों की माया भी उपस्थित है।

गुनद गोहारी (इन्द्रमाया के दोष में अंकुश)

सुरमाया देवों के द्वारा धार्य है उसने पूर्व में विघ्न पहुंचाना सोचा था परन्तु अभी उक्तमाया में वैर हटकर मैत्रीभाव आ गया है। जो "गुनद गोहारी" से व्यक्त किया है। अथवा अवधवासियों के प्राणों की रक्षिका होने से "गुनद गोहारी" कहा है।

संगति :—दोहा ३१६ में वर्णित "राम लिए उर लाई" के वर्णन के बाद वापस हो रही भरतयात्रा के यात्रियों के प्रति श्रीराम ने की भेंटलीला शिवजी वर्णित कर रहे हैं। उसका प्रारंभ स्वामिप्रकृतित्वात् अतिप्रियत्वात् भरतभेंट से हो रहा है।

चोपाई :—**भेंटत भुज भरि भाइ भरत सो। रामप्रेमरसु कहि न परत सो ॥४॥**

भावार्थ :—श्रीरामजी भुजाओं में भरकर भरतजी से मिल रहे हैं श्रीराम का प्रेम रूप वह रस कहते नहीं बनता।

भेंटत (पुनरुक्ति)

शा० व्या० :—'उर लाई' की पुनरावृत्ति का वर्णन होना प्रीति का अनुभाव है। निष्कर्ष यह कि जब सेवाधर्म को अपनाने वाले पूर्णरूपेण स्वामित्व को त्यागकर प्रभु की

आज्ञा कहकर उसको सेवा त्मकधर्म रूप में अपनाते हैं व निश्छल प्रेम रखते हुए भक्ति-लक्षण ग्रन्थानुसार शिव सदृश स्नेही बनते हैं तब उन पर श्रीराम का स्नेह भी उसी प्रकार का होता है। यह सर्वसाधारण के लिए असंभव है अतः अद्भुत है समझाने हेतु "उर लाई" (२।२१६) कहकर भी "भेंटत" की पुनरुक्ति अन्वर्थरूप में मननीय है।

भुज भरि

दोनों भुजाओं में भरकर भरतजी को हृदय से लगाने का अर्थ उनेक रक्षण का भार अपने ऊपर लेना है।

"भुजभरि" का कारण उस संविद्विश्रान्ति को लक्षित करना है जो अलौकिक अनिर्वचनीय प्रेमु (भक्ति) का अन्तिम विन्दु है उसको प्राप्त कर भक्त को प्रभु का वियोग अनुभूत नहीं होता भले ही भक्त कहीं भी हो।

रामप्रेमरसु

ग्रन्थकार सामाजिकों के लिए आस्वाद्य स्थायी भाव को अद्भुत रस न कहकर प्रेम रहे हैं क्योंकि भक्ति की छत्रछाया में प्रीति सुआस्वाद्य हो रही है यह प्रीति इस समय सेव्य-सेवक दोनों ओर हो रही है अतः साहित्यशास्त्रानुसार प्रीति की भावरूप (एकालंबनक भाव) में न कहकर भक्तिशास्त्र के अन्तर्गत प्रेमात्मकभक्तिरसरूप में पुकार रहे हैं।

न परत सो (रामप्रीत्युपपत्ति)

प्रभु ने भरतजी की महत्ता व गाने के बारे में "बिधिप्रपंच महँ सुना न दीसा"[1] कहा है वैसे सेवक भरतजी की निश्छल सेवा प्रीति को देखकर स्वामी श्रीराम को जो प्रीति प्रतीति हो रही है वह इसलिए नहीं कही जा रही है कि वह स्वसंवेद्य है अपितु विद्याओं के रक्षण हेतु जो कार्य सेवाधर्म में तत्पर भरतजी ने किये हैं अत एव प्रभुने विपत्तियों से भरतजी को बचाया व सम्पूर्ण श्रेमस् भरतजी को दिया इत्यादि विषय भी चिन्तनीय हैं। जो अन्यत्र दृष्टिगोचर नहीं है वही "कहि न परत सो" से ध्वनित हैं।

संगति :—प्रेम की रसस्वरूपता अनुभाववैशद्य से समझा रहे हैं।

चौपाई :—**तन, मन बचन उमग अनुरागा। धीरधुरंधर धीरजु त्यागा ॥५॥**

भावार्थ :—तन, मनस् और वचन तीनों में प्रेम (षष्ठावस्था) उभर आया। धीरों में धुरन्धर श्री रघुनाथ जी ने धैर्य को छोड़ दिया।

तन मन वचन

शा० व्या० :—गुहादि से मिलन (दोहा २।२४३।६[2]) होते समय प्रभु व सखाओं के जो अनुभाव दृष्टिगोचर हो रहे थे उनसे वैलक्षण्य यहाँ 'तन मन वचन से' स्फुट किया है।

---

१. २।२३१।८ २. २४०।० व २।२४२।१।०

"तन" से प्रस्तुत आलिंगन "मन" से कमठ के समान चिन्तन "वचन" से पूर्वसंवाद स्मर्तव्य है।

उमगे

"हर्षशोकौ व्युदस्यति"[1] रूप निर्विकारिता की स्थायिता से हटकर कायिक, वाचिक, मानसिक अनुराग में आना "उमगे" है।

अनुरागा

सुखदुःखान्यतरानुभवात्मक भोग में से प्रेमी के प्रति केवल सुखानुभूति होना 'राग' है उसकी नैरन्तर्येण अनुवृत्ति होना अनुराग है जो परस्परानुबद्ध वेदानुगामी वर्णाश्रमसमाज की प्रीति का चरम बिन्दु है।

चिन्त्य है कि प्रभु की यह अनुरागावस्था भरतजी के सन्मान में है जो उन्हीं के लिए शोभनीय है यही प्रभु का प्रभुत्व, निर्विकारित्व, उचितकारित्व है। संसार में शास्त्रों के शरण रहना व प्रभु का परिजन होना प्रभु के अनुग्रहविशेष का कारण है वह जिसको प्राप्त है वह धन्य है जो "अनुरागा" से स्पष्ट है।

धीरधुरंधर धीरजु त्याग (श्रीराम की उच्चता)

ज्ञातव्य है कि आत्मारामआप्तकाम व्यक्ति "भजतोपि न वै केचिद् भजन्त्यभजतः कुतः"[2] की स्थिति में रहते हैं जैसे जनकादि। तथापि आत्माराम आप्तकामों को भी आनन्द देने वाले श्रीराम उनसे भी उच्च श्रेणी में हैं अर्थात् पूर्ण उदासी है। जो 'धीरधुरंधर' से व्यक्त है।

उनको भी भरजी ने अनुराग की तरफ मोड़ा है जिसके परिणाम में "हर्ष शोकौव्युदस्यानि" वचन फीका पड़ गया है यह चतुर्विध विद्याओं के प्रतिष्ठा का फल है जो धीरजु सागा से सूचित है।

संगति :— उदासीन प्रभु ने धैर्य त्यागने का परिणाम सुना रहे हैं। अथवा "प्रभुः त्यक्तधैर्यवान्" इस अनुमिति के हेतु साधकरूप में अपेक्षित अनुभावरूप हेतु का निरूपण कर रहे हैं इसलिए कि सभी सामाजिक समान अवस्था (प्रीति) को प्राप्त कर संघटित हो रहे हैं।

चौपाई :— **बारिजलोचन मोचत बारी। देखि दसा सुर सभा दुखारी ॥ ६ ॥**

भावार्थ :— वे कमलसदृश नेत्रों से अश्रू गिराने लगे प्रभु की यह दशा देखकर देवों समेत सभा दुःख से द्रुता हो गई।

बारिजलोचन

शा० व्या० :— प्रभु के नेत्र सबको आल्हादित करने वाले होने से "बारिज-लोचन" कहा है।

१. भा. १० २. २।८ नोतिसार

मोचत

भक्त का वियोग हो रहा है सोचकर प्रभु की आँखों से निकली अश्रु धारा दुःखाश्रु हैं इससे भक्तों की अजेयता स्पष्ट है।

देखि दसा सुर सभा

संतों के वियोग में करुणरस का प्रवाह होना "देखि" का विषय है।

"सुर" से देव व "सभा" से समाज समझना है। फलतः वे प्रीतिसूत्र में आबद्ध हो गये।

संगति :--साहित्योक्त पद्धति से रसभाव का संक्रमण सांसारिकवासनाशून्य व्यक्तियों (वसिष्ठजनकादि) पर संभव नहीं उसकी उपपत्ति समझाते हुए विरक्तों पर भी दोनों भाइयों की प्रीति का संक्रमण होना बता रहे हैं।

चौपाई :—**मुनिगन गुर धुरधीर जनक से। ग्यानअनल मन कसे कनक से ॥७॥**
जे बिरंचि निरलेप उपाए। पदुमपत्र जिमि जगजल जाए ॥८॥

दोहा :- **तेउ बिलोकि रघुबर-भरतप्रीति अनूप अपार।**
भए मगन मन-तन-बचनसहित बिराग बिचार ॥३१७॥

भावार्थ :—मुनिगण, गुरुजी और जनकजी जैसे धैर्य की धुरी को धारण करनेवाले अपने मनस् को ज्ञान अग्नि में कसौटी पर सोने के समान कस चुके जिन्हें ब्रह्माजी ने जगद्रूपी जलमें कमल के पत्ते की तरह निर्लेप ही रचा वे ज्ञान-वैराग्य सहित हो कर भी श्रीराम व भरतजी की उपमारहित अपार प्रीति को देखकर मनसा वाचा कर्मणा प्रीतिरस से आक्रान्त हो गए।

मुनिगन गुर

शा० व्या० :—'मुनिगन' से विश्वामित्रादि 'गुर' से वसिष्ठजी समझने हैं।

धुरधीर जनक से

'धुरधीर" से स्थायी शम व "जनक" से उपनिषद् विद्यावान् जनकजी समझने हैं।

ग्यान अनल (अनावृत ज्ञानफल)

मुनियों को योग, गुरुजी को सिद्धि एवं जनकजी को ब्रह्मप्राप्ति इस प्रकार हुई कि जिससे उनके हृदय में वृद्धिगत धैर्य के प्रभाव से ज्ञान अतितीव्र हो चुका था उस ज्ञान रूपी सूर्य के प्रकाश में योगादि को अज्ञान आवृत नहीं कर पाता, अतः यह कहना होगा कि मुनियो, गुरुजी व जनकजी जैसे धीर व्यक्तियों में तपस् श्रद्धा, धैर्य, निःस्संगता व सन्देहरहितता पूर्ण होने से उदित ज्ञान में मलिनता न होना निर्णीत है। जैसाकि "तपःश्रद्धायुतो धीरो निस्संगो मुक्तसंशयः"[१] से स्फुट है।

१. भा० १०।५२।३

मन कसे

धारणा व ध्यान के अनन्तरभावी आत्मसाक्षात्कार में आनन्दित मनस् की विश्रान्ति प्राप्त होना 'मन कसे' से कहा है जिसमें सेन्द्रियज्ञान को अवकाश नहीं है सदा प्रभु के चरित्र-चिन्तन में मुनियों का मानस एकाग्र है। फलतः मुनियों को रघुपति, रखवारा के रूप में प्राप्त हैं। 'कसे' कहने से मुनिमासकी की परीक्षोत्तीर्णता स्पष्ट है।

निरलेप उपाए

मुनि व राजा औपनिषद की उत्पत्ति का मूलाधार ब्रह्माजी के तपस् आदि को[1] कहा है। जिनसे मिथ्याज्ञानप्रयुक्तरागद्वेष का संबंध सर्वथा प्राप्त नहीं है उसी तत्व से ऋषि ब्रह्मज्ञानी से जन्मे हैं अर्थात् ज्ञान अध्ययन, मीनांसा, संयम, इन्द्रियनिग्रह की पूर्णता 'निरलेप' से व्यक्त है।

पदुमपत्र

वसिष्ठजी जनकजी व मुनियों की निर्लेपता "पदुमपत्र" से विवक्षित है।

जग जल जाए

निर्लेप होते हुए भी गुरुजी ने पुरोहितकार्य करना, कौशिकादि मुनियों ने समय पर राज्य में आना, राजा जनकजी ने राज्यश्री भोगना जगजल जाए से सूचित है। अतः जगत् के मूलकारणरूप में रही अविद्या व तत्प्रयुक्त रागद्वेष से सर्वथा दूर रहना पदुमपत्रवत् से कहा जाएगा अतएव इनको पुण्य पाप का संबंध नहीं है।

तेउ बिलोकि (मुनियों में वासनानुदय)

जल दृष्टान्त से ज्ञात यह हुआ है कि रागद्वेषजनक मिथ्याज्ञानप्रयोजक संस्कार एवं मिथ्याज्ञानप्रयुक्तरागद्वेषजन्य संस्कार का अभाव होने से विश्वामित्रादि मुनियों के हृदय में रत्यादि की स्थायी वासना न होने से स्थायी भावों का संक्रमण संभव नहीं है। परिणाम में अप्सराओं से लेकर कोई भी तत्त्व विश्वामित्रादि के सामने आ जायें तो भी उन पर अप्सरादि का असर होना नहीं है वैसे गुरु आदि "तेउ" से बोध्य हैं। सहृदयतासंहकृत स्थायी वासनाविशिष्ट सामाजिको के सामने साधरणीकरणव्यापारमहिम्ना श्रीमद् अभिनवगुप्तपादाचार्योक्त व्यजनाविधया अनुभाव व्यभिचारी भावों से देखना "बिलेकी" है।

आशय यह कि स्वामित्व के भाव में श्रीराम कोई कामना रखकर सेवक भरतीजी ऐसा कार्य नहीं करवाते जिससे भरतजी विमुख हो जायें न तो भरतजी ही कोई ऐसा

---

१. भा० ३।२०।५२

तपसा विद्यया युक्तो योगेन सुसमाधिना।
ऋषी-नृषि हृषीकेशः ससर्जोभिमाताः प्रजाः॥

ऐहिक या पारलौकिक मनोरथ रखते हैं जिसके हेतु वे श्रीराम पर प्रीति रखते हों ऐसे कामनाशून्यजन पारस्परिकप्रेमसंबंद्ध संसार में दृष्टिगोचर नहीं हैं इस प्रकार से उक्त तथविध प्रीति को देखना 'बिलोकि' हे।

रघुबर भरतप्रीति

शुचि शुद्ध निश्छल आत्मश्रृंगाररूप प्रेम "रघुबर भरत प्रीति" का भाव है. जो 'विलोकि' का विषय है।

अनूप अपार

"अनूप" से श्रीराम ने कहा 'बिधिप्रपंच महँ सुना न दीसा'[1] का अर्थ स्पष्ट है। 'अपार' से दोनों भाईयों का मंजिष्ठा राग ज्ञातव्य है जैसा कि 'अतीव शोभते यस्तु नापैति क्षालितोपि सन्। स एव कविभि सर्वैः मंजिष्ठा राग उच्यते'[2] से उक्त हैं।

भए मगन

आत्माराम, आप्तकाम की आँखों के सामने सांसारिक जीवों के चरित्र निर्दुष्ट रूप में प्रगट हो ही नहीं सकते क्योकि आप्तकामों को संसार के बोर में घृणा ने घेररखा हे जो प्रीति का विरोधी तत्व है परन्तु मिथ्याज्ञानशून्य प्रभु व उनके भक्तों के चरित्र जनकजी जैसे आत्मारामों के सामने अभिनीति होते हैं तब संसारविमुखों का समाधि से विरत हो प्रभुसान्निध्य के प्राप्त्यर्थ दौड़ लगाना तथा तन्मनस्क हो वाणी को उनके प्रति अंग बनाना 'मगन' से स्पष्ट है। निष्कर्ष यह कि रजस्तमोगुण का पूर्ण विलयन कर आत्माराम-आप्तकामों ने एकात्मभाव में श्रीराम-भरतप्रीति को देखना 'मगन' है।

बिराग बिचार (चित्रकूट में मुनि आदि के आने की सफलता)

इह अमुत्रार्थ फलभोग विराग ! 'बिराग' है।

तर्कयुक्त सत्परामर्श 'बिचार' है।

ज्ञातव्यों कि यथार्थ परामर्श प्राप्ति करने में राग प्रतिबन्धक होता है अतः विराग' कहा है ऐसे विराग व विचार से युक्त व्यक्ति निर्ग्रन्थ (चिज्जड़निष्ठ अध्यासा भाव) रहते हैं परन्तु वे भी सातत्येन सुरक्षित ज्ञानप्रयोजकतर्कधाराप्रयुक्त श्रम से लिप्त होने पर भगवत्तद्भक्तप्रीति का बहिरिन्द्रियों से संबंध करना चाहते हैं तथा अनुमान एवं शब्द प्रमाण से प्रमित को देखना चाहते हैं यतः प्रत्यक्ष के विना आनन्द अनुभूत नहीं होता अभी वह आनन्द है अतः श्रीराम-भरतप्रीति दर्शन से उदित हुआ हैं उसी हर्ष में जैसे-जैसे मनः प्रसाद होने लगा वैसे-वैसे मुनिगण, गुरुजी, जनकजी, की तन मनस् व वाणी समर्पित हो गई इस प्रकार तीनों को चित्रकूट में आने का प्रयोजन भी ध्वनित हुआ है।

---

१. २।२३१।८ २. भाव प्रकाशन (८१।१९-२०)

अर्थात् मिथिला में जनकजी ने सीताविवाह के पूर्व प्रभुको देखकर जिस आत्मतत्व का निर्णय किया था उसके बारे में विश्वामित्रजी ने भी अपनी सम्मति प्रगट की थी उसी सेव्य परमात्माकी अनन्य सेवक भरत प्रीति से संपृक्त आत्मत्व को देखकर जनकजी ने आनन्दमग्न हो विचार करना जनकविचार हैं।

गुरुजी ने भरतजी को अवधसभा में परिजन होने का संकेत किया था व चित्रकूट की प्रथम सभा में श्रीराम से भरतजी के बारे में 'करब साधुमत' आदि कहा था क्योंकि आरंभ में ही उन्होंने 'रामोयं प्रभुः' ऐसा बिचार कर रखा था जो उनका सत्परामर्श है उसी की प्रत्यक्ष में देख कर गुरुजी ने पूर्व विचार को दुहराना उनका विचार है।

एवं विश्वामित्र मुनि ने समाधि में प्रभु को देखा व मारीच सुबाहु पर विजय प्राप्ति होने के बाद श्रीराम का प्रभुत्व निर्णीत किया था उसी प्रभुत्व को पुनः प्रत्यक्ष देख कर मुनि ने परामर्श करना उनका विचार है।

संगति :—दोहा २।३१७।४ में उक्त "कहि न परत सो" से व्यक्त प्रीति की अप्रमेयता को तर्क से सिद्ध कर रहे हैं।

चौ० :—जहाँ जनक गुर गति मति भोरी। प्राकृत प्रीति कहत बड़ि खोरी ॥१॥

भावार्थ :—जहाँ जनकजी और गुरुजी की मति को भी जो पूर्णतया अप्रमेय हो रही है उस प्रीति के बारे में साधारणों ने कुछ कहना बड़ा दोष है।

जहाँ

शा० व्या० :—वर्णनीय तत्त्व के बारे में स्वापेक्षया उत्कृष्टों (जनकादि) में रही रामप्रीति के प्रति अवर्णनीयता के बोधनार्थ "जहाँ" कहा है।

जनकगुर

"जनक" से उपनिषद व "गुर" से कर्म बोध्य हैं उनके सहित विश्वामित्रजी भी समझने हैं।

गति मति भोरी

भरतप्रीति का अन्तिम छोर पाना "गति" है।

"मति" से शास्त्रार्थनिष्पन्ना, व्यंजना-शक्ति-लक्षणात्मक त्रिविधवृत्तिजन्या राम भरतप्रीतिविषयिणी मति समझना है। इस मति के विषयभृत भरतप्रीति में पूर्णतया अवगाहनाभाव "भोरी" से समझाया गया है।

प्राकृत

जनकादिकों के लिए भी अदर्शनीय अपार प्रीति के प्रति अवगाहनासमर्थ, किंचितपदार्थमात्र में अवगाहनशील मति से संपन्न "प्राकृत" से बोध्य हैं।

कहत बड़ि खोरि

अनधिकारी बुद्धिमानों के द्वारा श्रीराम-भरतप्रीति वर्णित होना "कहत बड़ि खोरी" है।

ज्ञातव्य है कि कवि भरतसमवेत प्रीति की अपारता को ही नहीं कह सकते तो यहाँ उस भरतप्रीति में श्रीरामप्रीति जुड़ने से उसका अवर्णनीयत्व कैमुतिकन्यायेन सिद्ध है। इस प्रकार "संगत्युक्त अर्थ" को तर्कसिद्ध किया।

संगति :—श्रीराम के साथ 'साथ गए' को का सुख भोगने वाले भरतजी को अयोध्या में लौटते देखर श्रीरामसहितभरतजो का वियोग भी वर्णनीय होना चाहिये था जैसा कि उनका मिलन वर्णित हुआ है फिर भी तथाविध वियोगवर्णन में अनौचित्य देखकर मति का सकुचाना उपपत्ति के साथ वर्णित हो रहा है।

चौपाई :—**बरनत रघुबरभरतबियोगू। सुनि कठोर कवि जानिहि लोगू ॥२॥**
सो सकोच रसु अकथ सुबानी। समउ सनेहु सुमिरि सकुचानी ॥३॥

भावार्थ :—श्रीराम-भरतजी के वियोग का वर्णन करने से लोग कवि को कठोर हृदय कहेंगे। इस दोष के संपर्क से विप्रलंभ, रसरूप में अकथनीय है अतएव कवि की सुन्दर वाणी श्रीराम-भरत प्रीति का स्मरण कर के ही संकुचा गई।

बरनत

शा० व्या० :—दोहा २।२८४।४ की व्याख्यानुसार गूढ़स्नेह में स्थित दोनों भाइयों के वियोग की वर्णनीयता "बरनत" से समझनी है।

रघुबर-भरत

स्वामित्वत्यागपूर्वक निश्छल अहैतुक सेवा में तत्पर भरतजी के प्रति प्रीतिमान् "रघुबर" से बोध्य हैं।

विपत्तिरूप दाय के विभाजन में साथ देने वाले भरतजी "भरत" से बोध्य हैं।

बियोगू

श्रीराम से मिलन के बाद उनकी आज्ञा से ही भरतजी का अवध लौटना "वियोगू" है।

सुनि

साधरणीकरणव्यपारविधया सामाजिकों के हृदय में रससंक्रमणार्थं नटस्थापनापन्न कवि से उच्चरित शब्द का श्रवण "सुनि" का भाव है।

कठोर (योग वर्णन में दोष)

श्रीराम-भरतप्रीति के संवेदन से रसिकों के हृदय में जो मूर्ति अंकित हुई है ऐसे रसिकों के सामने प्रस्तुत श्रीराम-भरत मिलन प्रीति के बाद कवियों ने पुनः उनके

वियोग का वर्णन करना रसिकों के लिए अश्राव्य होने से वह कटु कहा जाएगा जैसे उद्धववाणी के द्वारा श्रीकृष्ण का सन्देश सुनकर उनका अस्तित्व हृदय में बना है समझने वाली गोपियों के सामने वियोग वर्णन अश्राव्य है जैसा कि "विशोका अहनी निन्युः गायन्त्यः प्रियचेष्टितम्"[1] से श्रीमद्भागवत में स्पष्ट है।

कबि जानिहि लोगू

'कठोर' शीर्षक में उक्त कटुत्व को वर्णनीयतावान् के रूप में कवि को सामाजिकों ने समझना "कबि जानिहि लोगू" है।

सो सकोच रसु

भरतप्रीतिरूप रसतत्व अनुभूत कर लौटने के प्रसंग में श्रीरामभरतवियोग के विभावानु-भावादि का वर्णन करना अनुचित है अतः संकोच हो गया क्योंकि भरतजो को पूर्ण सन्तोष प्राप्त है। जैसा कि 'नाथ!' भयउ सुखु साथ गए को[2] से स्फुट है।

अकथ

लौटने के समय वियोग संबंध में आंगिक आदि अनुभावों का सर्वथा अकथनीय होना यहाँ "अकथ" है।

सुबानी समउ

औचित्यपूर्ण रस उगलने वाली वाणी शारदा (कुण्डलिनी) "सुबानी" है। इसका अन्वय 'सकुचानी' से है।

सरस्वती जी ने वियोग से संयोग की ओर सामाजिको को इस प्रकार पहुँचाया कि उनके हृदय में श्रीराम-भरतप्रीतिमूर्ति स्थिर हो गई यदि पुनः वियोग की ओर वह सामाजिकों को ले चले तो पुनः कुसमय होगा उसका अभाव "समउ से व्यक्त है।

सनेहु सुमिरि

श्रीराम-भरत प्रीति "सनेहु" है जिसमें दोनों में निर्भयता, अशंकता स्पष्ट है ऐसे स्नेह का स्मरण "सुमिरि" हैं।

सकुचानी (शारदासंकोच)

'सनेहु सुमिरि' शीर्षकानुसार नीरक्षीरविवेकवती शारदा जी ने भरतजिह्वा पर आकर प्रभु की प्रार्थना की उसके बाद उनके हृदय में दोनों की प्रीति ओत-प्रोत हो गई उस स्नेह के प्रतिबंधकतत्त्व का स्मरण करना व बोलना आदि में अनौचित्य देखकर शारदा जी ने विप्रलंभवर्णन के बारे में सकुचाना "सकुचानी" हैं।

१. श्रीमद्भागवत् (१०।३९।३७) २. २।३०।७।६

संगति :—दोहा ३१६ में 'उर लाई' कहने के बाद कवि ने अपनी ओर से प्रसंगनः स्मृत होकर भी रामवियोगवर्णन के अनौचित्य को समझाकर २।३१६ के आगे का वर्णन सुना रहे हैं।

चौपाई :—**भेंटि भरतु रघुबर समुझाए। पुनि रिपुदवनु हरषि हियँ लाए ।।४।।**

भावार्थ :—भरतजी से भेंटकर रघुपति ने उनको समझाया फिर प्रसन्न हो शत्रुघ्नजी को हृदय से लगा लिया।

भेंटि भरतु रघुबर समुझाए

शा० व्या : –दोहा २।२१६ में उक्त "उर लाई" के स्मरणार्थ कवि "भेंटि भरतु" कह रहे हैं। अर्थात्—

पूर्व में श्रीराम ने दी शिक्षा का निरूपण पूर्ण होने के बाद "समुझाए" का निष्कर्ष उस तत्त्व से है जिससे गोपियों ने उद्धवजी के द्वारा कृष्णसन्देश को सुनकर आत्मवियोग न होना समझा है जैसा कि "भवतीनां वियोगो में नहि सर्वात्मना क्वचित्"[1] से स्पष्ट है।

लाए

भरत जी को सुनाए उपदेश को सुनकर शत्रुघ्न जी ने भी हर्ष में आना देखकर प्रभु उन्हें हृदय से लगा रहे हैं जिससे उन्हें भी "साथ गए को"[2] का सुख प्राप्त हो।

संगति :—अवध में लौटकर श्रीराम के आने की आशा में, जैसे भरतजी के साथ समाज बड़े उत्साह से निर्विरोध चित्रकूट आया था वैसे ही श्रीराम के विना श्रीरामानुमति के अनुसार इन्द्रमाया से उपकृत समाज ने निर्विरोध लौटने की तैयारी करना कवि समझा रहे हैं।

चौपाई :—**सेवक सचिव भरतरुख पाई। निज निज काज लगे सब जाई ।।५।।**

भावार्थ :—सेवक व सचिव भरतजी का रुख देखकर अपने-अपने कार्य में लग गए।

सेवक सचिव

शा० व्या० :—सेवक-सचिवों को श्रीराम की बातें सुनकर यह निर्णय हो चुका है कि प्राप्त श्रीरामपदुका के दर्शन का स्थैर्य अपेक्षित है तो हम लोगों ने त्रयीप्रतिष्ठा के अन्तर्गत भरतवचन और श्रीरामवचन का आदर करना चाहिये अतः सेवक सचिवों का पृथक् वर्णन है।

रुख पाई

पूर्वोक्त निर्णय पर पहुँचने पर भी जबतक श्रीरामप्रतिनिधि भरतजी का शासन प्राप्त नहीं होता तबतक सेवक सचिव आगे नहीं बढ़ेंगे, उस शासन की प्राप्ति "रुख पाई" से स्पष्ट है। इस प्रकार नीतिज्ञ सेवक सचिवों की मर्यादा ज्ञेय है।

---

१. श्रीमद्भागवत १०।४७।२९ २. २।३०७।६

निज निज काज

"निज-निज काज" की व्याख्या दोहा २।२।१८६ में द्रष्टव्य है।

संगतिः—दोहा २।२।३१६ में अवधिपर्यन्त अवध में निवासहेतु प्रयुक्त ऐन्द्रीमाया के आवेग में जाने को तैयारी श्रीरामविरह प्रयुक्त वेदना व ग्रन्थकार सुना रहे हैं। इस लिए कि श्रीराम को लौटाकर ले आने की आशा पर सभी के लिए पानी फिर गया है।

चौपाई :—**सुनि दारुन दुखु दुहूं समाजा। लगे चलन के साजन साजा ॥६॥**

भावार्थ :—यह सुनकर दोनों समाजों में दुःख छा गया। वे चलने की तैयारी करने लगे।

सुनि

शा० व्या० :—"सुनि" से प्रभु की आज्ञा तथा सेवक-सचिवों का वापस होने हेतु किया कार्यारम्भ समाज ने सुनना स्पष्ट है।

दारुन

दुःख की इतर उपायों से अपरिहार्यता होना "दारुन" है।

श्रीरामवियोगश्रवण से दुःखी होने की एकवाक्यता दोहा ३१७।२ से स्फुट है। श्रीरामवियोगजदुःख की दारुणता पूर्व में विस्तृत है क्योंकि कोई भी सर्वप्रिय आत्म-रूप श्रीराम से बिछुड़ना नहीं चाहता।

दुखु

श्रीरामविरहप्रयुक्त द्वेष "दुखु" है। उसके रहते लोगों के चलने की उपपत्ति २।३०२।५-६ स्फुष्ट प्रभाव व २७०।२ की उक्ति से निर्विवाद है।

लगे चलन

श्रीरामवियोगज दुःख अपार होते हुए भी "लगे चलन" के प्रति श्रीरामादेश का प्रभुत्व कारण है। इस प्रकार एक ओर इस यात्रियों की तैयारी बताई गई।

संगति :—दूसरी ओर सेवकों को अवध में लौटने का संकेत रुख से करने के बाद भरत-शत्रुघ्न जी लौटने के पूर्व श्रीरामपद व चित्रकूटस्थ मुनिगणों की वन्दना कर रहे हैं।

चौपाई :—**प्रभुपदपदुम बंदि दोउ भाई। चले सीस धरि रामरजाई ॥७॥**
मुनि तापस बनदेव निहोरी। सब सनमानि बहोरि बहोरी ॥८॥

भावार्थ :—दोनों भाई, प्रभुचरणों में नमस्कार कर लौटने के अव्यवहित पूर्व-क्षणों में रामाज्ञा शिर सर धारण कर चलें। उन्होंने मुनि, तपस्वी, वनदेवता सभी का बारंबार सम्मान किया।

प्रभुपद बंदि

शा० व्या० :—अवध लौटते हुए मार्ग में बिघ्न न होना प्रभुपदवन्दना का दृष्टफल स्मर्तव्य है।

सीस धरि

ये स्युस्त्रैलोक्यगुरवः सर्वे लोकमहेश्वराः वहन्ति दुर्लभं मत्वा शिरसैवानुशासनम् (श्रीमद्भागवत १०।७३।२) की चरितार्थता "सीस धरि" है।

रजाई

प्रभु ने जिस प्रकार से शिक्षा (पादुकादानपूर्व व पादुकादानोत्तर) दी उसको शिरसा धारण करने का निष्कर्ष आज्ञापालन में है, जिससे भरत-शत्रुघ्न जी की निश्छलता शुचिता व्यक्त हो रही है उसका प्रथम बिन्दु "रजाई" है।

मुनि तापस बनदेव निहोरी

"मुनि" कर्मतन्त्र के प्रणेता हैं।

"तापस" वानप्रस्थी बैखानस वालखिल्य, औदुम्बर, फेनप विवक्षित हैं। इनका निर्वचन श्रीधराचार्यकृत टीका में स्पष्ट है।[1]

"वनदेव" से चित्रकूटस्थ देव विवक्षित हैं।

साधु पुण्यात्मा यदि विनीत, शुचि, होते हैं तो उनको मुनि आदि का दर्शन होना विस्मयकारक नहीं है यतः साधु के दर्शन से मुनि आदि अपने को धन्य मानते हैं इसी को "निहोरो" से कहा गया है।

सनमानि

सभी ने भरतयात्रा को सहायता देकर उसको श्रीरामदर्शन कराया है। इस उपकृति में उनके-उनका अधिकारानुरूप सन्मान भरत-शत्रुघ्न जी ने करना "सनमानि" से ज्ञातव्य है।

बहोरि बहोरी

भरत-शत्रुघ्न जी ने बार-बार सन्मान करना उनकी उपकृतिसहकृत प्रीति का बोधक है अतः "बहोरि" की द्विरुक्ति सार्थक है।

संगति :– लक्ष्मणजी से भेंट कर सीताजी को प्रणाम करते हुए उनकी (सीताजी) चरणधूल लेकर भरत-शत्रुघ्नजी का अवधप्रस्थान सुना रहे हैं।

दोहा :—लखनहि भेंटि प्रनामु करि सिर धरि सियपदधूरि।
चले सप्रेम असीस सुनि सकल सुमंगलमूरि ॥३१८॥

---

१. श्रीमद्भागवत (श्रीधराचार्यकृत टीका) ३।१२।४३

भावार्थ :—लक्ष्मणजी से भेंट की व सीताजी को प्रणाम कर उनकी चरण-धूलि शिरस् पर धारण की तब सीताजी के सुमंगलवाणी से भरे आशीर्वाद को सुनकर आगे बढ़े।

भेंटि

शा० व्या० :—श्रीराम के सेवक भरतजी व लक्ष्मणजी दोनों समान हैं। एक ने वन में साथ रहकर श्रीरामसान्निध्य पाया है दूसरे ने अवध में रहकर प्रभुसान्ध्यि पाया है। इस प्रकार दोनों समानधर्मा है अतः भेंटि कहा है। यहाँ आलिंगनादि सभी व्यापार ध्वनित है।

अथवा २४०।७ में उक्त लक्ष्मण जी की सफल कृति को याद कर भरतजो ने उनसे पुनः मिलना 'भेटि' का भाव है।

ज्ञातव्य है कि लक्ष्मणजी व भरतजी के उपास्य श्रीराम अभी उपस्थित हैं उनके रहते अपने से बड़े भाई को प्रणाम करना गुरुप्रणाम की मर्यादा के विरुद्ध है अतः कवि ने प्रणामु न कहकर "भेंटि" कहा है।

सिय

ज्ञातव्य है कि सबेरे ही यह सभा बैठी व निर्णय हुआ कि समाज सहित भरतजी को अवध लौटना है उस समय सीताजी सब सासुओं की सेवार्थ भीतर ही विराजमाना थीं इसलिए भीतर पहुँचकर भरतजी ने उनको दण्डवत् किया है।

धूरि

भक्तगण मोहनिरासार्थ चरणधूलि के आकांक्षित रहते हैं जैसाकि बालकण्डीय मंगलाचरण में व्याख्यात है अतः धूरि कहा है।

सप्रेम असीस सुनि

ईर्ष्या, अमर्षादि के राहित्य में सर्वत्र प्रेमरूप आत्मतत्त्व का प्राकट्य रखते हुए दोनों समाजों की भरतजी में सौहार्दमूलक आबद्धता का बने रहना "सप्रेम" से व्यक्त है। इस कृति में २४३।५६ की उएकरूपना स्मर्तव्य है।

वापस होने में यात्रांगभूत इतिकर्तव्य निरूपित होने के अनन्तर सबके आशी-र्वचनपात्र बनकर चलना भरतजी के लिए मंगलमूल है। इसी की "असीस सुनि" से स्पष्ट किया है।

भारतीय संस्कृति में सम्मानप्रक्रिया का वैविध्य

ज्ञातव्य है कि भारतीय संस्कृति में रहे मुनि तापस आदि सभी के हृदय में आभिमानिक सुख एक नहीं है अतः उनके-उनके आभिमानिक सुख के आनुगुण्य में शास्त्रीय मार्यादा में रहकर भरतजी ने वैसा-वैसा संमान कर सबको सुखी बनाया हैं

यह भारतीय संस्कृति का वैशिष्ट्य स्मरणीय है जैसे "हास्यहस्तग्रहादिभिः"[1] से बलराम जी ने गोकुल में आने के बाद सम्मान किया है।

संगति :—भरतजी ने श्रीरामश्रम से बाहर जाने के बाद जनकजी को विदा करने के क्रम में अतिथि राजा जनकजी से श्रीराम ने प्रणाम करते हुए प्रार्थना करना ग्रन्थकार कह रहे हैं।

चौ० :—**सानुज राम नृपहिं सिर नाई। कीन्हि बहुतविधि बिनय बड़ाई ॥१॥**

भावार्थ :—लक्ष्मणजीसहित श्रीरामजा ने प्रथमतः जनकजी को मस्तक झुकाकर प्रणाम किया फिर वे नाना प्रकार से विनन्ति करने लगे।

सानुज

शा० व्या० :—मिथिला में अनुरागरूप हेतु के माध्यम से लक्ष्मणजीसमेत श्रीराम में जनकजी ने ईश्वरत्व अनुमित किया था। उसी का दाढ़्र्य दोनों ने जनकजी के हृदय में स्थापित कराने हेतु 'सानुज' कहना सार्थक है।

नृपहिं

यदि श्रीरामजी प्रथमतः अन्तःस्थित सासु को बिदा करने हेतु भीतर प्रवेश करते तो उसमें अन्तः (दूर) स्थितत्वात् गौरव होता अतः 'नृपहिं' कहकर उक्त गौरव को अवकाश न देना समझाया है।

सिर नाई

जनकजी दोनों भाईयों के श्वशुर हैं अतः लक्ष्मणजी भी उनको बिदा करने हेतु साथ में हैं।

विनय

बहुत विधि आगे व्याख्यात है विनय का आशय "वयंतु पोष्या रक्ष्याश्च अनुकंप्या भवादृशैः"[2] भागवतोक्ति के अनुसार समझना है।

संगति :—बहुतबिधि का व्यख्यान करते हुए प्रभु के वाक्य सुना रहे हैं।

चौ० :—**देव ! दयाबस बड़ दुखु पायउ। सहित समाज काननहिं आयउ ॥२॥**
पुर पगु धारिअ देइ असीसा। कीन्ह धीर धरि गवनु महीसा ॥३॥

भावार्थ :—हे देव ! आप दयावश दुःख भोगते हुए समाज के साथ वन में आए। अब हम प्रार्थना करते हैं कि आप हमें आशीर्वाद देकर मिथिला जायें। यह सुनकर जनकजी धैर्य के साथ मिथिला जाने हेतु आश्रम से चल पड़े।

---

१. श्रीमद्भागवत (१०।६५।९)
२. श्रीमद्भागवत (१०।४८।२९)

देव ! दयाबस

'देव' ! कहने से निर्विवादरूप में आत्मसंपत्ति का राजा जनकजी में होना स्पष्ट है। 'दयाबस' कहने से राजा का दीनरक्षणात्मकस्वभाव कहा है।

बड़ दुखु पायउ

मिथिला से चलकर कतिपय दूरी तक पैदल चलना, करुण में आना, अपरिहरणीय चिन्तासागर में स्वयं न डूबकर प्रजा को बचाना आदि 'बड़ दुखु पायउ' का भाव हैं।

आयउ

"यशस्करे कर्मणि मित्रसंग्रहे क्रतौ विवाहे व्यसने रिपुक्षये। प्रियासु भार्या-स्वधनेषु बन्धुषु धनव्ययस्त्वेषु न गण्यते बुधैः" के अनुसार धनव्यय करते हुए कानन (आश्रम) में आना श्रीरामप्रीति का द्योतक है।

पुर पगु

पितृ (त्रयी) वचन प्रामाण्य की स्थिरता होने, भरतजी ने कार्यव्यसन (विपत्ति) में हिस्सा लेने, वनवास की स्थिरता होने, व सीताजी ने परीक्षा में उत्तीर्ण होने के बाद जनकजी को मिथिला जाने हेतु प्रेरणा देना 'पुर पगु' का भाव है।

असीसा (आशिष् की सफलता)

विपुल समाज का चित्रकूट में एकत्रित होना मुनिव्रत में बाधक है। भाविकाल में इस प्रकार के विघ्न न हों एतदर्थ श्रीराम सर्वत उपरिस्थित ब्रह्मविद्या से आशिष की याचना कर रहे हैं।

धीर धरि

अध्यात्मविद् को श्रीरामदर्शन में अपने इन्द्रियसाफल्य का अनुभव हो रहा था उससे वंचित होना जनकजी के लिए अनिष्ट कर है फिर भी वे प्रभु के आदेश को शिरोधार्य मानते ही हैं क्योंकि प्रभु के आदेश दुर्लभ हैं यही शिरोधार्यता 'धीर धरि' से वर्णित है। जैसा कि "वहन्ति दुर्लभ मत्वा शिरसैवानुशासनम्"[1] से स्पष्ट है।

संगति :—जनकजी के चले जाने के बाद वहीं पर उपस्थित मिथिलास्य मुनि आदि की बिदाई का वर्णन उपस्थितिकृतलाघवात् ग्रन्थकार कर रहे हैं।

चौ० :—मुनि महिदेव साधु सनमाने। बिदा किए हरि-हरसम जाने॥४॥

भावार्थ :—बाद प्रभु ने मुनि, ब्राह्मणों व साधुओं को भगवान् विष्णु व शिवजी की तरह सन्मान देकर उन्हें बिदा किया।

---

१. भा० १०।१७४।२

मुनि महिदेव साधु

शा० व्या० :—"मुनि" कर्मतन्त्रप्रणेता हैं।

"यदृच्छयोपपन्नेन सन्तुष्ट व अहीयमानधमस्वान् विप्रवृन्द," महिदेव हैं।

"साधु" नीतिमान् सन्धि-विग्रह आदि षाड्गुण्य के प्रयोक्ता हैं।

हरि-हरसम (ब्रह्मवृन्द की महत्ता)

दोहा २।२७१।४-६ में जनकजी ने जो समस्या रखी थी उसके समाधान में ब्रह्म-वृन्द ने चुप्पी साधी उसका अर्थ ब्रह्मवृन्द की अज्ञानिता नहीं अपितु जनकजी को चित्रकूट में पहुँचाकर श्रीराम-भरतप्रीतिरूप रसतत्त्व से परिचित कराना था। इतनी दूरदर्शिता हरिहर के सदृश योग्यता रखने वाले ही कर सकते थे अतः दोहा २।२७१ के अन्तर्गत कही चौपाइयों की एकवाक्यता में 'हरिहरसम' कहा है।

संगति :—सुनयनाजी व माताओं के हृदय में आद्यशक्ति रूप भगवत्स्नेह की स्थापना का स्मरण 'हरि हर सम' से हुआ है तदनुबंधितया कवि स्त्रीसमाज में भी उक्त स्नेहस्थापन का होना समझा रहे हैं।

चौ० :—सासुसमीप गए दोउ भाई। फिरे बंदि पग आसिष पाई ॥५॥

भावार्थ :—दोनों भाई सुनयना जी के पास गए उन्हें प्रणाम कर आशीर्वाद पाकर लौट आए।

समीप

शा० व्या० :—मांगलिकयात्रा में जाते समय स्त्रियों ने पीछे चलना होता है अतः श्रीराम ने सुनयनाजी को प्रणाम कर जनकजी के पीछे जाने की सहज व्यवस्था की ऐसा मालूम होता है इसका कर्तृत्व सीताजी में भी स्मर्तव्य है जैसा कि दोहा २।३२०।१ में प्रमाणित है।

दोउ भाई

"दोउ भाई" से श्रीराम लक्ष्मणजी विवक्षित हैं—

आसिष पाई

ज्ञातव्य है कि इस चौपाई के पूर्वोत्तर चौपाइयों में बिदाई का संकेत होने से यहाँ 'बिदा' शब्द प्रयुक्त नहीं है। इससे दो तथ्य उपलब्ध होते हैं—(१) मीमांसोक्त सदंश न्याय उस से सासु को बिदा करना मीमांसासिद्ध है। (२) जनकजी का वापस होना सुनकर उनके पीछे सुनयनाजी को जाने की प्रवृत्ति होना भी स्वयंसिद्ध है. उस अवस्था में सासु को बिदा करने हेतु प्रवृत्त करना ठीक नहीं है ऐसा समझाने हेतु ग्रन्थकार ने यहाँ बिदा न कहकर 'पाई' ही कहा है।

संगति :- स्वमण्डल (अवध समाज) में उपरोक्त स्नेह स्थापित कर रहे हैं।

चौपाई :—कौशिक बामदेब जाबाली । पुरजन सचिव सुचाली ॥६॥
जथाजोगु करि बिनय प्रनामा । बिदा किए सब सानुज रामा ॥७॥

भावार्थ :—कौशिक, वामदेव, जाबालि तथा शुभ आचरण करने वाले नागरिकों, सेवकों सचिवों आदि की यथायोग्य विनय प्रणामादि करके दोनों भाईयों ने बिदा किया।

कौसिक

शा० व्या० :—अभ्यागतों ने गृहस्वामी के द्वारा अनुमोदन प्राप्त होने पर ही जाने का सदाचार है उसी का प्रदर्शन यहाँ हुआ है।

कौशिकादि के उल्लेख का कारण यह कि ये राजा दशरथजी के उत्तरमंत्रि परिषद् के सदस्य होते हुए सूर्यवंश के लिए आप्त हैं।

पुरजन परिजन सचिव

"पुरजन" प्रजा है। "परिजन" भृत्यवर्ग व नागरिक है। "सचिव" पूर्वमंत्रिपरिषद् में रहने वाले तत्तद्विभागों के अध्यक्ष हैं।

सुचाली

दोहा २।३१४।१ की एकवाक्यता में यहाँ "सुचाली" कहा है। इससे सूर्यवंश के द्वारा स्थापित त्रयीप्रामाण्य का स्मरण हो रहा है।

जथाजोगु (जथा जोगु प्रसक्ति में भेदाभाव)

सात्विकता के साम्राज्य में किसी के हृदय में उच्च-नीचभावप्रयुक्त ईर्ष्यादि दोष उत्पन्न नहीं होते अपितु वे स्व-स्वजातीय कर्तव्यानुकूल सात्विक अभिमान में रहते हुए उच्च-नीचभाव के मर्यादा में रहते हैं। यह मान किसी के अपमान को बढ़ावा देनेवाला न होकर मैत्री को संरक्षित करने वाला है। उसी कर्तव्यानुकूल मान की अनुरूपता समझाने हेतु "जथाजोगु" कहा है। उसका अन्वय 'करि विनय प्रनामा' से है।

करि विनय प्रनामा

'करि' के उद्देश्य ६ एवं ८ वीं चौ० में वर्णित मुनि व नगरस्थ उच्च नीच मध्य हैं। फलतः सभी जनमात्र से श्रीराम का मिलन स्फुट है। विभिन्न वर्ग के तत्तत्सात्विक अभिमान व शासनाधिकार (अर्थशास्त्र) की दिशा से विभिन्न वर्गो में रहे तत्तसात्विक अभिमान के अनुरूप प्रार्थना करना विनय है।

प्रणाम शब्द हस्तान्दोलन हास्यादि का उपलक्षक है।

विदा किए

'बिदा किए' की पुनरुक्ति से सन्दंश न्याय स्मर्तव्य है। परिणामतः मध्य में जहाँ विदा किए नहीं कहा होगा वहाँ भी विदा किए का सम्बन्ध स्पष्ट है। उसी के बोधनार्थ 'सब' उक्त है।

सानुज

"सानुज" की पुनरुक्ति राजा, पुरजन आदि के भेद के अनुरूप सन्मान वैविध्य से है 'सानुज' से राजादि प्रतिवर्गों की प्रीतिका स्थैर्य बने रहना स्फुट है।

संगति :—'करि' निर्देशानुसार अन्य सभी कर्मचारियों को बिदा करना सुना रहे हैं।

चौ० :—नारि पुरुष लघु मध्य बडेरे। सब सनमानि कृपानिधि फेरे ॥८॥

भा० :—कृपानिधान ने छोटे मझौले और बड़े सभी श्रेणियों के स्त्री-पुरुषों का सन्मान कर उन्हें लौटाया।

लघुमध्य बडेरे

शा० व्या० :—राज्य में अनेकविध कर्म ऐसे भी हैं जिनको लघु मध्य बडेरे संकेत से शास्त्रकार व्यवहार करते हैं उन कर्मों के संपत्त्यर्थ अध्यक्ष से लेकर छोटे से छोटे कार्य को पूर्ण करने हेतु तत्तज्जातीय व्यक्तियों के लिए ही आरक्षण की व्यवस्था है तदर्थ ही तत्तज्जातीय से उनउन को संकेतित कर रखा है फलतः राज्य में कलह को अवकाश नहीं है। इसके पीछे कौटिलीय अर्थशास्त्र के अध्यक्षप्रचारीय सिद्धान्त व शान्ति का अग्रदूत पोषकतया स्मर्तव्य है उनके अनुसार यहाँ पर "लघु मध्य बडेरे" कहा है।

सब सनमानि (घट घट में प्रभु को वासनानुरूप कार्य)

राजनीति आदि शास्त्रों ने जैसे प्रभु का विभूति के रूप में सबको समझने व एकात्मभाव में रहना कहा है उसी प्रकार उनकी तुष्टि के अनुरूप में सन्मान, व्यवहार, भोजन, आच्छादन, वेष, अलंकार, आचार, अर्जन आदि सब विहित कर रखा है। परिणामतः राज्य में जैसा जिसका सन्मान होता रहा वैसा ही सन्मान होना यहां 'सब सनमानि' से दर्शाया है। 'सबसे' दोनों समाज दर्शित है।

संगति :—दोहा २।३१९।५ में दी सूचना के अनुसार सीताजी के द्वारा उक्तस्नेह की स्थापना वक्तव्य है। उससे पूर्व कैकेयीमाता के हृदय में रहे भविष्यत्भक्तिप्रतिबन्धक या भक्तिनाशक सोच की प्रसक्ति न होने देने की प्रक्रिया जो श्रीराम जी के द्वारा अपनाई गई है उसे सुना रहे हैं।

दोहा :—**भरतमातुपद बन्दि प्रभु सुचि-सनेहँ मिलि भेंटि।**
बिदा कीन्ह सजि पालकी सकुच-सोच सब मेटि ॥३१९॥

भा० :—भरतजी की माता के चरणों की वन्दना कर श्रीरामजी ने स्नेह के साथ उनसे भेंट कर कैकेयी जी के सारे संकोच और सोच को मिटाते हुए पालकी सजाकर उन्हें अवध में लौटने की अभ्यनुज्ञा दी।

भरतमातु

शा० व्या० :—भरतजी की शुचिता त्यागिता निश्छल भक्ति (रामादेश पालनरूप दास्य) विद्वदंकुशस्थिति आदि गुणों का आधान करने में सहायक कहकर पातिव्रत्य से सम्पन्न माता 'भरतमातु' से ध्वनि है।

बन्दि

'सुचि सनेहि भेंटि' के शीर्षक में वक्ष्यमाण तत्त्व की सफलतार्थ आशिष् प्राप्त करना 'बन्दि' का तात्पर्य है। अथवा प्रभु ने की यह वन्दना सकुच व सोच को पूर्णतः मिटाने में औषध का कार्य कर रही है ऐसा समझाने में 'वन्दि' का तात्पर्य है।

प्रभु

पुत्ररूप में स्थित होने पर भी प्रभु ने माता को वन्दना कर उनसे आशिष् प्राप्त करने का सदाचार 'प्रभु' से स्फुट हैं जो अनौद्धत्य का पूर्ण सूचक है।

सुचि सनेह मिलि भेंटि

"सुचि सनेह" की व्याख्या पूर्व में उक्त है। माता कैकेयीजी के वचन में सफलतानुमापक प्रमाणप्रमितत्व के अनुबंध में रहकर लंकाकाण्ड में शास्त्रप्रामाण्य की स्थापना करनी होगी ऐसा सोचकर प्रभु को माता कैकेयीजी पर स्नेह हो रहा है उसका परिणाम शरीर में शिथिलता है जो 'भेंटि' से परिलक्षित है।

बिदा कीन्ह

वन्दना देखकर माता कैकेयीजी को श्रीराम ने भरतजी को सुनाए उपदेश याद आए फलतः उन्होंने भी प्रभु के आज्ञा का पालन करना 'बिदा कीन्ह' से वर्णित हैं।

बिदाई से श्रीरामाभ्यनुज्ञा सूचित है।

सजि पालकी

"सजि पालकी" वस्तुप्रदर्शनमात्र हैं क्योंकि उसकी एकरूपता ४ चौथाई में निरूपयितव्य है अर्थात् पालकी पर जाना है इतना ही अभ्यनुज्ञाविषय ज्ञातव्य है।

सजी से रानी के अनुरूप ससम्मान उपचार स्पष्ट है।

सकुच (पूर्वापराधस्मरण)

पति की मृत्यु पर न हिचकिचाना, पितृपरम्परा को तोड़ना आदि अपराध का स्मरण अवध में पहुँचकर यदि होगा तो पुनः लज्जा (सकुच) हो सकती है जो भक्ति को प्रतिबन्ध या उसका नाश भविष्यत् में कर सकती है उसीको 'सकुच' से समझाया है। उसका अन्वय भेंटि से है।

सोच

लज्जाजनक अकार्यकृति का वारम्वार स्मरण होने की प्रसक्ति 'सोच' है। जो शंका का स्वरूप धारण कर भेदोत्पादक व प्रीतिबाधक हो सकती है वही सोच से ध्वनित है। यह भी सकुच की तरह 'मेटि' से अन्वित है। अर्थात् आते समय सोच कैकेयीजी के साथ था अब लौटते समय सोचाभाव साथ में रहेगा।

मेटि

संकोच से व्यक्त लज्जा व शंका का समूल विनाश होना 'मेटि' है, वह 'बन्दि' (नमस्कृति) रूप औषध से संपन्न है। ज्ञातव्य है कि सोचनाश के लिए द्वाररूप में अपेक्षित जिस बोध को जगाकर माता को शोक व चिन्ता से मुक्त किया है वह बोध "मेटि" से संकेतित हैं। उस बोध के विषय निम्नलिखित हैं—(१) राजा दशरथजी के परलोकप्रयाण का चिन्ह दृष्टिगोचर होना जो उनके जीवनादृष्ट समाप्ति का सूचक था उसके पीछे श्रवणेन्द्रियगत केशश्वेतिमा को याद में लाना (२) सूर्यवंश की शुद्धता को कायम रखने में ही माता जी ने आजीवन प्रयास किया है उसके प्रातिकूल्य में जो घटनायें उपस्थित हुई उसमें माता का दोष कारण न होकर भरतजी की निश्छलपरिजनताभिव्यक्ति है (३) माता के द्वारा राज्योत्सवभंग होना सत्य है तथापि मातृकृति राज्योत्सवभंग प्रयोजक नहीं है किंतु पितृवचन के प्रामाण्य की स्थापना में श्रीराम को नियुक्त कराकर उनके पुत्रत्व की स्थापना के साथ पितृभक्ति में सर्वत उपरि धर्मत्व स्थापित करने में हैं जिसका परिणाम अतिशयित मंगल (रावणवध) होना है जो सरस्वती जी के हृदय में छिपा है।

संगति :—जिस प्रकार अवधवासियों को श्रीराम के द्वारा बिदा कराने के क्रम में कैकेयी जी को विदा करना बताया उसी प्रकार सीताजी ने सब अन्तर्वासिनियों को विदा करना वर्णनीय है उसके अन्तर्गत दो प्रकार स्मर्तव्य हैं उनमें से प्रथमतः उपनिषद् विद्या व तत्सहचरिता व माँताजी को बिदा करने का प्रकार सुना रहे हैं जो सीताजी की समकक्ष में स्थित हैं तथा उनके समानानुरूप है। जैसाकि (२१८।८ की चौपाई) 'सुनयनाजी से सूचित है।

चौ० :—परिजन मातु पितहि मिलि सीता। फिरी प्रानप्रिय प्रेम पुनीता ॥१॥

भावार्थ :—श्रीरामचन्द्रजी की प्राणप्रिया सीताजी माता-पिता व परिजनों से मिलकर लौट आयीं।

परिजन

शा० व्या० :—ज्ञातव्य है कि २।३१९।३ व ४ मे 'श्रीराम के निर्देशानुसार राजा जनक जी व उनकी रानी चल पड़ी थी उस समय सीताजी से मिलन अवशिष्ट था उसी को यहाँ परिजन से सुना रहे हैं। फलतः दोहा २।३१७।२ में कथित "सियवियोगा" की एकवाक्यता में सीताजी ने परिजनों आदि से भेंटकर प्रीति बना रखी है। यहाँ परिजनों आदि से प्रथमतः भेंट लेने का कारण यह कि माता-पिता से भेंट लेने के

बाद उनकी ओर से वापस की होने के आज्ञा होने के बाद सीताजी ने तुरन्त लौटना होगा।

मिलि सीता फिरी

मिलि :—मैथिल रनिवास में सीताजी का माता-पिता से मिलना उनके पूर्वकृत दुलार का उद्‌बोधक है तथा प्रीति के अनुभाव का सूचक भी है अतः 'मिलि' कहा है।

यहाँ मातु मिलि से पिता आदि को सम्मानित करने की पद्धति स्पष्ट है। जो संगति में उक्त है।

सुनयनाजी से भेंट करने के अनन्तर उनके आवास से लौटने में सीताजी को बिलम्ब न होना समझाने हेतु "फिरी" कहा है।

संगति :—सीताजी के द्वारा सासुओं की बिदाई व तदवसरानुरूप विशेष कर्म सुना रहे हैं। जैसा कि ३१८।८ चौपाई की संगति में सूचित है।

चौपाई :—**करि प्रनामु भेटी सब सासू ! प्रीति कहत कवि हियँ न हुलासू ।।२।।**

भावार्थ :—प्रणाम करके सब सासुओं से गले लगकर मिलीं। उनके प्रेम का वर्णन करने के लिए कवि के हृदय में उल्लास नहीं है।

करि प्रनामु

शा० व्या० :—माता-पिता के निवासस्थान से आकर सीताजी ने की सभी सासुओं की विदाई के क्रम में प्रथमतः प्रणाम कहा है। माता व सासुओं की विदाई में अन्तर यह कि पुत्री के प्रति माता-पिता के हार्दिक अभिमान में पुत्री से उन्हें प्रणाम वांछित नहीं है माता-पिता तो प्रेम ही देखकर प्रसन्न होते रहते है अतः कवि महाभाग जी ने पुत्रीमिलन में प्रणाम का उल्लेख नहीं किया।

श्वश्रू का सम्मान पितृमातृसम्मान से पृथक् है वहाँ स्नुषा के विनयपूर्वक प्रणाम से ही श्वश्रू अपने आदर की जिघृक्षु रहती है अतः कवि ने यहाँ 'प्रनामु' कहा है।

भेटिं सब सासू

सासुओं के साथ मिलने में प्रणामानन्तर्य बोध्य है। जो मातृमिलन से वैधर्म्य रखता है जैसा कि 'न हुलासू' से स्फुट है।

'सब' से कैकेयी जी भी ज्ञातव्या है।

प्रीति कहत

'मातृ' पितृ, परिजनप्रीति व सकल श्वश्रूप्रीति का कथन 'प्रीतिकहत' है।

मातादि प्रीति में समानता

सुचिन्त्य है कि संपूर्णभक्तसमाज में साध्यभक्तिरूप भगवच्चरणारविन्दरति का अभ्युदय एकसा दृष्टिगोचर होता है तो उस समय वर्णभेद, संबंधभेद आदि के कारण भक्तों में उच्चनीचभाव आदि रहते हुए भी भगवत्स्नेह में कोई तारतम्य दिखाई न पड़ने से

से उनकी प्रीति की कहना "प्रीतिकहत" से दर्शाया है। जैसाकि मातृ-पितृप्रीति व श्वश्रूप्रीति की समानता से निर्णीत है।

न हुलासू

ज्ञातव्य है कि भगवत्स्नेह में रहनेवाले की श्रेणी व स्थान भिन्न-भिन्न होने पर भी भक्तो प्रपन्नों की प्रीति में जैसे तारतम्य नहीं रहता अपितु उनके हृदय में रोमांच व अश्रु के शिवा कोई अनुभाव दृष्टिगोचर नहीं होता प्राणी राम ऐसे भक्तों की श्रेणी में गिने गए हैं ऐसी स्थिति में प्रीतितारतम्य (सासुप्रीति व मातृप्रीति) के वर्णन में कवियों ने उल्लसित न होना तत्पर प्रपन्न भक्त जनों की भक्ति को प्रगट करना है।

संगति :—माता पिता व सासुओं से प्राप्त आशिष् सर्व साधारण्येन एक प्राप्त होना शिवजी सुना रहे हैं।

चौपाई :—**सुनि सिख अभिमत आसिष पाई। रही सिय दुहुँप्रीति समाई ॥३॥**

भावार्थ :—उन (माता पिता व सासु) की शिक्षा सुनकर और मनचाहा आशीर्वाद पाकर सीताजी, ससुराल और मायके दोनों ओर की प्रीति में मग्ना हो गई।

सुनि सिख

शा० व्या० :--स्त्रीधर्म (पतिव्रत) में रहने का उपदेशश्रवण 'सुनि सिख' है जो प्राणप्रिय प्रभु की असीम प्रीति संपादिका है अन्यतः अन्यथाप्राप्त शिक्षा सुनना पत्नी के लिए प्राणप्रिय के प्रति अप्रेम या स्वार्थसाधक होकर रहेगा जो वर्णाश्रमसमाज के लिए लज्जाजनक है।

शिक्षा का प्रयोजन

माता व सासू से प्रदत्त शिक्षा सीताजी के लिए अप्रवृत्तप्रेरक न होने से सफल नहीं है तथापि वनवास के समय सदाचार (स्त्रीधर्म) में अप्रमाण्य शंकाभावरूप फल होने से सफल है। अथवा कीर्तिनान्तरीयकातिरिक्त श्रमाद्यनिष्टाभाव के बोधनार्थ होने से शिक्षा अप्रयोजन नहीं है।

अभिमत (आशिष् का प्रयोजन)

सीताजी ने प्राप्त शिक्षा और आशिष् से अभिमत 'अन्वित है' वे दोनों सीताजी के लिए रुचिकर लगना 'अभिमत' में बोध्य है। अर्थात् माता प्रभृति केआशिष् को सीताजी ने १२ वर्ष पर्यन्त मुनिव्रत में रहने स्व लीला में चरितार्थ किया जो उसके बाद की लीलाओं (रावणवधान्त) से स्पष्ट हुई है। चिन्त्य है कि लीलाके अन्तर्गत कतिपय चरित्र ऐसे भी होंगे जिनका परिणाम तीनों जी (श्रीसीता, राम, लक्ष्मण जी) के मानसिक शंकोदय से भेद का वपन हो सकता था जैसे सीताजी ने मारीचशब्द सुनकर लक्ष्मणजी को कठोर शब्द कहने से स्फुट है। उस भेद को अवकाश न

देने में रामप्रेमस्थैर्यक्षेम समेत आशीर्वचनात्मक शब्द सहायक हो कार्यकारी होंगें यही प्रकृत आशिष् का प्रयोजन है।

दुहु

'दुहु' से माताएं व श्वश्रू ज्ञेय हैं उसका अन्वय 'प्रीति' से है उसी के अनुभाव में मातृवचन व श्वश्रूवचन स्मर्तव्य हैं।

प्रीति समाइ

मातृकुल व श्वश्रुओं के प्रति उनके आद्यन्त व्यवहारों में एकमात्र सुख का भान होते रहना 'समाई' है। उसी में सीताजी निश्चला ही रह गई। अर्थात् प्रस्तुत घटना में सासुओं व माता-पिता की ओर से लोकसंग्राहक सदाचार (पातिव्रत्य धर्मपालन) के बारे में निष्प्रकंप शिक्षा व आशिष् देते हुए दोनों (माता व श्वश्रू) ओर से अत्यन्त प्रीति की वर्षा होने से दोनों ओर की रानियों ने दर्शायी प्रीति में सीताजी ने ध्यानाकृष्ट होना "समाई" का भाव है। इस प्रकार सीताजी ने की विदाई का वर्णन पूर्ण है।

संगति :—संपूर्ण शंकाओं व सोच का उन्मूलन होने के बाद अवध की ओर रानियों के जाने का वर्णन कवि कर रहे हैं। जो २।३१९ दोहे से संबद्ध है।

चौपाई :—**रघुपति पटु पालकी मगाई। करि प्रबोध सब मातु चढ़ाई ॥४॥**

भावार्थ :—श्री रघुनाथजी ने सुन्दर पालकियाँ मंगवाई और सब माताओं को प्रबोधप्रचुर आश्वासन देकर उन पर चढ़ाया।

रघुपति

शा० व्या० :—रघुवंश का आचार 'रघुपति' से दर्शाया है यह वंश प्रीति के परवश न होकर सदा उदासीन हो तदात्व में उचित व स्व कर्तव्य में समासीन होता आया है उसमें शिरोमणित्व श्रीराम में स्फुट है जैसा कि 'मिलिमिलि (२।३२०।५) व 'रघुपति' से व्यक्त है।

पटु पालकी

"पटु पालकी" से मजबूत व सुन्दर सजी शिबिकाएँ विवक्षित हैं। जो २।३१९ में सूचित है।

प्रबोधु

जगदुपादानरूप से अनुस्यूत ब्रह्म ही श्रीराम हैं उनका वियोग भक्तों के अनुभव में नहीं है ऐसा समझाना "प्रबोधु" है।

अथवा :—जो कर्तव्यरूप से प्राप्त प्रमाणत्रयप्रमित अर्थ है उसको अपनाते रहने में भगवत्स्नेह की प्राप्ति स्थायिरूप में होती है ऐसा समझाना "प्रबोधु" है।

प्रबोधु का प्रयोजन

प्रकृत प्रबोध के उदित होने को सफलता चढ़ाई में बिलंब न होने में चिन्त्य है।

चढ़ाई

आश्रम के द्वार पर से उपर्युक्त चढ़ाइचरित्र स्मरणीय है। एक ओर सेवक सचिवों द्वारा दोनों समाजों की वापस होने को तैयारी हो गई दूसरी ओर माताएँ भी शिबिका पर आरूढ़ा हो गईं। इस प्रकार आश्रम से क्रमप्राप्त विदाइ का वर्णन पूर्ण हुआ। जिसका आरंभ २।३१७।५ में है।

संगति :- स्वधर्म की मर्यादा में रहकर उसके द्वारा प्राप्तव्य स्थायी अनुराग की शिक्षा माताओं ने श्रीराम लक्ष्मणजी को दी है। उसके अनुरूप दोनों भाई माताओं के पीछे-पीछे चल रहे हैं।

चौपाई :—**बार-बार हिलि मिलि दुहु भाई। समसनेह जननी पहुचाई ॥५॥**

भावार्थ :—दोनों भाईयों ने माताओं से समान प्रेम से बार-बार मिल-जुलकर उनको पहुँचाया। जहाँ समाज चलने हेतु सन्नद्ध था।

बार-बार

शा० व्या० :—'बार' के पौनः पुन्य से उदासीन होते हुए भी भाइयों (श्रीराम-लक्ष्मण जी) की प्रीति स्फुट हो रहो है। अन्यथा माताओं के प्रति भाइयों की अप्रीति हो प्रगट होती।

हिलि

माताएँ तीन हैं एक भाई पीछे हैं दूसरे भाई आगे खड़े हैं। भाई (श्रीराम लक्ष्मण) इस प्रकार से माताओं के साथ हैं जिससे किसी के हृदय में विषमता दृष्टि-गोचर नहीं हो रहो है। अर्थात् दोनों भाइयों का मिलना ऐसा हो रहा है मानो अलातचक्र का भ्रमण हो रहा हो। इस रीति से प्रस्तुत चरित्र में लक्ष्मणजी का ऐश्वर्य मायाविस्त्व चिन्त्य है जिससे तत्संबंधी न्यूनता का परिहार हो रहा है।

सम सनेह

स्नेह की समता में सापत्नभाव व वैमातृकभाव को अवकाश न देना समझाया है जैसाकि श्रीमद्भागवत से स्पष्ट है।

न वै तेऽजित! भक्तानां ममाहमिति माधव।
त्वं तवेति च नाना धीः पशूनामिव वैकृता ॥[1]

भगवच्चरणारविन्द के प्रति रहा स्नेह अनुराग में परिणत हो भक्तों में यदि स्थिर होता है तो वे भक्त उसी स्नेह में सबको देखते हैं फलतः उनमें मानापमानादि का भेद नहीं रहता ऐसा समझाने हेतु "सम सनेह" कहा है।

१. श्रीमद्भागवत (१०।७४।५)

पहुचाई

पहुचाने का स्थान वह है जहाँ समाज एकत्रित हो प्रतीक्षा कर रहा है।

संगति :—रानियों के पहुँचते ही भरतयात्रियों का प्रयाण बता रहे हैं।

चौपाई :— **साजि-बाजि गज बाहन नाना। भरत-भूपदल कीन्ह पयाना ॥६॥**

भावार्थ :—भरतजी व राजा जनकजी के दलों ने घोड़े, हाथी और अनेकों प्रकार की सवारियाँ सजाकर प्रस्थान किया।

साजि

शा० व्या० :—जहाँ गज-बाजिसवार यात्रा हेतु सन्नद्ध थे तथा रानियों की प्रतीक्षा में खड़े थे वह स्थान रानियों के पहुँचने की सीमा थी। यद्यपि यहाँ सीताजी का आना कण्ठतः नहीं कहा है तथापि अग्रिम दोहे के अनुसार प्रीतिसमाधि से उत्थित होते ही सीताजी का यहाँ (एकत्रित समाजस्पन्न) आना स्मर्तव्य है।

बाहन नाना भरत भूप दल

"बाहन नाना" से शिबिका रथ आदि विवक्षित हैं।

भूरत-भूपद्वन्द्व के अन्त में श्रूयमाण 'दल' शब्द भरत व भूप से अन्वित है अर्थात् भरतसमाज व भूपसमाज का जाना स्पष्ट है।

पयाना

'पयाना' से अवध की ओर प्रयाण बताया है। प्रयाण का अपादान कारक वह है जहाँ से अलग-अलग हो तत्तद्वर्ग अपने-अपने स्थल में वास करने गए थे। स्मर्तव्य है कि उक्त अपादानस्थल तक ही पूर्व चौपाई में उक्त 'पहुँचाई' स्मर्तव्य है।

संगति :—दोहा २।३१७।२ में कथित 'नतरु' की चरितार्थता के साथ इन्द्रकृत उचाट मात्र को प्रगट कर रहे हैं। इसलिए कि वह अवधगमन में सहायक है।

चौपाई :— **हृदय रामु-सिय-लखनसमेता। चले जाहिं सब लोग अचेता ॥७॥**
बसह बाजि गज पसुहिं हिय हारे। चले जाहि परबस मन मारे ॥८॥

भावार्थ :—श्रीसीताराम व लक्ष्मणजी को हृदय में रखकर सब लोग बेसुध हो चले जा रहे हैं। बैल, घोड़े, हाथी आदि पशु भी हृदय में हारे, परवश, मनस् के मारे हो चले जा रहे हैं।

हृदय

शा० व्या० :—इन्द्रजी के द्वारा अवधवासियों का उच्चाटनमात्र हुआ है। इन्द्रजी उनमें, भय, भ्रम, अरति को उत्पन्न न कर सके क्योंकि भरतरूपी जहाँज ने अवधवासियों को 'भ्रम आदि' से बचाया है और श्रीराम के प्रति निश्छल स्नेह ने उन्हें श्रीरामादि के प्रति 'अरति' होने से बचाया है।

चले जाहि

गंगाजी के इस पार तक श्रीराम को पहुँचाकर लौटे सुमन्त्रजी के समान समाज की दशा होना 'चले जाहिं' से स्मर्तव्य है। ध्यातव्य है कि समाज के प्रयाण के कर्तृत्व का भार रामादेश पर है।

अचेता

रघुपति ने दिए स्वतन्त्रआदेशपालनसेवाभक्ति ने उनको आगे बढ़ाया है यतः वे 'अचेता' है जो स्वजनगमनाकर्तृत्व का बोधक है।

पसु

'पसु' से बैल, घोड़े, हाथी के अतिरिक्त प्राणी उष्ट्र पशु समझने हैं।

हियँ हारे

पशुओं के हृदय ने भी धीरता से च्युत होना 'हियँ हारे' है यतः उनको अपने साथ श्रीसीतारामलक्ष्मणजी नहीं दीख रहे हैं।

परबस

पश्वादि को इधर-उधर जाने का उत्साह होते हुए भी पशुत्वमर्यादा उन्हें आगे आज्ञाऽनतिक्रमणपूर्वक बढ़ने को बाध्य कर रही है क्योंकि पशु के हृदय पर छाए तमोगुण का साम्राज्य पशुको अपने २ सवार के अधीन रखवाता है।

मन मारे

'मन मारे' से पशुओं में भरतदलों में अचेता की समता ज्ञात होती है। अन्तर इतना ही कि मानवों के चालक विवेकवराहासहकृत रामादेशपालन से चल रहे हैं पशु उन-उनके सवार के अधीन है। प्रीत्यंश में मात्र दोनों के प्रति साधर्म्य समाने है।

संगति :—रामचरित्रोपसहार में माताओं को यथास्थाच पहुँचाने के बाद वहाँ से लौटते हुए गुरुजी को प्रणाम कर प्रभु का लौटकर पर्णकुटी पर आना ग्रन्थकार वर्णित कर रहे हैं।

दोहा :—**गुर-गुरतियपद बन्दि प्रभु सीतालखनसमेत।**
फिरे हरष-बिसमयसहित आए परननिकेत ॥३२०॥

भावार्थ :—गुरु (वसिष्ठजी) व गुरुपत्नी (अरून्धती) जी के चरणों की वन्दना कर सीताजी व लक्ष्मणजीसहित श्रीरामजी हर्ष और विषाद के साथ लौटकर पर्णकुटी पर आये।

पद बन्दि

शा० व्या० :—सभाविसर्जन के बाद गुरुजी ने नित्य होम किया बाद अग्निहोत्रसामग्री लेकर अरुन्धतीसहित हो भरतदल में साथ होने लिए आ रहे थे तभी प्रभु

ने लौटते हुए उन्हें देखा व उनके चरणों की वन्दना की उसके पीछे गुरुजी का मन्त्र-कौशलस्मरण कारण है। ज्ञातव्य है कि प्रभु होने पर भी नारदजी के शापानुसार नाट्य करने की प्रतिज्ञा होने से श्रीसीतारामजी लक्ष्मणजी सहित हो गुरुजी व अरुन्धतीजी को प्रणाम कर रहे हैं।

गुरु से पशुपर्यन्त सब में आदेश की चरितार्थता होना 'प्रभु' से संकेतित है।

हरष बिसमय

प्रमाणभूत सभी वचनों का समन्वय होना, भरतजी ने आदेश मानना, किसी प्रकार का विरोध न होना, सकुशल सबने लौटकर जाना, संपूर्ण अवधबासियों में अत्युच्चतम स्नेह की स्थिरता देखना "हर्ष" है।

नाहमात्मानमाशासे सद्भक्तैः साधुभिर्विना।
श्रियं चात्यन्तिकीं ब्रह्मन् येषां गतिरहं परा॥
ये दारागारपुत्राप्तान् प्राणान् वित्तमिमं परम्।
हित्वा मां शरणं प्राप्ताः कथं तांस्त्यक्तुमुत्सहे॥[1]

में कहे लक्षण से लक्षित भक्तिमानों की इच्छा का तत्काल में पूर्ण न होना "बिसमय" (विषाद) का कारण है।

सहित

कार्यगौरव देखकर समयानुरूपता में हर्ष एवं विषाद को उदासी प्रभु में निमन्त्रण देना "सहित" से ज्ञातव्य है जो प्रभु अनुपेक्षणीयता सूचक है।

संगति :—सभा सहित भक्त भरतजी से श्रीराम की भेंट चित्रकूट में कराकर निषादराज ने गुरुजी को प्रणाम कर अपने कार्य की पूर्णता की उसकी प्रशंसा दोहा २।२४३ में गाई। निषादराज प्रहरी का कार्य करते आश्रम में स्वामी की अनुपस्थिति में खड़े ही रहे अब उनकी बिदाई प्रभु कर रहे हैं।

चौपाई :—**बिदा कीन्ह सनमानि निषादू। चलेउ हृदयं बड बिरह बिषादू॥१॥**
कोल किरात भिल्ल बनचारी। फेरे फिरे जोहारि जोहारी॥२॥

भावार्थ :—फिर सन्मान करके निषादराज को विदा किया वह जाने तो लगा किन्तु उसके हृदय में बड़ा भारी विषाद था फिर उन्होंने कोल, किरात, भील आदि वनवासी लोगों को भी लौटाया वे सब वन्दना कर-करके लौटे।

सनमानि

शा० व्या० :—नीचकर्मी जाति में उत्पन्न गुहजी पहिले श्रीरामभक्त होते हुए भी भरत जी के प्रति विरोध करने की स्थिति में पहुँचे थे, तत् प्रयोजक संस्कारों

---

१. श्रीमद्भागवत (९।४।६३-६५)

के उद्‌बोध को देखकर वसिष्ठ जी निषादराज की अशुचिता समझ रहे थे अतः उन्होंने आरंभ में निषादराज से आलिंगन नहीं किया परन्तु वह अशुचिता भरत-श्रीराम मिलन होने पर समाप्त हो गयी अतः गुहजी अपने स्वकर्म से ऊपर उठने में अधिकृत हुए हैं देखकर स्नेहमग्न गुहजी के साथ वसिष्ठजी ने आलिंगन किया जैसा कि दोहा २४३।६ में स्पष्ट है। इस योग्यता को श्रीराम परख रहे हैं अतः उन्होंने निषादराज को अनुपेक्षाभाव से सन्मानित करना निषादराज के कल्याणवुद्धित्व का द्योतक है।

चलेउ

विषादावस्था में भी आश्रम में रहने का आग्रह न कर अपने स्थान पर वापस (चलेउ) होने का कारण हृदय में स्थिर रूप से रहे श्रीरामपदारविन्द पादुका के दर्शन का स्थैर्य है।

बड विषादु

गुहजी सखा, अवध राजा के विश्वासपात्र आटविक पति तथा रामदर्शनविरह-प्रसक्त विषाद को सहन करते स्वामी की आज्ञा को शिरोधार्य करते है अभी आँखों के सामने रहते हैं। इत्यादि को परखकर प्रभु ने भी सभाकार्यव्यापृति में इतस्ततः चारो भाइयों के विखरने पर गुहजी को प्रहरी पद पर नियुक्त किया था जिससे वह भक्त-समागम व संवाद आदि का आनन्द ले रहा था वह सब पूर्ण हुआ अव तो १४ वर्ष के लिए श्रीराम व उनके भक्तों का विरहसहना हो हैं ऐसा सोचकर गुहजी की भइ ग्लानि 'बड विषादू' है।

जोहारि जोहारी

गुहजी के सैनिक कोल किरातादि को भी प्रभु ने जाने को कहा तो वे आगे बढ़ते-बढ़ते प्रीतिवशता में पीछे देख रहे हैं और श्रीरामादि तीनों की वन्दना कर रहे हैं जो आत्मीयतापूर्ण स्नेह का सूचक है। इससे श्रीरामरूप स्नेहवल्ली का संवर्धन स्फुट है अर्थात् निषादराज व उनके कर्मचारियों के स्नेह में तारतम्य न होने से रघुपति में आत्मस्वरूपता समझना ग्रन्थकार का आशय मालूम पड़ता है।

संगति :—अधिभूतात्मक भक्तों की बिदाई होने के बाद भक्त कार्यपूर्त्यर्थं २।२२७।४-५ में तुष्णीभावेन आमन्त्रित हर्ष विषाद को भार्या एवं अनुज के सामने व्यक्त कर उनकी विदाई का ध्वनन शिवजो करा रहे हैं जो अध्यात्म में स्थित हैं। उसी में २।३२०।७ में उक्त अचेता का साफल्य भी व्यक्त होगा।

चौपाई :—**प्रभु सिय लखन बैठि वट छाही। प्रिय परिजनवियोग बिलगाही ॥३॥**
भरतसनेह-सुभाउ सुबानी। प्रिया-अनुजसन कहत बखानी ॥४॥
प्रीति प्रतीति वचन-मन-करनी। श्रीमुख राम प्रेमबस बरनी ॥५॥

भावार्थ :—प्रभु, लक्ष्मणजी, सीताजी वट की छाया में बैठेतब प्रियजन एवं परिवार के वियोग से प्रभु दुखी हो रहे हैं, भरतजी के स्नेह, स्वभाव व सुन्दरवाणी को

बखान कर वे प्रिया पत्नी सीताजी व लक्ष्मणजी से कहने लगे। श्रीराम ने प्रेमवश होकर भरतजी के वचन, मनस्, कर्म की प्रीति तथा विश्वास का अपने मुख से वर्णन किया। परिणाम में हर्षविषाद की बिदाई हो गई।

बैठि

शा० व्या० :—रामाश्रम में अभी देवों की स्थिति होने से उनको बिदा करने हेतु उसी वेदी पर तीनों मूर्ति बैठे हैं जिनको गुहजी ने पेड़ पर चढ़कर देखा था।(२।२३७।०)

बट छाहीं

दोहा २३७।३ में उक्त वट को यहाँ "बटु" से कहा है जिसकी गुहजी ने पेड़ पर चढ़के देखा था। वह वट विचार (मन्त्रणा) करने में सहायक है जो प्रभु का प्रिय है। यतः प्रलय में वट का अस्तित्व है। "नन्त्यग्घड्रूर्मय:[1]" के अनुरूप यह वट सभा-स्थल में स्थापित हुआ है वैसे वट की छाया में बैठना ही 'वट छाहीं' है।

प्रिय परिजन

भक्तिसिद्धान्त का प्राकट्य इसलिए हुआ कि उस मत में प्रभु ने भक्तों को सदा याद करते रहना बताकर सबको परिजनरूप में आत्मसात् किया है जो नीति से अभिन्न होता हुआ प्रभु पादुकाप्राप्ति की शिक्षा दे रहा है।

बियोग

पूर्वग्रन्थ में भरतजी का वर्णन स्वतन्त्र है। उनकी ही प्रशंसा श्रीराम के द्वारा गायी गयी जिसमें श्रीराम व भरतजी की प्रीति स्फुट हुई। फलतः भरतत्व ही रामस्मृतिविषयतावच्छदेक माना जायगा। तथापि वह तत्त्व भक्तिसिद्धान्त के अभिमत में प्रगट नहीं हुआ है समझकर ग्रन्थकार ने यहां प्रिय 'परिजनवियोगा' कहा है जिसमें श्रीराम की स्मृति विषयता की अवच्छेदकता रामविरहपीडितत्व में स्पष्ट हो गई है।

बिलगाही

"बिलगाही" से श्रीराम के द्वारा की गई स्मृतिविषयता समझाई है, इससे निर्विकारी (उदासी) श्रीराम के 'हरष विसमय' का प्रयोजन स्फुट हो रहा है। 'प्रिय' से अर्थार्थी की व्यावृत्ति है व 'परिजन' से अध्यात्मविद् की व्यावृत्ति है। परिणाम में वैसे भक्त की सराहना अध्यात्मविद् प्रभु करते हुए अपने को भक्तों का दास मानते हैं इस प्रकार 'वियोग बिलगाहो' की सार्थकता समझनी है।

भरत

जिन्होंने अवधसमाज को अपने विवेकरूपी जहाज पर चढ़ाकर चित्रकूट लाया उनके रक्षण का भार अपने कंधों पर लिया तथाविध स्वभावादिविशिष्ट भरत जी 'भरत' शब्दार्थ हैं।

---

1. श्रीमद्भागवत (१०। ।)

सनेह

'सनेह' से पतिव्रतास्नेहतुल्य मंजिष्टा राग विवक्षित है। जैसाकि जो २।२८४।४ में उक्त है।

सुभाउ

भरतचरित्र उनके स्वभावादि से स्मर्तव्य है। शिशुपन से ही श्रीराम की सेवा में जीवनयापन करना भरतजी का स्वभाव है उसके रुकावट को देखकर भरतजी ने राज्यस्वामित्व स्वीकारने में अपनी असन्तुष्टि प्रगट की श्रीराम ने राज्यस्वामित्व स्वीकार करने के बाद अवध में आकर नन्दिग्राम में वास करते 'साथ गएको' से श्रीराम सान्निध्य की सुखानुभूति की प्राप्ति व्यक्त की। इस प्रकार सदैव श्रीराम की दासता में रहना "सुभाउ" से स्फुट है।

सुबानी

स्पष्ट-ललित-पदाभिधायिता वाणी का सौष्ठव है जिसके माध्यम से संपूर्ण प्रजा व परिजनों का अपने प्रति अनुराग भरतजी बनाये हुए हैं ऐसा सोचकर ही श्रीराम ने आग्रहपूर्वक प्रतिनिधिरूप में भरतजी को शासनपदाधिष्ठित किया हैं। अथवा विवेकवराहा से पूर्ण मधुर वाणी "सुबानी" है।

प्रिया अनुजसन

श्रीसीताजी व लक्ष्मण जी में भी भरतसमानशीलव्यसनिता समझाने हेतु श्री शिवजी ने 'प्रिया अनुजसन' कहा है। उसका प्रयोजन इन्द्रादि को सचेत करना है इसलिए कि भविष्यत् में वे किसी प्रकार से भरतादिका विरोध न करें।

बखानी

भरतजी के स्वभावादि को प्रत्यक्षतः देखने पर भी 'बखानी' कहने का आशय उस चौपाई की एकवाक्यता से है जहाँ लक्ष्मणजी ने पूर्वपक्ष की ओर से भरत जी को श्रीराम का शत्रु ठहराया था उसके उत्तर में पूर्वपक्ष के बहकावे में आने के परिणाम से बचाकर सबको सौहार्दभाव में पुनः स्थिर कर पूर्वपक्ष को सदा के लिए उन्मूलित करने में है।

प्रीति प्रतीति

प्रीति श्रद्धापरक है। प्रतीति विश्वासपरक है। इन्हीं दो के रहने पर स्वान्तरस्थ ईश्वर दृष्टिगत होते हैं जो "भवानीशंकरौ वन्दे" की व्याख्या में निरूपित है। वही राजाजनकजी के द्वारा भी २।२८९।५ में उक्त है।

बचन मन करनी

प्रीति व प्रतीति की समानरूपता मनस् वचन व कर्म में दिखाकर भरतजी की महात्मता के बारे में श्रीराम की साक्षिता मन आदि से व्यक्त है।

श्रीमुख

२।२७७।४-५ में श्रीराम ने सोचना व समाधान पाना कहा या वह प्रगट हुआ है उसी हर्ष में अपने समाधान को व्यक्त करने का अवसर प्राप्त भया है समझाने हेतु 'श्रीमुख' कहा है।

प्रेमबस

शास्त्रशरीर श्रीराम शास्त्ररक्षक निष्कपट व्यक्ति को अपना अंगरक्षक मानकर उनके प्रति प्रभु ने प्रीतिवश होना 'प्रेमवस' है जो भक्त का सम्मान करने में प्रभु का मानसिक व्यापार है।एवंच 'बरनी' का प्रयोजन भी स्पष्ट है।

अथवा निष्कपट सेवक स्वार्थहीन हो मनोभाव से एकाग्र होकर प्रभु का स्मरण करते रहते हैं तब प्रभु ने कुसमय से बचाने हेतु भक्तों को अपने हृदय में प्रेमसहकृत चिन्तन के माध्यम से वनाए रखना 'प्रेमबस' से स्फुट है।

संगति :— भक्ति की छत्रछाया में प्रतिष्ठित निष्कपट पनपी राजनीति के प्रभाव में एकत्रित सन्तों का वियोग हो जाए तो उस परिस्थिति में मानव ही नहीं अपितु प्राणि-मात्र का विकल होन मृगादि की विकलता से समझा रहे हैं। इसलिए कि गुरु शिष्य के रूप में स्थित दोनों भाई की न्याय प्रवृत्तता[1] दर्शानी है।

चौपाई :—**तेहि अवसर खग मृग जलमीना। चित्रकूट चर अचर मलीना ॥६॥**

भावार्थ :—उस समय पशु-पक्षी और जल की मछलियाँ चित्रकूट के सभी चेतन और जड़ जीव उदास हो गए।

तेहि अवसर

शा० व्या० :—भरतजी के द्वारा यथावत् नीति की प्रतिष्ठा पूर्ण होने के बाद स्व मण्डल की प्रतिष्ठा होने में जनानुराग के साथ चराचर मात्र की प्रीति समझाने का अवसर "तेहि अवसर" है।

मृग

'मृग' से वन्यपशु सभी समझने हैं 'जलमीन' शब्द जलचर का उपलक्षक है।

मलीना

"मलीना" से संपूर्ण चित्रकूटस्थ प्राणियों की वेदना व्यक्त है, जो साधु-सन्तों में "सन्त बिछुड़न" प्रयुक्त हैं।

उदासीनता की स्थापना

हर्ष विषाद से ज्ञातव्य है कि पशुओं को मलिनता के निवारण के साथ वनस्थों को स्वव्यापार कराने हेतु विवेक साम्राज्य संपन्न चित्रकूट में पुनः हर्ष विषाद का बिदा करके यहाँ संमयविताने में पुनः उदासीनता को प्रभु ने स्वीकारा ऐसा बताकर शिवजी ने स्वरा ज्यमंडल स्थापन वर्णन पूर्ण किया।

---

१. यान्ति न्यायप्रवृत्तस्य तिर्यञ्चोपि सहायताम्

संगति :—प्रतिष्ठापित राज्यश्री को देखकर वनस्थ श्रीराम पूर्ण उदासी हो गए। अब परराज्यमण्डल के अर्जन का क्रम प्रभुके द्वारा संचालित कैसे हुआ इस प्रश्न के समधान में कवि देवों की प्रार्थना से प्रारंभ कर रहे हैं।

चौ० :–बिबुध बिलोकि दसा रघुबर की। बरषि सुमन कहि गति घर-घर की ॥७॥

बिबुध बिलोकि दसा

शा० व्या० :—प्रभु ने हृदय में भक्तों को स्थान देने हेतु अपनाए अध्यात्म हर्ष विषाद मात्र को 'देखना बुध विलोकि दसा' का भाव है।

दसा से भक्तवियोगावस्थाप्रयुक्त दुःख समझना है।

बरषि

हर्ष विषाद कार्य (प्रभु हृदय में भक्तनिवास) पूर्ण है देखकर हर्ष विषादरूपं अध्यात्म को विदाई कराने हेतु प्रभु को अपनी ओर खीचने का उपाय पुष्पस्पर्श है ऐसा सोचकर पुष्प वर्षाकरना' 'बरषि" हैं।

कहि

अध्यात्मरूप हर्ष-विषाद को विदा कर राज्य से उदासी प्रभु ने देवों की ओर देखते ही उन्होंने स्वगति का वर्णन आरंभ करना "कहि" हैं।

गति

श्रुतिमर्यादित वृत्तिव्यवस्था का विलोप 'गति' से बोध्य है। अर्थात् परराज्यविजय प्रारम्भविन्दु का समय 'गति' से ध्वनित है। इस प्रकार देवों का समयोचित सेवकत्व ध्वनित किया जो नीतिसरीय अनुजीविवृत्त में सेवकों के लिए कथित है।

घर घर

'घर-घर' का अन्वय 'गति' से है जो गतिशीर्षक में उक्त हैं। 'घरपौनरुक्तय से सम्पूर्ण देवघर समझने है जो राजनीति में वृत्तिविच्छंद का परिणाम है।

संगति :—दैन्य को सुनकर प्रभु चरित्रानुरूप अभिनय के रूप से प्रणाम करते हुए परराष्ट्रविजयहेतु कार्य करने का आश्वासन दे रहे हैं।

चौपाई :—प्रभु प्रनामु करि दीन्ह भरोसो। चले मुदित मन डर न खरोसो ॥८॥

भावार्थ :—प्रभु ने उन्हे प्रणाम कर आश्ववासन दिया। तब वे प्रसन्न होकर चले। मनस् में तृणमात्र भी डर नहीं रहा।

प्रभु प्रनामु करि

शा० व्या० :—भाव यह कि वृष्ट पुष्पस्पर्शप्रयुक्त प्रबोध में अध्यात्म को (हर्ष विषाद) विदाकर प्रभु ने परराष्ट्रविजयप्रारम्भबिन्दु में अपने इष्टदेव (आराध्य श्रीशिव) को प्रणाम करना 'प्रभु प्रणामु' है।

दीन्ह भरोसो

"भरोसो" का अर्थ "अहं भवतां हितं साधयन् पराक्रमणं निरसिष्यामि" ऐसा निश्चय देवों के हृदय में उत्पन्न कराने में है। तद्व्याजेन श्रुतिप्रतिष्ठा करनी होगी उससे जनकराजा प्रसन्न होंगे इसलिए व कैकेयीप्रोक्त उदासी वरानुरूपतार्थं स्वराज्य कि प्रतिष्ठापित भरताधिष्ठित राज्यप्रकृति की ओर से ही प्रभुने उदासीत्व स्वीकारना राजा को इष्ट है।

मुदित

देवों को निर्णय हुआ कि अब राक्षसों का नाश होना है अतः देव हर्षित हो रहे हैं।

डर

जिस आतंक को हटाने हेतु देवों ने श्रम किया परन्तु स्वराष्ट्रमंडल की यथावत् स्थापना न होने से उनमें भय बना ही रहा तथा भी भय का दूसरा कारण वसिष्ठजी का वचन[1] था। इसलिए वे बारंबार यह समझते थे कि श्रीराम अवध लौटकर राजा बनेंगे फलतः रावण को एकमात्र मानवत्व समानाधिकरणप्रभुत्व से ही मरना है वह नहीं होगा ऐसा अबतक बना रहा जो 'डर' से स्पष्ट है।

न खरोसो

वह भय भरतधी के अवध लौटने व प्रभु के आश्वासन से चला गया।

संगति :—संपूर्ण स्वराष्ट्रमण्डल की यथावत् स्थापना के बाद परविजय प्रारंभ का निर्णय स्वीकार कर निश्चिन्त हो श्री सीताराम-लक्ष्मण जी १२ वर्ष के लिए चित्रकूट में निवास करने का निर्णय कर रहे हैं उनका तात्कालिक स्वरूप कवि गा रहे हैं।

अथवा प्रभु के प्रणम्य श्री विश्वेश्वर ने उस समय ज्ञान वैराग्य भक्ति में विशिष्ट ओत-प्रोत स्वरूप जो सानुज सीतासमेत श्रीराम में देखा उसको हर्ष में गा रहे हैं।

दोहा :—**सानुज सीय समेत प्रभु राजत पर्णकुटीर।**
भगति ग्यानु बैराग्य जनु सोहत धरे सरीर ॥३१॥

भावार्थ :—लक्ष्मणजी व सीताजी समेत श्रीराम पर्णकुटी में इस प्रकार सुशोभित हुए कि मान भक्ति ज्ञान एवं वैराग्य तीनो मूर्तिमान हो पर्णकुटि में विराजमान हो रहे हों।

सानुज

शा० व्या० :—'स' शब्द अनुज लक्ष्मणजी व 'सीय' से अन्वित है। फलतः यहाँ श्रीराम की प्रधानता स्पष्ट है तथापि श्रीराम आदि मूर्तित्रय में परस्पर साकांक्षता ही ज्ञातव्य है।

अर्थात् दण्डककाननस्य मुनियों के ध्येयरूप में तीनों में से कोई एक न होकर तीनों का एक साथ होना व्यक्त है क्योंकि यह त्रितयपर्याप्ति ही रावणवधार्थ प्रगट है। उन्हीं से जगन्मगल होना संभावित है।

प्रभु

शिवजी ने श्रीराम को प्रभुके रूप में समझना 'प्रभु' से ध्वमित है।

परनकुटीर

१२ वर्षपर्यन्त एकत्र निवास होने से 'परन कुटीर' कहा है।

भगति

गुर्वादि की आज्ञा का विवेकपूर्वक पालन निष्कपटनिस्वार्थ होना ही 'भक्ति' है जैसा २।३१५।५ में व्याख्यात है। 'भक्ति' से भक्तों के लिए आहारानुरूप सेवारुचि स्पष्ट है जहाँ प्रभु का योग आस्वाद्य है।

ग्यानु

शरीरात्माध्यास को पूर्णतया मिटाने वाला ज्ञान 'ग्यान' से बोध्य है। उसमें और ज्ञान से अन्तर यह कि ज्ञानी के हृदय में अभानाद्यापादकावरण भंग प्राप्त होने से उसकोप्रभुवियोग अनुभूत होता ही नहीं।

वैराग्य

भक्ति ज्ञान विरोधी जीबियमनोवृत्तिधारा का उच्छेदन सरीरा 'वैराग्य' से बोध्य है।

सोहत

भरतविवेकवराहा के सान्निध्य में रहे कर प्रजा को १४ वर्षपर्यन्त जीवित रहने की व्यवस्था के अनन्तर ही भक्तों को श्रीसीताप्रभृति मूर्तित्रय के रूप में भक्ति-ज्ञान वैराग्य दृश्य होंगे तभी वे सुखी होंगे ऐसा सोचकर ग्रन्थकारने पर्णकुटीवासी श्रीराम आदि मूर्ति का वर्णन करना 'सोहत' का निष्कर्ष है।

अथवा 'अनुहारी' सासुओं को देखकर सीताजी का घबड़ाना लक्ष्मणजी ने चित्रकूट की ओर भरतजी का आना देखकर पूर्वपक्ष उपस्थापित करना य श्रीराम ने स्वयं चलकर प्रातः समस्या समाधानार्थ गुरुजी के समीप में पहुँचकर वहाँ से लौटना इत्यादि कार्य देखकर शिवजी ने उनकी श्रुतिनिचोडरूप वास्तविकता समझाने हेतु यहाँ लक्ष्मणजीसमेत श्रीराम का प्रगट रूप किया है जिससे उनमें प्रभुत्व सन्दिग्ध न हो सके। सापेक्ष होकर रहे भक्तिप्रभृत्ति में प्रत्यक्ष विद्यना होना सोहत का निष्कर्ष है।

इस प्रकार दोहा २।१६७।५ में कही उपपत्ति यहाँ स्पष्ट है।

संगति :— दोहा २।३२०।८ में कहे 'चले जाहिं' से आगे का प्रथमदिवसीय या ताक्राम बता रहे हैं।

चौ० :—मुनि महिसुर गुर भरत भुआलू। जाहि रामबिरह सब साजु बिहालू ॥१॥
प्रभु गुनग्राम गनत मनमाहीं। सब चुपचाप चले मग जाहीं ॥२॥
जमुना उतरि पार सब भयऊ। सो बासर बिनु भोजन गयऊ ॥३॥

भावार्थ :—मुनि,विप्र, गुरुजी भरतजी व जनकजी श्रीराम के विरह की पीड़ा में सारा साज छोड़कर लौट रहे हैं। अन्तः श्रीराम के गुणों का चिन्तन करने में सभी का रास्ते में तूष्णींभाव है। सबने यमुनापार कर वहाँ प्रथम दिन बिना भोजन के बिता दिया।

मुनि

शा० व्या० :—जाबालि, कौशिकादि 'मुनि' से बोध्य हैं। विप्रवृन्द 'महीसुर' से बोध्य है। 'गुरु' से पुरोहित मंत्रशक्तिसंपन्न वसिष्ठजी बोध्य हैं, साथ में अरुन्धतीजी व शत्रुघ्नजी और माताओंसमेत भरतजी से बोध्य हैं। 'भुआलू' से राजा जनकजी बोध्य हैं।

ज्ञातव्य है कि जिनका कार्य पूर्ण हो चुका उनजैसे माता शत्रुघ्न आदि कीर्तन कर मुनि आदि ही कहना यहां कविकौशल है।

विरह

पारस्परिक सौहार्द के रूप में सीताजी का तथा श्रीरामबोधप्रयुक्त सन्निध्य का हृदय में वेदान्तोक्त उपादातादात्म्यसिद्धान्त के अनुसार समझनें पर भी सेवा भक्तिमत से गुणसंपन्न स्वामी से विरह का परिणाम दुःख होना ही है।

सब साजु

स्वस्वपदानुरूप साज का अभाव 'सब साजुबिहालू' से बताकर अवधवासी एवं मिथिलावासी की समानता भक्ति मत से व्यक्त की है।

गुनग्राम गनत

प्रभु ने जिस शील में रहकर चारों सभाओं में उपदेश सुनाकर उनको बिदा करना निरूपित है वह शील 'गुन' से समझना है। एक-एक गुण की गणना पृथक-पृथक समाज ने करना 'गनत' का भाव है।

मनमाहीं

"मनमाहीं" से एकाग्रता विवक्षित है। जो प्रेमसमाधिरूप में चिन्त्य है ज्ञातव्य है कि सन्निकर्ष में उतना चिन्तन नहीं होता जितना चिन्तन प्रिय को गुणी स्वामी से दूर रहने में होता है। इसी एकाग्रता के हेतु प्रभु भक्तों को दूरत्व का अनुभव कराते रहते हैं जैसा कि श्रीकृष्ण ने गोपियों को उद्धवसन्देश में सुनाया है—"मनसः सन्निकर्षार्थं मदनुध्यानकाम्यया"[1] अतएव 'चुपचाप चले' कहना उपपन्न है।

---

१. श्रीमद्भागवत (१०।४७।३४)

जमुन उतरि

आश्रम से चलकर उस दिन मध्य में वास न कर यमुना के पर तीर पर समाज आ गया जो "जमुन उतरि" से स्पष्ट है।

पार

पार के होने में पूर्वकथित खेवा आदि की व्यवस्था का ज्यों का त्यों रहना सुचिन्त्य है।

बिनु भोजन

भोजन न होने का कारण अत्युच्चमात्रा में रही एकाग्रता है जिसके प्रभाव से समाज श्रीरामगुणचिन्तन के रसास्वाद में आप्यायित रहा। इस प्रकार भरत-यात्रा का प्रथम दिवसीय कार्यक्रम स्पष्ट हुआ।

संगति :—द्वितीय दिवसीय यात्राक्रम बता रहे हैं।

चौ० :—उतरि देवसरि दूसर बासू। रामसखा सब कीन्ह सुपासू ॥४॥

भावार्थ :—यात्रा करते दूसरे दिन गंगापार कर पड़ाव डाला यहाँ तक की व्यवस्था निषादराज ने की।

बासू

शा० व्या० :—गंगाजी के तीर पर वास करने से द्वितीय दिवसीय यात्रा की पूर्णता स्पष्ट है जो विश्राम के लिए अपेक्षित हैं।

सुपासू

रात्रि के विश्राम से दूसरे दिन (गंगापार करने पर) यात्रियों को शरीर की अनुभूति प्रारम्भ हुई श्रीराम के उपदेश स्मृत हुए कर्तव्य पर ध्यान पहुँचा विवेक का दबाव बढ़ा फलतः समाज का ध्यान बुभुक्षा की ओर गया तो उसकी शान्ति गुहजी के द्वारा संपन्न हुई। जो २।२२१।३ में सूचित है।

संगति :—तीसरे व चौथे दिन में अवध पहुँचने तक की यात्रा एकसाथ बता रहे हैं।

चौ० :—सई उतरि गोमती नहाए। चौथे दिवस अवधपुर आए ॥५॥

भावार्थ :—तीसरे दिन सई नदी पार कर गोमती के पार पहुँचे चौथे दिन अवध में यात्रा आई।

सई उतरि

शा० व्या० :—गुहजी ने यमुनातीर पर सब व्यवस्था करना वर्णित है किन्तु गोमती तट पर सेवा नहीं हो रही है ऐसा देखकर सन्तों की सेवा कर्तव्य है सोचते हुए

देवों ने सब व्यवस्था की ऐसा समझना होगा। यद्यपि दोहा ३२१।८ में देवों का अपने लोक में जाना वर्णित है तथापि उनका निवास रूपान्तर से भरतजी के सान्निध्य में भी है जैसा कि "यस्यास्ति भक्ति भंगवत्यकिंचना सैर्वेर्गुणैस्तत्र समासते सुराः"[1] से स्पष्ट है।

आए

अवध में पहुंचने वाली भरतयात्रा का आवास व चलने का मार्ग दोहा २।१८८ से २।१८९।१ तक बताये है उस क्रम की विलोमता यहाँ समझनी है। उसमें कहना इतना ही है कि अवध से चित्रकूटावधिक यात्रा प्रारंभ करने के बाद समाज ने तमसा नदीतट पर निवास किया था अभी वहाँ निवास न कर सीधे अवध पहुँचना बताया हैं उसका कारण अवध में पहुंचने की शीघ्रता है। अथवा तमसा पर पड़ाव न कर अवध का पड़ाव ही लक्ष्य माना गया है जो चौथे से संबोधित है।

संगति :—अवध में आने के बाद वसिष्ठजी अपने आश्रम में गए, माताएँ अन्तःपुर में चली गई तथा भूसुर आदि महल में नियत स्थानों पर विराजमान हो गए जिसमें प्रमाण रूप से दोहा २।३२३।६ ज्ञातव्य है। २।३२२।१ से दुर्ग में पहुँचकर उपस्थित जनकराजा ने मिथिला जाने के पूर्व किया कार्यान्वयन सूचीकटाहन्यायेन बता रहे हैं। क्योंकि राज्य प्रतिष्ठापन का भार उन पर भी २।३१५।५ में प्राप्त है।

चौपाई :—**जनकु रहे पुर बासर चारी। राज-काज सब साज संभारी ॥६॥**
सौंपि सचिव गुर भरत हि राजू। तेरहुति चले साजि सबु साजू ॥७॥

भावार्थ :—राजा जनक जी अवध में चार दिन तक रहे। यथावत् राजकार्य पूर्णरूप से संभाला उसका भार सचिव व गुरुजी पर सौंपकर मिथिला की ओर प्रजा के साथ गए।

पुर बासर चारी

शा० व्या० :—यद्यपि जनकजी ने वन में पहुँचकर स्वयं निरीक्षण करके दोनों भाइयों की प्रीति को लखा है उसी प्रकार अवध पहुँचकर भरतजी और प्रजा की मैत्री को पहिले से अधिक मात्रा में लक्षित किया। अब राजा के लिए कोई व्यवस्था करनी नहीं है। तथापि चार दिन तक राजा के वास का प्रयोजन प्रथम दिन विश्राम, द्वितीय दिन पादुकास्थापन, तृतीय दिन राजकार्यनिरीक्षण व राजकर्म कर्तृत्वाधिकारार्थ टिका लगाना व व्यवस्थापन, चतुर्थ दिन मिथिलाप्रस्थान करना 'पुर बासर चारि' से स्पष्ट है।

राजकाज

जो मित्र-राजा के द्वारा परीक्षणीय कार्यव्यवस्था द्रष्टव्य हैं वह यह कि भरतहि टीका, पादुकान्यास, विद्याओं की बलाबलपूर्वक स्थापना, त्रयी की प्रधानता, वार्ता से

१. श्रीमद्भागवत

जीवनसमस्या का समाधान न्यायतः पालन, मित्रसंपत्तिप्रयोजक स्थायी विश्वास आदि से उनको 'राजकाज' से समझना हैं।

सब साज

कोश का अर्जन, वर्धन, रक्षण, व सत्पात्रप्रतिपत्ति, दण्ड के अन्तर्गत साम, दान आदि उपाय अर्थव्यवस्था व करव्यवस्था करना "सब साज" के अन्तर्गत है।

सौंपि सचिव

सचिव के अन्तर्गत सुमन्त्रप्रभृति विवक्षित हैं। अथवा सचिव से प्रयोक्ता ज्ञातव्य हैं उसके अन्तर्गत संपूर्ण अध्यक्षप्रचार, धर्मस्थीय, कण्टकशोधन, इत्यादि सब अध्यक्ष ज्ञातव्य हैं।

चले

संपूर्ण उक्त कार्यभार सचिवादिकों पर सौंपकर अवध में रहना अनुचित हैं अतः समाजसहित राजा जनकजी ने मिथिला की ओर प्रस्थान किया।

ऐतिहासिक पुरुषोंका स्मरण

प्रायः लोक में यह देखा जाता है कि वर्तमान में जीवों के हृदय में जो भी शोक आदि उद्बुद्ध होते हैं वे सभी संस्कार धीरे-धीरे भविष्यत् में सुप्त से होते जाते हैं फिर भी देहात्मसंबंद्ध भूख प्यास आदि के संस्कार उद्बुद्धत रहते ही हैं वैसी ही स्थिति भरतयात्रा में प्रगट हो रही है। वही न्याय ब्रह्मकृत बोध सृष्टि में ऐतिहासिक पुरुषों के स्मरण सचिन्त्य है। आशय यह कि जिन्हें अज्ञानभंग हेतु तथा अपेक्षित पूर्ण समर्थ ज्ञान उपलब्ध न होकर अस्पष्ठ अत्मज्ञान या शास्त्रोक्तिरीतिक ज्ञान प्राप्त है उनको कालान्तर में अविद्या आवृत करती ही है परिणाम में तथाकथित जीव तैजसअहंकारमूलक मनोवृत्ति से आवृत्त होते हैं फलतः वे जीव दुर्बलों को ठुकराने में हिचकते नहीं तथाविध अज्ञों को यथावत् कर्तव्य की शिक्षा देने हेतु मनु से आरंभ कर अभीतक ऐतिहासिक पुरुषों के चरित्र का भरतनिमित्त से स्मरण करना अप्रासगिक नहीं है।

संगति :—'सब संभारी' चौपाई का भाष्य सुना रहे हैं।

अथवा २।३२०।७-८ के साथ कड़ी जोड़ते अवधवासी को प्राप्त फल सुना रहे हैं।

चौपाई :—**नगर-नारि नर गुर सिख मानी। बसे सुखेन रामरजधानी ॥८॥**

भावार्थ :—नगर के प्रत्येक नर एवं नारियां गुरुजी जी के अंकुश में रहते अवध में सुख से रहने लगे।

नगर नारि नर

शा० व्या० :—नगर की प्रजा ने अनुशासन में रहने का परिणाम अनेको प्रकार से त्रिवर्गसमृद्धि प्राप्त होना है। इसके निरूपण से नगर में आक्रोश, चिन्ता, (कमी) न्यूनता आदि की प्रसक्ति का अभाव समझाया।

गुर सिख

"गुर" से मुनि व मुनि के शिष्यवृन्द समझने हैं जो यत्र-तत्र पहुँचकर कथाओं के माध्यम से राजभक्तिपूर्वक त्रयीविद्या के अनुगमन में रहने का उपदेश सुना रहे हैं। यात्रा में चित्रकूट आते समय गुरुजी की शिक्षा से उपवास नहीं हुए किन्तु यहाँ गुरुशिक्षा से उपवास हुए हैं। इसका लाभ सम्पूर्ण सेवकों के लिए अदृष्टोत्पत्ति से है इसलिए कि गुरुशिक्षा से उपवास में धर्मांगत्व क्लृप्त हुआ जो अंगत्वज्ञापक मीमांसा से सिद्ध हैं।

बसे सुखेन

चोरों आदि से आतंक न होना सुख है। यहाँ देव प्रभृति संपूर्ण जीवों को भूखे रहने का प्रसंग नहीं है इसलिए आधिदैविक भौतिक, पीड़ा का न होना, दुर्भिक्ष का न होना तथा आध्यात्मिकविकारशून्यता होना 'सुखेन' है। इससे नीति की सफल स्थापना अशंक है।

संगति :—श्रीराम का सान्निध्य स्थिर रूप में पुनः प्राप्त होने के लिए प्रजा नें किए नियमव्रत बता रहे हैं। इसलिए कि २।३१७।१ में कहे जीवनि जी की चरितार्थता मुख्यत्वात् आकांक्षित है।

दोहा :—**रामदरस लगि सब करत नेम उपवास।**
तजि तजि भूषन भोग सुख जिअत अवध की आस ॥३२२॥

भावार्थ :—प्रति व्यति ने रामदर्शनार्थ व्रत नियम आदि अवधि पर्यन्त पूर्ण किए भोग सुख भूषण आदि का त्याग व राम राज्यदर्शनोत्सवमनोरथम पूर्ण होने हेतु में अवधि तक वे जीवित भी रहे।

रामदरस लगि

श्रीराम, सीताजी व लक्ष्मण जी के उपलक्षक है।

"लगि" से स्थायितया श्रीरामदर्शन को उद्देश्य रूप में कहा गया है।

लोग

"लोग"—आशय यह कि संपूर्ण प्रजा के द्वारा किये जाने वाले साधारण धर्मपूर्वक व्रतादिको से प्राप्तव्य के प्रति द्वार पुण्य संचय है जो रावणवध में सहायक होगा। इस प्रकार अवधवासीजन भी श्रीरामकार्य में सहयोगी हैं।

नेम उपवास

"नेम" से स्नान, जप-तपस् आदि ज्ञातव्य है।

"उपवास" से सदा रामचिन्तन सहकृत हविराद्याहार ज्ञातव्य है।

१४ वर्षों में नागरिकों को उपवास की इतनी पूर्णता हुई कि वह श्रीरामदर्शन ही नहीं अपितु श्रीराम के साथ साकेतवास के लिए भी साधन हुआ इसका कारण नागरिकों की निष्पापता भी है।

तजि की पुनरावृत्ति

भोग सुख से रामदर्शन नहीं होना ऐसा सबने सोचना तजि की पुनरावृत्ति का फल है।

तजि भूषन भोगसुख

जीवन के लिए आवश्यक वस्तु के अतिरिक्त वस्तु को त्यागना 'तजि भोग' से समझाया है।

जिअत

रामविरहपीड़ा में जीवित रहना 'जिअत' है।

अवधि

१४ वर्षोंत्तरक्षण में प्रभुदर्शन होने की सफल आशा में प्रजा के जीवन का कारण 'अवधिआस' से समझना है।

संगति : 'राजकाज सब साज संभारी' का स्पष्टीकरण करते हुए भरतजी के द्वारा जो जहाँ अधिकृत थे उनकी नियुक्ति वही पर करना ग्रन्थकार संक्षेप में कह रहे हैं।

चौपाई :—**सचिव सुसेवक भरत प्रबोधे। निज निज काज पाइ सिख ओधे ॥१॥**

भावार्थ :—भरतजी ने शुचि सचिव व सेवकों को समझाया। वे सभी अपने-अपने व्यधिष्ठित नैतिक कार्यों में लग गये।

सचिव सुसेवक

शा० व्या० :—"सचिव" पूर्व-(२।३२२।७) में स्पष्ट है।

'सु + सेवक' कहकर उनकी उपधाशुद्धताप्रयुक्त स्वामिद्रोहाभाव समझाया है। उसका अतिदेश सचिवों में भी स्मर्तव्य है।

प्रबोधे

सेवक व सचिवों ने भी नियम लेना चाहा पर भरतजी ने उनको स्व-स्व कार्य करने की प्रवृति का बोध कराकर नियमवः उपवास का स्वरूप समझाना "प्रबोधे" है जैसाकि चित्रकूट में यात्रार्थ जाते समय द्वारपालों को समझाया (२।१८६।७) था।

निज-निज

अर्थशास्त्रीय अध्यक्षप्रचारोक्त समस्त कार्य "निज निज काज" से बोध्य है।

सिख

उत्तरकालीन तत्तषयकर्तव्यविदितिक सुसेवक-सचिवसमवेतबोधानुकूल व्यापार "सिख" है।

संगति :—राजकार्य के अन्तर्गत लोकयात्रादिसंबंधी आन्तरिक व्यवस्था का भार भरतजी ने शत्रुघ्नजी पर सौंपना ग्रन्थकार कह रहे हैं।

चौपाई :—**पुनि सिख दीन्हि बोलि लघु भाई। सौंपी सकल मातु सेवकाई ॥२॥**

भावार्थ :—फिर छोटे भाई को बुलाकर शिक्षा दी व सभी माताओं की सेवा का भार उन्हें सौंपा।

सिख

शा० व्या० :—"सिख" प्रथम चौपाई में व्याख्यात है। उसका विषय "आत्मानं प्रथमं राजा विनयेनोपपादयेत्[1] ततोऽमात्यांस्ततोभृत्यांस्ततः पुत्रास्ततः प्रजाः" है। यहाँ त्रयीपोषक विवेकवराहासंपृक्तराजनीतिसम्मतत्व भी स्पष्ट है।

बोलि

"बोलि" से ध्वनित हो रहा है कि भरतजी दरबार में सिंहासन के पास खड़े हैं वहीं से उन्होंने शत्रुघ्नजी आदि को बुलवाया है।

सेवकाई

सेवाधर्मरूप सरल उपाय से शत्रुघ्न जी में पादुकास्थ सारतत्व से निःसृत तेजः-प्रभा का आधान होना फल है। अतः सेवाधर्म श्रम के लिए नहीं अपितु क्षात्रधर्म की रक्षा के लिए है। बाकी भार भरतजी ने अपने ऊपर लेकर शत्रुघ्नजी को भार से बचाया है जैसाकि अनसूयाजी ने अरण्यकाण्ड में सीताजी को उपदेश सुनाते हुए स्वधर्म संबन्ध के बारे में कहा है।

संगति :—जैसे विद्याओं का बलाबल निरूपित है वैसे ही कर्म के बारे में बलाबल सोचकर उनका पौर्वापर्यरूपक्रमसंबद्ध प्रयोग अनुष्ठित होते हैं तन्निर्णयार्थ भरतजी के द्वारा भूसुरों को अधिकृत करने के उपक्रम में भरतविनय सुना रहे हैं

चौपाई :—**भूसुर बोलि भरत कर जोरे। करि प्रनाम बय बिनय निहोरे ॥३॥**

भावार्थ :—ब्राह्मणों को बुलाकर उनके सम्मान में भरतजी ने हाथ जोड़ते प्रणाम कर विनय प्रदर्शित किया।

भूसुर

शा० व्या० :—"भूसुर" कहने का आशय विप्रों की सात्विकता दिखाने में है। वे (अनियुक्त या नियुक्त) ही सर्वत्र अपने-अपने स्थानों में रहते अद्वेषरागी तटस्थ

१, नीतिसार (१।-)

हो मीमांसासंपृक्त उपायकौशल से बलाबलविचार कर कर्तव्य का निर्णय करने के बाद ही उसके कार्यान्वियनार्थ सबको प्रेरित करते हैं। उनके निर्णय में अनेकमतता नहीं होती क्योंकि वे सभी पदवाक्यप्रमाणधुरीण हैं। भूसुरों का कार्य है कि उन्होंने स्मृति पुराणों में उक्त विधानों के माध्यम से सर्वत्र प्रशस्त करने है यदि स्वमण्डल मार्ग में वे कार्यान्वित नहीं होते है तो राजानुशासन से उनको स्थापित करते हैं।

कर जोरे

ये भूसुर अनियुक्त होते हुए भी राज्य के हितैषी हैं उनकी विद्वत्ता प्रसिद्ध है। अतः हाथ की अंजलि बांधकर भरतजी ने उन्हें प्रणाम किया है। उसमें विनय प्रगट करता "कर जोरे" है।

बय

विद्याओं के तत्व को समझने व अनुभव करने में विद्यावृद्धता प्रयोजक मानी गई है। तदनुसार विद्यावृद्धों में वयोभेद का ध्यान रखना "बय" का भाव है। आशय अपनी-अपनी सभा में निर्णीतार्थ की प्रामाणिकता के हेतु पुनः ज्येष्ठ विद्यावृद्ध के साथ परामर्श करने में है।

संगति :—निहोरे का विषय बता रहे हैं।

चौपाई :—**ऊंच नीच कारज भल पोचू। आयसु देब न करब संकोचू ।।४।।**

भावार्थ :—उच्च-नीच या अच्छे बूरे कार्य के लिए संकोच न करते हुए आज्ञा दें।

ऊँच

शा० व्या०:—अध्यक्षप्रचारोक्त रत्नपरीक्षणादि 'उच्च' से संबोधित हैं। सुराध्यक्ष प्रकरणोक्त कर्म से आरंभ कर अग्रिम कार्य युक्त 'नीच' से संबोधित हैं। कण्टकशोधन, युक्तदण्ड या तीक्ष्णदण्ड, या मृदुदण्ड, प्रणयन, पदनियुक्ति, दायव्यवस्था, भृति, षांड्गुण्यादि जो भी कर्म अर्थशास्त्र में उक्त हैं वे सभी "भल" से संबोधित हैं। एवम् दास-कर्मकर विकल्प प्रकरणोक्त कार्य पोचू से बोध्य हैं। फलत 'ऊंच नीच भलु पोचू' से अनुकम्पा घृणा नहीं समझानी है। इस प्रकार आभ्यन्तर राज्य की व्यवस्था बताई गई है। इसके सिवा परराज्यमंडल प्रकरण में बताए स्कन्धावारनिवेश आदि प्रकरणानुसार शाखास्थानापन्न आवारपदाभिधेय भृत्य व सचिवों की व्यवस्था भी स्मर्तव्य है। जिससे संपूर्ण प्रजा की त्रिवर्गनिष्पत्ति प्राप्त होने का मार्ग स्पष्ट है।

न करब संकोचू

राजा व भूसुरों का ऐकमत्य न होगा तो व्यवस्था करने में बाधा होगी अतः किसी भी कार्य के बारे में दुरवस्था या मर्यादातिक्रमण संभावित हो उसको निवेदित करने में किसी प्रकार का दबाव न मानना 'न करब संकोचू' है। धर्मराज्य में निस्पृह

ब्राह्मण ही ऐसे हैं जो अनीहता के कारण राजा को यथाथयिथार्थं', न्यायान्याय उचित (प्रजारंजक) दण्डप्रणयनाप्रणयन, करव्यवस्था की इयत्ता को निस्संकोच स्पष्ट शब्दों से सुनाने में हिचकते नहीं तभी

तभी—"ब्राह्मणेनैधितं क्षत्रं मंत्रिमंत्राभिसंहितम् ।
जयत्यजितमत्यन्तं शास्त्रानुगमशस्त्रितम् ॥ आदि

अर्थशास्त्रोक्ति अन्वर्थक हो सकती है। इस प्रकार 'निहोरे' के विषय स्पष्ट किये हैं।

संगति :—बाह्याभ्यन्तरवर्तियों को बुलाकर उनको समझा रहे हैं।

चौ० :—परिजन परजन प्रजा बोलाए। समधानु करि सुबस बसाए ॥५॥

भावार्थ :—फिर भरतजी ने पारिबारिक लोगों व प्रजा प्रतिनिधियों को बुलाया उनका समाधान व उनके रहने की अच्छी व्यवस्था की।

पुरजन परिजन प्रजा

शा० व्या० :—पुरजन परिजन प्रजा का निष्कर्ष उनके २ प्रतिनिधियों में है।

"पुरजन" से अन्तपाल व दुर्गस्थ, "परिजन" से दुर्गपाल एवम् "प्रजा" से राष्ट्रपाल सहित जन समझने हैं।

दुर्गस्थ एवं राष्ट्रस्थजनसमेत कर्मचारियों को भरतजी ने भेंटहेतु बुलवाया जिसमें अन्तपाल, दुर्गपाल, राष्ट्रपाल भी सम्मिलित हैं।

समाधनु

प्रजा को पर आक्रमणों से रक्षण के बारे में भरतजी के द्वारा निश्शक वनाना "समाधानु" है।

सुबस बसाए

समाधानप्रयुक्त पूर्णजितेन्द्रियता (शास्त्रार्थानुष्ठान में रहना) 'सुबसबसाएँ' से समझनी हैं।-इस प्रकार राष्ट्र में एकता की स्थापना पूर्ण हुई।

संगति :—द्वितीय दिवसीय. राजसंभारी का कार्य वक्तव्य है तदनुसार दोहा २।३०६।६ में उक्त 'बाटी विपति' का कार्यान्वियन एवं पादुकास्थापना सोचकर भरतजी वनवास (नंदिग्राम) में अपना समय व्यतीत करना चाहते हैं उसके उपक्रम में दोहा ३१५।७ के अनुसार गुरुजी की आज्ञा लेने व मंत्रणा करने हेतु उनके आश्रम में जा रहे हैं।

चौ० :—सानुज गे गुरगेहं बहोरी। करि दण्डवत कहत कर जोरी ॥६॥

भावार्थ :—तब शत्रुध्नजीसहित भरतजी गुरुजी के यहाँ गये और अंजलि बाँधकर प्रणाम किए तथा बोले।

सानुज गे

शा० व्या० :—दोहा २।३१५।५ के अनुसार "प्रतिकार्य में गुरुजी की सलाह लेना है" यह समझाने हेतु भरतजी ने शत्रुघ्नजी को साथ लिया है।

ज्ञातव्य है कि सबको कार्यव्यवस्था प्रायश्चित धर्म आदि बताकर गुरुजी आश्रम में चले गये भरतजी का कार्य अब वैयक्तिक होने से उनका आश्रम में जाना 'गे' है।

गुरगेह

चित्रकूट से प्राप्त पादुका की तेजस्विता सुस्थापित करने हेतु १४ वर्षविधि में कर्तव्य प्रमेय के अन्तर्गत श्रीरामप्रसन्नता के अनुकूल कर्मनिर्णय का उपदेश देनेवाले गुरुजी अवधस्थित आश्रम में ही रहकर सभी कार्यों को समाधि में देख रहे हैं। तद-नुबन्धिनिर्णय सुनने हेतु गुरुजी के घर में भरतजी का जाना 'गुरगेह' वर्णित है।"

कर जोरि

प्रीति में आद्र गुरुजी से उपदेश प्राप्त करने हेतु प्रणाम व अंजलिबंधन है अत: वह वृहसेवा के नैरन्तर्य में भरतजी को जन्मत: प्राप्त है जो विनय का सूचक है।

संगीत :—भरतजी चिकीर्षा सुना रहे हैं।

चौ० : आयसु होइत रहौं सनेमा। बोले मुनि तनपुलकि सपेमा ।।७।।

भावार्थ :—आज्ञा हो तो मैं नियम पूर्वक रहूँ। वसिष्ठजी पुलकित हो स्नेह के साथ बोले।

आयसु

शा० व्या० :—गुरुजी के आदेश की अपेक्षा ग्रहीष्यामाण नियम में धर्मत्व-सिद्ध्यर्थ है।

रहौं सनेमा

यदि गुरुजी का आदेश नहीं होगा तो भरतजी का नंदिग्रामबास सफल नहीं होगा इसकी उपपत्ति यह कि गुरुजी अनुष्ठेय प्रमेय की सफलता के बारे में आदि से अन्त तक समाधि के माध्यम से देखते हैं तथा विपत्ति व उसका प्रतीकार भी समझते हैं उसके अनुसार गुरुजी का अनुज्ञा प्राप्तव्य होगी। "सनेमा" दोहा २।३२४।४ से २।३२५ तक में स्पष्ट होगा।

बोले

श्रीराम प्राप्त पूर्वोपदेश को ध्यान में रख कर बोलना "बोले" का भाव है।

पुलकि सपेमा

भरतजी ने अपनाए मनोनीत नियम व्रत एवं गुर्वाज्ञापालन जो भी हैं उनसे ऐसा भरतजी के प्रति गुरुजी को प्रसन्नता होने के बाद ही श्रीरामपादुका

में रही तेजस्विता की सुस्थापना है। गुरुजी में प्राप्त प्रीत्यतिशय का अनुभाव सात्विक है। रोमांच है।

संगति :—गुरुजी भरतप्रस्ताव सुनकर उनमें रही अनूचानता प्रीति को स्पष्ट कर रहे हैं।

चौपाई :—समुझब कहब करब तुम्ह जोई। धरम सारु जग होइहि सोई ॥८॥

भावार्थ :—हे भरत ! तुम जो समझोगे, कहोगे, करोगे वही जगत् में धर्मका सार होगा।

समुझब कहब करब

शा० व्या० :—"समुझब" से मानस व्यापार "कहब" से वाचिक व्यापार, "करब" से कायिक व्यापार का नियन्त्रित रखना तथा तीनों में एकरूपता समझायी है।

तुम्ह

"तुम्ह" से छलं परित्यज्य रामाज्ञायाः स्नेह पूर्वकपालनं कुर्वन् शुचिर्यद्यदभ्यूहति तदर्थो भवति ऐसा "तुम्ह" से समझना है।

जोई

"जोई" से अव्यभिचरित हेतु (यत्र-यत्र अनूचानेस्य कायिक, वाचिक, मानसिकव्यापार समुच्चयविषयत्व निर्दिष्ट हुआ है।

धरम सारु

"धर्म" से परलोक साधन में तथा "सारू" से प्रत्यक्षानुमानतया निर्णीत उसी कर्म में लौकिक हित साधनता समझनी है। जिसे संक्षेप में 'धर्मसारो भवति' ऐसा साध्य कहा है। आशय यह कि गुरुजी के उपदेश से प्राप्त होने वाले अनुष्ठान में धर्मत्व मानने पर भी कतिपय ऐसे धर्म हैं जो गुरु जी द्वारा निर्दिष्ट नहीं है तथापि उनमें धर्मत्व लाने हेतु "यद्यदनूचानोऽभ्यूहति आर्षं तद्भवति" कहना है। इस निर्देशानुसार गुरुपदेश के बिना अनूचान व्यक्ति कायिक, वाचिक, मानसिक व्यापार से जो निर्णय करते हैं वह धर्म है इस प्रकार बिना गुरुपदेश से भी भरतजी ने ठहराया निर्णीतार्थ धर्म ही है।

सोई

"छलं परित्यज्य श्रीरामाज्ञायाः स्नेह पूर्व पालनं कुर्वन् शुचिर्यद्यदभ्यूहति ततद् आर्षत्वात् धर्म्यं भवति ऐसा 'सोई' से समझाना है। स्मर्तव्य है कि भक्ति की छत्रछाया में रहकर प्रभुआज्ञा का निश्छल पालन करने वाले जब उक्त व्याप्ति के पात्र होते हैं तब वे कण्ठतः धर्मशास्त्रानुशासन में अधिकृत नहीं माने जाते। उसी को गुरुजी ने सोई से समझाया है। इसका अर्थ यह नहीं कि वे अमर्यादित हो कार्य करेंगे, वरन् वे भक्तिशास्त्र से मर्यादित होंगे।

सारांश यह कि भरतजी के पूर्व चरित्रों से उनकों अनूचानता सिद्ध हुई वे उनके कायिक वाचिक मानसिक व्यापार का आन्वीक्षिकी से पोषित रक्षिका त्रयी की भक्ति के प्रति समर्पण निश्चित होने के बाद भरतजी अप्रवृत्त प्रवर्तन से ऊपर होने से वसिष्ठजी ने अपनी ओर से कुछ मन्तव्य न कहना उनके तूष्णीभाव से ज्ञातव्य है।

संगति :—पादुकास्थापन कार्य निरूपित कर रहे हैं। जो "साजसंभारी" का अंगभूत कर्म है।

दोहा :—सुनि सिख पाइ असीस बड़ि गनक बोलि दिनु सांधी।
सिंहासन प्रभु पादुका बैठाए निरुपाधि ॥३२३॥

भावार्थ :—गुरुजी की अभ्यानुज्ञा पाकर ज्योतिषियों को बुलाकर मुहूर्त पूछकर सिंहासन पर प्रभुपादुका स्थापित की।

सुनि

शा० व्या० :—"सुनि" का अन्वय 'सिख' से है। 'सुनि' से बुद्धि की अष्टमगुण-तत्वाभिनिवेशस्थिति को भरतजी ने पाना समझना है जिसमें राजनीति से पुष्टभक्ति के बारे में भरतजी की ओर से प्रमाद न होना कहा गया है।

सिख पाइ असीस

पूर्व चौपाई में जिस व्याप्ति का निर्देश हुआ है तदनुरूपतया भविष्यत्काल में कार्य करने के प्रति जो समुझत, करत, कहब, आदि कहा है उसका नैरन्तर्येण रक्षण होना "सिख" शब्द से समझना है।

यद्यपि गुरुजी ने भरतजी के अभ्यूहिति अर्थ में धर्म होना समझाया है तथापि उनका आशीर्वचन पाष्ठिक बल के रूप में प्राप्तव्य ही रहता है अतः आशीर्वचन प्राप्ति का संकेत असिस से है जिसमें मनोरथसिद्धिरूप प्रेयस् व निश्रेयस् प्राप्ति के बारे में भरतजी निश्शंकता का अनुमान कर रहे हैं।

साधि

१४ वर्ष पर्यन्त पादुका आसन पर विराजमान होंगी उसमें बराबर तेजस् का सन्निधान होना है एतदर्थ परिजन, पुरजन, सचिव, मातृवर्ग शत्रुघ्न जी व भरतजी ने व्रतस्थ होना अपेक्षित हैं उसमें अंगतया मुहूर्त (काल) अपेक्षित है तदनुसार तत्काल मुहूर्त मिलना दैवानुकूल्य का सूचक है।

पादुका

श्रीरामतेजस् से संपृक्त चरणपीठ "पादुका" से बोध्य है।

ज्ञातव्य है कि पादुकास्थापनानन्तर मंगलरूप में जनकजी ने टीका लगाना भरतजी को भी स्वीकार्य होगा उसी बहाने 'भरतहि टीका' की कार्यान्वयिता होकर

प्रतिनिधिरूप में १४ वर्षपर्यन्त भरतजी ने राज्यशासन में अधिकृत होना नीत्यभिमत है।

निरुपाधि

सेवकों की ओर से कोई अपचार न होने का फल यह कि पादुका में तेजस्विता १४ वर्ष पर्यन्त निर्विघ्न रहेगी व श्रीराम भी कीर्तिमान् हो यथासमय लौटेंगे। यही 'निरुपाधि' है इस प्रकार पादुकास्थापना निरूपित हुई।

संगति :—दोहा २।३०६।५ व ३०७।६ की उक्ति को यादकर भरतजी वनवासहेतु कौसल्याजी व गुरुजी से आज्ञा मांग रहे हैं।

चौपाई :—**राममातु गुरपद सिर नाई। प्रभु पदपीठ रजायसु पाई ॥१॥**

भावार्थ :- कौसल्याजी व गुरुजी के चरणों में मस्तक नवाकर प्रभुपदपादुका से भरतजी ने आज्ञा ली।

राममातु

शा० व्या० :—जबकि भरतजी को अपनी माता कैकेयीजी के प्रति पूर्ण आदर है फिर भी 'राममातु' ही कहना सप्रयोजन मालूम होता है। वह यह कि कौसल्याजी भक्ति में सर्वत्र उपरि हैं उन्हीं की छत्र-छाया में कैकेयीजी राजनीति में निपुणा हैं। प्रस्तुत में भरतजी को भक्ति की शरण लेनी है अतः "राममातु" कहा है।

स्मर्तव्य है कि श्रीराम ने माताजी से अवध लौटने की प्रतिज्ञा की है उसी पर वह जीविता हैं उसमें सहकारितया भरतजी नंदिग्राम जा रहे हैं इन दो तत्वों की यथासमय प्राप्ति होने में कौसल्याजी का विशेषाशीर्वाद सफल होना है क्योंकि श्रीराम उनकी रुचि को सदा पूर्ण करने में दृढ़ संकल्प हैं। जैसाकि पूर्वजन्म में शतरूपाजी को दिये वरदान में स्पष्ट है। इस रहस्य को प्रगट करने हेतु "राममातु" कहा है। एवंच रामशब्दसमाभिव्याहारमात्र से कैकेयी आदि की व्यावृत्ति समझना उचित न होगा। अर्थात् भरतजी ने कैकेयजीसमेत अन्य माताओं को प्रणाम किया ही होगा उसके निरूपण का प्रयोजन विशेष न होने से ग्रन्थकार ने 'राममातु' कहा है अन्यथा दोहा ३१९ के अनुसार कैकेयीजी की प्रभु ने वंदना की है उसका अपमान होगा अर्थात् जिन्हें श्रीराम ने प्रणाम किया है उन्हें प्रणाम न करना भरतजी की भक्ति से च्युति होगी। जैसा कि देवों ने कहा भी है कि जिसे श्रीरामजी आलिंगन करेंगे उससे भरतजी आलिंगन करेंगे ही।

गुरपद

मालूम होता है कि पादुकापीठस्थापन के समय गुरुजी दरबार में उपस्थित हैं अतः भरतजी ने उन्हें प्रणाम किया है। यहाँ यह कल्पना भी करनी होगी कि भरतजी ने सभी विप्रों तथा जनकजी को भी प्रणाम किया है।

प्रभुपद पीठ रजायसु पाई

'पदपीठ' से श्रीरामतेजस् से युक्त पादुका विवक्षित है। भक्तिशिरोमणि भरतजी पदपीठ की ओर एकाग्रतापूर्वक देखते प्रतिभा में जो समझते हैं उसका यथार्थ होना शास्त्रसम्मत है।

संगति :— वन्दनादिकार्य पूर्ण होने के बाद भरतजी ने जिस स्थान पर बैठना मनोनीत किया है उसके निर्देश के साथ भरतजी के नियम व्रत सुना रहे हैं।

चो० :—नंदिगांव करि परनकुटीरा। कीन्ह निवासु धरमधुर धीरा ॥२॥
जटाजूट सिर मुनिपट धारी। महि खनि कुस साँथरी संवारी ॥३॥
असन बसन बासन व्रत नेमा। करत कठिन रिषिधरम सप्रेमा ॥४॥
भूषन बसन भोगसुख भूरी। मन तन बचन तजे तिन तूरी ॥५॥

भावार्थ :—नंदिग्राम में पर्णकुटी स्थापित कर वहाँ धर्मधुरों में धीर भरतजी ने निवास किया। वे मुनिवेष में शिरस् पर जटा बाँधे हुए हैं भूमि को खोदकर उसमें दर्भासन बिछाए हुए हैं। वे व्रत नियमानुकूल भोजन, वस्त्र व पात्र लेकर कठिन ऋषिधर्म को सेवा धर्म के साथ प्रीतिपूर्वक निभा रहे हैं। उन्होंने अलंकार, निवास एवं राजभोग को मनसा वाचा कर्मणा तृण के समान त्यागा है।

नन्दिगाँव

शा० व्या० :—'नन्दिगाँव' से नंदिसंज्ञक ग्राम समझाना है। नन्दि का रहस्य आनन्दानुभूति में श्रमानुभव न होने में है। जैसे काशी को आनन्दवन समझाते कहा है कि काशी में आनन्द निसर्गतः उगता रहता है वैसे ही नंदिग्राम में भी श्रीरामजी द्वारा आनन्द के अंकुर उदित होते रहना मालूम होता है जिन्हें भरतजी ने अनुभूत किया है अतः उन्होंने नंदिग्राम को बनस्थली के रूप में चुना हो। यह अवध से इतनी दूरी पर है कि वहाँ रहकर भरतजी अवधपालन सुगमता से कर सकते थे।

धरमधुर धीरा

यहाँ धर्म से नीत्यभिमत स्वामिसेवाधर्म विवक्षित है जो अति कठिन है फिर भी उसको प्रयोगविशेष के रूप में पूर्ण करके भरतजी ने धैर्यपूर्वक दिखाया है अतः 'धरमधुर धीरा' कहा है।

ज्ञातव्य है कि प्रकृति ने प्रसन्ना हो भरतसेवा करना पूर्व में निरूपित है तथापि कठिन भरतजी उसका भोग न लेकर सदा सेवक बने हुए हैं यही सेवाधर्म की विशेषता है। इस महान् धर्म को अपनाना सबके बस इसलिए नहीं कि दुर्बल-मनस्कों की धारता, व्यभिचारिभाव में परिणत होती रहती है उसका भरतजी में न रहना "धीरा" से समझाया है जो स्थायिधृति (शम) का बोधक है।

मुनि पट धारी महि खनि

जैसा कि मुनि वेष में रहते राजधर्मसहकृत मुनिव्रत को श्रीराम ने अपनाया है वैसा ही स्वरूप अपनाना 'मुनि पट धारी, से कहा है। गर्त (भूमि खोदकर बनाया गड्ढा) में सोने का कारण श्रीराम सीताजी का भूमिशयन है।

कठिन

'कठिन' इसलिए कहा कि लोकप्रवृत्ति वास्तविक स्वामिसेवाधर्म की ओर नहीं अपितु उस सेवा की ओर है जहाँ छलपूर्ण विषय भून राग फल की प्राप्ति होती हैं। किन्तु यहाँ भरतजी ने अपनाया सेवाधर्म पतिव्रताद्वारा अपनाये सेवाधर्म में वर्णित है इसकी कठिनता दोहा २।२९३।७ में "सेवा धरमु कठिन जगु जाना" में भरतजी ने व्यक्त की है। जटाजूटधारण, मुनिवस्त्रधारण, गर्तशयन, कुशास्तरण, अशन, आसन, बसन, व्रत नियमादि पूर्व में (२।१८८) स्पष्ट है।

तजे

श्रीराम के द्वारा राज्य संचालनानुमति प्राप्त होने के बाद तदंगतया अत्यावश्यक रक्षणादिकार्यातिरिक्त राज्यस्थित किसी भी वस्तु में स्वत्व न होने से उनमें मनस् का लगाव नहीं है अतः भरतजी ने उसे तृणवत् त्याग देना 'तजे' है।

संगति।—दशरथराज्य तृणवत् त्याज्य न होते हुए भी उसे त्यागने में अद्भुतत्व ध्वनित कर रहे हैं।

चौ० :—अवधराजु सुरराजु सिहाई। दसरथधनु सुनि धनदु लजाई ॥६॥

भावार्थ :—अवधराज्य को देखकर इन्द्रजी प्रशंसा करते हैं। एवं दशरथधन सुनकर कुबेर लजाते हैं।

अवधराजु

शा० व्या :— अवध की संपत्ति दोहा २।१।–के अन्तर्ग गाई है। अवधराज्य ऐसा दुर्ग है जिसके निवासी राजा दशरथजी राक्षसों सुरों आदि से अनुच्छेध हो सुरराज से प्रशंसित हैं।

सिहाई

ऐन्द्रीमाया का प्रयोग राजा दशरथजी पर कदापि न होना यहाँ 'सिहाई' से कहा है। इससे राजा दशरथजी में निग्रहशक्ति स्पष्ट है।

धनदु लजाई

राजा दशरथजी के घर में साकेतलोकवासी की भोग्य संपत्ति का निवास है जैसा कि मिथिला में एकत्रित भई बारात की अगवानी में निरूपित है। वह संपत्ति कुबेर जी के यहाँ असंभव है अतः 'धनदु लजाई' कहा है। चिन्त्य है कि अवधसंपत्ति का भोग

लेना भरतजी के लिए दायप्रयुक्त है उसमें अशुचितादिकी संभावना नहीं है उस दशा में संपत्ति का भोग रागतः ही नहीं धर्मतः भी प्राप्त है। फिर भी भरतजी ने उस संपत्ति को त्यागने का कारण केवल शिशुभाव से प्राप्त श्रीरामसेवकत्व ही है इसकी उपपत्ति अग्रिम चौपाई में द्रष्टव्य है।

संगति :—लजाई की शीर्षक में उक्त उपपत्ति के निर्देशानुसार भरतजी का श्रीरामजी के प्रति रहा स्नेह ग्रन्थकार कह रहे हैं।

चौपाई :—तेहि पुर बसत भरत बिनुरागा। चंचरीक जिमि चंपकबागा ॥७॥

भावार्थ :—अवध में भरतजी अनासक्त हो रहते हैं जैसे चम्पापुष्प के बाग में भौंरा रहता है।

बिनु रागा

शा० व्या० :—विद्वत्संगति के प्रभाव का पूर्ण परिणाम राग न होना है। यह वर्णन इसलिए हुआ कि श्रीराम ने स्वामित्व स्वीकारा है तथा भरतजी को प्रतिनिध के रूप में उन्होंने सर्वाधिकार दिया है। तन्नान्तरीयकतया राजद्रव्य की भी उपभोग्यता यूपानयन के हेतु प्रतिबन्धकतया प्रसक्त वृक्षच्छेदनवत् धर्म[1] है फिर भी संपत्ति को त्यागना 'बिनु रागा" है।

चंपक बागा

भरद्वाजाश्रम में चकवा-चकवी की तरह भरतजी के रहने की उपपत्ति में श्रीराम-दर्शनव्रतविरोधी स्वगताशुचिता प्रसक्ति में इस प्रकार से भोग से दूर रहने का कारण समझाया था। यहाँ रागाभाव को संपत्ति के न भोगने में कारण बताया है यह आदर्श एकमात्र भरतजी हैं ऐसा समझाने हेतु "चंपकबागा" कहा है।

ज्ञातव्य है कि श्रीराम ने प्रतिनिधिरूप से प्रदत्त राज्यशासननान्तरीयकतया अवधसंपतिभोग यदि भरतजी प्राप्त करते तो उसे भोग में औचित्य होता परन्तु उसे न अपनाते हुए भरतजी अपने में राज्यसंचालनसामर्थ्य समझ रहे हैं अतः दशरथ-राज्य के भोग में यूपानयन नान्तरीयकतया प्रसक्त वृक्षच्छेदनन्याय की प्रसक्ति यहाँ नहीं है।

संगति :— लक्ष्यात्मक उच्चत्तर भक्ति के वर्णन से लक्ष्यतावच्छेदक समझा रहे हैं जिसका लक्षण निश्छल, विश्वनाथस्नेह है।

---

१. याग में विहित पशु के बंधनार्थ मण्डप में यूप (स्तम्ब) गाड़ने का विधान है जो औदुम्बर या खादिर होता है। उस यूप का निर्माण मण्डप में न होकर जहाँ औदंबर वृक्ष है वहीं पर किया जाता है। उस लंबे स्तम्ब को मंडप में लाते समय मार्ग में ऐसे वृक्ष भी होते हैं जिनकी वजह से स्तंब नहीं आ सकता न तो मध्यवर्ती वृक्षों को उखाड़ने का विधान ही प्राप्त हैं ऐसी स्थिति में वृक्षच्छेदन करने के लिए मीमांसा ने अनुमति दी और उन वृक्षों के च्छेदन को धर्म कहा क्योंकि वह कार्य नान्तरीयक है।

चौपाई :—**रमाबिलासु रामअनुरागी। तजत बमन जिमि जन बड़भागी ॥८॥**

भावार्थ :—श्रीराम के प्रेमी बड़भागी भोगैश्वर्य को मन की भाँति त्याज्य व समझते हैं।

रमाबिलासु

शा० व्या० :—"रमाविलासु" से रमाक्रीड़ास्थल समझना है। यह रमाक्रीड़ास्थल वहीं माना जाता है जो राजा दशरथ के समान श्रीरामसेवक होते हुए आत्मगुणसंपन्न होते हैं। जैसा कि "एवं विमृश्याव्याभिचारिसद्गुणैर्निजैकाश्रय व्रेवरं सर्वगुणैरपेक्षितं रमा मुकुन्दं निरपेक्षमीप्सितम्" (श्रीमद्भागवत ८।८।२३) तथा गुणाश्रयम् से स्पष्ट है। अतएव रामअनुरागी के समभिव्याहार में "रमाविलासु" कहना शोभनीय है।

राम अनुरागी

"रामभगतिकर लच्छन एहू" मे उक्त उच्चत्तर श्रीरामभक्ति "रामअनुरागी" से स्फुट है। वहाँ शास्त्रपरतन्त्रता भी वैसी ही है जैसी शिवजी व भरतजी को प्राप्त है।

तजत बमन

भुक्त पदार्थ का वमन होने के अनन्तर उसी को पुनः स्वीकारा नहीं जाता जिसके पीछे कारण रूप में घृणा कही जा सकती है वैसी घृणा रमाविलास के बारे में श्रीरामानुरागियों को होती रहती है ऐसी घृणा जब रहेगी तभी रागाभाव समझा जा सकता है। एवंच 'तजत बमन जिमि', बड़ भागी; रामअनुरागीभक्ति के तटस्थ लक्षण का लक्ष्य है तावता लक्ष्यतावच्छेदक भी स्पष्ट है।

संगति :—श्रीरामानुरागित्वविशिष्टबड़भागित्वरूप लक्ष्यतावच्छेदक धर्म अनेकविध भक्तों में देखा जा रहा है उसी को भरतजी मे गाया जाय तो "भरतसरिस महँ सुना न दीसा" का विरोध होगा सोचकर कवि भरतजी में बड़भागित्व की विशेष व्याख्या समझाते हुए उनका वास्तविक रूप प्रगट कर रहे हैं।

दोहा :—**रामप्रेमभाजन भरतु बड़े न एहि करतूति।**
चातक हंस सराहिअत टेंक बिबेकबिभूति ॥३२४॥

भावार्थ :—श्रीरामप्रेमभाजन भरतजी के त्यागादिकरतूति का कारण श्रीरामप्रेम भाजनता ही है। चातक केवल टेक व हंस बिबेकी होती है किन्तु वे प्रेमभाजन न होने से भक्तरूप में स्तुत्य नहीं हैं।

एहि करतूति

शा० व्या० :—अनन्य साधारण रामप्रेम भाजनत्व समझाने हेतु 'एहि करतूति' कहा है। भरतातिरिक्त जो भी अनुरागी हैं उन्होंने रमाविलास का त्याग करना व अपने में बड़प्पन्न पाना संभव है परन्तु उन व्यक्तियों में श्रीरामप्रेम-भाजनत्व दुर्लभ है

जो भरतजी में देखा गया उसी प्रेमभाजनत्व को देखने हेतु ब्रह्मविद्या योगविद्या, व कर्मविद्या अपनेअपने सेवकों के माध्यम से चित्रकूट में उपस्थिता थी तथा श्रीराम-भरतमिलन देखकर वैसी योग्यता का अभाव अपने में देख रही थीं अतः भरतजी में विरागीबोधक कृतियों से बड़प्पन आया ऐसा नहीं है। अपितु प्रेमभाजनता से ही आया है। एवंच भरतजी की जो प्रशंसा है वह श्रीरामप्रेम-भाजनप्रयुक्त हैं।

सराहिअत

हंस की कृति देखकर लोग उसकी सराहना करते हैं किन्तु वह प्रेमभाजन नहीं है अतः उसमें भक्तिदृष्टि से कोई महत्त्व परिगृहीत नहीं होता। इस दृष्टान्त से कवि का लक्ष्य भरतजी की सराहना में नहीं वरन् उनकी श्रीरामप्रेमभाजनता दर्शाने में है।

टेंक बिबेक बिभूति

"टेंक" से हठशीलता समझनी है इसका अन्वय चातक से है।"

'विवेक' पूर्व चौपाइयो में व्याख्यात है। इसका अन्वय "हंस" से है। विवेक की पूर्ण संपति "बिबेकबिभूति" है। यहाँ चातक से वे साधु बोध्य है जो सयाने न होते हुए निश्छल है वैसे सन्त भी प्रभु को प्रिय हैं. किन्तु मंत्रार्थ निर्णय में वे उपयुक्त नहीं होते। हंस से वे साधु विवक्षित हैं जो पूर्ण विवेकी है वैसे विवेकी ज्ञानयज्ञ में रहते ज्ञानरूप परमात्मा का ही चिन्तन करते हैं वे भी प्रभु को प्रिय हैं तथापि उन्हें भगवत्प्रीति के उस स्वाद का अनुभव नहीं होता जो साधु होते हुए भरतजी को भगवत्सेवा में प्रेम प्राप्त हो रहा है।

संगति :—कठिन ऋषि धर्म की सिद्धि का परिणाम समझा रहे हैं।

चौपाई :—**देह दिनहु दिन दूबरि होई। घटइ तेजु बलु मुख छबि सोई ॥१॥**

भावार्थ :—दिनों दिन देह दुर्बल हो रहा है जिससे शारीरिक तेजस् (शारीराग्निस्थसंभूत पदार्थविशेष) व बल समाप्ति पर है किन्तु मुख पर कान्ति छाई है।

दूबरि

शा० व्या० :—धर्मानुष्ठान के आरम्भ में (चित्रकूट) "पीवा दीक्षते" वचन समन्वित हैं पर धर्मानुष्ठान है समाप्ति पर "कृशोयजति" कहा गया वे दोनों वचनार्थ वे ही दो तत्त्व "दूबरि से पौरलक्षित किए गये हैं।

घटइ तेजु बलु

"घटइ" का अन्वय "तेजु बलु" से है। "शारीराग्निसंभूत पदार्थविशेषः" (शब्दकल्पद्रुम) "तेजु" है। भुक्तान्नरस संपुष्ट शरीरावयवोपचय "बलु" है।

छबि

"छवि" से मालिन्याभाव स्पष्ट है जो शब्दकल्पद्रुम में उक्त है। तेजस् व बल की दुर्बलता होने पर भी त्रिमूर्ति का ध्यान करते-करते उनके अन्तर्वर्ती आनन्दमय

तेजसादि संपूर्ण गुण भरतजी को इस प्रकार से प्राप्त हैं कि तत्प्रयुक्त कान्ति व रस भरतजी को भरपूर मात्रा में प्राप्त है जिसके प्रभाव से चेहरे पर अत्यन्त दीप्ति है जो सम्मुख आयी परशक्ति को अभिभूत करने में समर्थ है।

संगति :– उक्त कान्ति प्राप्त होने का कारण सेवाधर्मसंपृक्त मुनिधर्म है उसकी पुष्टि "धर्मो रक्षति रक्षितः" से प्राप्त है उसी को समझा रहे हैं।

चौपाई :—**नित नव रामप्रेमपनु पीना। बढ़त धरमदलु मनु न मलीना ॥२॥**

भावार्थ :—श्रीरामप्रेम का पण नित्य नवीन व बलवान् हो रहा है। धर्मदल बढ़ रहा है। मनस् उदास नहीं है।

नित नव

शा० व्या० : –"नित नव" से प्रतिक्षण श्रीरामप्रीतिधारा की उत्तरोत्तर अभिवृद्धि स्पष्ट कर रहे हैं।

रामप्रेमपनु पीना

श्रीरामप्रेम की वृद्धि होना "रामप्रेमपनु पीना" है। श्रीरामः सुखं 'की धारा' ही प्रथमावस्था में 'प्रेम' कही जाती है उसकी अन्तिम धारा 'अनुराग' है। अर्थात् प्रेम ही अवस्थाविशेष में पहुँचकर अनुराग से संबोधित होता है।

भविष्यत् के उत्तरराग का वर्तमान राग कारण है इसी को "रामप्रेमपनु पीना" से जमझाया है।

धरमदलु

"धरमदलु" से धर्मविजयनाटकोक्त पुराणप्रवचनादि सभी व सामान्य-विशेष धर्म स्मर्तव्य है।

न मलीना

"न मलीना" से अन्तःकरण में रजस्तमोगुण का सर्वथा अप्रवेश समझाया है। इस प्रकार श्रीरामानुरागवृद्धिसहकृत सेवाधर्म में रहनेवाली छबि की कारणता वर्णित हुई।

संगति :—भरतजी के हृदयाकाश में स्वच्छता देखकर शरत्कालीन आकाश की स्मृति होने से कवि शरदाकाशरूपक से भरतहृदयाकाशसमवेत भक्ति के लिए अभ्यर्हित तत्वों का वर्णन कर रहे हैं।

चौपाई :—**जिमि जलु निघटत सरदप्रकासे। बिलसत बेतस बनज बिकासे ॥३॥**

भावार्थ :—जैसे शरदऋतु के विकसित होने से जल घटता है किन्तु बेंत शोभित व कमल विकसित होते हैं।

जिमि जलुविघटत

शा० व्या० :—जलदृष्टान्त से शरीर विवक्षित है। अर्थात् प्रतिक्षण भरत शरीर का घटना जल घटने के समान हो रहा है।

सरद प्रकासे

शरत् प्रकाश के दृष्टान्त से भरतजी को प्रभु से प्राप्त विवेक सहचरित प्रबोध विवक्षित है।

बेंतस बनज विकासे

पितृवचनप्रमाणपरतंत्रता में वंचित हुई श्रीरामसेवाभक्ति पुनः उदित होकर बेंत के समान झुकती नंदिग्रामवासरूप वनवास में स्थिर है। इसके साथ ही ववज से पितृवचन प्रामाण्यादि सभी विकसित हुए हैं। इससे दो उदाहरणों का सार्थक्य स्पष्ट है।

संगति :—धर्मंदल की व्याख्या कर रहे हैं।

चौपाई :— **सम दम संजम नियम उपासा। नखत भरत हिय बिमल अकासा ॥४॥**
ध्रुव बिस्वासु अवध राका सी। स्वामिसुरति सुरबीथि बिकासी ॥५॥
रामप्रेम बिधु अचल अदोषा। सहित समाज सोहनित चोखा ॥६॥

भावार्थ :—यम, दम, संयम, नियम, उपवास भरतजी के निर्मल हृदयरूपी आकाश के नक्षत्र हैं। विश्वास ही ध्रुवतारा है १४ वर्षावधि, पूर्णिमा के समान है और श्रीराम की स्मृति आकाशगंगा जी के सदृश प्रकाशित है। श्रीरामप्रेम मानो अचल दोष रहित चन्द्र है जो अपने समाज (नक्षत्र) सहित हो नित्य सुशोभित हैं।

सम दम संयम नियम उपासा

शा० व्या० :—सम :—आन्तर क्लेशसहिष्णुता "सम" है।

दम :—बाह्यक्लेशसहिष्णुता "दम" है।

संयम :—'इन्द्रियाणां नियमनं प्रत्याहारः' "संयम" है।

नियम :—कृतसंकल्प को पूर्ण करने में अंगभूत इतिकर्तव्य नियम है।

अन्नत्याग 'उपास' है।

भरतहृदय विमल

'भरतहृदय आकाश के समान है। 'विमल' से हृदय की निष्कपटता समझनी है।

ध्रुव विस्वास

बालकाण्डीयमंगलाचरणोक्त "बटु विश्वास अचल निज धर्मा" के अनुसार शब्द-प्रमाण से प्रमित हितसाधनताविशिष्टधर्म के बारे में विशेष निर्णय विश्वास है। यह विश्वास ही पूर्वप्राप्त भगवत्पदारविन्द दर्शन में स्थायिता देने वाला है।

अवधि राकासी

भूमिशयनादि धर्मविशेष १४ वर्ष तक नैरन्तर्येण संयत रहने वाला है अतः "अवधि राकासी" कहा है। अर्थात् सूर्यास्तसे सूर्योदयपर्यन्त पूर्णिमा की चाँदनी स्थिर रहती है उसी प्रकार १४ वर्षावधि को व्याप्त कर व्रतादि पूर्ण होने हैं अतः "अवधि राकासी" कहा है।

स्वामिसुरति (सार्थकता)

सेवक ने सदा स्वामी के शरण रहने की सार्थकता तब मानी जाती है जब उसको स्वत्व की व्याप्ति समझ में आती हो। आशय यह कि स्वामी की अनुज्ञा के बिना उनके स्व का उपभोग करने पर अपने में चौर्य की भावना जागृत रहेगी फलतः सेवक कभी भी स्वामो के स्मरण के साथ उसके स्व को ध्यान में लाकर अपने कार्य में स्वामित्व को उपयुक्त नहीं कर सकता। अन्यथा कोशद्रव्यापहार से कोई नहीं बच सकता। जैसाकि अर्थशास्त्र में "जिह्वातलस्थं मधु वा विषवा, अकाले दत्तं काले न दत्त" आदि कहा है। ऐसी अर्थसंबंबधिनी शुचिता सेवक ने अपने में सुरक्षित रखी तो 'स्वामिस्मृति' की सार्थकता मानी जा सकती है।

रामप्रेम

श्रीरामप्रेम ही पूर्ण चन्द्रमा के समान भरतजी को आल्हाद दे रहा है। इसमें व्रतनियमादि नक्षत्र समाहित है। परिणाम यह कि उपवासद नियमादि भी आल्हाकर होने से वे भरतजी को आरोग्य देने में सहायक हो रहे हैं।

अचल अदोषा

"अचल अदोषा" कहकर श्रीरामप्रेम में चन्द्रमा से अधिक तेजस् दर्शाया है। उसका तात्पर्य प्रेमचन्द्र में चन्द्रस्थित सदृश कलंक का भाव दर्शाने में है।

सहित समाज

सहित समाज से प्रेम के व्यभिचारिभाव सात्विक भाव अनुभाव आदि भी ज्ञातव्य है।

नित चोखा

सहित सनाज शीर्षक (२।३२५।६) में व्याख्यात समाज ने संपत्ति विपत्युभय दशा में सदा रामप्रेम पर स्थिर रहना 'नित चोखा' है। एवंच प्रेम में छल शून्यता अव्यवहितता मोक्ष की अनभी प्सितता का ध्वनन करना 'नित चोखा' का आशय है।

संगति :—भरतजी के पूर्व चरित्र का सिंहावलोकन उनकी कृतियो की अद्भुतता एवं अव्यवहित बता रहे हैं।

चौ० :—भरत-रहनि-समुझनि-करतूती। भगति विरति गुन विमल-विभूती ॥७॥
बरनत सकल सुकवि सकुचाही। सेस गनेस गिरा गमु नाही ॥८॥

भावार्थ :—भरतजी की रहनी, समझ, करनी, भक्ति, वैराग्य, गुण व ऐश्वर्य का वर्णन करने में सुकवि संकुचाते हैं क्योंकि शेषजी, गणेशजी और शारदाजी की भी वहाँ पहुँच नहीं है।

रहनि समुझनि करतूती, भगति विरति गुन विमल विभूती की व्याख्या

शा० व्याख्या :—'सुनि समुझनि' की एकवाक्यता २।३२८ से स्मर्तव्य है। "रहनि" से निवास समझना है जो स्वामी के निवास से न्यून है जैसाकि महिखनि (२।३२४।३) से स्फुट है न कि शारीरिक रूप में।

"समुझनि" से नूतनप्रयोगनिर्णय समझना है वह अनूचानरूप में वसिष्ठजी द्वारा प्रमाणित है जो औरों के लिए अभ्यूहित या प्रत्यक्षानुमानप्रमाणों से प्रमित नहीं है।

"करतूती" से कृतियों का समुच्चय समझना है जो श्रीराम के द्वारा अवध-स्वामित्व को पुनः स्वीकारने में साधक होती श्रुतिनिचोड़ हैं।

भगति :—एकमात्र स्वाम्यादेशपालन "भगति" है। जो श्रीराम को सुखकर है।

विरति :—सदैव वैधकर्म की तत्परता में प्रतिबन्धकभूत राग का अभाव "विरति" है।

गुन :—सेवकगुणसहचरित आत्मसंपत्ति "गुन" है।

विभूतिः—भूतभौतिकवशिता 'विभूति' से समझनी है जिसमें धर्म, ज्ञान, वैराग्य का नित्यसंबध होना विमलता है।

सकुचाहीं

सुकवि क्रान्तदर्शी है उन्हें 'भरतरहनी' आदि सातों तत्त्वों का भरतजी के संबंध से निरूपण करने की योग्यता इसलिए नहीं रही कि वे मूलाधारस्थ आन्तरिक नाद में जो भी सुनते या देख रहे हैं वह भरतकरतूती आदि का अंशमात्र ही है।

गनेस

बालकाण्डीय मंगलाचरण में निरूपित संपूर्ण जो भी तत्त्व भरतचरित्र में गाए गए उसके प्रयोजक वाणी और विनायक थे परन्तु अन्य अवशिष्ट तत्त्व समाधि में पूर्णतया दृष्टिगोचर नहीं हुए उसका कारण भरतीयचरित्र की अलौकिता व भरतीय अनूचानता है। अतः गणेश एवं गिरा की असमर्थता कवि ने गाई है। इसमें शेषजी का स्मरण कुण्डलिनी के संबंध से है जिसके माध्यम से अग्निज्वालात्मक परा वाणी 'गनेस' से स्फुट है।

गमु नाही (गमु नाही की उपपत्ति)

'गमु नाही' का अन्वय 'सेस गनेस गिरा" से है। सेसादि प्रसिद्ध हैं।

ज्ञातव्य है कि २।३२३।८ में वसिष्ठ मुनि ने 'समुझब' आदि जो भी कहा है उसका विषय धर्मसार है जो उसी ८वीं चौपाई में उक्त है। फलतः भरतजी के तात्कालिक प्रातिभज्ञान को प्रमाण व प्रमेयविषयमरूप में यथार्थ दर्शाकर उसको मुनि ने प्रथमतया भरतमात्रवेद्य ठहराया है। उस ज्ञान के पीछे पृष्ठबल के रूप में एकमात्र श्रीरामतत्त्व है। अर्थात् श्रीरामकृपामात्र से भरतजी को प्रतिभात होने वाले तत्त्वों ने शेष आदि केलिए अगम (अप्रमेय) होना प्रभु में अनन्यथा सिद्धि की स्थापना है। वही 'गमु नाही' की उपपत्ति है।

संगति :—भरतजी ने किया राज्यसंचालन व पादुकापूजन का कार्यकारण-भाव दर्शा रहे हैं।

दोहा :—**नित पूजत प्रभुपावरीं प्रीति न हृदय समाति।**
मागि मागि आयसु करत राजकाज बहुभांति ॥३२५॥

चौपाई :—**पुलक गात हिय सिय-रघुबीरु। जीह नामु जप लोचन नीरु ॥१॥**

भावार्थ :—वे नित्य प्रभुचरणपादुका का पूजन करते हैं हृदय में प्रीति समाती नहीं है। चरणपादुका से आज्ञा मांगकर वे राजकार्य कर रहे हैं। शरीर पुलकायमान है। हृदय में श्रीसीताराम जी हैं। जीभ पर सदा रामनाम है। आँखों में प्रेमाश्रु हैं।

नित पूजन प्रभुपावरी (आन्तरबाह्य पूजा)

शा० व्या० :—भरतजी हृदयाकाश में निरन्तर चरणपादुका की मानसपूजा कर रहे हैं उसी से तादात्म्यापन्न हो पीठ पर बहिः पूजा करना शास्त्र को मान्य है अतः 'नित पूजत प्रभुपावरी' कहा है।

प्रीति न हृदय समाति

मनस्समाधि में किए जाने वाले अर्चन की उपपादिका प्रीति है। उसी में 'बहु भांति' भी अन्वित है। समाहित मानस में अर्चन करने का कारण कायिक व मानसिक की एकरूपता समझाने में है। प्रायः अपनी प्रीति को साधु छिपाते हैं, पर भरतप्रीतिका छिपना असंभव हो रहा है यही प्रीति की अतिशयित समृद्धि है जो 'न हृदय समाति' से स्पष्ट है।—

मागि मागि

प्रथम 'मागि' शब्द उत्तरदिन में पूजन व प्रीतिप्राप्त्यर्थक है। उत्तर 'मागि' शब्द तदुत्तरदिन में पूजन व प्रीतिप्राप्त्यर्थक है। इस प्रकार 'पूजनप्रीति प्रति पूजनप्रीतिः कारणं' ऐसा ज्ञान होता है।

आयसु करत

पूजनप्रीति याचनीय के साथ जिस रीति से 'मागि मागि' अन्वित है उसी रीति से 'आयसु' भी 'मागि मागि' से अन्वित है।

करत

'करत' का विधेय 'आयसु' है अर्थात् जो भी कार्य करते हैं वे सभी पादुका-देशप्रयोज्य हैं। एवंच भरतजी में स्वतन्त्रकर्तृता का अभाव व्यक्त है। फलतः ३२५।१-२ में कहे उपदेश की सार्थकता समझनी है। इसका निष्कर्ष भरतजी को प्रीतिसमाधि में पादुकात्मक प्रभु की पूर्ण प्रसन्नता जिस चिन्तित कृति पर परिलक्षित होती है उसी को 'आयसु' वे समझते हैं इस प्रकार भरतजी की अनूचानता को समझना है। इस पर विशेष उपपत्ति 'गमु नाहीं' शीर्षक (३२५।८) में देखें। यहाँ यद्यपि 'करत' कहा है तथापि 'करत' से शत्रुघ्नजी आदि के द्वारा करावत भी समझना है।

राजकाज बहुभांति

पूर्वोक्त 'करत' शब्द से संकेतित विधेयभूत 'आयसु' का व्याखान 'राजकाज बहुभांति' है। जो अष्टधा विभक्तदिवसव्यापी रक्षाविधानादि से लेकर रात्रि के उत्तरकाल में विहित स्वस्तिग्रहणान्त कर्म व संपूर्ण प्रकृतिकर्म के साथ देशकालानुरूप प्रयोगकर्म 'बहु भांति' से स्मृत हो रहे हैं।

पुलक गात

'पुलक" शब्द प्रीत्यनुभावात्मक रोमाञ्चपरक है वही भक्ति का मुख्य अनुमापक है।

हिय सिय रघुबीरु

हृदय में श्रीसीताराममूर्ति को आनन्दरूपतया चिन्तन के माध्यम से स्वमानस का विषय बनाना 'हिय सिय रघुबीरु' है। सीतारामचिन्तन से श्रीराम को सगुणता के साथ नीति की सफलता भी स्मर्तव्य है। यह सगुणता शिवजी मुनि भुशुण्डीजी आदियों के लिए सदा ध्येय है।

जीह नामु जप

स्वीय श्रोत्रमात्रग्राह्य वर्ण होना 'जप' है।

'जीहजप' में नीतिसिद्धान्त चिन्तनीय है यह कि श्रीराम स्वामी के द्वारा सेवक अपनी मनोरथ पूर्ति होते देखकर अतिप्रीति में निरन्तर स्वामी के गुणगान करते रहते हैं यह गुणानुवाद होना व उपकास्क स्वामी का नाम लेते रहना अनुरागिता व संघटन का चिह्न है।

लोचन नीरु

अनुराग में मनस् द्रुत होने लगता है यह अश्रुधारा रोमांच के समान भक्ति का द्वितीय चिह्न है।

संगति :—विपत्ति के दायाभागी होकर अति प्रीति में एक साथ रहने की सुखानुभूति में श्रीराम व भरतजी अपने-अपने स्थान में निवास करते हैं फिर भी कवि भरतजी की अवस्था में रहा सौक्ष्म्य कह रहे हैं।

चौ० :—लखन राम-सिय कानन बसहीं। भरतु भवन बसि तप तनु कसही ॥२॥
दोउ दिसि समुझि कहत सबु लोगू। सबविधि भरत सराहनजोगू ॥३॥

लक्ष्मणजी श्रीराम व सीताजी तीनों वनवासी हुए हैं। भरतजी अवध (नंदि-ग्राम) के निवासी है वे तनु को तपस्या करते तनु कर रहे हैं। दोनों ओर की स्थिति एकसी है सब लोग कहते हैं कि भरतजी सब प्रकार से सराहना के योग्य हैं।

लखन राम-सिय

शा० व्या० :—मुनियों के ध्यान में लक्ष्मण जी श्रीराम की दाहिनी ओर हैं सीताजी वामांकारुढ़ा होने से श्रीराम के बामभाग में विराजती हैं अतः शिवजी ने ध्येय वनवासी का चित्रण 'लखन राम सिय' क्रम से गाया है।

काननवासी

चित्रकूटकानन में प्रभु का दीर्घनिवास होना 'काननवासी' हैं।

भरतु भवन

भरतनिवासस्थल कहकर 'अवध बास' समझना है जो नन्दिग्राम का उपलक्षक है। नन्दि शब्द का कीर्तन न कर भवन कहने का कारण उसकी भवनतुल्यता होने में विलंब न होना हुआ है या भवनसुख की पूर्ण अनुभूति 'नन्दि' में होना ध्वनित है। जो अव्यभिचरित आज्ञारूप प्रभुत्व के बोधनार्थ है।

तप तनु कसही

तप :—वैधक्लेशसहन करना 'तप' है।

'तनु' पद कृशतावाचक है वह खेदप्रयुक्त न होकर तपःप्रयुक्त है उसका प्रयोजन सीताजीसहित दोनों भाइयों ने १४ वर्ष के अनन्तरक्षण में ही अवध में पदार्पण करना है।

निरपेक्ष हो वनवासी श्रीरामप्रभृति तीनों ने व्रत में रहकर अपने तन में पुष्टि नहीं दिखाई क्योंकि उनको भरतवियोगज खेद है। भरतजी भी रामवियोग से खिन्न है। अर्थात् वे भी संयम आहारादि करने से तनु की कृशता को नहीं छिपा सके।

दोउ दिसि

एक ओर वनवासी श्रीरामप्रभृति मूर्तित्रय हैं दूसरी ओर भरतजी है। यही 'दोउ दिसि' हैं उसका अन्वय 'समुझि' से है।

समुझि

दोनों ओर चल रहे व्रत आदि को समझना 'समुझि' है।

कहत सबु लोगू

श्रीरामप्रभृति तीनों मूर्ति के व्रत व भरतजी के नियम व्रत आदि देखकर उसको विविक्त करके 'कहना' कहत है।

'सबु लोगू' से विवेककुशल वनवासी व अवधवासी विवक्षित हैं अर्थात् उनका वन व भवन में आने जाने का नैरन्तर्य स्फुट है।

सबु विधि

'विधि' प्रकारार्थक हैं उसमें 'सबु' अन्वित है वह विधि आगे व्याख्यात है।

सराहनजोगू

भरतजी में सराहनयोग्यता उनकी सफलताप्रयोजक कुशलता के कारण है। उदाहरणार्थ—भरतजी कभी कोई कामना नहीं रखते प्रभु की आज्ञा को प्रीतिपूर्वक शिरोधार्य करते हैं। तथापि श्रीराम ने लौटकर अयोध्या में आने की तीव्र कामना उनमें है उसके पूर्त्यर्थ भरतजी ने यह व्रत अपनाया है। फलतः अभी के नियमादि सभी काम्य कहने होंगे यदि उनमें थोड़ा भी वैगुण्य होगा तो उस कामना का पूर्ण होना सन्दिग्ध है परन्तु राजकर्म का विक्षेप व दीर्घकाल तक के मनश्चिन्तन में योगसूत्रोक्त अन्तराय में से व्याधि संशय आदि के अन्तर्गत एक भी विघ्न न होने से भरतजी ने अपनाया व्रत ईश्वरप्राणिधान सबविध सफल है जानकर 'सराहनजोगू' कहा है।

संगति :—भरतजी में 'सराहनजोगू' शीर्षकोक्त (३२६।३) संकल्प की पूर्णता बिना अष्टांग समाधि के राज्यसंचालन करते देखकर वसिष्ठादि मुनियों पर संक्रमित प्रभाव सुना रहे हैं।

चौपाई :—**सुनि व्रत नेम साधु सकुचाहीं। देखि दसा मुनिराज लजाहीं ॥४॥**

भावार्थ :—उनके नियम व्रत सुनकर साधु संकुचाते हैं और उनकी शरीरावस्था देखकर मुनिराज लजाते हैं।

साधु सकुचाहीं

शा० व्या० :— साधु से निर्दंभ नीतिकुशल विवक्षित हैं।

"सकुचाही से साधुओं का मुर्झाना विवक्षित है।

निष्कर्ष यह कि साधुओं के उन्तर्गत जो भी रहे उनमें से मित्रों ने श्रीराम के शील को समझते हुए भी राज्यारोहण की घोषणा के बाद श्रीराम की परीक्षा करना कहा है (२।२४।१ से ६ चौपाई) यहाँ भी वे साधु भरतजी की परीक्षा कर सकते थे पर उसके प्रति साधुओं का संकोच होना 'सकुचाहीं' से स्पष्ट है।

देखि दसा

३री चौपाई में उक्त भरतदशा 'दसा' से स्मर्तव्य है।

लजाही

भरतजी की उपर्युक्त अवस्था अपने को प्राप्त न हो सकी ऐसा देखकर मुनि का लजाना 'लजाही' है।

ज्ञातव्य है कि गुरुजी लजाये हैं परन्तु उनमें उद्वेग या अप्रीति नहीं है। इस प्रकार सर्वसम्मति से भरनजी ने की हुई सफल तपस्यादि के बारे में यथार्थता समझाकर भरतजी ने अपनाए काम्यव्रत का वर्णन कवि ने पूर्ण किया।

संगति :—बालकाण्ड में शिवशक्ति को निश्छल रूप में पाना श्रीरामभक्ति का लक्षण कहा है। लक्ष्यरूप में जिज्ञासित श्रीरामभक्ति को समझाने हेतु अयोध्याकाण्ड में भरतचरित्र गाया है। तद्गतलक्ष्यतावच्छेदक व भक्ति का तरतम भाव भी निरूपित-हो चुका है उसकी सबके लिए उपदियता समझाने के उद्देश्य से ग्रन्थकार श्रीरामभक्ति-रूप भरताचरण के द्वारा प्राप्तव्य सिद्धि बता रहे हैं।

चौपाई :—परम पुनीत भरतआचरनू। मधुर मंजु मुद-मंगलकरनू ।।५।।
हरन कठिन-कलिकलुषकलेसू। महामोहनिसि दलन दिनेसू ।।६।।
पापपुंजकुंजर मृगराजू। समन सकलसन्तापसमाजू ।।७।।
जनरंजन भंजन भवभारू। रामसनेह–सुधाकरसारू ।।८।।

भावार्थ :—भरतजी का परमपवित्र आचरण मधुर सुन्दर आनन्दमंगल करने वाला है। कलियुग के कठिन पापों व क्लेशों को हरने वाला है और मोहरूपी रात्रि की समाप्तिहेतु सूर्य के समान है। पापसमूहात्मक हाथियो के लिए सिंह है। संतापदल का नाश करने वाला है। भक्तों के लिए आनन्दप्रदाता है।
सांसारिक दुःखों को हटाने वाला तथा श्रीराम प्रेम रूपीचन्द्रमा का सार है।

परम पुनीत

शा० व्या० :—शास्त्रोदित विद्याओं के बलाबल का विचार कर राजनीति के मंत्रित्व से त्रयी की प्रतिष्ठा पूर्ण करते हुए भक्ति की छत्रछाया में जो आचरण होते हैं वे ही 'परम नुनीत' होते हैं। उसका अन्वय भरतआचरनू से है।

भरतआचरनू

भरत :—अवध में पुनः लौटकर श्रीराम के आने की कामना से युक्त व्रतस्थ भरतजी 'भरत'शब्दार्थ हैं। नामकरण के अनुसार विश्व का भरण पोषण करने की वास्तविकता "भरत आचरनू" से स्पष्ट की है। दोहा ३२५।७ में उक्त रहनी आदि सभी 'आचरनू' से विवक्षित हैं। उनकी परम पुनीतता दोहा ३२३।८ में प्रमाणित है।

मधुर

भरतचरित्र की स्पृहणीयता का नैरन्तर्य ही "मधुर" है।

मंजु मुद-मंगलकरनू

"मंजु" से आचरण के किसी भी भाग में अलक्षण्यता का अभाव बताया है।
भक्ति की छत्रछाया में नीत्यनुगत्व होने से आनन्द मिलना मुद है।

भरतचरित्र के सभी अंश पूज्य श्रीराम की प्रसन्नताहेतु पूजनात्मक होने से उनके द्वारा प्राप्त आशिष् की सहायता से विघ्नध्वंसपूर्वक मनोरथसिद्धि होना "मंगल" है।

हरन कठिन

'हरन' का अन्वय 'कलेसू' से है। अनन्त जन्मों से आबद्ध कलिकलुषु में जकड़-कर जीव ने अपने को बंधन में ऐसा फँसा रखा है कि उससे छूटपाना कठिन है देखकर 'कठिन' कही है।

कलिकलुष

वृद्धसेवा के अभाव से विनय न होने का कारण कलि का प्रभाव है जो उत्तरोत्तर बढ़ गया है। उसका परिणाम वर्णाश्रम में कलिकलुष का तीव्र संसर्ग है। तत्प्रयुक्त क्लेश कहकर 'मन्दाः सुमन्दमत्तयः' आदि व अविद्या अस्मिता आदि समझना है।

कलेसू

कलिकलुषप्रयुक्त अविद्या अस्मिता राग द्वेष अभिनिबेश 'कलेसू' से बोध्य हैं।

महामोह

"महामोह" से पंचपर्वाविद्या के अन्तर्गत गिना महामोह यहाँ विवक्षित है। जो कर्तव्यनिर्धारण से सर्वथा अछूता है व दुरपनेय भी है। अतएव वह निसि है।

दिनेसू

भरताचरण सूर्य इसलिए कि वहाँ विवेक पूर्ण है।

पापपुँज

विद्याओं का बलाबल न सोचकर अव्यवस्थित रीति से त्रयी व राजनीति का अनुष्ठान करना विधि को अनभिमत होने से "पापपुंज" कहा है जो श्रीरामदर्शनप्रतिबन्धक ही नहीं किन्तु उनके असान्निध्यप्रयुक्त उपेक्षा का भी प्रेरक है।

मृगराजू

उक्त पापपुंज को दूर करने के लिए भरताचरण अनुकरणीय है जिसका सान्निध्य निर्भीक होकर 'रघुपतिरखुवारा' के प्रतिबंधक तत्वों को हटाकर रहेगा यही "मृगराजू" से समझाया है।

समन

भरताचरण अपरिच्छेदमोहकारक नहीं है अतः अशक्य में प्रवृत्ति अंगवैकल्य निष्फलता व विपत्ति का न होना 'समन' है वह 'सकल संतापसमाजू' से संबद्ध है।

सन्तापसमाजू

प्रवृत्ति, के वैफल्य में कारण तया सामग्री वैकल्य, विपत्ति आदि को देखते हुए अन्तःकरण में निरवधिक कालपर्यन्त सन्ताप होते रहना ही "सन्तापसमाजू" है। उस सन्ताप से 'समन' प्रतियोगितया अन्वित है।

जनरंजन

भरतचरित्र को देखकर साधु भी सकुचा गये। इसी से सिद्ध है कि जनता का आकर्षण भरतजी ने अपनी ओर कर उसको इस प्रकार से अनुयायी बनाया प्रजा निश्छल होकर भरतजी के आदेश को शिरसा धारण करने में स्वयंप्रवृत्ता हो गयी।

भंजन भवभारू

"भवभारू" से जन्म-मरण का नैरन्तर्य समझना है। इस भार का कारण जैसे पापकर्म हैं वैसे पुण्यकर्म भी हैं। अन्तर इतना ही कि पाप से जन्म लेनेवाला शारीरिक कष्ट भोगता है। पुण्यात्मा सुख भोगता है। परन्तु दोनों में अविद्या रहती ही है अतः जन्म-मरण का भार दोनों के लिए अपरिहार्य है उससे निकलने का मार्ग "भंजन भवभारू" से समझाया है।

रामसनेह

'रामसनेह' एक ऐसा पवित्र भक्तिरस है जिसके रहते रजस्तमोगुण का आवरण होना संभव नहीं। अतः यह रामसनेहरस अन्य रसों के अपेक्षया अत्युच्चत्तम है।

सुधाकर सारू

'सुधाकरसारू' से भक्ति की स्थायिता समझाई। उसके आनन्द से निश्छल भक्तगण सुखी होते हैं फलतः जीवन में कुछ अवशिष्ट नहीं रहता। इस प्रकार मंगलकरत्व क्लेशहरत्द, मोहनाशकत्व, पापपुंजरहितत्व, सन्तापशामकत्व इन पाँच धर्मों को समझाकर भरताचरण को आतिदेशिकन्यायेन सेवको नें अपने में अपनाने की शिक्षा कवि दें रहे हैं।

संगति :—योगी, सिद्ध, साधु आदि सभी के लिए स्नेह के प्रति इतिकर्तव्यता, अंगता आदि तत्वों को समझकर अपनाना कठिन इसलिए हो रहा था कि किसी के भी चरित्र में भक्ति के संपूर्णअंग एक साथ प्रगट नहीं हो रहे थे वही न्यूनता भरतजी ने अपने चरित्र के द्वारा परिहृत की। जिसको न्यायभाषा में 'भरतजन्म नाभविष्यत् तर्हि छन्दोलिखितानि फलानि नालप्स्यन्त' इस तर्कप्रणाली में उक्त आरोपात्मक भाषा गोस्वामी तुलसीदासजी कह रहे हैं।

छन्द :—**सियरामप्रेमपीयूषपूरन होत जनमु न भरतको।**
मुनिमनअगम जम नियम सम दम विषम व्रत आचरन को ?।।
दुख दाह दारिद दंभ दूषन सुजसमिस अपहरत को ?।
कलिकाल तुलसी से सठन्हि हठि रामसनमुख करत को ? ।। ३२६ ।।

भावार्थ :– श्रीसीताराम के प्रेमरूपी अमृत से पूर्ण भरतजी का जन्म यदि न होता तो मुनियों को भी अगम यम, नियम, शम, दम आदि कठिन व्रतों का आचरण कौन करता ? दुःख संताप, दरिद्रता, दंभ आदि दोषों का हरण कौन करता ? तथा कलियुग में तुलसीदासजी जैसे शठ को कौन श्रीराम के सम्मुख करता ?

सियरामप्रेमपियूषपूरन

शा० व्या :—ज्ञातव्य है कि ऐसे पात्र की खोज हो रही थी जो अद्यन्त तक शुचि हो एकरूप में रहे जिसमें श्रीरामप्रेमरूपअमृत रखा जा सके वैसा पात्र

सबने भरतजी को समझा है जैसा कि भरद्वाजजी ने अपने आश्रम में, तथा गणेशजी और शिवजी ने दोहा ३२५ में उसको प्रमाणित किया है उसी को "सियरामप्रेमपियूष-पूरन" से कहा है।

जनमु न भरत को

भरतजी ही एक ऐसे महान् पुरुष हैं जिन्होंने भक्तिप्रतिष्ठा कराने के उद्देश्य से जिस चरित्र की प्रतिष्ठा करके श्रीरामप्रेमरूप अमृत को अपने में निहित किया वह श्रेयस् अन्य किसी को प्राप्त न होना "जनमु न भरत को" से ध्वनित किया है। यहाँ "भरतजन्म यदि न भवेत् तेहि रामप्रेमपियूषपूरणं न भवेत्" इस प्रकार की तर्क-प्रणाल्युक्त आरोपात्मक भाषा बताना कवि का कौशल है। निष्कर्ष यह कि श्रीराम-भक्ति के लिए अपेक्षित संपूर्ण कृति (सदाचार) कहीं देखनी हो तो वह भरतजी में ही है। इसी को आदर्श मानकर सेवकों ने अपने में शक्य, भव्य, कल्प के साथ भरतजी के आचरण को अपनाना श्रेयस्कर होगा।

मुनिगन अगम

भागवतशास्त्रातिरिक्त शास्त्रों ने अपनी मर्यादा में भक्ति को रस न मानकर भाव (व्यभिचारी) माना है फलतः वह प्रीति श्रृंगारादि के समान आस्वाद्य नहीं है। भागवत में ऐसा नहीं है क्योंकि यहाँ प्रीति पूर्णतया आस्वाद्य मानी गई हैं जो भक्तिशास्त्र के निरूपण में अधिकृतों को ही गम्य है। यह सूक्ष्म तत्त्व कर्म, योग, तंत्र-प्रेणताओंद्वारा वर्णित इसलिए नहीं कि प्रभु ने उन्हें भक्ति निरूपणाधिकार से दूर रहने का आदेश दिया है अतः "मुनिमन अगम" कहा है। वस्तुतः 'मुनिमन अगम' का व्याख्यान २।३२५।८ में उक्त 'गमु नाहीं' में द्रष्टव्य है।

जम नियम

"अहिंसा सत्यमस्तेयं असंगो ह्रीरसंचयः आस्तिक्यं ब्रह्मचर्यं च मौनं स्थैर्यं क्षमाऽभयं"[1] "जम" से समझने हैं।

"नियम" दोहा ३२५।४ में व्याख्यात है उसका तात्पर्य—

"शौचं जपस्तपो होमः श्रद्धाऽऽतिथ्यं मदर्चनम् तीर्थाटिनं परार्थेहा तुष्टिराचार्य-सेवनम्"[2] में स्फुट है। शमदम दोहा ३२५।४ में व्याख्यात है।

विषम व्रत

"विषम" का अन्वय नियादि सभी से समझना है वह इसलिए कि वयोवस्था-नुरूपता सेवाव्रत में राज्यसंचालनात्मक विक्षेप होना विषमता है। जो इतरों के लिए प्रतिबन्धक है।

आचरत को

यहाँ पर द्वितीय आरोपात्मक भाषा ज्ञातव्य है। वह यही कि—

---

१. श्रीमद्भागवत (११।१९।३३)
२. श्रीमद्भागवत (११।१९।३४)

"यदि भरतजन्म नाभविष्यत् तर्हि ईश्वरादेशानुसारेण मुनिमनसि विषमव्रतादीनि अप्रगटितानि कथं प्रकटितानि अभविष्यन्" ।

दुख दाह दारिद्रयं दंभ दूषन

अपघात होना या कामसुखापक्षा "दुःख" है ।

फलप्राप्त्यनिमित्तक मानसिक संताप "दाह" है ।

असन्तोष "दारिद्र" है ।

विसंवादिता "दंभ" है ।

मिथ्याभिशस्तत्वादि "दूषन" है । इनका अन्वय 'अपहरत को' से है ।

सुजस मिस

प्रमेयभूत श्रीरामभक्तिप्राप्ति के हेतु संकल्पत्यागात्मक आदर्शजीवन व व्रतादि विषम होते हुए भी उनके अवलंबन से पर्यन्त में भरतजी ने श्रीरामराज्योत्सव दर्शन व अगाध श्रीरामप्रीति को प्राप्त कर जो नवीन सुयशस् अपनी आत्मतुष्टि के बल पर अर्जित किया है उसका प्रवाहित होना "सु + जस" है ।

'मिस' इसलिए कि उक्त सुयशस् के द्वारा सबको अन्धकार से विमुक्त कराकर दुःखाद्यपहरण का मार्ग प्रशस्त किया है जो भक्तों के लिए अति स्पृहणीय है ।

अपहरत को

तृतीय आरोपात्मक भाषा स्मर्तव्य है—

"यदि भरतजन्म नाभविष्यत् तर्हि दुखदारिद्रयादिकं यशोमिषेण आन्ध्यं को वा अपाहरिष्यत् ।

अथवा :—शाठ्यहरण होने की प्रक्रिया समझाने वाला यशोमय चरित्र एकमात्र भरतजी का है । जिसने श्रीराम के सम्मुख होने की वास्तविकता को विविक्त किया है । यहाँ भी चतुर्थ आरोपात्मक भाषा स्मर्तव्य है—

"यदि भरतजन्म नाभविष्यत् तर्हि रामसाम्मुख्यं को वस्तुगत्या अज्ञास्यत् ।

कलिकाल

कलिकाल में जब कि सर्वत्र शठता फैली है सभी शंकाक्रान्त हैं व असफलता दृष्टिगोचर है तब उस अवस्था में श्रीरामप्रीति प्राप्त करने का मार्ग प्रशस्त न होना कलिकाल से दर्शाया है ।

तुलसि से सठन्हि

मनस् का स्वभाव पैशुन्य करना है उसके द्वारा वह स्वार्थ साधने में उद्यत है कलिकाल में तो उसकी प्रमुखता है अतएव मनस् पर कलुष का प्रामुख्येन आवरण पड़ा है । अतः तुलसीदासजी अपने मनस् को "सठन्हि" कह रहे हैं ।

अथवा :—'तुलसि' कहकर भरतचरित्रात्मक प्रयोगविशेष निरूपण के कर्तृता को सप्रयोजनता स्फुट की है ।

अथवा सठन्हि से कलि में जन्म प्राप्त होने का कारण राठता है वैसे दुरात्मत्व भी बोध्य है।

हठि

रामसमुख कराने में सफल कर्तृत्व का श्रेयस् भरतचरित्र में 'हठि' से समझाया है अर्थात् भरतचरित्र को पौनःपुन्ये न गुना जाय तो उसका प्रभाव श्रोता पर होना निश्चित है कहकर भरत चरित्र की विशेषता हठि से व्यक्त है।

रामसमुख करत को

शास्त्र को दूर करने की उत्कट इच्छा होने पर उसके शमनार्थ विवेके के सहारे राम सन्मुख होने में शास्त्र को उपाय रूप में माना जया की है। उस शास्त्र ही आधार-शिला भरतजी हैं। वे यदि जन्म न लेते तो इतिहास में उदाहरण के रूप में कोई भक्त वैसा नहीं था जिसके आचरण से शास्त्र की उपयोगिता समझ में शाती।

संगति :—भरतचरित्रनिरूपण का उपसंहार व सर्वसाधारण के लिए फलश्रुति बताते हुए अयोध्याकाण्ड समाप्त कर रहे हैं।

सोरठा :—**भरतचरित करि नेमु तुलसी जो सादर सुनहि।**
सीयरामपदप्रेमु अवसि होइ भवरसबिरति ।।३२६ ।।

भावार्थ :—तुलसीदासजी कहते हैं—जो कोई भरतचरित्र को नियम से आदर-पूर्वक सुनते हैं उनमें अवश्य ही श्रीसीतारामजी के चरणों में प्रेम होगा और सांसारिक विषयों से वैराग्य होगा।

करि

शा० व्या० :—परात्मक मूलाधार से उच्छलित अग्निज्वाला से निकला नाद गोसाई जी ने मध्यमा में सुना है उसी को ग्रथित करना "भरत चरित करि" से समझना है।

नेमु

अनेकविध भक्तों के चरित्र होते हुए भी भरतचरित्र में स्वतन्त्ररूप में प्रयोग-विशेष की पूणता होने के कारण उसको सुनने हेतु गोसाईंजी ने नियम 'नेम' का विधान किया है।

सादर सुनहिं

अन्य कार्यों में मनस् को चंचलित न करते हुए अंगतया स्व को श्रवण के प्रति समर्पित करना 'आदर' है तभी भरतचरित्रश्रवण से फलप्राप्तिहेतु अभ्यर्हित संस्कार विशेषतया उद्बुद्ध होंगे उसका परिणाम भरतचरित्र का सर्वदा प्रतिभात होना कहा जा सकता है।

रामपद प्रेम

"रामपदप्रेम" से भरत चरित्र के सुनने का फल सुनाया है।

भवरसविरति

भरतचरित्र सुनने का द्वितीय फल "भवरसविरति" है। भरद्वाजाश्रम से आगे की भरतयात्रानिरूपण के पूर्व भवरोगविनाश व्यक्त कर पूर्व चरित्र की समाप्ति बताते हुए आगे से भरतीय उत्तरचरित्र को गाया है। यहाँ भवरस कहने से भवरस मिटना समझाया है। आशय यह कि भवरोग में मिथ्याज्ञानप्रयुक्त दोषसंबलित भव-वास है जिसमें प्राणिमात्र अपनी मनोवासना से अनुचित कार्य करने की ओर भी प्रवृत्त होते हरते हैं वैसी स्थिति भवरस में नहीं है। साहित्य शास्त्रानुसार जिस कार्य के प्रति औचित्य माना गया है उसी कार्य को नाट्य में अभिनीत कर प्राप्तव्य का आस्वाद लोगों को कराया जाता है तो वह रस होता है। यदि अनौचित्यपूर्ण कार्य का प्रदर्शन सामाजिकों के सामने होता रहता है तो उसी स्वाद की रसाभास कहा जाता है। एवंच रसाभिवृद्धि से शास्त्रमर्यादा व लोक मर्यादाओं का स्थैर्य रहना निश्चित होता है। रसाभास में वही उल्लंसित होता है। अर्थात् भरतजी के पूर्वचरित्रश्रवण से रसाभासात्मक भवरोगनिवृत्ति बताई जिसमें शनौचित्य पूर्ण कार्य से निवृत्त कराना ध्वनित है। वही "भेटहि अवरोगू" है। अभी कवि ने "भवरसविरति" कहकर यह समझाया कि औचित्यपूर्ण कार्य होते हुए भी पुण्यात्माओं ने संसार में रहना उनके लिए एकप्रकार से बाधक ही है क्योंकि पुण्यकार्य भी मोक्ष में जाने हेतु प्रतिबंधक है यह पुण्यकार्य भवदृष्टि से रोग नहीं है जिसको व्यवहार में त्याज्य नहीं माना जाता है तथापि जो जन्म-मरण के से छूटना चाहते है उनको 'भवरसविरति' कराने में भरद्वाजाश्रम से आगे का भरतचरित्र सहायक है यही "भवरसविरति" से संबोधित है।

इस प्रकार अयोध्याकाण्ड की व्याख्या के रूप में यथामति की सेवा फलद्वय की आशा से भगवच्चरणारविन्द में समर्पित करता हूँ।

॥ इति ॥

